एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०

मुख्य कार्यालय · रामनगर, नई दिल्ली-११००५५
शोरूम · ४/१६ बी, आसफअली रोड, नई दिल्ली-११०००२

शाखाएँ ·

अमीनाबाद पार्क लखनऊ-२२६००१
२८५/जे, बिपिन बिहारी गागुली स्ट्रीट,
कलकत्ता-७०००१२
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-५००००१
३, गाँधी सागर ईस्ट,
नागपुर-४४०००२
खजाची रोड, पटना-८००००४
माई हीरागेट, जालन्धर-१४४००८

१५२, अन्ना सलाए मद्रास-६००००
ब्लैकी हाऊस,
१०३/५, वालचन्द हीराचन्द मार्ग,
बम्बई-४००००१
के० पी० सी० सी० बिल्डिग
रेस कोर्स रोड, बगलौर-५६०००९
६१३-७, महात्मा गाधी रोड,
एर्नाकुलम, कोचीन-६८२०३५

प्रथम संस्करण : १९६५
पुनर्मुद्रण : १९७६
पुनर्मुद्रण १९८५

मूल्य : १०० ००

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-११००५५ द्वारा प्रकाशित तथा
राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिन्टर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-११००५५ द्वारा मुद्रित ।

चिर-संचित स्नेह और वात्सल्य
की करुण-मूर्ति
परम पूज्य स्वर्गीय पितामह
की
पुनीत स्मृति को

प्राक्कथन

मराठी और हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन पृथक्-पृथक् तो इन दोनों भाषाओ के विद्वान आलोचको ने किया और उन पर पृथक्-पृथक् अनेक पुस्तके भी प्रकाशित हुई, पर दोनो के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयत्न छुटपुट प्रयत्नो को छोडकर कभी गभीरतापूर्वक नही हुआ। ये छुटपुट प्रयत्न पत्र-पत्रिकाओ मे साहित्यिक लेखो के रूप मे हुए, जिनमे हिन्दी तथा मराठी के दो विभिन्न उपन्यासकारो अथवा किसी विशिष्ट काल की रचनाओ की तुलना की गई। श्री प्रभाकर माचवे का अक्टूबर १९५४ ई० के 'सह्याद्रि' मे प्रकाशित 'आधुनिक हिन्दी व मराठी साहित्य' नामक लेख उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ—'सरस्वती', 'हंस' आदि मे मराठी लेखको पर जैसे 'हस' मे ना० सी० फडके पर आनन्दराव जोशी का और उनकी रचनाओ पर जैसे 'हस' के 'मुक्ता-मजूषा' स्तभ मे मराठी के 'लतिका' आदि विभिन्न उपन्यासो पर कभी-कभी परिचयात्मक लेख तो निकलते रहे, परन्तु हिन्दी तथा मराठी उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न यहाँ भी नही हुआ है। इधर की ओर 'साहित्य सन्देश' के दोनो उपन्यास-विशेषाको एव 'आलोचना' के 'उपन्यास अक' मे अन्य भाषाओ के उपन्यासो पर लेख प्रकाशित हुए हैं, पर वे भी एक तो परिचयात्मक ही है और दूसरे, उनमे तुलनात्मक शैली नही अपनाई गई है, केवल इतिहास की इतिवृत्तात्मक शैली का ही आश्रय लिया गया है। प्रो० गोडबोले एव डा० प्रभाकर माचवे की हिन्दी भाषा मे प्रकाशित 'मराठी-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तके भी परिचयात्मक है। उन मे भी मराठी उपन्यास का इतिवृत्त दिया गया है, हिन्दी उपन्यास से तुलना करने का प्रयत्न नही है।

आज भारतीय भाषाओ एवं उनके साहित्य के पारस्परिक परिचय की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी ध्येय को रखकर मैंने प्रस्तुत शोध-कार्य मे हिन्दी और मराठी उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन द्वारा दोनो साहित्यो को निकट लाने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत निबन्ध नौ प्रकरणो मे विभक्त है। प्रथम प्रकरण मे अग्रेजी के आगमन के उपरान्त विभिन्न भारतीय भाषाओ के उपन्यास-साहित्य मे विषय तथा शैली की दृष्टि से होने वाली प्रगति का अध्ययन किया गया है। इसके लिए १ ५० ई० तक के युग को दो कालो—प्रारभ काल (१८५७ ई०-१९१० ई०) व उत्थान काल (१९१०-१९५० ई०) मे विभक्त किया गया है तथा यह दिखाया गया है कि समान

साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के कारण भारत की सभी भारतीय भाषाओ में उपन्यास-साहित्य का विकास, कुछ गौण-भेदो को छोड़कर, एक समान हुआ है। यद्यपि प्रारंभ मे बँगला उपन्यास-साहित्य अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यास-साहित्य से अधिक समृद्ध था, तथापि आज मराठी व हिन्दी का उपन्यास-साहित्य उसके समकक्ष रखा जा सकता है।

दूसरे प्रकरण मे मराठी उपन्यास के प्रारंभ-काल का इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। हमारे निवन्ध का आलोच्य काल १९०० ई०-१९५० ई० है। अतः इस प्रकरण मे हमने १९०० ई० से पहले के उपन्यास-साहित्य की विषय-गत एवं शैली-गत विशेषताएँ दिखाई है। हरिभाऊ ने यद्यपि कुछ उपन्यास १९०० ई० से पूर्व लिखे थे और काल-विभाजन की दृष्टि से उनका उल्लेख यहाँ होना चाहिये था, परन्तु उन्होने अपने उपन्यासो द्वारा मराठी उपन्यास-वाङ्मय मे एक नई लीक वनाई थी, अतः उनके उपन्यासो का विवेचन इस प्रकरण मे न होकर अगले प्रकरणो मे किया गया है। साथ ही १९०० ई० से पूर्व हिन्दी-उपन्यास की प्रवत्तियो की तुलना करके यह वताया गया है कि समान प्रवृत्तियो के होते हुए भी, उन पर एक दूसरे का प्रभाव क्यो नही पड़ा है।

तीसरे प्रकरण मे वताया गया है कि मराठी के उपन्यासो का हिन्दी अनुवाद दो कालो मे हुआ। प्रथम काल मे ऐतिहासिक उपन्यासो के अनुवाद, तो दूसरे मे सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासो के अनुवाद क्यो अधिक हुए, इसका कारण वताने के साथ-साथ उनकी लोकप्रियता एव प्रभाव के विषय मे भी वताया गया है।

चौथे प्रकरण मे मराठी और हिन्दी उपन्यासो की उन प्रवृत्तियो का वर्णन व विवेचन किया गया है, जिनमे थोड़ा-बहुत विभेद होते हुए भी पर्याप्त साम्य है जैसे, विधवा-विवाह, वेश्या-जीवन, वैवाहिक समस्याएँ, सामाजिक अनाचार, शैक्षणिक समस्या, गाँधीवादी एव समाजवादी विचारधारा, किसान और मिल-मजदूर का जीवन, मन के अन्तंरहस्यो को खोलने इत्यादि की प्रवृत्ति। ऐतिहासिक उपन्यासो मे प्रवत्तिगत यह समानता दृष्टिगत नही होती। अतः मराठी व हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो मे मिलने वाली प्रवत्तियो का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

पाँचवे प्रकरण मे मराठी और हिन्दी उपन्यासो के कथानक-शिल्प मे पाये जाने वाले समान एव विभिन्न तत्वो का उल्लेख करने के उपरान्त यह वताया गया है कि कथानक-शिल्प मे समान तत्वो के पाये जाने का कारण यह है कि दोनो भाषाओ के उपन्यासकारो ने पश्चिम के उपन्यास-साहित्य से प्रेरणा ली है अथवा सस्कृत की प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया है। यदि कही विभेद दृष्टिगत होता है, तो उसका कारण है लेखक की व्यक्तिगत रुचि, साहित्य-रचना का उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य विषय की आवश्यकता।

छठा प्रकरण उपन्यास-शिल्प से सम्बन्धित है। इसमें मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो मे प्रयुक्त विभिन्न शैलियो—पत्रात्मक, दैनदिनी, आत्म-कथात्मक आदि तथा विभिन्न शिल्प-विधियो यथा पूर्वदीप्ति, काल-विपर्यय, सिनेरियो-शिल्प, चेतना-प्रवाह आदि का विवेचन, उनमे मिलने वाली समानता तथा विभिन्नता की व्याख्या करने के उपरात यह बताया गया है कि शिल्प के क्षेत्र मे मराठी तथा हिन्दी उपन्यासकार एक दूसरे के आभारी न होकर पश्चिम के ऋणी है। हाँ, कलात्मकता लाने के लिए विभिन्न उपन्यासकारो ने अपनी प्रतिभा, कल्पना-शक्ति एव सूझ के अनुसार विभिन्न उपकरणो का प्रयोग कर अपने-अपने उपन्यासों को कलात्मक सौंदर्य प्रदान करने की चेष्टा की है।

सातवें प्रकरण में दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे प्रयुक्त पात्र-कल्पना के समान एवं विभिन्न तत्त्वो का विवेचन एवं उनकी व्याख्या की गई है। दोनो के अमर-पात्रो का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनका मूल्याकन करना भी इस प्रकरण का विषय है।

आठवें प्रकरण मे दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे नवीन जीवन-दर्शन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा दोनो की विचारधारा मे मिलने वाले समान तत्वों एव वैषम्य का विवेचन करने के बाद, वैषम्य के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम प्रकरण मे दोनो के एक दूसरे पर प्रभाव का मूल्याकन करने के उपरात दोनो की निजी देन एवं अभावो पर प्रकाश डाला गया है।

सामग्री-सकलन के लिए मुझे काशी विश्वविद्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; भडारकर रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना, महाराष्ट्र ग्रथालय, पुणे, महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, पुणे; केसरी मराठा आफिस, नारायण पेठ, पुणें; फर्ग्युसन कालेज पुस्तकालय, पूना; डैकन कालेज पुस्तकालय, पूना, मराठी ग्रथालय, मुबई, केन्द्रीय पुस्तकालय, ग्वालियर; माधव पुस्तकालय, ग्वालियर; विक्टोरिया कालेज पुस्तकालय, ग्वालियर, नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा; नारायण समाचार पत्रालय, खुरजा आदि-आदि स्थानो पर जाना पडा। इन पुस्तकालयों के सचालकों, कार्यकर्ताओं तथा कर्मचारियो ने जिस उदारता एवं सौजन्य का परिचय दिया, उसको प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। उनकी यह सहायता मेरे लिए सदैव स्मरणीय वस्तु रहेगी।

सम्मान्य डा० हरिहरनाथ टडन और डा० हर्षे के आभार की स्वीकृति संभव नहीं। उनकी सहायता के प्रतिदान मे 'धन्यवाद' शब्द अत्यन्त हल्का है। अन्तत: मुझे अपनी धर्मपत्नी के मजुल एव स्नेहसिक्त सहयोग की सराहना करनी है जिसके कारण गृहकार्य के झझटो से उन्मुक्त रहकर लगातार तीन वर्ष तक शोध-कार्य मे सलग्न रह सका।

मैं यहा उन सभी महानुभावो, इष्ट मित्रो तथा लेखको को धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रत्यक्ष एव परोक्ष सहायता मुझे सदैव प्राप्त होती रही है तथा जिनके शुभ आशीर्वाद एवं शुभ कामनाओ से मेरा यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ है।

—शान्तिस्वरूप गुप्त

दिनाक
शिवरात्रि १ मार्च, १९६५.

विषय-सूची

प्रकरण : १

पृष्ठ

भूमिका—भारतीय उपन्यास-साहित्य का आरम्भ और विकास—

कथा-साहित्य की मूल प्रेरणा; सस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश मे कथा-साहित्य; भारतीय भाषाओं मे उपन्यास के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द, उपन्यास-साहित्य का महत्व, प्रारभिक उपन्यास पर पड़े विभिन्न प्रभाव; उदय-काल, उत्थान-काल, अनुवाद; भारतीय उपन्यास-साहित्य मे मराठी और हिन्दी उपन्यास का स्थान। १—४७

प्रकरण : २

मराठी में उपन्यास-साहित्य का आरंभ—

आधुनिक गद्य के विकास से पूर्व मराठी कथा-साहित्य की स्थिति; प्रारभिक मराठी उपन्यास पर पड़े विभिन्न प्रभाव तथा उनका परिणाम, प्रारभिक मराठी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियाँ—उपदेशात्मकता और नीतिबोध, अद्भुतरम्यता, शृगारमयता; उपन्यास-शिल्प; सामाजिक उपन्यास; ऐतिहासिक उपन्यास, प्रारंभिक मराठी उपन्यास का हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव। ४८—७२

प्रकरण : ३

मराठी उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद—

अनुवादो का प्रथम काल, द्वितीय काल; अनुवादों की लोकप्रियता; मराठी उपन्यासो का प्रभाव। ७३—८८

प्रकरण : ४

हिन्दी और मराठी उपन्यासो की प्रवृत्तियाँ—

सामाजिक पृष्ठभूमि; विधवा जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति; वेश्या जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति, वैवाहिक समस्याओ के

पृष्ठ

चित्रण की प्रवृत्ति; सामाजिक अनाचार, धार्मिक दंभ, ढोंग एवं अंधरुढियो के चित्रण की प्रवृत्ति; शैक्षणिक समस्याओ के चित्रण की प्रवृत्ति; गाँधीवादी आन्दोलन एव विचारधारा के चित्रण की प्रवृत्ति, हिन्दू-मुस्लिम समस्या के चित्रण की प्रवृत्ति; ग्रामीण जीवन एवं समस्याओ के चित्रण की प्रवृत्ति, आँचलिकता की प्रवृत्ति; समाजवाद के समर्थन की प्रवृत्ति; मिल-मज़दूरों के जीवन-चित्रण की प्रवृत्ति, क्रांतिकारी आन्दोलन के चित्रण की प्रवृत्ति; १९४२ ई० के आन्दोलन के चित्रण की प्रवृत्ति; मन के भावो का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति; फ्राइड आदि के आधार पर मन के अन्तर्रहस्यो को खोलने की प्रवृत्ति, बाल-मनोविज्ञान, चेतना-प्रवाह, ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की मूल प्रेरणाएँ; शिव-काल के चित्रण की प्रवृत्ति, पेशवा-काल के चित्रण की प्रवृत्ति, राजपूत-काल के चित्रण की प्रवृत्ति; गण-राज्यो पर लिखने की प्रवृत्ति; बुन्देलखण्ड के इतिहास पर लिखने की प्रवृत्ति। ८९—१९२

प्रकरण · ५

मराठी और हिन्दी उपन्यासो का कथानक-शिल्प—

कथानक-शिल्प; कथानक मे कुतूहल-निर्माण के साधन, सफल वस्तु-योजना और उसके बाधक तत्व, कथानक में गुम्फन-कौशल; मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का कथानक-शिल्प। १९३—२२६

प्रकरण ६

कलातत्त्व तथा शिल्प—

प्रारभिक उपन्यासो का शिल्प, आधुनिक उपन्यासो का शिल्प; पत्र-शैली, दैनदिनी-शैली, समाचार-पत्रो के उद्धरण की शैली, आत्म-कथात्मक शैली, पूर्वदीप्ति, चेतना-प्रवाह, काल-विपर्यय, क्लोज अप, स्लो अप, कट बैक आदि सिनेरियो शिल्प, अनेक कहानियो के रूप मे उपन्यास, आरभ, मध्य और अत; कथोपकथन; पार्श्वभूमि-चित्रण, शब्द-चित्र, चरित्र-निर्माण मे कलातत्त्व, भाषा शैली, कलात्मकता के अन्य उपकरण। २२७—२६१

पृष्ठ

प्रकरण : ७

मराठी और हिन्दी उपन्यासों की पात्र-कल्पना, अमर पात्रों का विवरण और मूल्यांकन—

चरित्र-चित्रण का उपन्यास मे महत्व; पात्र-कल्पना—अलौकिक अस्वाभाविक पात्र; कल्पना-रम्य उपन्यासो के साँचे मे ढले सुखी-सम्पन्न पात्र; लेखक के आदर्शो के प्रतिनिधि पात्र, प्रतीक पात्र, समाज के प्रतिनिधि यथार्थ पात्र, व्यक्तिवादी पात्र; समकालीन व्यक्तियो की पात्र रूप मे कल्पना, गौण पात्र; खल पात्र; अमर पात्र । २६२—३२१

प्रकरण : ८

नवीन जीवन-दर्शन—

कथा-साहित्य मे दर्शन से अभिप्राय; मानवतावाद, मार्क्सवाद; भोगवाद, यौन-पावित्र्य सबधी नवीन दर्शन, अज्ञेयवाद, नियतिवाद, कर्मवाद; समन्वयवाद; अस्तित्ववाद, घृणा, अहिंसा, पाप-पुण्य और पीडा सम्बन्धी नवीन दर्शन, प्रेम और विवाह सबधी नवीन विचार । ३२२—३५९

प्रकरण : ९

उपसहार—मूल्याकन

पारस्परिक प्रभाव, निजी देन; अभाव । ३६०—३८१

परिशिष्ट—१
परिशिष्ट—२
परिशिष्ट—३
परिशिष्ट—४
परिशिष्ट—५
परिशिष्ट—६

प्रकरण : १

भूमिका—भारतीय उपन्यास-साहित्य का आरम्भ और विकास

कथा-साहित्य की मूल प्रेरणा—आत्म-प्रसार और आत्म-रक्षा मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ हैं। सूर्य की प्रथम आलोक-किरण का स्पर्श होते ही वह स्वभावतः दो बातो के लिए प्रयत्नशील हुआ : आत्माभिव्यक्ति और आत्म-रक्षा। इसीलिए वाणी की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियो में हमे प्रसार-रक्षा का द्वन्द्व विद्यमान मिलेगा। प्रसार और रक्षा के इसी उद्योग में कथा-साहित्य का उद्‌भव हुआ है। मनुष्य की अपने में तथा अपने जीवन मे जितनी रुचि होती है, उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे विषय में हो। उसकी इसी रुचि की तृप्ति के लिए आदिकाल से मानव-जीवन की सत्य या असत्य, वास्तविक अथवा काल्पनिक कहानियाँ बनती चली आ रही है। कहानी सुनने की उत्सुकता मे हम सभी थोडे-बहुत अंश मे 'यशोधरा' काव्य के राहुल के समान-धर्मा है, जो अपनी इस मूल जिज्ञासा-वृत्ति के शमन के लिए कहता है :

राजा था या रानी ?
मॉं, कह एक कहानी ![1]

राहुल की यह जिज्ञासा गिरि-गुहा-निवासी प्रागैतिहासिक मानव से लेकर आधुनिक युग के तर्कशील एवं बुद्धिजीवी प्राणियो तक का प्रतिनिधित्व करती है। हमारी इसी चिर-यौवना कुतूहल-वृत्ति की तृप्ति के लिए उपन्यासकारो ने अपनी कल्पना के कल्पतरु के नीचे समाधि लगाकर हमारे लिए 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' वाले सुन्दर एव आकर्षक उपन्यास दिए है। यदि एक ओर मानव की कुतूहल-वृत्ति सहस्रों वर्ष बाद भी अतृप्त है, तो दूसरी ओर कथा-साहित्य भी 'हरि अनन्त, हरि-कथा अनन्ता' के समान नित्य-नवीन एव आकर्षक रूप धारण कर उपस्थित होता रहता है। और इस मे आश्चर्य भी क्या ? मानव भी तो हरि का ही रूप है : "जीवो ब्रह्मैव नापर."। मानव की इसी मूल प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए मराठी की प्रमुख समालोचक कुसुमावती देशपाडे लिखती हैं, "कथा मे रुचि रखना मानव की एक स्वाभाविक विशेषता है। भारतीयो मे भी वह उतनी ही प्रमुखता से पाई जाती है। उसे प्रकृति-

---

[1] मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा, पृ० ८० (संस्करण : संवत् १९८९)

सम्बन्धी जो अनुभव प्राप्त हुए, उन्हे उसने वेदो की कथा अथवा अन्य अद्भुत कथाओ मे सग्रथित किया ?"[1]

सस्कृत मे छोटी एव बडी सभी प्रकार की कहानियो के लिए 'कथा, कथानक, आख्यान, आख्यानक, उपाख्यान तथा आख्यायिका' आदि शब्द प्रयुक्त होते थे। 'कथा' शब्द 'कथ्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है कहना या बतलाना। 'आख्यान' शब्द 'ख्या' धातु से बना है जिसका अर्थ भी कहना या वर्णन करना है। इससे बने सभी शब्दो 'उपाख्यान', 'आख्यायिका' आदि का अर्थ है—कहानी, वर्णन, वृतान्त आदि। इन विभिन्न शब्दो के अर्थ मे थोडा भेद किया गया है। आख्यान कहानियो के नौ भेदों में से एक है, जिसे कथा के रूप मे कहा जाए। आख्यायिका मे उपदेश या शिक्षा की प्रवृत्ति अधिक रहती थी। जिसे पात्र स्वय कहे, उसे आख्यानक कहा जाता था।

संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश मे कथा-साहित्य—भारतीय उपन्यास-साहित्य का आधुनिक रूप हमे पश्चिम से प्राप्त हुआ, परन्तु यह कहना नितान्त अनुपयुक्त होगा कि भारतीय उपन्यास-वाड्मय के तत्त्वो के विकास मे एकमात्र पाश्चात्य साहित्य का ही हाथ रहा है। भारतीय कथा-साहित्य की एक परम्परा रही है और उसका इतिहास संसार मे सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद के संवादात्मक मन्त्रो मे कुछ आख्यानो के मूल स्वरूप उपलब्ध होते है। यम-यमी, वृषा-कपि, पुरूरवा-उर्वशी आदि के अनेक सवादो मे उपन्यास का मूल आधार कथा-तत्त्व मिलता है। उपनिषदो में भी मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य आदि के वर्णन कथाओ के रूप मे मिलते हैं। जाबालि की कथा में हमे वर्तमान यथार्थवाद का स्वरूप तक मिलता है क्योकि उसमे आजकल के उपन्यासो की तरह एक स्त्री के विभिन्न पुरुषो से सम्बन्ध की चर्चा है। महाभारत तो सस्कृत भाषा मे कहानियो का एक बडा कोष ही है। उसमे स्थान-स्थान पर "अत्राप्युदाहरन्तीमामितिहासं पुरातनम्" की भूमिका के साथ प्राचीन उपाख्यान-साहित्य के अच्छे से अच्छे नमूने जड दिये गए है। क्रमश. आख्यानो तथा कथाओ के विकास के सकेत हमे पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' एवं पतजलि के 'महाभाष्य' मे मिलते हैं। पुराण भी इन्ही कथाओ के सग्रह का परिणाम थे। पुराणो के बाद उपदेश, शिक्षा, सत्यनिष्ठा आदि को प्रभावपूर्ण शैली मे अभिव्यक्त करने के लिए पशु-पक्षियो को लेकर छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी गई। उनके सग्रह 'पचतंत्र' एव 'हितोपदेश' का प्राचीन विश्व कथा-साहित्य मे ऊँचा स्थान है। इनके बाद साहित्यिक आख्यायिकाओ का समय आता है, जो गद्य-काव्य या गद्य-पद्यात्मक प्रबन्ध के रूप मे मिलती है। इनका उद्देश्य शुद्ध मनोरजन था तथा इनकी रचना-प्रणाली मे अलकरण तथा रसात्मकता है। प्राकृत और पाली भाषाओ के साहित्य मे भी कहानी-साहित्य की अक्षय निधि पाई जाती है। पाली भाषा मे लिखे 'जातक' जिनकी सख्या ५४७ है, प्राचीन भारत के बहुमुखी सामाजिक एव धार्मिक जीवन के बोलते चित्रपट है।

---

[1] कुसुमावती देशपाडे : मराठी कादंबरी; प्रथम भाग; पृ० १४

'धम्मपद अट्ठकथा' भी पाली भाषा का ४०० से अधिक कहानियों का संग्रह है। पैशाची भाषा का गुणाढ्य-कृत 'बृहत् कथा' नामक ग्रन्थ यद्यपि अभी अनुपलब्ध है, पर उसकी कथाओ के संस्कृत-सस्करण सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथामजरी' के रूप मे प्राप्त है। महाराष्ट्री प्राकृत मे 'कौतहल' द्वारा रचित 'लीलावती-कथा' का स्थान आख्यानक-साहित्य मे पर्याप्त ऊँचा माना जाता है। अपभ्रशो मे जैन अपभ्रंश का स्थान सर्वोपरि है। यशकीर्ति का 'हरिवंश पुराण', धनपाल का 'भविस्सत-कहा' एव 'नन्दिसूत्र' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द—उपन्यास नामक साहित्याग आधुनिक युग की देन है। यह शब्द सस्कृत भाषा का है तथापि प्राचीन सस्कृत-साहित्य मे वह आधुनिक अर्थ में कभी प्रयुक्त नही हुआ। भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं मे वह आज भी अन्य अर्थों मे प्रयुक्त होता है। दक्षिण की तेलुगु आदि भाषाओ मे उसका प्रयोग हिन्दी के व्याख्यान, वक्तृता आदि अर्थो मे होता है। उपन्यास का यह दाक्षिणात्य प्रयोग उत्तरभारतीय प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन सस्कृत-साहित्य की प्रयोग-परम्परा के अधिक निकट है। अमरूक के प्रसिद्ध श्लोक "निर्यात: शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजन." का 'उपन्यास' शब्द बहुत-कुछ इसी अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। 'पद्मचन्द्र-कोष' के अनुसार 'उपन्यास' शब्द सस्कृत की 'अस्' धातु से बना है जिसका अर्थ है रखना। इसमे 'उप' और 'नि' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय है। उपन्यास का मुख्य अर्थ है : सम्यक् रूप से उपस्थापन। सस्कृत नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थो मे उपन्यास रूपक की प्रतिमुख सन्धि के एक उपभेद की सज्ञा है। इस सदर्भ मे इसका अर्थ 'प्रसादन' लिया गया है। दूसरी व्याख्या है—अर्थ को युक्तियुक्त रूप मे उपस्थित करना। धरोहर, थाती, उपदेश, सकेत, उपक्रम आदि अर्थो मे भी इसका प्रयोग सस्कृत-साहित्य मे हुआ है। परन्तु जिस मेधावी ने कथा, आख्यायिका आदि शब्दों को त्याग कर अंग्रेजी नावेल के लिए उपन्यास शब्द सुझाया, उसकी सूझ प्रशंसनीय है। इस शब्द के द्वारा एक ओर तो उसने यह सकेत दिया कि यह साहित्याग प्राचीन कथाओ और आख्यायिकाओ से भिन्न जाति का है और दूसरी ओर यह सूचित किया कि इस विशेष विधा द्वारा लेखक पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, अभिनव मत या नूतन सिद्धान्त रखना चाहता है। अत यह शब्द प्राचीन परम्परा के प्रयोग के अनुकूल न होते हुए भी अत्यन्त उपयुक्त है।

आधुनिक अर्थ मे उपन्यास शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग बँगला मे सन् १८५६-५७ मे भूदेव मुखोपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास के लिए हुआ। सन् १८७६ मे प्रकाशित एक पुस्तक मे भूदेव मुखोपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा था कि उन्होने लगभग २० वर्ष पूर्व अंग्रेजी नावेल के अनुकरण पर एक कथा बँगला मे लिखी थी। उनका संकेत अपनी रचना 'ऐतिहासिक उपन्यास' की ओर है, जिसे विद्वानो ने बँगला का प्रथम उपन्यास माना है। सन् १८६१ मे रामसदय भट्टाचार्य की एक कथा-कृति-'अद्भुत

उपन्यास' नाम से प्रकाशित हुई । स्पष्ट है कि सन् १८६१ तक यह शब्द पर्याप्त प्रचलित हो चुका था । बंकिमचन्द्र चटर्जी के समय तक तो उपन्यास शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रचलन सर्वसाधारण मे हो गया था ।[1]

हिन्दी मे उपन्यास शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १८७१ मे 'मनोहर उपन्यास' के लिए हुआ तथा हिन्दी वालो ने यह शब्द बँगला से ग्रहण किया था ।[2] किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यास शब्द की व्याख्या अपनी रुचि तथा सुविधा के अनुसार अलग ही की । वे अपने प्रथम उपन्यास 'लावण्यमयी' (प्रणयिनी-परिणय) की भूमिका मे लिखते है, "उपन्यास उप-नी उपसर्गपूर्वक 'आस्' धातु से बना है—यथा, उप (समीप) नी+आस्=न्यास (रखना)—अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक हो एव इसकी कथा कुछ छिपी हुई क्रमश समाप्ति मे परिस्फुटित हो···।"[3]

कुछ लोगो का मत है कि उपन्यास शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रचलन मराठी से प्रारम्भ हुआ । यह मत अग्राह्य है, क्योकि स्वय मराठी मे उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है । वहाँ इस शब्द के प्रचलन का कारण सस्कृत के प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ 'कादम्बरी' की लोकप्रियता और प्रभाव है । डा० केतकर स्पष्ट कहते है, "यह शब्द (कादम्बरी) हमारी ओर बाणभट्ट की अद्भुत कथा के कारण रूढ हुआ है, तथापि इसका यह प्रयोग थोडे समय पूर्व से ही रूढ हुआ है ।"[4] कुछ लोगो का अनुमान है कि कादम्ब तथा उपन्यास दोनो मे ही मन को रमाने की शक्ति है । अत. उपन्यास का नाम मराठी मे कादम्बरी रखा गया ।[5] परन्तु यह अनुमान ठीक नही, क्योकि इस शब्द को उपन्यास के लिए प्रयुक्त करते समय साहित्यकारो के मन पर बाणभट्ट की कादम्बरी नामक कृति की अधिक छाप रही होगी, न कि इस शब्द के कादम्ब से सम्बन्ध की । महाराष्ट्र मे उपन्यास के लिए कादम्बरी शब्द का प्रयोग बँगला मे उपन्यास शब्द के प्रयोग से पहले होने लगा था । १८२६ ई० मे प्रकाशित 'महाराष्ट्र भाषेचा कोष' मे, जिसकी रचना मौण्ट स्टुअर्ट एल्फिस्टन की प्रेरणा से बाळशास्त्री घगवे, गगाधरशास्त्री फडके, सखाराम जोशी, दाजीशास्त्री शुक्ल और परशुराम पत गोडबोले ने की थी, इस शब्द का उल्लेख है । इस सम्बन्ध मे कुसुमावती देशपाडे लिखती है, "एक विशिष्ट प्रकार की कल्पित कथा के लिए मराठी मे कादम्बरी शब्द का प्रयोग बहुत पहले रूढ हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है । १८२६ ई० मे प्रकाशित 'महाराष्ट्र भाषेचा कोष' मे कादम्बरी शब्द का यही अर्थ दिया गया है ।"[6]

मराठी मे 'कादम्बरी' शब्द का उपन्यास के अर्थ मे प्रयोग भले ही बाण

---

[1] र० स० झालानी : जैनेन्द्र और उनके उपन्यास, पृष्ठ २६

[2] माताप्रसाद गुप्त : हिन्दी पुस्तक-साहित्य, पृष्ठ २६

[3] किशोरीलाल गोस्वामी : लावण्यमयी, भूमिका

[4] डा० केतकर : महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष—दसवाँ विभाग, पृष्ठ २६६

[5] कदम्बे जातः रसः कादम्ब : तं राति इति कादम्बरी

[6] कुसुमावती देशपाडे : मराठी कादम्बरी, प्रथम भाग, पृष्ठ २०

की कादम्बरी की लोकप्रियता और उत्कृष्टता के कारण हुआ हो, परन्तु उसके आधुनिक रूप का श्रेय पश्चिमी साहित्य, विशेषत अग्रेजी नावेल को है। अग्रेजी शब्द 'नावेल' लैटिन के 'नावेला', इटालियन तथा स्पैनिश के 'नावेलो' और फ्रेंच के 'नावेले' से ग्रहण किया गया है।[1] इस शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के 'नावेस' या 'नावेलस' तथा फ्रेन्च के 'नावो' से है, जो सस्कृत के 'नव' के विकसित रूप ज्ञात होते है। नावेल का अर्थ नया, असाधारण और विचित्र है और जिस कहानी मे नया, कल्पित तथा रोमांचकारी विवरण हो, उसे नावेल कहा गया है। यह नया साहित्याग भारतीय भाषाओ मे पाश्चात्य नावेल की प्रेरणा का परिणाम था। अत. गुजराती, तेलुगु, तामिल आदि मे इसका नाम 'नवलकथा' प्रचलित हो गया। ध्वनिसाम्य भी अवश्य इसका एक कारण है। यह शब्द उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परित्रायक है, क्योकि उपन्यास वस्तुत. नवल अर्थात् नया साहित्यांग है। उत्तर भारत मे भी हिन्दी मे भारतेन्दु-काल मे 'नवन्यास' शब्द का प्रयोग कुछ दिन हुआ। बँगला मे इसी प्रकार रोमांस के लिए 'रमन्यास' शब्द बना, पर ये दोनो शब्द चल नही पाए। 'नवल' शब्द भी बंकिम द्वारा प्रयुक्त हुआ और उपन्यासकार के लिए नवलकथाकार या नवलकार शब्द उपयोग मे लाये गए पर अब केवल उपन्यास शब्द ही उत्तर भारतीय भाषाओ मे विशेष प्रचलित है।

उपन्यास-साहित्य का महत्त्व—कविता और नाटक की अपेक्षा नवीनतर साहित्य-रूप होते हुए भी उपन्यास ने कुछ विद्वज्जनों के हृदय मे यह आशका उत्पन्न कर दी है कि इसके कारण कविता और नाटक का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। यह आशंका भ्रात है, तथापि उसने यह सिद्ध कर दिया है कि कविता तथा नाटक की अपेक्षा उपन्यास मानव-जीवन के चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त है तथा उसका क्षेत्र भी अधिक विशाल है। "गीति-काव्यो के पुजीभूत भावसत्य, दुखान्त नाटकों के चिरन्तन सघर्ष और करुणा, गीति-कथाओ की गति और प्रवहमानता, मुक्तको का उक्ति-वैचित्र्य और नीति-सत्य—इन सभी पुराने साहित्य-रूपो की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओ को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रचार में ग्रहण किया है।"[2] अपनी सरल, रोचक शैली के कारण उसका प्रभाव भी बड़ा व्यापक है। वह पाठक के चेतन तथा अवचेतन मन पर इतने गहरे सस्कार छोड़ जाता है कि उसकी जीवन-दृष्टि ही बदल जाती है। जहाँ कविता का माधुर्य अनुवाद में प्राय. कम हो जाता है, वहाँ उपन्यासों के अनूदित रूप पढकर हम लगभग उतना ही आनन्द पाते है, जितना उसे मूल मे पढ़कर पा सकते थे। उपन्यास की प्रभावशीलता, यथार्थ-चित्रण की क्षमता तथा स्वाभाविक सरल शैली के कारण ही अनेक आलोचकों ने इस विधा की प्रशसा की है।

उपन्यास के सम्बन्ध मे यह धारणा-परिवर्तन वस्तुतः क्रान्तिकारी है, क्योंकि

---

[1] एनसाइक्लोपीडिया ऐमेरीकाना, वोल्यूम २०, पृष्ठ ४६७

[2] 'आलोचना' : उपन्यास-विशेषांक, पृष्ठ १

प्राचीन काल मे उपन्यास को साहित्य मे हीन स्थान प्राप्त था। जार्ज सेंट्सबरी के निम्न कथन मे उपन्यास के प्रति हीन धारणा ही ध्वनित होती है "अधिकांश लोगों का परिचय केवल नाटक तथा उपन्यास से ही होता है और सामान्यत. काव्य में कला एवं नाटक-उपन्यास मे मनोरजन के दर्शन किए जाते है।" रस्किन ने भी साहित्य के उच्च व कनिष्ठ भेद करते हुए उपन्यास को दूसरी कोटि मे रखा था। प्रौढ लोगो का बच्चो एव विद्यार्थियो को उपन्यास पढने से रोकना भी उपन्यास के सम्बन्ध मे इसी संदेह-भावना का परिचायक है। इस पर भी उपन्यास अपने जन्म-काल से ही सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य-रूप रहा है। जबकि साहित्य के अन्य अग—इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि को समझने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है, कथा-साहित्य सर्वसाधारण के लिए सुगम ही नही, अत्यन्त रसमय भी होता है। फिर मनुष्य के जीवन के उत्थान-पतन से सम्बन्ध रखने के कारण वह सर्वसाधारण का विषय भी हो जाता है। ज्ञानवर्धन के लिए तो सभी देशो ने इसके आकर्षक एव मनोरंजक स्वरूप के कारण इसे अपनाया है।

"वर्तमान जगत् मे उपन्यासो की बड़ी शक्ति है।"[१] समाज जो रूप धारण कर रहा है, उसमे जो भिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है, उपन्यासकार उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नही करता, अपितु आवश्यकतानुसार उनके परिमार्जन, परिवर्धन तथा उन्मूलन की भावनाएँ भी जगाता है। मानव-जीवन के विविध चित्रो को चित्रित करने का जितना अधिक अवकाश उपन्यासो मे मिलता है, उतना महाकाव्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक विधाओ मे नही। प्रेमचन्दजी ने उपन्यास को मानवीय जीवन का चित्र कहा था। इस विधा द्वारा मनुष्य अपने समस्त आयामो मे एव समग्र परिवेश के साथ अवतरित हो सकता है। उसके समस्त उलझे हुए सूत्र, फैले हुए सीमान्त एव गहराई के आयाम यहाँ सफलतापूर्वक चित्रित हो जाते है। किसी भी समाज मे एक विशेष प्रकार की चिन्तन-पद्धति प्रवाहित करने मे यह बेजोड़ है। बगाल, महाराष्ट्र तथा उत्तरप्रदेश की नारी-समस्या को सुलझाने मे जो कार्य क्रमशः शरच्चन्द्र, हरिभाऊ और प्रेमचन्द ने उपन्यासो द्वारा किया, उससे वहाँ के सुधारको को पर्याप्त सहायता मिली। फ्रास एव रूस मे तत्कालीन शासन-पद्धति के विरुद्ध क्रान्तिकारी भावनाओं को जन्म देने में वहाँ के उपन्यासकारो—वाल्टेयर, रूसो और गोर्की आदि की रचनाओ का पर्याप्त हाथ रहा। साराश यह कि श्रान्त तथा विभ्रमित राष्ट्र का उपचार उपन्यास बडे हल्के हाथो अनजाने मे ही कर डालता है। इसके लिए वह कभी-कभी सहसोपचार (शॉक ट्रीटमेट) का भी आश्रय लेता है। उपन्यास पाठक को सत्य-शुद्ध दृष्टि भी प्रदान करता है, जिसे पाकर वह अपना और अपने समाज का हित कर सकता है। इन्ही गुणो के कारण अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और 'टाइम्स लिटररी सप्लीमेट' के सम्पादक ऐलेन प्राइस जोन्स ने उपन्यास की प्रशंसा निम्न शब्दो में की है · "यह मत समझिये कि आप काल्पनिक परिस्थितियों से प्रभा-

---

[१] रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३६ (संस्करण : सं० २००७)

वित होने के लिए उपन्यास पढते है। आप उन्हें उसी प्रकार पढते है, जिस प्रकार अन्य लोग प्रार्थना करते हैं, स्वय अपने आपके अन्वेषण के लिए……तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एकमात्र सहारा है।" प्राचीन वाड्मय मे जो महत्त्वपूर्ण स्थान महाकाव्य अथवा लोक-कलाओ का था, आज वही उपन्यास का है। आर. एल. स्टीवेन्सन ने कहा है "कथा-कृतियो का प्रभाव सबसे अधिक और सबसे अच्छा होता है। वे हमे किसी सिद्धान्त से आबद्ध नही करते। वे जीवन की शिक्षाओ की पुनरावृत्ति और पुनर्योजना करते है।"

अपने लचीले रूप और विस्तृत चित्रफलक के कारण वह किसी भी युग की प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करने मे पूर्णत सफल होता है। इसमे एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की कहानी भी रह सकती है और कुछ घण्टों या कुछ मिनटो की भी—पूरा समाज भी इसकी परिधि मे आ सकता है और कथा का नितान्त अभाव भी यहाँ हो सकता है। जीवित मनुष्यो की कथा हो सकती है, तो कब्र से उठकर भी मनुष्य यहाँ आ सकते है। इसमे भड़कीले वर्णन हो सकते है, रेखाचित्र हो सकते है, तो केवल अर्ध-स्फुट कथनों के द्वारा पाठकों की अनुमान-वृत्ति या अर्थापत्ति के सहारे भी सब कुछ छोडा जा सकता है। इसमें सर्वसमर्थ बन झरोखे पर बैठकर सबका मुजरा लेने वाले लेखक की शैली अपनाई जा सकती है, तो उत्तम-पुरुषात्मक 'मै' वाली या पत्रात्मक शैली या सबके विचित्र सम्मिश्रण से बनी हुई शैली भी। परिस्थिति की रग-भूमि, संभाषण, पात्र व कथाचातुर्य—सबके सुन्दर सम्मिलिन से एक ही समय, नाटक व कथा, दोनो का आस्वाद उपन्यास मे मिलता है इसीलिए उपन्यास को जेबी थियेटर कहा गया है।

उपन्यास-साहित्य का विश्व-वाड्मय मे वही स्थान है, जो इस भूलोक पर समुद्र का। जिस प्रकार पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग जल से आच्छादित है, उसी प्रकार विश्व-साहित्य मे उपन्यासो की सख्या सम्पूर्ण साहित्य के तीन-चौथाई भाग से कम नही। उसमें यदि रभा जैसी नायिकाएँ मिलती है, तो ऐरावत के समान अद्भुत प्राणिवर्ग भी; वहाँ अमृत के समान मधुर भाव एव सद्विचार है, तो विष के समान सतापदायक नग्न शृगार और अश्लील प्रसग भी। कुछ के लिए यदि वह खारे पानी के समान त्याज्य है, तो कुछ के लिए क्षीरसागर के समान अपूर्व विश्राम-स्थल; कोई प्रतिदिन उसके तट पर जाकर विहार करता है, तो कोई केवल विशिष्ट पर्वों पर। किसी का उद्देश्य नौका-विहार द्वारा प्राप्त आनन्द है, तो कोई व्यापारिक दृष्टि से उसके निकट जाते है और कुछ थोडे-से लोग अज्ञात प्रदेशो की खोज मे। उपन्यास की लोकप्रियता, उपादेयता, प्रभावशीलता, विस्तृत चित्रफलक और प्रतिनिधित्व शक्ति को देखकर, जो बात मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता के विषय मे कही थी कि "कविता का भविष्य महान् है," वही हम आज उपन्यास के सम्बन्ध मे कह सकते है।

'दशकुमारचरित', 'वासवदत्ता', 'हर्षचरित', 'कादम्बरी' आदि ग्रन्थों के रूप मे विकसित संस्कृत के कथा-साहित्य को देखकर कुछ लोग यह मानते है कि उपन्यास

कोई नवीन विधा न होकर संस्कृत के कथा-साहित्य की परम्परा का ही विकास-प्राप्त रूप है। 'कादम्बरी' की कथा विचित्र रोचकता एवं कुतूहल से ओत-प्रोत है। इसमें दो प्रणयकथाओ के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो और पात्रो का सविस्तार चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण भी है। नायिका का जीवन भी द्वन्द्वमय है। इन सब औपन्यासिक विशेषताओ के होते हुए भी वह तथा 'दशकुमारचरित' आदि पुस्तके गद्य-काव्य के अधिक निकट है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हे 'उपन्यासजातीय कथा-काव्य' कहा है। इसके विपरीत पाश्चात्य साहित्य मे उपन्यासो की गणना काव्यो मे नही की गई। प्रारम्भ से ही उनमे जन-जीवन की यथार्थता अकित करने का प्रयास किया गया तथा सरल भाषा एवं सरल शैली द्वारा उन्हे साधारण पाठको के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई। भारतीय उपन्यासकारों ने पश्चिम के उपन्यास-वाङ्मय को पढ़कर उसकी देखा-देखी जो स्वरूप अपने कथा-साहित्य को दिया, उसे हम सस्कृत के कथा-साहित्य का विकसित रूप न मानकर पश्चिम की ही देन मानते है। पश्चिम के इस ऋण को स्वीकार न करना अन्धी राष्ट्रीयता होगी। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मराठी के विद्वानो ने लिखा है, "भारत मे उपन्यास-साहित्य का पुनर्जन्म बिल्कुल इधर की ओर अग्रेजी शासन-काल मे ही हुआ। विभिन्न देशी भाषाओ मे प्रारम्भिक उपन्यासकारो को प्रेरणा पाश्चात्य, विशेषत: अग्रेजी साहित्य के परिचय से ही प्राप्त हुई, यह कहना चाहिए।"[1]

प्रारम्भिक उपन्यास पर पड़े विभिन्न प्रभाव—किसी भी महादेश मे, जिसकी सस्कृति एक है, उसमे व्यवहृत अनेक भाषाओ के साहित्य-रूप के विकास मे समय का थोडा-बहुत अन्तर हो सकता है, किन्तु देश की सास्कृतिक एकता उन भगिनी भाषाओ के विकास-साम्य को एक सूत्र मे अवश्य आबद्ध रखती है। भारत महादेश मे भी मूल सस्कृत से उत्पन्न उत्तरभारत की भगिनी भाषाओ का विकास एव उनकी साहित्यिक प्रगति न्यूनाधिक रूप मे एक ही ढग और एक ही काल-क्रम मे हुई है। उपन्यास अपने नये रूप एव आकर्षण के साथ यहाँ पश्चिम से आया, अत. इसका विकास तो दक्षिण की भाषाओ मे भी लगभग उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार उत्तरभारतीय भाषाओ मे।

उपन्यास गद्य-साहित्य की एक विधा है। उसकी समुचित उन्नति एव विकास के लिए गद्य का परिष्कृत रूप एवं शैली का सबल माध्यम प्रथम आवश्यकता है। गद्य पद्य की अपेक्षा कठिनाई से स्मरण रहता है, उसके समुचित प्रसार के लिए मुद्रण-कला आवश्यक है। फलत, भारतीय भाषाओ मे उपन्यास का जन्म तभी संभव हो सका जब उन्हें ये दोनो उपकरण उपलब्ध हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित होने पर विदेश से आये अग्रेजो को भाषा-ज्ञान कराने एव धर्म-प्रचार करने के लिए गौराग प्रभुओ ने विभिन्न प्रयत्न किये। गद्य-ग्रन्थो की आवश्यकता का अनुभव होते ही उनका ध्यान इस ओर गया जिससे गद्य-साहित्य का आविर्भाव हुआ। इस कार्य

---

[1] आपटे तथा गोडबोले : 'मराठी कादम्बरी—तंत्र आणि विकास'; पृष्ठ ७

मे उन्हे ईसाई धर्म-प्रचारक पादरियो, शिक्षालयों तथा शिक्षा-पदाधिकारियों आदि से बहुत-कुछ प्रेरणा एव सहायता मिली। ईसाई धर्मप्रचारक अपने धर्म-प्रचार के लिए या तो स्वयं बाइबिल तथा अन्य धार्मिक कहानियो का प्रान्तीय भाषाओ मे अनुवाद करते थे या किसी अन्य व्यक्ति से कराते थे। उन पुस्तकों के प्रचार के लिए वे मुद्रणालय खोलते थे और विभिन्न पत्रिकाएँ प्रकाशित कराते थे। आसाम मे उन्होने शिवसागर मे एक प्रेस खोला और 'अरुणोदय' नामक मासिक-पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। श्रीरामपुर मे स्थापित प्रेस से भी हिन्दी मे अनेक अनूदित धर्म-पुस्तकें जैसे 'दाऊद के गीत' आदि प्रकाशित हुई। आगरे की 'स्कूल बुक सोसाइटी' नामक प्रकाशन-संस्था भी विभिन्न विषयो पर पुस्तके निकालती रहती थी। कर्नाटक के पादरियों ने भी यही किया। तामिल भाषा की पहली पुस्तक पादरियो ने ही छपवाई थी।[1] चिदंबर रघुनाथन् ने लिखा है, "यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि तामिल मे केवल डेढ़ सौ वर्ष पूर्व से ही गद्य का आरम्भ हुआ है तो भी यह सत्य है कि हमारे प्राचीन पंडित लोगो ने गद्य को इससे पूर्व साहित्यवाहिनी का स्थान नही दिया था।"[2] मराठी मे कथा-साहित्य के प्रारंभिक पोषण व संवर्धन का कार्य मिशनरी धर्मप्रचारको ने ही किया। मुद्रण-यंत्रो की सहायता महाराष्ट्र-निवासियों को अंग्रेजो की अपेक्षा पुर्तगालियों से अधिक मिली, क्योकि उनके गोआ आदि उपनिवेश महाराष्ट्र के अधिक निकट थे, तथापि अंग्रेज मिशनरियो की सहायता भी नगण्य नही कही जा सकती। श्रीरामपुर प्रेस से डा. कैरी ने सन् १८१५ मे प० वैजनाथ द्वारा संस्कृत-साहित्य के विख्यात बोधकथा-संग्रह 'पंचतंत्र' व 'हितोपदेश' तथा 'सिंहासनबत्तीसी' का सरल भाषान्तर कराकर मिशन प्रेस से छपवाया। श्रीरामपुर से टाइप लाकर महाराष्ट्र मे मुद्रण-कला का प्रसार होने पर तो कथा-साहित्य का ही नहीं, सामान्यत सम्पूर्ण गद्य-साहित्य का प्रसार होने लगा। १८१७ ई० मे बाइबिल का मराठी-अनुवाद प्रथम बार छपा। इस प्रकार मराठी-गद्य के विकास का श्रेय ईसाई धर्मप्रचारको को ही है। "मिशनरियो के प्रयत्न को इस प्रकार सफल होते देख······तत्कालीन बम्बई-सरकार को भी, शिक्षा के लिए प्राप्त धन मे से कुछ अंश द्वारा, मराठी मे ज्ञान-प्रसार करने की स्फूर्ति हुई और उसके फलस्वरूप नवशिक्षित महाराष्ट्रीयो का ध्यान मातृभाषा की ओर गया, जिससे मराठी गद्य-शैली का विकास हुआ।"[3] अंग्रेजी संस्कृति व साहित्य का प्रभाव उत्तर भारत मे बंगाल व पश्चिम मे महाराष्ट्र मे सर्वप्रथम पड़ा था जिससे बंगाल मे भी बँगला गद्य का आरम्भ अंग्रेजी शासन से ही आरम्भ हुआ। अठारहवी शताब्दी के चौथे दशक मे कुछ अंग्रेजो का ध्यान बँगला भाषा की ओर गया और उन्होने बँगला भाषा मे मुद्रण के प्रबन्ध के साथ-साथ बँगला का व्याकरण एवं कोष रचने की भी व्यवस्था की। सन् १८०० मे ईसाई धर्म-प्रचार एव शिक्षा के लिए

---

[1] वैयापुरि पिल्लै : 'पार्तिबन कनुव का प्रस्तावना,' अगस्त; १९४३

[2] चिदंबर रघुनाथन : इलक्किय विमर्शनं; अप्रैल; १९४८

[3] बापट और गोडबोले : 'मराठी कादंबरी—तंत्र आणि विकास; पृ० १९८-९९; द्वितीय संस्करण।

फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना हुई तथा इसी समय वाइविल का वँगला मे अनुवाद हुआ। कालिज के लिए पाठ्य पुस्तको की कमी देखकर विद्वानो को अधिकाधिक पुस्तके लिखने का प्रोत्साहन दिया गया और इस प्रकार वँगला-गद्य का आधार निर्मित हुआ। साराश यह कि हिन्दी, मराठी, वँगला, गुजराती के साथ-साथ तामिल, कन्नड, तेलुगु आदि भाषाओ मे भी गद्य-शैली का विकास और गद्य का प्रसार ईसाइयो या उनसे सहायता-प्राप्त व्यक्तियो द्वारा हुआ जिससे कुछ काल वाद ही उपन्यास-रचना सभव हो सकी।

धीरे-धीरे ब्रिटिश शासक के भारत मे पैर जम जाने पर अग्रेजी शिक्षा का प्रचार होने लगा। अग्रेजी शिक्षा तथा साहित्य के प्रभाव से भारत के प्रत्येक प्रान्त का शिक्षित वर्ग वहाँ की सस्कृति एव साहित्य से नवीन प्रेरणाएँ ग्रहण कर अपने साहित्य को उनके साहित्य के निकट लाने की चेष्टा करने लगा। पश्चिम की नवीन साहित्यिक विधाओ का अभाव इस वर्ग को खटका जिससे पश्चिमी विचारधारा, पश्चिमी रहन-सहन और पश्चिमी वेश-भूषा के साथ-साथ पश्चिम के नये साहित्यिक रूपो का भी भारत मे प्रचार हुआ। उपन्यास उन नये साहित्य-रूपो मे सर्वप्रथम था। गुजरात मे १८५१ ई० मे 'वुद्धिवर्धक' सभा की स्थापना के वाद पाश्चात्य साहित्य का परिशीलन अधिक तेजी से होने लगा। शिक्षण के अभ्यासक्रम मे पाश्चात्य साहित्य के प्रसिद्ध कलाकारो की कृतियो का परिचय होने पर तरुण गुजराती लेखक अनुभव करने लगे कि उनका साहित्य उपन्यासो के विना कुछ नीरस एव विकलाग सा है। उधर अग्रेज विद्वानो से भी उन्हे समय-समय पर प्रेरणा मिलती रही। नन्दशकर तुलजाशकर मेहता अपने 'करणघेलो' नामक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की भूमिका मे लिखते है, "इस प्रान्त (सूरत) के भूतपूर्व ऐजूकेशन इन्सपैक्टर मेहरबान रसेल साहव ने अग्रेजी रोमास तथा नाविल जैसी रचनाएँ गुजराती मे लिखवाने की अपनी इच्छा मुझसे व्यक्त की। तदनुसार मैने इस पुस्तक की रचना की। श्री वी एम. श्रीकण्ठैया यही वात कन्नड के विषय मे लिखते है, "मुद्रामजूषा' सरीखी पुस्तके १८६० ई० के पूर्व भी कन्नड भाषा मे निर्माण हो चुकी थी, पर जिसे हम उपन्यास कहते है वह साहित्यिक प्रकार अंग्रेजी भाषा के सपर्क व अनुकरण से ही उत्पन्न हुआ।"[१] मराठी मे अग्रेजी उपन्यास के सपर्क से पूर्व सस्कृत और फारसी कथा-वाड्मय के प्रभाव के परिणामस्वरूप अद्भुत एव कुतूहलपूर्ण कथानको पर ही अधिक ध्यान था। अग्रेजी के सम्पर्क मे आते ही यह रुचि वदल गई और लेखको का ध्यान वास्तविक यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ। "१८५७ ई० मे वम्वई-विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर जैसे-जैसे अग्रेजी पढे-लिखे युवक वहाँ से निकलने लगे, तैसे-तैसे मराठी साहित्य की अग्रेजी साहित्य से तुलना करने पर मराठी साहित्य का उद्धार व सुधार करने का विचार विद्वानो के मन मे उत्पन्न होना और उसका प्रभाव

---

[१] वापट और गोडवोले : मराठी कादवरी—तत्र आणि विकास, पृ. ३४३

उदयोन्मुख लेखकों पर पड़ना स्वाभाविक था। अत: शीघ्र ही अद्‌भुत उपन्यासों के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।[1]

भारतीय भाषाओ मे उपन्यास-साहित्य का आरम्भ या तो अग्रेजी उपन्यासो के अनुवादो से अथवा उन्ही पर आधारित स्वतत्र उपन्यासो से होता है। बँगला उपन्यास के प्रारम्भिक प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक बकिमचन्द्र चटर्जी के अनेक उपन्यास वाल्टर स्कॉट की रचनाओ के समान ऐतिहासिक घटनाचक्रो पर आधारित है। अत: उनके घटना-प्रधान उपन्यास शीघ्र ही साधारण जनता मे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल मे भारत मे सबसे अधिक लोकप्रिय अग्रेजी पुस्तके थी—'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस', रसेलास', 'ग्लीव्हर्स ट्रेविल्स', 'राबिन्सन क्रूसो', 'दि विकार आफ दि 'वैकफील्ड', 'लैम्ब्स टेल्स फ्राम शेक्सपियर' और 'आइवन हो'। इनमे से अनेक का बँगला मे अनुवाद हुआ।

गुजराती उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल मे अनुवादो की सख्या ही अधिक रही। कर्नल मैडोस टेलर की अनेक रचनाओ के पारसी अनुवादकों ने रूपातर किए। सन् १८८० मे छगनलाल मोदी ने डच भाषा मे लिखे 'इरावती' नामक उपन्यास का, जिसकी कथा अकबर-काल से सम्बन्धित है, अनुवाद किया। गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यासो पर तो वाल्टर स्काट की रोमासप्रधान रचनाओ एव ड्यूमा की शैली का प्रभाव सर्वोपरि रहा। सुप्रसिद्ध गुजराती उपन्यासकार के. एम मुशी पर भी यह प्रभाव दृष्टिगत होता है। उनका निम्न वक्तव्य, "मै जिन विशिष्टताओ को गुजराती उपन्यास मे लाया वे है—रोचक कहानी, नाटकीय स्थिति, सवाद और सजीव चरित्र। मैं प्रथम और प्रमुख रूप से कहानी कहनेवाला रहा हूँ।······मेरा प्रमुख लक्ष्य जीवन का वास्तविक नाटक रहा है, सिद्धान्त और उपदेश नही," अग्रेजी प्रभाव की पुष्टि करता है तथा उन्हे स्काट और ड्यूमा की पक्ति मे बिठा देता है। मराठी का उपन्यास-साहित्य भी अग्रेजी पुस्तको के अनुवादो से प्रारम्भ हुआ। 'क्लास चा चरित्र', 'रिचर्ड चा चरित्र', 'बर्थाल्ड चा चरित्र',—इनको भले ही जीवनी कहा गया है, पर वस्तुत. वे उपन्यास के ढग की बडी कहानियाँ ही हैं।[2] सुप्रसिद्ध उपन्यास 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रैस' के अनुवाद से तो अनेक भारतीय भाषाओ—असमिया, कन्नड़, बँगला, मराठी इत्यादि ने अपने उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश किया। मराठी मे इनका भाषातर हरिकेशव ने 'यात्रिक क्रमण' नाम से किया तो बाबा पदमनजी ने इसी की कल्पना पर 'यमुनापर्यटण' की रचना की। अग्रेजी से अन्य अनूदित प्रारम्भिक उपन्यासों मे 'ऐलिझाबैथ', 'पाल आणि व्हर्जिनिया', 'राबिन्सन क्रूसौ', 'गालिव्हरचा वृतान्त' आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु सबमे अधिक प्रभाव 'मिस्ट्रीज आफ दी कोर्ट आफ लण्डन' का पड़ा। हरिनारायण आप्टे-जैसे स्वतत्र मौलिक उपन्यास-लेखक तक ने अपनी 'मधली स्थिति' के प्रारम्भिक अगो मे उसका आधार ग्रहण किया। रेनाल्ड्स

---

[1] बान्दे और गोटबोले : मराठी कादबरी—तंत्र आणि विकास पृ. १०३-४

[2] वि. मी. सरवटे : मराठी साहित्य-समालोचना, पृ ७१

आदि पाश्चात्य लेखकों का यह प्रभाव मराठी लेखकों पर सन् १९१३ तक पड़ता रहा।

मलयालम के प्रथम उपन्यास 'कुन्दलता' पर स्काट की रचनाओं के अतिरिक्त शेक्सपियर के नाटक 'सिम्बैलीन' का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। बाद मे भी इस भाषा के ऐतिहासिक उपन्यासो पर स्काट का तथा सामाजिक उपन्यासो पर मेरी कारेली और जेन आस्टिन का प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रकार कन्नड भाषा मे उपन्यास लिखने की प्रेरणा वहाँ के लेखको को प्रारम्भ मे टी० व्हे द्वारा १८४१ ई० मे किये गये 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रैस' तथा एस० बी० कृष्णास्वामी द्वारा सन् १८५४ मे 'राबिन्सन क्रूसो' के अनुवादो से प्राप्त हुई। १८६५ ई० के बाद तो मैसूर के नरेशो ने अग्रेजी से अनुवादो के कार्य को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया, जिससे कन्नड का उपन्यास-लेखन नये मार्ग पर चल पडा। अनुवाद-कार्य छोडकर लेखक विदेशी कहानियो के आधार पर स्वतन्त्र उपन्यास लिखने लगे। जैसे 'रोमियो एण्ड जूलियट' के आधार पर वैकटेश भीमराव भडिवाड ने 'कमलाक्ष पद्मगधी' नाम की कथा लिखी। हिन्दी-उपन्यास भी मूलत. पश्चिम की देन है जो बँगला से छन कर आया था। डा. श्रीकृष्णलाल ने अपने एक निबन्ध 'उपन्यास का मूल स्रोत और प्रारम्भ' मे लिखा है, "हिन्दी मे उपन्यासो का प्रारम्भ अग्रेजी उपन्यासो के अन्दाज पर लिखे गये ग्रन्थो से हुआ जान पडता है।" अग्रेजी से अनूदित उपन्यासो के अतिरिक्त हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री की वर्णन शैली रेनॉल्ड्स से मिलती-जुलती है। हिन्दी के जासूसी उपन्यास तो पूर्ण रूप से यूरोप, विशेषत. इगलैंड, की देन है।

साराश यह कि भारतीय उपन्यास-साहित्य अपनी प्रेरणा के लिए पश्चिम का ऋणी है। परन्तु इस सबध मे दो-तीन बाते अवश्य ध्यान मे रखनी होगी, अन्यथा हम इस भ्रम मे पड सकते है कि भारतीय लेखको ने पश्चिम का अन्धा अनुकरण-मात्र किया एव उनमे मौलिक प्रतिभा एव विचारधारा का नितान्त अभाव था। प्रथम तो यह कि अग्रेजी का प्रभाव उपन्यासो के केवल बाह्य रूप पर ही पडा, उनकी आत्मा बहुत-कुछ भारतीय ही रही। नीति व आचार की शिक्षा, उपदेशतत्त्व की प्रधानता, प्रेमतत्त्व की प्रतिष्ठा एव शैली की सस्कृतनिष्ठता और अलंकारमयता इसी कथन को प्रमाणित करती है। इन उपन्यासो की पृष्ठभूमि तथा कथातत्त्व तो इस देश की भूमि के ही रहे, पर टैकनीक पश्चिम की थी। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रारम्भिक काल मे हमारी साहित्य की आधुनिकता इतनी अपरिपक्व थी कि उस समय तक अग्रेजी के प्रौढ विकास को ग्रहण कर लेना हमारे लिए गरिष्ठ भोजन था। चाय और बिस्कुट की तरह कुछ हल्के अग्रेजी उपन्यासो के अनुवाद करने मे ही हम दत्तचित हुए। हमारा ध्यान चटकीले रोमांस और भडकीले जासूसी उपन्यासो तक ही सीमित रहा। विभिन्न भारतीय भाषाओ मे लगभग एक-से उपन्यासो के अनुवाद का कारण यह भी था कि इन अनूदित उपन्यासो मे से अधिकाश प्रत्येक प्रदेश के विद्यालयो मे पढाये जाते थे और सभी प्रदेशों मे अनुवादको की दृष्टि सर्वप्रथम उन्ही पर पडी।

हिन्दी, मराठी व बँगला के प्रारम्भिक कथा-साहित्य पर अरबी-फारसी रोमांस का भी प्रभाव पडा, क्योकि ये तीनो भाषा-भाषी उर्दू के अधिक सम्पर्क में आये। हिन्दी के देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी इस रोमास से प्रभावित उपन्यासकार थे। प्रेमचन्दजी के अनुसार, "बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का बीजांकुर 'तिलस्म होशरुवा' से ही हुआ होगा।"[1] 'तिलस्म' तथा 'ऐयारी' दोनो ही शब्द अरबी भाषा के है। भारत मे अबुलफैजी ने अकबर के लिए १७०० पृष्ठो मे बहुत पहले फारसी मे एक कहानी लिखी थी। इसमे बहुत से तिलस्म थे, उनमे से एक का नाम 'तिलस्म होशरुवा' था। अत प्रेमचन्दजी का अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है। इन उपन्यासकारो ने अरबी-फारसी की अंगूरी मादकता तथा अद्‌भुत-रम्यता से प्रभावित हो पृथ्वी पर इन्द्रलोक बसा दिया। यदि एक ओर फारसी की जादूभरी, वासनामयी कहानियो का प्रभाव पडा, तो दूसरी ओर तिलिस्मी सीसमहल, ऐयारी बटुओ और काल्पनिक शौर्य को स्थान मिला। यही बात मराठी मे भी हुई। १८५५ ई० मे ही 'हातिमताई चरित्र' व 'बख्त्यारनामा' प्रसिद्ध हुए। उसके बाद १८६५ ई० मे चिपलूणकर ने अरबी भाषा की कहानियो का अत्यन्त सरल अनुवाद किया। 'बाहारदानीष' नामक फारसी कथा का गोडबोले ने अनुवाद किया (सन् १८६७), ये सब ग्रन्थ लोकप्रिय हुए। जिन पाठको को अद्‌भुत के प्रति आकर्षण था तथा जो अब तक उसकी प्राप्ति पौराणिक कथाओ से करते रहे थे, उनके लिए अद्‌भुत का एक नया क्षेत्र व शृंगार का एक नया विश्व खुल गया। तत्कालीन जनरुचि के कारण अरबी-फारसी रचनाओ ने रिसबुड को इतना प्रभावित किया कि उनकी भाषा मे भी स्थान स्थान पर "मुस्तकिम बिनरेख फडताळाचें दार" जैसे प्रयोग दिखाई देते है।[2] स्त्री-चरित्रविषयक मराठी-उपन्यास भी उर्दू-फारसी से प्रेरणा पाकर लिखे गए। "उर्दू-फारसी कथा-साहित्य से स्त्री-चरित्र की जो कल्पना जनता के मन मे उद्‌भूत हुई, उसी के अनुरोध से, पर उपदेश को लक्ष्य मानकर, स्त्री-चरित्र सम्बन्धी अदभुत उपन्यासों का प्रवाह स्वतन्त्रतापूर्वक बहने लगा था।"[3] बँगला एवं कन्नड पर अपेक्षाकृत कम प्रभाव पडा। इन भाषाओ मे केवल कुछ कहानियाँ ही अरबी-फारसी से अनूदित होकर आईं कन्नड मे इन सम्बन्ध मे श्री वेंकट रगो कट्टी का नाम अनुवादो के लिए प्रसिद्ध है। कुल मिलाकर फारसी-अरबी की अपेक्षा अंग्रेजी कथा-साहित्य ने ही यहाँ के लेखकों को अधिक प्रभावित किया। "अन्य सभी आदर्श असफल रहे।"[4]

अंग्रेजी संस्कृति व साहित्य का प्रभाव सर्वप्रथम उत्तर में बंगाल व पश्चिम मे महाराष्ट्र पर पड़ा, जहाँ प्रारम्भ मे ही क्रमशः बंकिम व हरिनारायण आप्टे-जैसे महान् उपन्यासकार हुए। मराठी की अपेक्षा यद्यपि बँगला-उपन्यास ने अन्य प्रदेशो के

---

[1] प्रेमचन्द : 'कुछ विचार', पृ ८२

[2] कुसुमवती देशपाडे : 'मराठी कादम्बरी', प्रथम भाग; पृ. ३१

[3] बापट आणि गोडबोले : 'मराठी कादम्बरी : तंत्र आणि विकास' ; पृ. २००

[4] भारतीय साहित्य ; अप्रैल, १९५६ ; पृ० १३८

उपन्यासकारो को अधिक प्रेरणा दी, तथापि दक्षिण की कन्नड़ आदि भाषाओ के उपन्यास को मराठी से भी प्रोत्साहन मिला। इसका एक कारण यह था कि कन्नड़ प्रदेश के अनेक विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए पूना के सुविख्यात विद्यालयो 'फरग्यूसन कालिज' और 'डैकन कालिज' मे आते थे तथा वहाँ मराठी-उपन्यासो से प्रभावित हो उनके अनुवाद की प्रेरणा पाते थे। कन्नड़ में उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ बंकिम और हरिभाऊ की कृतियो के भाषान्तर से ही हुआ। १९वी शताब्दी के अन्तिम दशक में इन दोनों लेखको के अनुवाद क्रमश बी. वेंकटाचार्य तथा गलगनाथ ने किए। गुजराती मे नारायण हेमचन्द्र ने बँगला के देवीप्रसन्न राय, बकिम एवं रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यासो के अनुवाद किए। मराठी से अनूदित रचनाएँ 'अठारमी सदीनु महाराष्ट्र', 'धारानगरीनो मुंज' और 'उषाकाल' थीं। मलयालम में उपन्यास-साहित्य जब प्रारम्भ हुआ तब बँगला-उपन्यासो के अनुवादों से। कुछ अनुवादक मूल का नाम देते थे और कुछ वैसे ही उडा लेते थे। ये आरम्भिक उपन्यास एक तरह के रोमांस ही थे। श्रीमती कल्याणी अम्माँ ने बंकिम के 'विषवृक्ष', 'कृष्णकान्तेर बिल' आदि उपन्यासो का अनुवाद करके अन्य उपन्यास-लेखकों को प्रेरणा प्रदान की। बँगला-उपन्यास का प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष परिणाम मराठी-उपन्यास पर ही नहीं, महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन पर भी पड़ा। बकिम इत्यादि के उपन्यासो के अनुवाद होने पर वे बँगला-उपन्यासो के पात्रो के नामो की मधुरता से इतने प्रभावित हुए कि अपने बच्चो के नाम भी बँगला-उपन्यासो मे से छाँट-छाँट कर रखने लगे। रा० भानुकेशव गंगानाईक ने 'वधूदर्पणमाला' नाम से 'सद्गुणी स्त्री' व 'आनन्दीबाई' नामक दो-पुस्तके बंगाली उपन्यासो के आधार पर लिखी।

हिन्दी कथा-साहित्य को उर्दू से मिली मूर्च्छना का प्रारम्भिक उपचार बँगला ने ही किया। उसके साहचर्य से हमारे कथा-साहित्य को जीवन का दैनिक चित्रपट प्राप्त हुआ। पहिले हम 'अलिफ लैला' के देश मे थे, अब अपनी माँ-बहिनों, भाई-बन्धुओं के समाज मे आये। बँगला का प्रभाव पहले अनुवादो के रूप मे आया। १८७३ ई० में सबसे पहले गदाधरसिंह ने बँगला के दो उपन्यासों 'बंगविजेता' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी मे अनुवाद किया, फिर १८७५ ई० मे 'नाटकोपन्यास' नामक पाक्षिक पत्रिका द्वारा राधाकृष्ण दास ने बँगला से अनूदित नाटक और उपन्यास प्रकाशित करने की योजना बनाई। वह योजना सफल नही हुई। बाद मे 'भारतेन्दु पत्रिका' मे यह कार्य पूर्णतः सफल हुआ। स्वयं राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्णलता' का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त 'राधारानी', 'चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश' एवं 'सौन्दर्यमयी' के अनुवाद भी बँगला से हुए। इस प्रकार "रिक्तहस्ता हिन्दी ने बँगला के सद्यःपूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द ही ग्रहण नहीं किया, इसका बहुत-सा उपकरण भी इस लघीयसी को उसी महीयसी से मिला।" भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग, दोनों कालो में अनुवादों की यह परम्परा चलती रही। श्री गोपालराम गहमरी का ध्यान बँगला के गार्हस्थ्य उपन्यासो की ओर गया और हमे 'बड़ा भाई', 'सास-पतोहू'

जैसे उपन्यास मिले। इस उत्थान-काल मे बंकिम, रमेशचन्द्र, शरत् बाबू, चारुचंद्र, आदि बँगभाषा के प्रायः सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारो की कृतियो के अनुवाद हुए। एक ओर किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो पर बँगला के ऐतिहासिक उपन्यासो का प्रभाव पडा, तो दूसरी ओर बँगला के चन्द्रशेखर की 'उद्भ्रान्त प्रेम' नामक भावात्मक रचना ने ब्रजनन्दन सहाय को प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होने 'सौन्दर्योपासक' एव 'राधाकान्त' की रचना की।

उदय-काल—१९वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय उपन्यास-साहित्य का बाल्य-काल था। बाल्य-काल के अनुरूप कुतूहल एव जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति के लिए सामग्री की माँग उस समय नितान्त स्वाभाविक थी। साथ ही राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति ने भारतीय मस्तिष्क एव मन को इतना शिथिल बना दिया था कि उसे उत्तेजक एवं रोमाचकारी पाठ्य-सामग्री की आवश्यकता थी। "स्वराज्य नष्ट होने पर अंग्रेजो के पैर जम गये थे। उनके शातिपूर्ण शासन मे कही भी गडबड या अराजकता न थी। पराक्रम के लिए अवसर न रह गया था। जीवन मे अद्भुत भी नष्ट-सा हो गया था। उस समय के मराठी जागीरदार, सामत व जमीदार ब्रिटिश सत्ता से ईमानदारी का व्यवहार कर, जो पाते थे, उसी को शातिपूर्वक घर बैठकर उपभोग करने मे ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझ बैठे थे। इस मडली का मनोरजन नीतिनिष्ठ, शृंगारपूर्ण व अलकृत शैली मे लिखे उपन्यास अच्छी प्रकार से करते थे।"[1] उपर्युक्त उद्धरण मे महाराष्ट्र के सम्बन्ध मे जो बात कही गई है, वही अन्य प्रदेशो पर भी लागू होती है। अंग्रेजी उक्ति "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" के अनुरूप युग की माँग पूरी करने के लिए ऐसे ही उपन्यास रचे गये, जो प्रणय-कथाओ, तिलस्म के गोरखधन्धों तथा अद्भुत घटनाओ एव कार्यों द्वारा पाठक के मन को उलझाये रखे। सस्कृत-साहित्य का प्रभाव भी अभी लेखको के मस्तिष्क से पूर्णत. तिरोहित नही हुआ था, अत. कुछ उपन्यास 'हितोपदेश' की उपदेशात्मक प्रणाली पर लिखे गए। कुल मिलाकर भारतीय उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल मे लेखको ने अद्भुतरम्य कथानक से संयुक्त, जासूसी, सस्ती प्रणयकथाओ वाले, उपदेश-प्रधान एव रोमाचकारी उपन्यास भेट किये। प्रारम्भिक अवस्था मे लोगो की दृष्टि बहिर्मुखी अधिक होती है, अन्तर्मुखी कम, अतः घटनाचक्र-प्रधान उपन्यासो का बोलबाला रहा। हिन्दी मे अद्भुतरम्य के प्रति पाठको की आकर्षण-वृत्ति को तृप्त करने का श्रेय यदि देवकीनंदन खत्री को है, तो मराठी मे हळवे, रिसवुड, इत्यादि को। जिस प्रकार देवकीनंदन अपने 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सतति' मे कुशल बाजीगर के समान पाठको को आश्चर्यपूर्ण स्थलो की सैर कराते है, उसी प्रकार मराठी लेखक 'मुक्ता माला', 'मजुघोषा', 'रत्न प्रभा' इत्यादि द्वारा उन्हे अद्भुत लोको में ले जाकर आश्चर्यविमुग्ध कर देते है। खत्रीजी के उपन्यासो मे यदि तलवार चलाते तिलिस्मी पुतले, दहाडते हुए शेर, लखलखा इत्यादि आवश्यक ऐयारी पदार्थों के बटुए, आदमी को

---

[1] कुसुमावती देशपाडे : मराठी कादम्बरी ; प्रथम भाग; पृष्ठ ३६-३७

निगल जाने वाले बगुले, जादू के किवाड़, ऐन्द्रजालिक ताले, मेवे के दरख्त इत्यादि मिलेंगे, तो मराठी-उपन्यासो मे भी 'मजुघोषा' के विमान-जसी अनेक अद्‌भुत वस्तुएँ मिलती है। उड़िया भाषा के आरम्भिक उपन्यासो मे भी घटनाचक्र की प्रधानता एवं अद्‌भुतरम्यता अधिक है। "इस प्रथम स्थिति के (उड़िया) उपन्यासो मे ऊँची कला की खोज करना व्यर्थ है।......जिनमे पात्र कहानी की गति से दबे से रहते हैं और कभी-कभी क्रिया-कलापो से इतना अधिक आक्रान्त हो जाते है कि बिल्कुल यांत्रिक-से प्रतीत होने लगते हैं।"[१] तामिल भाषा के प्रारम्भिक उपन्यासो की भी लगभग यही स्थिति है। उदाहरणार्थ, सन् १८७६ मे प्रकाशित 'प्रतापमुदालियार चरित्र' में अमानुषी शक्तियो, दैवी एव आश्चर्यमय घटनाओ का चित्रण प्रचुर मात्रा मे मिलता है। उसके सम्बन्ध मे सुब्रह्मण्यम् अय्यर लिखते है, "प्रतापमुदालियार-चरित्र" मे दैवी घटनाएँ बार-बार होती है। चरित्रनायक तथा नायिका पर आने वाले सकट अमानवीय शक्ति के कारण दूर हो जाते है। यह उपन्यास-कला के विरुद्ध है।"[२] इन उपन्यासों मे कल्पना की अनिर्बन्ध क्रीडा का चमत्कार एव विस्मयजनक घटनाओ की कौशलपूर्ण योजना देखने को मिलती है। इनमें न तो बाह्य जीवन की वास्तविकताओं का उद्‌घाटन होता है और न मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओ को प्रदर्शित करने का प्रयास है। कथावस्तु भी केवल कौतुकावह घटनाओ पर आश्रित होने के कारण गठी हुई नही होती। कथावस्तु का उतार-चढाव लेखक की इच्छा के अनुसार होता है, तर्क-बुद्धि के अनुसार नही। वह जीवन का चित्र नही, इच्छाओ का काल्पनिक मूर्ति-विधान होता है।

अद्‌भुत उपन्यासो की इस धारा के समकक्ष एक अन्य धारा भी इस काल मे प्रवाहित हो रही थी—यह थी जासूसी उपन्यासो की। ये उपन्यास तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासो से कुछ अधिक बुद्धिगम्य तथा स्वाभाविक है। भारत में इनके प्रादुर्भाव की प्रेरणा लेखको को अंग्रेजी के तीन प्रमुख जासूसो शर्लक होम्स, फादर ब्राउन और थौर्न डाइक के कृत्यो से मिली और सभी भारतीय भाषाओ में आर्थर कानन डाइल के उपन्यासो के अनुवाद हुए। हिन्दी मे जासूसी उपन्यासो का प्रारम्भ पहिले-पहल बंगभाषा के उपन्यासो के अनुवादो से हुआ, जो स्वत अंग्रेजी से अनूदित हुए थे या उन्ही के ढग पर लिखे गये थे। इसके अनन्तर इनका प्रचार होने पर सीधे अंग्रेजी से इनके अनुवाद होने लगे। तदुपरान्त गोपालराम गहमरी ने तो अपने मौलिक उपन्यासो से पाठको को इतना मुग्ध किया कि आज तक उनके-से उपन्यासो की माँग पूरी करने के लिए आये-दिन जासूसी उपन्यास प्रकाशित होते रहते है। तामिल मे भी 'कानन डायल एवं रेनाल्ड्स का प्रभुत्व होने से वहाँ का प्रारम्भिक उपन्यास-साहित्य जासूसी कथाओ एव निम्न कोटि की शृंगारिक गोष्ठियो तक ही सीमित

---

[१] भारतीय साहित्य : 'उड़िया-उपन्यासों का विकास'; पृष्ठ ८८; अप्रैल, १९५६

[२] सुब्रह्मण्यम अय्यर : 'तकलित्तमिव इलक्किय'

था।"[१] गुजराती मे चुन्नीलाल वर्धमान शाह ने ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ जासूसी उपन्यास लिखकर इस धारा मे योग दिया। मराठी मे इन्हे 'गुप्त पोलिस कथा' कहते हैं। अन्य-लेखकों के साथ-साथ हरिभाऊ आप्टे ने भी इस विषय पर अपनी लेखनी की परीक्षा करने का विचार किया। अत उनकी दीर्घकथा, "चाणाक्षपणा चा कळस' मे जासूसी के चातुर्य एव तीव्र बुद्धि का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मराठी मे अनेको जासूसी उपन्यास अग्रेजी उपन्यासो के भाषान्तर, रूपान्तर या कल्पान्तर के रूप मे आए, जो 'एकाणा माला' आदि में प्रकाशित होते रहे। मौलिक उपन्यासो मे 'प्रेम शृखला', 'तिरंगी सामना', 'जर्मन उच्चाटण', 'मोत्या चा कंठा', 'मर्दानी सौन्दर्य' (८ खण्ड), 'मुगुटमणि', 'सोनेरी टोळी' आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि आधुनिक समालोचक ऐसे उपन्यासो की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखते है तथा उनके प्रति तिरस्कार-भाव व्यक्त करते हैं, तथापि उनका महत्त्व भुलाया नही जा सकता। जासूसी साहित्य जहाँ एक ओर काव्यात्मक न्याय द्वारा अपराधियो को चेतावनी देता है, वहाँ दूसरी ओर अपराध-वृत्ति के मूल कारणो पर प्रकाश भी डालता है तथा किस अपराध के लिए कैसा दण्ड हो, इसका भी उल्लेख करता है। फिर यह भी नही कहा जा सकता कि प्रारम्भिक काल मे जो घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए, उनमे कला का कोई सौष्ठव नही है। इस परम्परा का नाश भी होना सम्भव नही, क्योकि जिस प्रकार नए-नए ढग से अपराध करते रहना मानव की प्रकृति है, उसी प्रकार उनका रहस्योद्घाटन होना भी निश्चित है। इसीलिए कतिपय नए लेखको ने इस प्रकार के उपन्यासों को कुछ नया रूप दिया है। उनमे राजनीतिक आन्दोलनो तथा वैज्ञानिक आविष्कारो का आधार अधिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए लिया गया है। उनका क्षेत्र भारत की सीमा के बाहर तक पहुँचा दिया गया है तथा नए-नए अस्त्र-शस्त्र भी दिखलाये गये हैं। हिन्दी में दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यासो मे ये बाते मिलती है।

तीसरी धारा थी प्रेमाख्यानक रोमासो की। इनमें से कुछ तो सस्ती प्रणय-कथाओ का रूप धारण कर आए और कुछ ऐतिहासिक उपन्यासो का। बँगला मे बंकिम के ऐतिहासिक व रोमाटिक दोनो प्रकार के उपन्यासो मे प्रेम-तत्त्व का समावेश है परन्तु इनमें मराठी, तामिल तथा हिन्दी की नग्न शृंगारिकता एवं विलासप्रियता नही है। लेखक के अधिक सयमशील होने के कारण उसमे प्रेम का उदात्त स्वरूप पाया जाता है। खेद है कि बँगला के अन्य लेखक इस सयम को खो बैठे। मराठी मे रिसबुड, हळबेशास्त्री, साळूबाई तांबवेकर आदि के उपन्यासो मे उद्दाम प्रेम की धारा प्रवाहित होती पायी जाती है। उपन्यासो के नामो, जैसे 'मदनमंजरी', 'शृंगार-मंजरी', 'मदनबाण व पुष्पावती', 'चन्द्रप्रभा विरह-वर्णन', आदि से ही उनकी शृंगारिक, कृत्रिम व अद्भुतरस-प्रधान प्रवृत्ति का आभास मिल जाता है। रिसबुड के विषय में

---

[१] दवट और गोडबोले: मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास; अध्याय आठ। तामिल कादंबरी; लेखक श्री० एम० श्री निवासचारी, पृष्ठ ३६७

कुसुमावती देशपाडे का मत देखिये—"रिसवुड की रचनाओ मे शृंगारिकता ही अधिक मिलती है। वस्त्र, आभूषण इत्यादि के उनके वर्णन मे शुद्ध श्रीमंती ठाठ ही नही, रगीनपना एव सुखलोलुपता है।—विलासप्रियता व कृत्रिमता की रिसवुड ने हद कर दी है।"[1] सी० एस० श्रीनिवासाचारी के अनुसार तामिल उपन्यास का क्षेत्र तो आरम्भ मे 'अश्लील शृगार कथा'[2] तक ही सीमित था। हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो मे प्रेम, मान, अभिसार आदि प्रसंगो के सस्ते चित्र, वासनारजित व ऊहात्मक उक्तियाँ 'रीति-काल' के काव्य या फारसी काव्य-परम्परा का स्मरण दिला देती है। उनके सामाजिक उपन्यास कहने भर को सामाजिक है। यदि सामाजिक समस्याएँ—दहेज, बालविवाह आदि है भी, तो वे उपन्यास की अंग प्रतीत नही होती बल्कि गलग्रह जान पडती हैं। वे आरम्भ से अत तक रहस्य एव कुतूहल से पूर्ण है, यद्यपि यह कुतूहल किसी-न-किसी प्रेम-प्रपच से सम्बन्धित कर दिया गया है।

प्रेम की यह उद्दाम धारा भारतीय भाषाओ के प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी उपलब्ध होती है। ऐतिहासिक उपन्यास मे ऐतिहासिक घटनाओ पर आधारित कथानक के साथ-साथ काल्पनिक कथानक का समावेश करना नितान्त आवश्यक होता है अन्यथा ऐतिहासिक उपन्यास शुष्क और नीरस इतिहास-मात्र रह जाता है। इस काल्पनिक कथानक मे नायक-नायिका या उपनायक-उपनायिका की प्रेमगाथा गूँथने की प्रणाली प्राय सम्पूर्ण विश्व के ऐतिहासिक उपन्यासों मे पाई जाती है। भारतीय भाषाएँ भी इसका अपवाद नही। वकिम के अतिरिक्त अन्य बंगला ऐतिहासिक लेखको की कृतियो मे शृगार के निम्न कोटि के अतिरजित चित्र दिखलाई पड़ते है। 'चित्तौर-चातकी' को इतना मर्यादा-विरुद्ध समझा गया कि उसकी सारी अनूदित प्रतियाँ नष्ट कर देनी पडी। तामिल के दुरैसामी अय्यगार के उपन्यासो मे नग्न अश्लील-चित्रण मर्यादा का अतिक्रमण कर गया है तो तेलगु के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'हेमलता' मे भी चित्तौड की रानी पद्मिनी और राणा भीमसिंह के समय की एक प्रेम-कथा है। मदनसिंह और हेमलता का प्रेम ही कथा का केन्द्र है। अलाउद्दीन के दुराग्रह, भीमसिंह के वन्दी बनाये जाने तथा गोरा-वादल के शौर्य की घटनाएँ हैं अवश्य, पर उनका स्थान गौण ही है। हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों मे राजपूत रमणियो के निम्न स्तर के शृगारिक वर्णन मिलते है। असमिया भाषा के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'मनोमती' मे बर्मा के तृतीय आक्रमण के समय की राजनीतिक हलचल की पृष्ठभूमि पर मनोमती के प्रेम-वृत्त का वर्णन है, तो उसी भाषा मे 'रँगीली' नामक उपन्यास मे अहोम राजा चन्द्रकान्तसिंह की दासी एव उसके प्रेमी संतराम की प्रणय-गाथा है। उडिया के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'पद्ममाली' (सन् १८८८) मे भी जयसिंह तथा उसकी बालमित्र सौदामिनी

---

[1] कुसुमावती देशपाडे : मराठी कादवरी, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०-३१

[2] वापट और गोडबोले : मराठी काढवरी तत्र आणि विकास; अध्याय आठ: तामिल कादवरी—लेखक सी० एस० श्रीनिवासाचारी, पृष्ठ ३६७

की प्रेम-कथा सूत्रबद्ध की गई है। यह प्रेम-कथा पूर्णत. काल्पनिक है, केवल पाठक को आकृष्ट करने के हेतु रखी गई है। फकीरमोहन की 'लछमा' में भी लछमा की कहानी केवल एक अवान्तर प्रसग है जिसे पूरी कथा की औपन्यासिक रोचकता बनाये रखने के लिए जोड़ दिया गया है। कन्नड़ का 'कुमुदिनी', और बँगला के 'अगुरीय-विनिमय', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'मृणालिनी', 'चित्तविनोदिनी' इत्यादि भी इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासो मे इतिहास या ऐतिहासिक सत्य के प्रति विशेष आदर नही दिखता। मराठी मे ना० वि० बापट, बळवंत मनोहर पडित तथा हिन्दी के किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओ मे कल्पनाधिक्य के कारण ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा विचित्र प्रसगो, अद्भुत घटनाओ एवं शृगारमयता की प्रधानता है। गुजराती के प्रथम उपन्यास 'करण घेलो' मे भी असंबद्ध आनुषगिक कथाओ एव अद्भुत रस निष्पन्न करने वाली चमत्कारपूर्ण घटनाओ की योजना है। तेलुगु के उदयकालीन उपन्यासकारो के पास इतिहास-सम्बन्धी प्रामाणिक आधार कम थे। आंध्र-प्रदेश का समग्र इतिहास तो आज तक पूरा-पूरा संपादित नही हुआ। परिणाम-स्वरूप तेलुगु के प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासो के विषय राजस्थान, काश्मीर और महाराष्ट्र के इतिहास से सम्बन्धित हैं। उस समय उपन्यास के शिल्प (टेकनीक) मे दिशा-दर्शन कराने वाले उपन्यास भी नही थे। लेखको का सारा ध्यान उपन्यास को रोचक बनाने और घटनाओं की योजना मे विचित्रता बनाये रखने मे केन्द्रित होता था। प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'हेमलता' इसका प्रमाण है। साराश यह कि ये उपन्यास नाम-मात्र को ऐतिहासिक होते थे। यह ठीक है कि कुछ पात्र तथा कथानक की कुछ घटनाएँ ही ऐतिहासिक हो सकती हैं, शेष के लिए कल्पना का आश्रय लिया जाता है, परन्तु इनमे तो ऐतिहासिक उपन्यास का अत्यन्त आवश्यक अग वातावरण भी नाम-मात्र को रहता था। कभी-कभी यह विकृति पाठक को भ्रम मे डाल देती है।

इन सब दोषो के होते हुए भी उनका अपना महत्त्व है। प्रत्येक क्षेत्र के उपन्यासो मे, अपने क्षेत्रीय व्यक्तित्व को कुंठित किये बिना ही, अखिल भारतीय रूप की परिपुष्टि हुई है। समग्र भारत की समान चिन्तना, समान शैली और समान कला-सौष्ठव के दर्शन यहाँ होते हैं जिससे उसकी बौद्धिक, सांस्कृतिक एव राजनीतिक अखडता सिद्ध है। फिर यह प्रवृत्ति उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल ही मे रही हो, यह सत्य नही। उदाहरणार्थ, मराठी और हिन्दी के बाद के ऐतिहासिक उपन्यासकारो नाथमाधव, हडप, राहुल सांकृत्यायन आदि के उपन्यासो मे भी हम काल-दोष तथा अद्भुत का मिश्रण पर्याप्त मात्रा मे पाते हैं। दूसरे, सभी ऐतिहासिक उपन्यास इन त्रुटियो से आक्रान्त नही थे। उड़िया के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'पद्ममाली' के अधिकाश तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक हैं। 'लछमा' नाम की कृति के अलीवर्दी, मुर्शिदकुली खाँ, भास्कर पडित आदि पात्र एवं राइबणिया, हलदीपदा

आदि स्थान शुद्ध ऐतिहासिक है। तेलगु के प्रसिद्ध उपन्यासकार लक्ष्मी नरसिंहम् को अपने उपन्यास 'अहिल्याबाई' मे देशकाल के चित्रण मे पर्याप्त सफलता मिली है। सी० वी० रामन पिल्ले ने मातण्डवर्मा के काल की ऐतिहासिक घटनाओ का गभीर अध्ययन कर मलयालम भाषा का पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'मार्ताण्डवर्मा' लिखा। इसमे अन्त कलह, वाह्य आक्रमण, राज्य-विस्तार के प्रयत्नो आदि का यथार्थ चित्रण है। इसी प्रकार उनके अन्य दो उपन्यास 'धर्मराजा' और 'रामराज बहादुर' भी ऐतिहासिक घटनाओ तथा पात्रो पर आधारित है। बँगला तथा मराठी के कुछ उपन्यासो मे भी ऐतिहासिक वातावरण का यथार्थ अङ्कन करने की चेष्टा दृष्टिगत होती है। बकिम तथा गुजीकर की रचनाएँ इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है।

लोक-जागृति के क्षणो मे लेखक प्राचीन इतिहास के गरिमामय चित्र उपस्थित कर पाठको के हृदय मे आत्मविश्वास जाग्रत करने की चेष्टा करते है। प्राचीन वीर योद्धाओ के शौर्य, त्याग एव पराक्रम का वर्णन कर वे देश-प्रेम एव राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न करते है। यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यासो मे सर्वाधिक सफल हो सकती है। अत. भारतीय ऐतिहासिक उपन्यासो मे हम लेखको को राष्ट्र-प्रेम की भावना उत्पन्न करते हुए देखते हैं। बकिम के उपन्यासो मे राष्ट्राभिमान की भावना भरी पडी है। 'आनंदमठ' का नायक सत्यानद विद्रोही सन्यासियो का नेता और राष्ट्रीयता के ऊँचे भावों से अनुप्रेरित व्यक्ति है। 'आनदमठ' के इस क्रान्तिकारी ने भारतीय आतंकवादी एवं अन्य राजनीतिक आन्दोलनो को बहुत समय तक प्रेरणा दी। असम के उपन्यासकारों ने, जिनमे रजनीकान्त वरदले एव लक्ष्मीनाथ के नाम प्रमुख है, मुगल और बर्मी आक्रमणकारियो के विरुद्ध प्रदर्शित असम के वीरो और वीरागनाओ के राष्ट्रीय शौर्य का वर्णन करते हुए पाठको के मन मे राष्ट्रीय गौरव का भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की। महाराष्ट्र मे यही कार्य गुजोकर तथा हरिभाऊ ने किया। उडिया उपन्यासकारो ने राष्ट्रीय जागरण के युग मे अतीत को ऐसी दृष्टि से देखा और चित्रित किया कि वह वर्तमान और भावी को एक सूत्र मे आवद्ध कर सके। रामचन्द्र आचार्य ने वर्तमान उडिया-सतति को अपने गौरवपूर्ण अतीत मे श्रद्धा रखने की प्रेरणा दी, जिससे वे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडने के लिए प्रस्तुत हो सके। इस प्रकार ये ऐतिहासिक उपन्यास देश-प्रेम आदि उदात्त भावो के निरन्तर प्रेरणा-स्रोत बने रहे।

ऐतिहासिक होते हुए भी इन उपन्यासो मे कही-कही समाज-सुधार सम्बन्धी विचार उपलब्ध होते है। मराठी मे बळवत मनोहर पडित का 'सुशील यमुना', वासुदेव बळवंत फडके का 'वडाची धूमधाम' व 'लक्ष्मी आणि सरस्वती' सामाजिक व ऐतिहासिक सीमारेखा पर प्रतिष्ठित है। बँगला और हिन्दी के उपन्यासो मे भी यही बात पाई जाती है। किशोरीलाल गोस्वामी के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'कुसुमकुमारी' मे लेखक का उद्देश्य इतिहास-कथन के साथ-साथ देवदासी-प्रथा का खण्डन व हिन्दू-समाज का उद्धार था। इस उपन्यास की नायिका के देवदासी-प्रथा के

विरुद्ध तर्क स्वयं लेखक के अपने तर्क है। अन्य उपन्यासों मे भी "हिन्दू-समाज के अनाचारो को दूर करने का भरसक प्रयत्न लेखक ने किया है।"[1] उड़िया के प्रसिद्ध लेखक रामशंकर राय के 'विवासिनी' का मुख्य विषय यद्यपि उडीसा में मराठों के अत्याचारों का वर्णन है, तथापि इन्होने इसमें विधवा-विवाह के विरुद्ध विचार व्यक्त किए हैं। गुजराती का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'करण घेलो' भी "लोकशिक्षण तथा समाज-सुधार की दृष्टि से खास तौर पर लिखा गया था।"[2] सी० वी० रामन पिल्ले के तीनो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐतिहासिकता के साथ-साथ सामाजिकता भी है। ऐतिहासिक उपन्यासो मे समाज-सुधार सम्बन्धी विचारो की अवस्थिति इस बात की परिचायक है कि तत्कालीन सामाजिक कुरीतियो एवं अनाचारो ने लेखको के हृदय को इतना प्रभावित किया तथा उनके हृदय को समाज के करुण चित्र देखकर इतना गहरा आघात लगा कि वे विषय की सगति एव औचित्य को भूल गए तथा अपने क्रान्तिकारी विचारो को अभिव्यक्त किये बिना न रह सके।

कुछ शुद्ध सामाजिक उपन्यास भी इस काल मे लिखे गए। कतिपय भाषाओं मे तो प्रथम उपन्यास का आधार ही सामाजिक प्रश्न रहा। अद्भुतरम्य एव चमत्कारपूर्ण कथानक वाले उपन्यास भी उनके अस्तित्व को न मिटा सके। हाँ, कुछ उपन्यासो मे सामाजिक यथार्थ व अद्भुत का मिश्रण अवश्य हो गया। उदाहरणार्थ, मराठी के 'काळपुरुष' व 'नाहीच ना ऐकायचं' मे सामान्य जीवन व अद्भुत रोमहर्षक प्रसगो का समन्वय है। विवाह-योग्य कन्या की लग्न के विषय मे पिता की चिंता, विवाह मे अनेकानेक बाधाएँ, नवविवाहिताओ को ससुराल मे होने वाले कष्ट, गहनो के कारण उत्पन्न होने वाली आपदाएँ, विधवा-जीवन की विडम्बना, वृद्ध-विवाह एवं बाल-विवाह आदि इन सामाजिक उपन्यासो के विषय थे। बगला मे सामाजिक उपन्यासो का प्रारम्भ १९वी शताब्दी के प्रथम चरण में उसी समय हो गया था, जब ब्रिटिश व्यापारियो की कृपा से वहाँ बाबू नामक नया देशी आभिजात्य वर्ग उत्पन्न हो गया। इन बाबूओ के जीवन और कार्यों पर जो व्यगचित्र 'बाबू', 'नवबाबू विलास' इत्यादि लिखे गए, वे ही मानो बंगाला सामाजिक उपन्यासो के पूर्वाभास थे। इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५५) था। संयुक्त परिवार की दीर्घकाल से प्रचलित प्रणाली के ढहने लगने पर बगाला उपन्यासकारो को एक और आकर्षक विषय मिल गया और इस पर कितने ही उपन्यास लिखे गए। वहाँ के समाज-सुधारको ने भी उन्हे पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मराठी के 'वेणू', 'नारायणराव व गोदावरी' इत्यादि उपन्यास वस्तुनिष्ठ एवं सामाजिक ध्येयवाद से प्रेरित है। हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी के अनेक उपन्यासो का विषय सामाजिक अनाचार ही है। केरल की सामाजिक परिस्थितियो ने वहाँ के साहित्यिको को सामाजिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी। केरलीय समाज मे

---

[1] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ९९

[2] भारतीय साहित्य (अप्रैल १९५९) ; गुजराती के ऐतिहासिक उपन्यास , लेखक डा० भोगीलाल जयचन्द्र भाई साडेसरा; पृष्ठ ११०

नम्पूतिरी ब्राह्मणो का विशेष स्थान, कुटुम्ब-व्यवस्था मे मामा का अधिकार, इनके कारण उत्पन्न होने वाली विषम परिस्थिति आदि का यथार्थ चित्रण करते हुए मलयालम के सामाजिक उपन्यासकारों ने समाज की स्थिति सुधारने का प्रयास अपने उपन्यास-लेखन द्वारा किया। चदू मेनन का 'इन्दुलेखा' इसी प्रकार की कृति है। तेलुगु के सर्वपरिचित साहित्यकार वीरेशलिंगम, जो तेलुगु के 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' कहलाते है, ने भी सामाजिक उपन्यास लिखा। उनके 'राजशेखर-चरित्र' में समाज में प्रचलित अन्धरूढियो—बालविवाह, वृद्धविवाह, देवदासी-प्रथा इत्यादि का निर्मम खडन किया गया है। तामिल का 'कमलाबाल चरित्र' (१८९७ ई०) भी १९वी सदी के अन्तिम अश के तामिलनाड का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करके सुधार की प्रेरणा देता है। अपढ स्त्रियों, तामिल पडितो, गाँव के जमीदारो, पुलिस, चोरों इत्यादि का इतना सजीव चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रामो में होने वाले मनोरजन, पारस्परिक कलह, अन्धविश्वास आदि का वर्णन भी यथार्थ की भूमि पर होने के कारण अत्यत प्रभावशाली हुआ है।

इस काल के सभी भाषाओ के उपन्यासो की शैली अलकार-प्रधान, सस्कृत-निष्ठ एवं समासबहुला रही, क्योंकि बाण की 'कादम्बरी' का आदर्श उनके सम्मुख था तथा अभी संस्कृत-साहित्य की कलात्मकता पूर्णत: विस्मृत नही हो पाई थी। मराठी के अद्भुतरम्य उपन्यासो की भाषा के विषय मे कुसुमावती देशपाडे का मत है—"उनकी शब्दावली सस्कृतोद्भव, उनके साहित्य-सम्बन्धी आदर्श सस्कृत-साहित्य के है……।"[1] लेखको की प्रवृत्ति अपनी बात को यथाशक्ति सुन्दरता एव अलंकारमयता के साथ कहने की थी। अनुप्रास, श्लेष, कृत्रिम उपमा, उत्प्रेक्षा की जमघट प्रत्येक पृष्ठ पर मिलती है। पात्रो के स्वभाव व वर्गस्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने का प्रयत्न किसी भी लेखक ने नही किया है। दासियाँ तक विनोदपूर्ण उपमा-अलकार का प्रयोग करती है। ऐतिहासिक उपन्यास भी इस दोष से मुक्त नही हैं। "(ऐतिहासिक) उपन्यास की भाषा व रचना-शिल्प पाडित्यपूर्ण और 'मुक्तामाला' आदि उपन्यासो-जैसा है।"[2] हिन्दी मे देवकीनन्दन खत्री की भाषा मे यह अलकार-प्रियता नही, परन्तु किशोरीलाल गोस्वामी के आरभिक उपन्यासो मे संस्कृतनिष्ठ, समासबहुला और अलंकृत भाषा का व्यवहार अवश्य हुआ है। मलयालम के प्रसिद्ध उपन्यासकार रामवर्मा अप्पन-तम्पुरान के 'भुतरायर' की भाषा भी अनुप्रासो और शब्द-विन्यास की सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। बँगला के प्रारभिक उपन्यासो मे भी भाषा की अलकारमयता पाई जाती है।

इस प्रथम स्थिति के उपन्यासो मे, कुछ अपवादो को छोड़कर (जैसे सी० वी० रामन पिल्लै के ऐतिहासिक उपन्यास), पात्र कहानी की गति मे दब-से गए हैं। उनमे न तो चरित्रो का विकास हो सका है और न पात्रो का मनोविश्लेषण करने की

---

[1] कुसुमावती देशपाडे : 'मराठी कादम्बरी'—प्रथम भाग; पृष्ठ २५

[2] कुसुमावती देशपाडे : 'मराठी कादम्बरी'—प्रथम भाग; पृष्ठ ४६

ही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। पात्रों के कथोपकथन बहुत लम्बे, एवं कहीं-कही अस्वाभाविक है। पात्र अपने चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए स्वतत्र नही, लेखक स्वयं बीच-बीच में उपस्थित हो उनके गुण-दोषों की सूचना देता है। लम्बे-लम्बे वर्णनों की भरमार पाठको को पन्ने पर पन्ने छोड़ने के लिए बाध्य करती है। उनसे न तो पात्रों के चरित्र पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है और न कथावस्तु अग्रसर होती है। अनुपयोगी अवान्तर प्रसगो का विवेचन उपन्यास-कला को आघात पहुँचाता है। विस्तृत दृश्य-वर्णन, उपदेशक दृष्टि और असबद्ध आनुषगिक कथाएँ वस्तुविन्यास को शिथिल बना देती हैं। उपदेश और शिक्षा की प्रवृत्ति सामाजिक उपन्यासो मे ही नही, तिलस्मी एव ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी पाई जाती है। कदाचित् इसी उपदेशवृत्ति से अनुप्ररित हो इस काल के अधिकाश उपन्यासकारों ने काव्यात्मक-न्याय (पोयटिक जस्टिस) के सिद्धान्त का प्रयोग किया है। कर्म-फल से कोई पात्र नही बचता है। बुरे कर्म का बुरा और अच्छे का अच्छा फल दिखलाते हुए उपन्यास समाप्त होता है। आधुनिक कला के मानदंडों से मापने पर ये त्रुटियाँ उस काल के उपन्यासो मे अखरती है। पर इन त्रुटियों के लिए उनका युग, उनकी परिस्थितियाँ, पाठकों की रुचि, साहित्य की परम्परा आदि उत्तरदायी है। उन रचनाओ को आज के मानदडों से परखने पर भले ही दोषपूर्ण कहा जाय, पर उनका अपना महत्त्व है जिसे विस्मृत नही किया जा सकता।

उत्थान-काल

समय की गति के साथ विचारधारा एव साहित्य की मान्यताओ मे परिवर्तन हुए। सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो ने हमारे कथा-साहित्य को प्रभावित किया। बगाल के ब्राह्मसमाज ने न केवल बगाल की अपितु आन्ध्र इत्यादि दक्षिणी प्रदेशों की भावभूमि मे भी क्रान्ति उपस्थित कर दी। ब्राह्मसमाज के समान ही अन्य सामाजिक आन्दोलनो—आर्यसमाज एव प्रार्थना-समाज ने क्रमशः हिन्दी, पजाबी तथा मराठी क्षेत्रों मे अपना स्थान बनाया। ये आन्दोलन सनातन अन्धरूढियो एव परम्परागत कुरीतियो के विरुद्ध थे। इनकी प्रेरणा से समाज-सुधार की जो लहर चली, उससे उपन्यास-साहित्य असपृक्त न रह सका, फलस्वरूप सभी भारतीय भाषाओ के उपन्यास-साहित्य मे विभिन्न सामाजिक अनाचारो, कुरीतियो, बीभत्स एव अत्याचारपूर्ण रूढियो, ढोगो और आडम्बरो का यथार्थ अकन हुआ तथा कुछ लेखको ने उन विभीषिकाओं से बचने का भी उपाय बताया। प्रारम्भ मे लेखको के हृदय मे आदर्श के प्रति श्रद्धा एव निष्ठा थी, अत अधिकांश रचनाओ मे हमे आदर्शोन्मुख यथार्थ के दर्शन होते हैं।

बँगला तथा मराठी मे समाज-सुधार सम्बन्धी रचनाएँ हिन्दी से पहले लिखी गईं। दहेज-प्रथा और विधवा-विवाह की समस्याओ पर लिखे बँगला उपन्यास अपने अनूदित रूप मे हिन्दी जनता मे बड़ी रुचि के साथ ग्रहण किए गये और इस प्रकार जनता की जागी हुई रुचि को तृप्त करने के लिए हिन्दी में भी सामाजिक उपन्यासों का जन्म हुआ—जिसका फल था प्रेमचन्द-साहित्य। 'सेवासदन', 'कायाकल्प',

'गबन', 'निर्मला' आदि मे उन्होने समाज की विभिन्न रूढियो को स्पर्श किया है। उर्दू के डा० नजीर अहमद भी सुधारवादी उपन्यास-लेखक थे। उनके उपन्यास 'तौबुत ननसूह', 'मीरा आतुल ओरुस' अविस्मरणीय कृतियाँ है। अस्मत चुगताई का 'टेढ़ी लकीर' समाज की उन कुरीतियो का खण्डन करता है जो हमारी जड़ मे घुन की तरह लग गई है। गुजराती मे के० एम० मुशी ने अपने सामाजिक उपन्यासो 'स्वप्नद्रष्टा' आदि मे हिन्दू सामाजिक जीवन के विविध दोष दिखाकर तरुण पीढी के सन्मुख नवीन आदर्श एव ध्येय रखे। पजाबी भाषा मे भी कुछ सामाजिक सुधार सम्बन्धी उपन्यास लिखे गए। नानकसिंह ने १९२८ ई० में 'मतरेई माँ' (सौतेली माँ) नामक उपन्यास लिखकर पाठको का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट किया। अबतक वे चौबीस उपन्यास लिख चुके है। "इनके उपन्यासो के विषय स्पष्टत. सामाजिक सुधार के आदर्श से अनुप्राणित हुए है।"[1] असमिया उपन्यासकारो पर भी बीसवी शताब्दी के आरम्भ से ही सामाजिक असमानताओ, बालविवाह तथा विधवा-विवाह के विरोध इत्यादि का किसी न किसी मात्रा मे प्रभाव पड़ा और उन्होने इन विषयो पर सुधारक दृष्टिकोण से उपन्यास लिखे। उड़िया मे फकीरमोहन सेनापति का वही स्थान है जो हिन्दी मे प्रेमचन्द का, बँगला मे बंकिम का और अंग्रेजी में हार्डी का। उनकी कृतियो 'छमाण आठगुंठ', 'प्रायश्चित' और 'मामु' मे सामाजिक सुधार का स्वर प्रमुख है। उड़ीसा के सामाजिक जीवन का शत-प्रतिशत सच्चा चित्र अकित करते हुए भी उन्होने किसी पर आघात नही किया है। समाज-सुधारक और व्यंगकार होते हुए भी इस दोष से मुक्त रहना उनकी सहृदयता एव उदारता का परिणाम था। उडिया के दूसरे उपन्यासकार रामशंकर राय ने भी 'विवासिनी' मे विधवा-विवाह सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं।

कन्नड़ मे केरूर वासुदेवाचार के उपन्यासो मे चारो ओर के सामाजिक जीवन का चित्र है, तो थिरुमलम्बा ने उपन्यास का उपयोग स्त्री-सुधार के लिए किया है। कन्नड़ के प्रसिद्ध उपन्यास 'सरसाम्मना समाधि' मे सती स्त्री के संस्कारो व ध्येयो की पृष्ठभूमि पर स्त्री-जीवन की दयनीय एव करुणापूर्ण स्थिति का चित्रण है। तेलगु मे वीरेशलिंगम् ने, उपन्यास-जैसे मनोरजनकारी साहित्य को अधिक प्रभावशाली समझ कर, उसका उपयोग समाज-सुधार के लिए किया। तामिल का समाज-सुधार सम्बन्धी उपन्यास 'नामोन्दु निनैवक' अमीर घर के विवाह-उत्सवो की मूर्खताओ का दम्भ-स्फोट करता है।

सारांश यह है कि समाज की कुरीतियो एव उनके सुधार को लेकर लगभग सभी भारतीय भाषाओ मे २०वी शताब्दी के आरम्भ से लेकर (कुछ भाषाओ मे उससे भी पहले से) अब तक उपन्यास निकलते रहे हैं। हाँ, लेखको का दृष्टिकोण समय-समय पर अवश्य बदलता रहा है। प्रारम्भ मे यदि वे आदर्शोन्मुख थे तो अब यथार्थवादी है। पहले यदि उनका ध्येय सुधार करना एव आदर्श-प्रतिष्ठा था, तो अब केवल यथार्थ

---

[1] प्रभाकर माचवे : समकालीन भारतीय उपन्यास—'आलोचना'—उपन्यासविशेषांक; पृष्ठ २१८

बीभत्स चित्र अंकित कर उनके प्रति पाठक की तीव्र जुगुप्सा एव करुणा जगाना है। बँगला-साहित्य मे एक का प्रतिनिधित्व रवीन्द्र करते है तो दूसरी का शरद। दोनो मे वास्तविकता है, दोनो प्रचलित नीति और समाज-व्यवस्था के विरुद्ध है। परन्तु एक मे स्निग्धता और कोमलता है, तो दूसरे मे तीक्ष्णता, निर्भीकता एव निर्ममता है। कन्नड़ मे कारन्तजी ने अपने उपन्यासो मे आदर्शोन्मुख यथार्थ का चित्रण किया है। उनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'जारुतदारियल्लि' मे शिवू नामक आदर्शवादी युवक डाक्टर का चित्रण है जो आदर्श-मार्ग पर चलते हुए सम्पूर्ण विघ्नो और बाधाओ को पार कर अपने साध्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। गुजराती का प्रथम उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' आदर्शवादी वातावरण की सृष्टि करता है। उसमें सन्निविष्ट आदर्श आजतक गुजराती जनता को नवजीवन प्रदान करता रहा है। दूसरे उपन्यासकार रमणलाल वसन्तलाल देसाई गांधीवादी विचारधारा के पोषक होने के कारण प्रेमचद की तरह आदर्शवादी हैं। हिन्दी मे इस प्रवृत्ति के मुख्य समर्थक प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक और वृन्दावनलाल वर्मा है। मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासो में ध्येयदृष्टि व वास्तववाद का मधुर मिलन है। "हरिभाऊ के उपन्यासो मे यथार्थ व आदर्श का समिश्रण होने से ही वे जैसे समाज की वास्तविक स्थिति के चित्र है, वैसे ही उसके मार्गदर्शक भी।"[1] मामा वरेरकर, वि० स० खाँड़ेकर तथा सानेगुरुजी इस धारा के अन्य प्रमुख लेखक हैं जिन्होंने समाज की दुर्बलताओ का यथार्थ चित्र अकित करने के साथ-साथ आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। यह धारा आज भी अविरल गति से प्रवाहित हो रही है यद्यपि उसका वेग एव प्रवाह कुछ मन्द अवश्य पड गया है। इस धारा के अधिकाश लेखको को गाधीजी एवं उनके सिद्धान्तो से प्रेरणा प्राप्त हुई। हिन्दी मे प्रेमचन्द, सियाराम शरण, कौशिक और जैनेन्द्र; मराठी मे वि० स० खाँडेकर और सानेगुरुजी; गुजराती मे रमणलाल वसंतलाल देसाई तथा धूमकेतु; उर्दू मे हयातुल्ला असारी; कन्नड़ में श्री इनामदार, मिर्जी अण्णाराव तथा श्री अ० न० कृष्णराव और असमिया मे देवचन्द्र तालुकेदार ऐसे ही लेखक है जिन्होने गाधीजी की विचारधारा का अपने उपन्यसो मे समावेश कर आदर्श का निर्माण किया है।

वग-भग, स्वदेशी-आन्दोलन और स्वराज्य की माँग के रूप मे असहयोग-आन्दोलन ने हमारा ध्यान राजनीतिक हीनता एव परतन्त्रता की ओर खीचा। स्वदेशी-आन्दोलन वगाल की उपज था। वह आरम्भ मे मुख्यत वगाल के कथा-साहित्य मे ही प्रकट हुआ, परन्तु अन्य भाषाओ के उपन्यासो पर भी उसकी छाया पडी। प्रेमचन्द के समय तक असहयोग-आन्दोलन विशद रूप मे आ गया था। अत उनके 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि मे गाधीजी के राजनीतिक आन्दोलन एव सिद्धान्तो का विशद चित्रण है। ऊपर जिन विभिन्न भापाओ के उपन्यासकारों के नाम हमने गाधीवादी लेखको के रूप मे दिये हैं, उन सबने इन राजनीतिक आन्दोलनो पर उपन्यास लिखे। कुछ उपन्यास-लेखको ने गाधीवादी विचारधारा का विरोध भी किया। इनमे

---

[1] ग. त्र्यं० माँडखोलकर : माझे आवडते लेखक, पृष्ठ १२६

अधिकतर मार्क्सवाद से प्रभावित लेखक है; जैसे हिन्दी मे यशपाल और राहुल साकृत्यायन या मराठी मे ग० त्र्य० माडखोळकर। यशपाल के 'देशद्रोही' तथा माडखोळकर के 'कान्ता' मे गाधीजी और उनकी राजनीतिक विचारधारा को लेकर तीखे व्यग्य कसे गए है। यदि व्यग्य ही होता तब तो क्षम्य था पर उसमे विद्रूप भी मिश्रित हो गया है। इन राजनीतिक उपन्यासों का एक दोष यह भी है कि उनमे राजनीति गौण तथा वासनामिश्रित रोमास प्रधान हो गया है। प्रभाकर माचवे के शब्दो मे, "राजनीति केवल क्रीत दासी की तरह इन प्रणयवेनाओं की क्रीडाओ की तटस्थ साक्षिणी रहती है। प्रो० फडके के लिए उपन्यास का नायक क्रान्तिकारी है या क्रिकेटियर, इससे कोई विशेष फरक नही लगता। पार्श्वभूमि का सौन्दर्य वे किसी भी सकट (क्राइसिस) से उत्पन्न कर सकते है।"[1] इसी प्रकार कन्नड भाषा मे "कई उपन्यास कहने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर लिखे गये है, पर है वे निरे रोमास। राष्ट्रीयता बरायेनाम होती है।······इस दिशा मे सबसे बडा नाम कारन्त का है,[2] जिनके 'मरळि मण्णिगे' का अनुवाद 'धरती की ओर' नाम से हिन्दी मे प्रकाशित हो चुका है। उर्दू मे किशनचन्दर रोमान्स की पृष्ठभूमि मे राजनीतिक प्रवृत्तियो को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे है, तो हिन्दी मे यशपाल और श्रीकृष्णदास आदि के उपन्यासो मे रोमास और राजनीति अनघुल रूप मे मिश्रित की गई है।

प्रणय का चित्रण करने वाले उपन्यासों की जो परिपाटी उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक युग मे पडी थी, वह आज तक चली आ रही है। अन्तर केवल इतना है कि पहले प्रणय-प्रधान कथानको मे अद्भुत एव अस्वाभाविक का पुट रहता था और अब इन तत्त्वो का अभाव होने लगा है। तथापि कल्पनारम्य वातावरण, सयोग, आकस्मिक घटनाओ इत्यादि की अवतारणा करने में आज का उपन्यास-लेखक भी सकोच नही करता। प्रारम्भिक उपन्यासो मे प्रेम का सस्ता वर्णन होता था परन्तु आज का लेखक सस्ते प्रणय के स्थान पर कही स्वच्छन्द प्रणय का, तो कही शुद्ध, नि.स्वार्थ (प्लेटोनिक) प्रेम के चित्र उपस्थित करता है। इन उपन्यासो मे अचानक दो अपरिचित युवक-युवती एक स्थान पर मिलते है। युवती पुरुष के शौर्य, प्रभावशाली व्यक्तित्व या किसी अन्य गुणविशेष पर मुग्ध हो मन-ही-मन उसे वरण कर लेती है। बीच मे खलनायक अथवा विषम परिस्थितियाँ बाधा डालती हैं। उन पर विजय पाने से नायक-नायिक का मिलन होता है तथा उनसे पराभूत होने पर उपन्यास दु खान्त होता है। इन लेखको का अन्त करण कल्पनाविलासयुक्त, रम्य व काव्यमय होता है। नायक-नायिका बीस-पच्चीस वर्ष की वय के, धनवान, शिक्षित, सुन्दर तथा आकर्षक होते है। उन्मादपूर्ण शृगारिक प्रेमभावना के विश्लेषण की इनमे पराकाष्ठा होती है। परस्पर मिलने को उत्सुक नायक-नायिका का मुग्ध प्रेमभाव कैसे धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होता है, उसकी एक-एक स्थिति का बडी कुशलता

---

१. प्रभाकर माचवे : मराठी के राजनीतिक उपन्यास—साहित्य-संदेश; अक्टूबर १६४०, पृ० १५५

२. प्रभाकर माचवे : समकालीन भारतीय उपन्यास—'आलोचना' का उपन्यास-विशेषांक; पृ० २१५-२१६

और कोमलता से चित्रण किया जाता है। कालिज के युवक-युवतियों के रहन-सहन, रुचि-अरुचि तथा मनोभावों का यथातथ्य चित्रण इनकी विशेषता होती है। प्रणय-भावना मानव-मन की मूल भावना होने के कारण तथा आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवक-युवतियो के नित्यप्रति सम्पर्क में आने से प्रत्येक भाषा के लेखको ने इस प्रकार के कल्पनारम्य, प्रणय-प्रधान उपन्यास लिखे है। हिन्दी में भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, मराठी मे ना० सी० फडके और ग० त्र्य० माडखोळकर और उर्दू मे फैयाज अली के उपन्यासो को प्रणयप्रधान उपन्यासो मे ऊँचा स्थान प्राप्त है। गुजराती मे धूमकेतु के उपन्यास कल्पनारम्य पार्श्वभूमि पर लिखे गए है। विलास व सौन्दर्य-चित्रण उनके उपन्यासो के मुख्य सूत्र है। तेलगु मे श्रीरामशास्त्री व शिवशंकर शास्त्री की कृतियों मे प्रणय एव कल्पनारम्य वातावरण की प्रधानता है। विवाह से पहले युवक-युवती मे प्रेम और साहचर्य की स्वतन्त्रता और परिणय से पूर्व माता-पिता की औपचारिक सम्मति, असमिया भाषा के रोमानी उपन्यासो की प्रिय कथावस्तु बनी। पहाड़ो और मैदान मे रहने वाली असम की विभिन्न जातियो के रीति-रिवाजो और प्रथाओं ने लेखको को यह अवसर दिया कि वे वहाँ के लोगो के प्यार और रोमांस की घटनाओ से युक्त सामाजिक इतिहास का वर्णन करे।

विज्ञान ने मनुष्य की सोचने की दृष्टि में महान् अन्तर उपस्थित कर दिया। वह धीरे-धीरे विचारो मे तार्किक व बुद्धिवादी हो चला। आदर्श मृगतृष्णा के समान भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होने लगे। बुद्धि-अग्राह्य वस्तुओ की अवमानना होने लगी। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध के बीच की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियो ने विश्व-चिन्ताधारा को झकझोरा। लेखको की अर्धस्वप्निल आँखें ज्यादा देर तक चाँदनी मे खोई-खोई न रह सकी। साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आगया। उपन्यास-लेखको ने आदर्श की मृगमरीचिका का मोह त्याग समाज के सड़े-गले अगो, विकृतियो एवं दोषों का स्पष्ट चित्रण करना प्रारम्भ कर दिया। वँगला मे यथार्थवाद की प्रवृत्ति शरदबाबू के साथ, जो अपनी विश्लेषण-कुशल, सत्य-सधानी दृष्टि लेकर आविर्भूत हुए थे, अवतीर्ण हुई थी। उन्होने ग्राम-जीवन के निम्न मध्य-वित्त समाज के दुर्भेद्य समस्या-सकुल वास्तविक चित्र अकित किये थे। जीवन की कठोर भूमि पर खड़े होकर मनुष्य के पारिवारिक संबंध के जटिल आवर्त और उसके चिरन्तन घात-प्रतिघात की कहानी उन्होंने वडी सजीव भाषा मे उपस्थित की। विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय ने अपने 'पथेर पांचाली' एव 'अपराजिता' मे साधारण मनुष्य के हृदय की वेदना का यथार्थ चित्र खीचा। उनके वाद ताराशकर वन्द्योपाध्याय से वरेन वसु तक, या यो कहिये कि 'मन्वंतर' से 'रँगरूट' तक वँगला-उपन्यास यथार्थवाद की ओर वढता गया। वगाल मे अनेक प्रभावशाली घटनाओ—सन् ४२ का आन्दोलन, सन् ४३ का अकाल, सन् ४४-४५ में विश्वयुद्ध की तीव्रता, सन् ४६ मे साम्प्रदायिक रक्तपात और सन् ४७ मे विभाजन, शरणार्थी तथा वेकारी की समस्या—के कारण सामाजिक यथार्थ का चित्रण अधिक हुआ है। उच्चवर्गीय सामाजिक जीवन छोडकर, आधुनिक लेखको ने ग्रामीण जीवन,

कृषक तथा श्रमिक-आन्दोलन, समाजतन्त्र तथा धनिकतन्त्र की समस्याओ, राजनीतिक आन्दोलनो, दुर्भिक्ष-पीडित बगाल के चित्र आदि विषयो की भित्ति पर उपन्यास लिखे। शैलजानन्द मुखोपाध्याय सामाजिक यथार्थवादी लेखको मे प्रथम है, तो अचिन्त्यकुमार सेन समाज के विभिन्न अगो का वास्तविकतापूर्ण चित्र खीचने मे सिद्धहस्त है। बँगला-लेखको मे श्री विमल मित्र ने पर्याप्त यश प्राप्त किया है। उनके विख्यात उपन्यास 'साहेब बिबि गोलाम' मे धनी अभिजातवशीय बगाली युवको की जीवन-यात्रा, उनकी बाहरी शान-शौकत, विवाहित स्त्री के प्रति उनका मनोभाव तथा व्यवहार, विलास-व्यसन से क्रमश. होने वाली अवनति आदि का व्यापक चित्रण है। उडिया मे फकीर-मोहन सेनापति का नाम इस सम्बन्ध मे विशेष स्मरणीय है। उन्होने ग्रामीण जीवन का यथार्थ मार्मिक चित्रण अपने अमर उपन्यास 'छमना अठगुन्ठा' मे किया है तो 'मामू' व 'प्रायश्चित' में प्राचीन सामाजिक ढाँचे के ढहने का यथार्थ चित्रण है।

हिन्दी और मराठी उपन्यास-साहित्य भी इस क्षेत्र मे अन्य भाषाओ से पीछे नही रहे। प्रसादजी, चतुरसेन शास्त्री, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अश्क, धर्मवीर भारती आदि ने हिन्दी मे तथा डा० श्री व्यकेतकर, मामा वरेरकर, वि० स० खाँडेकर, विभावरी शिरूरकर वि० वि० बोकील, गीता साने व रघुवीर सामत ने मराठी मे सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास लिखकर इस धारा को पुष्ट किया है। असमिया साहित्य क्षेत्र के सर्वाधिक प्रगतिशील उपन्यासकार श्री देवचन्द्र तालुकेदार, वर्तमान युग की परिस्थितियो के साथ चलते हुए, आज के अत्याचार, अन्याय और व्यभिचारो के विरुद्ध तीव्र आवाज़ उठाने वाले एव समाज मे नयी प्रेरणा लाने वाले सफल कलाकार है। उनके 'अपूर्ण' उपन्यास मे वर्तमान काल की विवाह-समस्या, युवक-युवतियो का प्रेम, शिक्षा और बेकारी की समस्या तथा धनी एव गरीबो की आर्थिक परिस्थितियो का अत्यन्त स्वाभाविक एव मार्मिक चित्रण है। उडिया के नित्यानन्द महापात्र, हरेकृष्ण मेहताब, शुकदेव साहू के उपन्यासो मे यथार्थवाद पर अधिक बल है, तो गुजराती मे साकरलाल कापडिया के 'अन्धकार पर प्रकाश', 'लोहीनो वेपार', 'धीकतो ज्वालामुखी' आदि मे धर्मगुरुओ के ढकोसले, वैवाहिक जीवन की विषमता और समाज की भयकरता खोलकर रख दी गई है।

आन्ध्रवासियो के सास्कृतिक और वास्तविक चित्र सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने मे तेलगु के प्रख्यात उपन्यासकार अडिविबापिराजु अत्यत सफल है। इसी भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक बुचीबाबू ने अपने उपन्यास 'चिवरकु मिगिलेदी' ('जो शेष है ?') मे आधुनिक युवक के आदर्शो की उपलब्धि और प्रयत्नो का सच्चा लेखा-जोखा उपस्थित किया है। जी० वी० कृष्णराव के 'किलु बोम्मुलु' मे घोर स्वार्थ और भयानक उत्तरदायित्व के साथ-साथ देशप्रेम और स्वार्थ-त्याग का चित्रण कर यथार्थ-वाद का अनुसरण किया गया है। जातीय चेतना के विकास के साथ-साथ व्यगप्रधान, सामाजिक आशयपूर्ण, प्रगतिवादी कथा-साहित्य मलयालम मे तेजी के साथ निर्मित हो

रहा है और सवा करोड़ मलयाली जनता उत्तरोत्तर सामाजिक यथार्थवादी साहित्य की ओर आकृष्ट हो रही है।

समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित कर उसकी दुर्बलताओ एव त्रुटियो की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना तो उचित है, परन्तु जब लेखक इन्ही को जीवन मानकर उनका नग्न एव मर्यादाविहीन चित्र खीचने लगता है, तब उससे लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

मनोविज्ञान का आश्रय तो प्रारम्भिक उपन्यासकारो प्रेमचन्द, हरिभाऊ आप्टे, बकिम इत्यादि ने भी लिया था परन्तु उन्होने पात्रो की भावनाओ के विश्लेषण के स्थान पर उनके वर्णन से काम चलाया था। उनके बाद के उपन्यासकारो—हिन्दी मे जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय, मराठी के फडके, माडखोलकर, खाँडेकर, पु० य० देशपाडे और श्री० ना० पेडसे, बँगला मे शरद, बुद्धदेव वसु, मणिक बन्धोपाध्याय, गोपाल हालदार, प्रेमेन्द्र मित्रा और सतीनाथ भादुडी, तमिल मे पी० एम० कन्नान, कन्नड मे बी० एम० इनामदार, देबुडूँ तथा ए० एन० कृष्णराव, उडिया मे कालिन्दीचरण पाणिग्राही, गोपीनाथ महान्ति एव विबुधेन्दु इत्यादि ने मनोवैज्ञानिकता को सूक्ष्मता से प्रयुक्त किया है। पात्रो के मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म हलचलो के बड़े सजीव वर्णन अप्रत्यक्ष घटनाओ, सूचक सवादो और रेखाचित्रो के सहारे हुए है। बच्चो के मन का विवेचन और मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण इनकी विशेषता है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धो, नैतिक मान्यताओ और स्त्रीत्व को समझने और उसका व्यापक अध्ययन करने के लिए इसका प्रयोग हुआ। रवीन्द्र के अनुसार इस मानस महादेश मे लेखक-उपनिवेशियो का दल चारो ओर से आकर प्रतिदिन जुटा और मनुष्य के मन को जोतने, खोदने और खोजने मे लग गया। यहाँ तक तो मनोविज्ञान का प्रयोग उचित और वाछनीय था, परन्तु कुछ लेखको ने मनोविश्लेषण-पद्धति का दुरुपयोग भी किया। इसके नाम पर काम, नग्न प्रेम-वासना और उसकी अनेक विकृतियो के चित्रण हुए। हिन्दी में इलाचन्द्र के 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया', मराठी के माडखोळकर के 'नागकन्या' और 'डाकबँगला' इसी प्रकार के उपन्यास हैं। बगाल मे अन्नपूर्णा गोस्वामी की 'मृगतृष्णिका' मनोविश्लेषण के नाम पर सैक्स का चित्रण है। डा० नरेश सेन को बगाल का 'लारेन्स' कहा जाता है क्योकि उनके उपन्यासो मे लैंगिक मनोविकारो पर बल दिया गया है। बँगला मे शरतचन्द्र मे जो सयम था, वह आधुनिक रचनाकारो मे लुप्त हो गया है। उनके उत्तराधिकारियो ने व्यक्तिगत सुख-दु.ख, आशा-आकांक्षा को यौन-प्रधान मान लिया और कुत्सित तथा अश्लील यौन-रचनाएँ बँगला-साहित्य-गगन को कलुषित करने लगी। इन लेखको मे बुद्धदेव वसु, अचिन्त्य कुमार सेन, प्रबोध सान्याल आदि के नाम उल्लेखनीय है। उनकी तरह कई अन्य आधुनिकता प्रेमी लेखको ने पाश्चात्य विचार और रचना-शैली को अपनी कृतियो मे उतारा है, तथा मनोविश्लेषण और यौनवाद पर बल दिया है जिसके परिणामस्वरूप स्वैराचार का नगा-नाच हो रहा है। कन्नड के ए० एन० कृष्णराव पर भी यह आरोप

लगाया गया है कि उनकी रचनाओं मे सैक्स का नगा नाच और पिपासामय चित्रण है। उस आरोप के उत्तर मे उन्होने एक पुस्तक भी लिख डाली है—'कामप्रचोदने भट्टु साहित्य'। उर्दू मे महेन्द्रनाथ के 'आदमी और सिक्के' के सब पात्र ऐसी ही सैक्स की बीमारी के मरीज हैं। साराश यह है कि आधुनिक सभी भारतीय भाषाओं के उपन्यासो मे पुरुष और स्त्री की काम, प्रेम, वासना-आकर्षण आदि यौन-प्रवृत्तियो की विभिन्न छटाओं का चित्रण मिलता है। आज के लेखक यह भूल गए है कि मनोविज्ञान साधन है, साध्य नही। समाज के असह्य एव निरर्थक बन्धनो के प्रति विद्रोह करना उचित है, पर नीति की वैज्ञानिक परीक्षा करके जीवन के बद्धमूल संस्कारो पर कठोर आघात करने से कभी समाज का कल्याण न होगा। इन चित्रो को देखकर ऐसा लगता है मानो जीवन मे सत्प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान ही नही है, मानो एकमात्र वासना ही स्वाभाविक है और वासनाओ की निर्बाध तृप्ति ही जीवन है। परन्तु धीरे-धीरे लोग अपनी गलती समझ रहे है। प्रबुद्ध पाठकवर्ग की तीव्र आलोचना से यह धारा अवरुद्ध होने लगी है और साहित्य कदर्य यौन समस्याओ को त्याग कर समाजगत अन्य समस्याओ की ओर प्रवृत्त हुआ है।

अधिकाश लेखक शिक्षा-प्राप्त नगर-निवासी होने के कारण गाँव तथा उसकी समस्याओ के प्रति उदासीन रहे है। हिन्दी में प्रेमचन्द तथा बँगला मे शरत्चन्द्र जैसे लेखक कम हुए, जिन्होने नगर मे रहते हुए गाँवो का यथार्थ चित्र हमारे सम्मुख रखा और वहाँ के निम्न मध्यवर्ग की हीन अवस्था का दारुण चित्र उपस्थित किया। अब लेखकों का ध्यान उधर गया है जिससे न केवल कृषक-समस्याओ पर रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं, अपितु गाँवो एव नगरो की अन्य उपेक्षित, दलित एव पीड़ित जातियो का दैनिक विडम्बनापूर्ण जीवन भी उपन्यासो का विषय बन गया है। बँगला के माणिक वन्द्योपाध्याय के 'पुतुल नाचेर इतिकथा' मे बगाल के गाँवो के लोगो की दृष्टि से उनके जीवन की समालोचना है, तो ताराशकर बनर्जी के उपन्यास ग्रामीण जीवन का अत्यन्त सफल चित्रण करते हैं। शहरी जीवन किस प्रकार गाँव के लोगों पर अपना प्रभाव डालता है, यही इन दोनो के उपन्यासो का विषय है। मराठी में पेंडसे और र० वा० दिघे ग्रामीण चित्रण प्रस्तुत करने वाले सर्वोत्कृष्ट कलाकार है। 'गारबीचा बापू' देहाती जीवन की हीन एव गिरी हुई अवस्था का सच्चा चित्रण करता है। गुजराती मे प्रेमचन्द की तरह रमणलाल वसन्तलाल देसाई ने ग्रामीण जीवन और उसके अनेक पहलुओ पर प्रकाश डाला है। उनके ग्राम-सम्बन्धी चित्रण अत्यन्त सवेदनापूर्ण है। यदि एक ओर ग्रामीण जनता का पूर्वग्रह-रहित चित्रण ईश्वर पेटलीकर[1], पन्नालाल पटेल और चुन्नीलाल माडिया ने किया है, तो दूसरी ओर विनोदिनी नीलकण्ठ ने ग्राम-जीवन की लोक-सम्मत प्राचीन रीति-नीति पर प्रकाश डाला है। उर्दू मे किशनचन्दर ने तैलगाना के कृषक-जीवन का चित्र उपस्थित करने की चेष्टा अवश्य की है पर वह सफल नही हो पाए है। मलयालम में शिवशकर

---

[1] पेटलीकर की कृतियों के नाम है—कलजुग, जन्मटीप, पातालकुआ, भरती नो अवतार।

पिल्ले ने पीड़ित किसानों और मजदूरो की व्यथा का सुन्दर चित्रण किया है। 'रटि टंगळी' (दो सेर धान) मे किसानो की अश्रु-सिक्त जीवन-कहानी है। उसमे जमीदारो के उत्पीड़न एव अत्याचारो के शिकार, खेतो की कीचड मे जन्म लेने वाले और वही मर-मिटने वाले किसानो के मूक नीरव जीवन को मुखरित करने का सफल प्रयास है।

उपेक्षित वन्य जातियो, उत्पीड़ितों एव दलित वर्गों के ऊपर लगभग सभी भाषाओ मे उपन्यास प्रकाशित हो रहे हैं। बँगला मे माणिक वन्द्योपाध्याय ने अपने पहले उपन्यास 'पद्मानदीर माझि' मे नाविको को अपने उपन्यास का नायक बनाया है तो शैलजानन्द और प्रेमेन्द्र मित्रा के लिखे उपन्यासो में गर्दो-गुबार से भरे हुए निम्न श्रेणी के व्यस्त जीवन का यथार्थ वर्णन है। ताराशकर के 'नागिनी कन्यार काहिनी' मे मिट्टी की सोधी महक है। शैलजानन्द के सम्बन्ध मे काज़ी अब्दुल वदूद का मत है, "बगाली जीवन से उनका घनिष्ठ एव व्यापक परिचय है, उनका वन्य जातियो का चित्रण सर्वश्रेष्ठ है।"[1] उड़िया-साहित्य का 'अमृतेर सन्तान' समाज से दूर रहने वाले वन के 'कव' परिवार और जंगली सस्कृति का अमर उपन्यास है। यह हमे एक ऐसी भारतीय सभ्यता से परिचित कराता है, जो बहुत दिनो से हमारी आँखो से ओझल थी। गोपीनाथ महन्ती का 'परजा' उडीसा की आदिम जाति का चित्रण प्रस्तुत करता है। असमिया भाषा के प्रसिद्ध लेखक नवकान्त बरुआ के 'कपिलि परिया साधु' मे कपिलि नदी के किनारे लोगो के हृदय में उठने वाली आशाओ और निराशाओ का चित्रण है। असम के पल्ली-जीवन पर आधारित इसी प्रकार का उपन्यास 'जीवनार बाटत' है।

मलयालम का स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास दलित और उपेक्षित वर्गों के चित्रण की ओर उन्मुख है। कन्नड़ मे ता० रा० सु० का 'पुरुषावतार', जिसमे भिखारियों की जीवन-समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है, इस दिशा में किया गया स्तुत्य प्रयत्न है। 'चोमणद्रदी' में एक भग्न-हृदय अत्यज की करुण कथा है।

इधर की ओर कुछ आचलिक एव लोकजीवन पर आधारित उपन्यास लिखने की प्रथा चल पडी है। गुजराती मे बहुत पहले झवेरचन्द मेघाणी ने तथा हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा ने लोकगीतो तथा लोक-कथाओ पर आधारित रचनाएँ भारतीय साहित्य को भेंट दी थी। इधर मराठी मे पेडसे, मालती बेडेकर, माडगूळकर आदि ने इस प्रकार की आंचलिक कथाओ द्वारा मराठी साहित्य को समृद्ध बनाया है। अन्य मराठी-लेखकों मे सरदेसाई, र० वा० दिघे, ग० ल० ठोकळ और भोसले के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा, प्रदेश और विषय—सभी मे प्रादेशिकता का पुट है। गोपाल नीलकठ दाँडेकर का 'शितू' और 'पडघवली' कोकण की चित्ररम्य पार्श्वभूमि पर ग्रामीण जीवन का सशक्त चित्र है। हिन्दी मे 'मैला आँचल' इस दिशा मे एक आलोक-स्तम्भ है। 'बलचनमा', 'बहती गंगा' आदि मे जो सशक्त सकेत है, वे हिन्दी की भावी संभा-

---

[1] 'कान्टेम्प्ररी इण्डियन लिट्रेचर', पृष्ठ २६

वनाओ के विषय मे हमे आशान्वित कर देते है। इनकी तुलना, कन्नड़ के 'कूडियर कूसु', मलयालम के 'चैमीन' या उपर्युक्त मराठी और बँगला-उपन्यासो से, जिनमे आचलिकता है, करने पर हम नि सकोच कह सकते है कि हिन्दी-उपन्यास भारतीय उपन्यास-साहित्य के कधे-से-कधा मिलाकर चल रहा है। इन सब मे मिट्टी की सोधी महक, ताजगी और धरती के प्रति ईमानदारी है। इन उपन्यासो मे कृषको एव अन्य जातियो की बोलचाल की भापा का सुन्दर प्रयोग है। उसमे कलात्मकता और प्रांजलता कम है, पर सौदर्य कम नही, क्योकि वह हृदय की भापा है। परन्तु इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई है और वह यह है कि इनके अनुवाद अन्य भापाओ मे बडी कठिनाई से हो सकेगे। कितनी भी टिप्पणियाँ देने पर तत्तदाचलिकता को दूसरी भाषा मे उतार पाना बडा दुष्कर है। जो अनुवाद हुए है, जैसे कन्नड के 'मरळि मण्णिगे' का हिन्दी मे, वे इस कठिनाई की ओर स्पष्ट इगित करते है।

यदि फ्रायड, एडलर और जुग की विचारधारा से प्रभावित होकर भारतीय साहित्य मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की रचना हुई तो मार्क्स के सिद्धान्तो ने समाजवादी यथार्थ की धारा प्रवाहित की। रूसी राज्यक्राति के उपरान्त मार्क्सवादी सकेतो पर लिखे गए साहित्य के लिए 'समाजवादी यथार्थवाद' नाम गढा गया। अत. कुछ के अनुसार केवल उपेक्षित वर्गो की विषम परिस्थितियो का यथार्थ चित्रण करने वाले उपन्यास तब तक समाजवादी यथार्थ के अन्तर्गत नही आयेगे, जब तक उनमे मार्क्सवादी सिद्धान्तो का समर्थन एव प्रचार न हो। यह मत बिल्कुल गलत है, क्योकि बर्नार्ड शॉ और गाल्सवर्दी मार्क्सवादी न होते हुए भी यथार्थवादी है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो के समर्थको ने सभी भारतीय भापाओ मे इस प्रकार के उपन्यास लिखे है। हिन्दी मे राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रागेय राघव, नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त की रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमे विवाह-सस्था का विरोध तथा स्त्री-पुरुष के स्वच्छद यौन सबधो पर बल दिया गया है जो अनावश्यक ही नही, अहितकर भी है। दूसरा दोष यह है कि साम्यवाद के समर्थन मे दिये व्याख्यानो से उपन्यासो के पृष्ठ पर पृष्ठ भरे पड़े है। इस प्रकार रोमाटिक प्रसगो की घूस देकर पाठको को मार्क्सवादी दर्शन पढाने का प्रयत्न चिन्तनीय है।

मराठी मे माडखोळकर, वि० वा० हडप, खाँडेकर आदि मे मार्क्सवादी विचार-धारा के दर्शन होते है। इस धारा के अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यासकारो मे कन्नड़ के श्री देवेडु, उड़िया के कान्हुचरण, उर्दू के मटो और फ़िक्र तौसवी आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासो को पढकर यह लगता है कि लेखक पहले से ही सिद्धान्तो को अपना लेते है तथा बाद मे उनके निदर्शन-रूप मे उपन्यास लिखते है। इस प्रकार की रचनाएँ जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब कभी नही हो सकती।

पिछली अर्ध शताब्दी का भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक जीवन इतना घटना-सकुल रहा है कि लेखको का ध्यान उसकी ओर जाना स्वाभाविक था। फलस्वरूप तात्कालिक प्रश्नो एव समस्याओ को लेकर समय-समय पर उपन्यास प्रकाशित होते

रहे हैं। मलयालम मे देव का 'आडयिल निन्नु', तकषी के 'थोट्टियुदे मकन, 'रटी टगळी' और पौट्टेकाट के 'मूडपटम' और 'विषकन्यका' आदि समकालीन जीवन और समस्याओ को अधिक स्पष्टता से उभार कर रखते है। 'परम्पुरम' तथा 'उदयमानु' उपन्यासो मे बड़ी निर्भीकता से लेखक ने महाराजा की व्यक्तिगत दुर्वलताओ, अफसरों के अनुचित हस्तक्षेप तथा उनके कुचक्रों का भडाफोड किया है। तमिल मे का० ना० सुब्रमरिणयन ने अपने 'पोइतेवु' और 'ओरु नाल' मे हिन्दू समाज मे होने वाले आधुनिकताजन्य परिवर्तनो का चित्रण किया है। ति० शेषाद्रि का 'नीरोट्टय' भूदान के आधार पर जमीन के बटवारे, साम्प्रदायिकता आदि समस्याओ पर लिखा गया है। कन्नड मे ता० रा० सु० का 'पुरुषावतार' भिखारियो की समस्या पर लिखा गया सुन्दर उपन्यास है और प्रो० मुगळी का 'वालुरी' शिक्षितो की वेकारी की समस्या पर लिखी गयी आकर्षक रचना है।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर विभिन्न भाषाओ मे उपन्यास लिखे गये है। मराठी मे कादमखान महमदखान दलवाई का 'दिलावर', भा० द० खेर का 'प्रायश्चित' और पेडसे का 'एलार' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ है। हिन्दी मे उग्र, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा तथा गुरुदत्त ने इस विषय पर अपनी लेखनी चलाई है। १९४२ के आन्दोलन तथा ब्रिटिश शासन द्वारा किये गए अमानुषिक अत्याचारो पर लेखको की लेखनी तडप उठी जिससे इन पर लिखे उपन्यासो मे मर्म को छूने वाली एव आँखो मे आँसू लाने वाली अपार शक्ति आगई है। माडखोळकर का 'प्रमद्वरा', ग० वा० शास्त्री का 'अमावस्या', खाँडेकर का 'क्रौंचवध', भा० द० खेर का 'क्रातीच्या वाटेवर', अण्णा भाऊ साठे का 'वारणेच्या खोर्‍यात', शिखडकर का 'वैष्णव', फडके का 'झझावात', और 'शाकुन्तल' सन् १९४२ के आन्दोलन पर लिखे मराठी उपन्यास है, तो हिन्दी में रागेय राघव का 'विषाद मठ' और प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'वयालीस' है। उडिया मे विबुधेन्दु का '१९४२', कन्नड मे इनामदार का 'मूरावट्टे', मिर्जी अण्णाराव का 'राष्ट्रपुरुष', न० रा० सुब्बराय का 'रक्त-तर्पण', अ० न० कृष्णाराव का 'अमर आगस्ट', आदि उपन्यास भी सन् ४२ की क्राति पर आधारित रचनाएँ है।

नोआखाली की गाधीजी की यात्रा पर बँगला और हिन्दी के अतिरिक्त मराठी मे भी उपन्यास लिखे गए। विवलकर का 'सुनीता' इस विषय पर सुन्दर रचना है। १९४७ के बँटवारे का सर्वाधिक असर पजाबी और बंगला साहित्य पर पडा। इस विभाजन को लेकर पजाबी मे करतारसिह दुग्गल, नानकसिह, अमृता प्रीनम और सुरिन्दरसिंह नरुला ने उपन्यास लिखे है। उर्दू में इसी विषय पर ए० हमीद का 'दरवे', रामानन्द सागर के उपन्यास 'और इन्सान मर गया' के वाद अच्छी रचना है। इन्तजार हुसैन तथा जमनादास अख्तर ने अपहृताओ का प्रश्न उठाया है। जमीदारी-उन्मूलन के पश्चात् गाँवो की स्थिति पर इधर कई उपन्यास हिन्दी मे निकले हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि हिन्दी लेखक अपनी समकालीन समस्याओ के प्रति जागरूक है।

ऐसे उपन्यासो के स्थायी मूल्य के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाया जाता है। प्रथम तो उनकी सार्थकता इसी मे है कि वे समकालीन समस्याओ के प्रति पाठको का ध्यान आकृष्ट कर उनके समाधान की ओर इगित करते है। दूसरे, यदि उनमे स्थायी मनोभावो, मानव-प्रवृत्तियो एव स्वभावजन्य विशेषताओ का विश्लेषण एव अकन है तो तात्कालिक महत्त्व के साथ-साथ उनका स्थायी मूल्य भी होजाता है। अत उनके विषय मे मूल्य-सम्बन्धी यह आशका निरर्थक है।

यद्यपि जासूसी उपन्यास की गणना उच्च कोटि के साहित्य मे नही की जाती, तथापि उसका आकर्षण और मोह अभी तक बना हुआ है। इसका प्रमाण है रेलवे-स्टालो तथा फुटपाथो पर मिलने वाले जासूसी उपन्यास और जासूसी पत्र-पत्रिकाएँ। हिन्दी में दुर्गाप्रसाद खत्री ने इस धारा को आगे बढ़ाया। इनके और देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो मे अन्तर यह है कि लखलखा और ऐयारी के बटुए का स्थान अब वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रो—मृत्युकिरण, अलोपी वायुयान, एटमो बन्दूक और विषैली गैस ने ले लिया है। कुछ और भी नवीन बातो का समावेश इनमे मिलता है, जैसे आपस की फूट, रजवाड़ो द्वारा अंग्रेजो की सहायता, भेदियो का क्रान्तिकारी दलो में प्रवेश, उपनिवेशवाद इत्यादि। इस सम्बन्ध मे जुगलकिशोर पाडेय का नाम उल्लेखनीय है। राहुलजी का ध्यान भी इधर गया और उन्होने जेल मे रहते समय अग्रेजी के आधार पर घटना-वैचित्र्य और साहसिकता से पूर्ण 'शैतान की आँख' उपन्यास लिखा। कन्नड मे एम० बी० शास्त्री, जे० कृष्णशास्त्री के बाद एम० राममूर्ति तथा असमिया कुमुदेश्वर मे बरठाकुर एव प्रेम नारायण दत्त ने कई जासूसी उपन्यास लिखे हैं। तमिल मे जासूसी उपन्यास-लेखक के रूप में जे० आर० रगराजू विख्यात हैं। उनका 'राजावाल' आज भी बडे चाव से पढा जाता है, यद्यपि उसे लिखे तीस वर्ष हो गए है। कुल मिलाकर आजकल मौलिक की अपेक्षा अनूदित अथवा रूपान्तरित जासूसी उपन्यास ही अधिक निकल रहे हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा आज तक निरन्तर अक्षुण्ण चली आरही है। ऐतिहासिक शोध के फलस्वरूप जैसे-जैसे अधिकाधिक सामग्री उपलब्ध होती जा रही है, तैसे-तैसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति भी बढती जा रही है और जो भाषाएँ इस क्षेत्र में पिछड़ी हुई थी, उन्हे भी इस दिशा मे कार्य करने की रुचि हो रही है। आधुनिक ऐतिहासिक उपन्यासो मे तीन प्रवृत्तियाँ विशेष लक्षणीय है—देश-काल का सजीव चित्रण, पात्रो का प्रभावशाली अकन एव कही-कही देश-काल को विस्मृत कर आधुनिक विचारो का समावेश। ऐतिहासिक उपन्यासो की सफलता इसी मे है कि जिस युग के व्यक्तियो को उपन्यास का पात्र चुना जाय, उस युग का इतना सजीव वर्णन उपस्थित हो कि पाठक वर्तमान को भूलकर उस युग मे विचरण करने लगे। बँगला मे राखालदास बनर्जी के उपन्यास इस दिशा मे अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। उनका 'शशाक' देश-काल की दृष्टि से अत्यन्त सफल रचना है। उसमे हिन्दुओ तथा बौद्धो के सघर्ष के साथ-साथ बौद्धो के पतन और सातवी शताब्दी के

रीति-रिवाजो का वर्णन विस्तार से किया गया है। अनुरूपा देवी के 'रामगढ' मे भारतीय इतिहास के उस प्राचीन काल की कहानी है, जबकि कोशल के शक्तिशाली विरुद्धक तथा शाक्यो और लिच्छवियो के प्रमुख अधिकारियो मे सघर्ष अपनी चरमावस्था पर था। मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासों मे तो देश-काल का चित्रण सजीव था ही, उनके वाद के लेखको ने भी उस परम्परा को बनाए रखने की चेष्टा की। नाथ माधव ने 'स्वराज्य माला' के अन्तर्गत कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हडप की 'कादम्बरीमय पेशवाई' नामक उपन्यासमाला मे ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह सजीवता एवं सत्याभास नही आ सका है, जिसके लिए हरिभाऊ आप्टे विख्यात हैं।

हिन्दी मे आचार्य चतुरसेन का 'वैशाली की नगरवधू' यशपाल का 'दिव्या', रागेय राघव का 'मुर्दो का टीला' और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इसी प्रकार के है। 'वैशाली की नगरवधू' मे ईसा से ५००-६०० वर्ष पूर्व का युग सजीव और सप्राण होकर हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है, तो वर्माजी बुन्देलखण्ड के मध्ययुगीन वीरतापूर्ण वातावरण को उपस्थित करने मे सफल रहे है और रागेय राघव ने 'मुर्दो का टीला' द्वारा मोहनजोदड़ो की प्रागैतिहासिक संस्कृति का सजीव चित्र खीचा है। देश-काल का सजीव चित्रण करने की यह प्रवृत्ति अन्य भाषाओ के उपन्यासो मे भी मिलती है। तेलगु के वापिराजु के 'हिम विन्दु' मे सातवाहन-युग के आन्ध्र देश की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो का सुन्दर वर्णन और विश्लेषण मिलता है। उस समय के बौद्ध और हिन्दू धर्मो के आपसी सघर्ष तथा आन्ध्रो की वीरता, कलाप्रियता, प्रेम आदि के सजीव चित्र इसमे अंकित है। १९१५-४० ई० तक के काल मे आन्ध्र के कई राजवशो के इतिहास की खोज हुई। अत इस काल के लिखे उपन्यासो मे वर्णनो की यथार्थता, देश के आचार-व्यवहार, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थिति के चित्रण के प्रति जागरूकता दिखलाई पड़ती है। 'अस्तमयमु' मे विजयनगर के पतन का जीता-जागता चित्र है, तो 'तारावाई' मे चित्तौड़ के पृथ्वीराज के समय के नरेशों तथा सरदारो की स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा और राष्ट्रीय भावना के अभाव की ओर सुन्दर सकेत है। नोरि नरसिंह शास्त्री के 'रुद्रमदेवी' मे भी रुद्रमदेवी के राज्यकाल का वडा सुन्दर वर्णन है। गुजराती के के० एम० मुशी एव गुणवन्तराय आचार्य कथा-सगठन एव वातावरण-चित्रण मे अत्यन्त कुशल है। निरूप्यमाण कालखण्ड के अनुरूप परिवेश का निर्माण करने की शक्ति मुशीजी मे अपूर्व है। चुन्नीलाल वर्धमान शाह ने 'कर्मयोगी राजेश्वर' मे ऐतिहासिक सत्य का विपर्यास न कर उनके अनुकूल प्रसगो का चित्रण किया है। उनके भावना-निरूपण मे काल-व्यतिक्रम दोष नहीं है। मनुभाई पचोली के 'दीपनिर्वाण' मे मौर्यकालीन भारत के सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन की अच्छी झलक मिलती है, और गणतत्र की भावना का निरूपण अत्यन्त सुन्दर हुआ है। मलयालम के रामवर्मा एव के० एम० पणिक्कर के उपन्यासो मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही प्रमुख है। रामवर्मा के 'भुतरायर' मे केरल के प्राचीन ऐतिहासिक वातावरण एव भुतरायर नामक व्यक्ति के अत्याचारो का वर्णन

है। परिणक्कर के 'धूमकेतुविण्ढे उदयम्' मे केरल की प्राचीन युद्ध-कला 'कलरिप्पयट' का मनोहर चित्रण है। उन्ही के लिखे 'परकिप्पडयाली' मे सामयिक देशाचार के सुन्दर चित्रण अन्त तक छिटके हुए हैं, तो 'कल्याणमल' मे अकवर की शासन-नीति, अन्त पुर का कलह, राज्य की अवस्था, सामाजिक प्रथाएँ—इन सवका स्पष्ट परिचय दिया गया है। कर्नाटक मे विजयनगर स्फूर्ति का केन्द्र रहा है, अत उसके आधार पर कुछ सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए है। श्री वेटगेरी जी ने अपने उपन्यासों मे इस वात का ध्यान रखा है कि ऐतिहासिक घटनाओ मे परिवर्तन न किया जाय और ऐतिहासिक देश-काल का सफल चित्रण हो। उनसे पूर्व वहाँ लम्वे-लम्वे वर्णनो से युक्त अनूदित उपन्यास ही थे, अत. उनका महत्त्व और भी वढ जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यास मे तत्कालीन समाज-स्थिति, विचार-प्रवाह, आचार-विचारो की पद्धति आदि का यथातथ्य चित्रण तो आवश्यक होता ही है पर उससे भी महत्त्वपूर्ण होता है प्रभावशाली चरित्र-चित्रण। व्यक्तित्व की भिन्नता को अभिव्यक्त करना ऐतिहासिक लेखक का आवश्यक कर्त्तव्य है। इसी कला के परिणामस्वरूप हमे कुछ उत्कृष्ट पात्र मिल जाते है जैसे, मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासो के—शिवाजी, नानासाहेव, रगराव अप्पा, सावळया; असमिया मे—मनोमती, शान्तिराम, पद्मकुवारी, निर्मल भक्त, दयाराम, उडिया मे—भास्कर पडित, मेरी, राधा; कन्नड मे—एच्चमनायक, विरूपाक्षाचार्य, राजशेखर, रत्नाविका, यदुमहाराज और शातला, गुजराती मे—चौला, नायिकादेवी, आम्रपाली, विश्वामित्र, राणकदेवी; तेलगु मे—श्रीकृष्णदेवराय, अकवर, महाराणा प्रताप, स्थौलतिष्य, महामत्री अन्नया, वँगला मे—महाराणा प्रताप, सत्यानन्द, काचनमाला, शशाक, मलयालम मे—मार्तण्डवर्मा, टीपू सुल्तान, वलिय कोइत्तम्पूरान, भुतरायर, कुजिक्का, और कल्याणमल तथा हिन्दी मे—झाँसी की रानी लक्ष्मीवाई, वीजगुप्त, और आम्रपाली इत्यादि।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस काल का वर्णन कर रहा है, उसमे पूर्णत लीन हो जाय और उससे समरस होकर देश-काल का चित्र उपस्थित करे। परन्तु प्रत्येक भाषा के ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे कुछ ऐसे अवश्य मिलते है, जो या तो वर्णित काल से समरस न होने के कारण अथवा अपने समय की विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित होने के फलस्वरूप इस नियम का सम्यक् निर्वाह नही कर पाए है। मराठी मे नाथमाधव यह ध्यान नही रख सके है कि शिवाजी के समय धर्म का अधिष्ठान प्रवल था, राष्ट्रवाद का नही। इसी प्रकार हडप ने पेशवा, ब्रह्मेन्द्र स्वामी आदि को सभी पात्रो का मित्र चित्रित किया है। उनसे कोई भी कभी भी मिल सकता है। उनके ओठो पर कभी देश और धर्म की वाते है, तो कभी राष्ट्रवाद की, जो उस काल को देखते हुए अस्वाभाविक प्रतीत होती है। गुजराती मे रमणलाल वसन्तलाल देसाई के 'भारेलो अग्नि' मे यद्यपि विषय १८५७ का सैनिक विद्रोह है, परन्तु गाधीवाद से प्रभावित लेखक ने वहाँ भी अहिंसा का प्रभाव दिखाया है, जो स्पष्ट ही भावना-व्यतिक्रम दोष है। उडिया मे रामचन्द्र आचार्य

का 'वीर उडिया' उपन्यास इसी प्रकार का है। उसमे भी हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने की चेष्टा के परिणामस्वरूप देशकाल-सम्बन्धी कुछ विसगति आगई है। हिन्दी के 'दिव्या' मे लेखक का प्रिय पात्र दिव्या न होकर, मारिश है और उसके मुख से जिस चार्वाक-दर्शन की प्रतिष्ठा कराई गई है वह और कुछ नही आधुनिक मार्क्सवाद है। राहुल साकृत्यायन के उपन्यास भी साम्यवादी सिद्धान्तो से प्रेरित होकर विशिष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखे गये है। ऐतिहासिक परिप्रेक्षण का अभाव ऐसी कृतियो को प्रभावहीन बना देता है। यद्यपि एक अग्रेजी लेखक के अनुसार इतिहासकार को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से इतिहास को देखने का अधिकार है। "निष्पक्ष इतिहास, आदर्श होते हुए भी, एक असम्भव वस्तु है। इसके समर्थन में हम यह बता दे कि प्रत्येक इतिहास-लेखक विगत काल को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है और उस दृष्टिकोण को त्यागना, उसके लिए बडा कठिन होता है।"[1] तथापि देश-काल की पूर्ण अवहेलना करते हुए आधुनिक विचारो को विगत काल में आरोपित करना तनिक भी न्यायसंगत नही। आधुनिक ऐतिहासिक उपन्यासकार इस बात को भूल गए प्रतीत होते हैं।

इन कतिपय दोषो के होते हुए भी भारतीय भाषाओ के ऐतिहासिक उपन्यासों ने पर्याप्त प्रगति की है। आधुनिक मराठी तथा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त, जिनका विस्तृत विवेचन चौथे अध्याय मे किया गया है, गुजराती मे के० एम० मुशी, गुणवन्तराय आचार्य और धूमकेतु के नाम उल्लेखनीय है। अपने अबाधित कथा-प्रवाह, घटनाओ के सुन्दर गुम्फन, पात्रो की विशिष्ट मानसलक्षण-युक्त दृढ रेखा, सजीव आलेखन, वर्ण्य परिस्थिति के नाट्यात्मक अश को ग्रहण करने वाली अनोखी सूझ, सूक्ष्म विवेक-बुद्धि, जो उपलब्ध सामग्री मे से उपादेय अशो को पकड सके, कल्पनाप्रवणता, पात्र-भेद के अनुरूप तथा कथाप्रवाह को अग्रसर करने वाली सवाद-योजना और गुजरात की अस्मिता की भावना के कारण मुशीजी के उपन्यास अत्यत उच्च कोटि के होने के साथ-साथ लोकप्रिय भी है। असमिया मे विशेषत आहोम-काल के इतिहास ने उपन्यासो की कथा-वस्तु के लिए सामग्री प्रदान की है। विषय-वस्तु का विन्यास, चरित्र-चित्रण और आसाम के वीरों और वीरागनाओ के राष्ट्रप्रेम की भावना से ओत-प्रोत ये उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय है।

उड़िया मे 'पीयूष-प्रवाह'. '१८१७', 'हा अन्न', '१९४२', 'मुक्तागडरक्षुधा', 'राजद्रोही' आदि सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास है। उडीसा के ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत के प्रति अनुरक्त है और उस पर विशेष मनोहारिता के साथ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं। उन्होने अतीत को वर्तमान के आलोक मे देखा है तथा सघर्षमय भविष्य के लिए अतीत से प्रोत्साहन ग्रहण करने की चेष्टा की है। उनकी आन्तरिक इच्छा यह रही है कि वे एक ऐसी पीढी को जन्म दे सके, जो अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडने को तैयार रहे। तेलगु मे गोट व पूर्ण आन्ध्र प्रदेश के प्राचीन इतिहास

---

[1] डब्ल्यू० एच० वाल्श : इण्ट्रोडक्शन टु फिलासफी आफ लाइफ, पृष्ठ २०

को आधार बनाकर कई सुन्दर उपन्यास लिखे गये है। वर्णनो की यथार्थता, देश के आचार-व्यवहार तथा सर्वागीण सस्कृति, सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक परिस्थिति के साथ-साथ कथा मे रोचकता लाने का सतत प्रयत्न, तथा पात्रो के चरित्र-चित्रण की ओर जागरूकता इन उपन्यासो मे है। कुछ उपन्यासो, जैसे 'चन्द्रगुप्त' मे अन्तर्द्वन्द्व का बडा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। मलयालम मे भारत के अन्य प्रदेशो की ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर रचित तो दो-चार ही उपन्यास हैं, शेष सभी केरल के इतिहास से सम्बन्धित है। तामिल मे ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गये है। केवल दो लेखक इस क्षेत्र मे आये हैं—कल्कि तथा शाण्डिल्यन। प्रथम की लोकप्रियता का कारण यदि तमिलनाड के विगत विस्मृत गौरव का पुनर्जागरण है, तो दूसरे की लोकप्रियता का आधार कहानी कहने की रोचकता। कर्नाटक मे पहले ऐतिहासिक उपन्यासो का उद्देश्य ठीक-ठीक सिद्ध नही हो रहा था। अत वेटगेरी ने अनुवादो को त्याग अपनी मौलिक रचनाओ द्वारा ऐतिहासिक उपन्यास को एक नई दिशा प्रदान की। पात्रो का परिपोषण, कथोपकथन, ऐतिहासिक तथ्यो के प्रति ईमानदारी, पात्रो मे मानवीयता आदि गुणो के कारण इनके उपन्यास अत्यन्त उच्च कोटि के है। उन्ही से प्रेरणा पाकर वहाँ १९४७ ई० के बाद ऐतिहासिक उपन्यास कुछ अधिक संख्या मे निकलने लगे है।

इधर की ओर उपन्यास मे कुछ नये प्रयोग हो रहे है। इन नये प्रयोगो की प्रेरणा भारतीय लेखको को मुख्यत पश्चिम से मिली है पर कुछ का मूलाधार प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य भी है। बँगला मे नवीन प्रयोग करने वालो मे 'वनफूल' नाम से लिखने वाले बलाईचन्द मुखोपाध्याय और अन्नदाशकर राय हैं। बनफूल का 'जगम' कथानकहीन और नायक-रहित उपन्यास का अच्छा उदाहरण है। इसमे लगभग एक हजार पात्र है। घटनाओ और पात्रो का सग्रहालय बन जाने के कारण उसका कथानक अत्यन्त विशृखलित हो गया है। अन्नदाशकर राय का 'सत्यासत्य' भी छ भागो का बृहद् उपन्यास है।

जेम्स ज्वाइस के ढग पर चेतना-प्रवाह शैली (स्ट्रीम आफ कान्शसनेस) का प्रयोग भी भारतीय उपन्यासकारो ने किया है। ज्वाइस के अनुसार हमारा मन प्रत्येक क्षण कुछ-न-कुछ करता रहता है। हमारे प्रत्येक कार्य के पीछे कोई-न-कोई मानसिक प्रतिक्रिया होती है। इसी को मनोविज्ञान-शास्त्र के अनुसार व्यक्त करना कलाकार के लिए आवश्यक है। मराठी मे 'रात्रीचा दिवस', 'शुभा', 'घर' इत्यादि उपन्यास इसी पद्धति पर लिखे गए है। हिन्दी-उपन्यासो मे इस 'चेतना-प्रवाह' को दिखलाने की चेष्टा, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि ने की है। तेलगु मे चेतना-प्रवाह शैली मे बुचीबाबू ने 'चैतन्य स्रवन्थि' और 'चिवरकु मिगिलेदी' लिखे। प्रथम मे ट्राम मे जाने वाले एक अधिकारी के मन मे आधे घण्टे मे होने वाली प्रतिक्रियाओ का चित्रण है, तो दूसरे उपन्यास मे सुब्बैया की अनवरत चलती हुई विचार-शृंखलाओ को दिखाया गया है।

कुछ लेखक यह समझते हैं कि उनके पास कहने को कुछ ऐसा नया मसाला है, जो उपन्यास के पुराने चौखटे मे अँट नही सकता। अत वे उपन्यासो मे शिल्प की नवीनता और शैली की ताजगी लाते है। कही नये ढग मे कहानी प्रारम्भ की जाती है, कही उपन्यास एक रात मे देखे गए 'विजन' के रूप मे लिखा जाता है, तो कही कार्यकारण-शृ खला को अस्वीकृत कर जीवन के अनेक खण्डचित्रो को ऐसे सजाया जाता है कि क्रमबद्धता न होते हुए भी उनमे प्रभावान्विति होती है—जैसे, 'शेखर एक जीवनी' मे। कोई उपन्यास होते हुए भी भिन्न-भिन्न कहानियो के रूप में लिखा जाता है जैसे हिन्दी मे 'सूरज का सातवाँ घोडा'। यह 'कथासरित्सागर' की कला से मिलता जुलता होते हुए भी स्वतन्त्र एव अभिनव ढग का शिल्प है। पिछले कुछ दिनो से नायकहीन उपन्यास लिखने की एक पद्धति विकसित हुई है। अग्रेजी और रूसी साहित्य मे तो इस प्रकार के उपन्यास थे ही, हिन्दी मे फणीश्वरनाथ रेणु का मैला आँचल' तथा बँगला मे बनफूल का 'जगम' इसी कोटि मे परिगणनीय है।

इस प्रकार रचना-तत्र की दृष्टि से भारतीय उपन्यास ने एक लम्बा मार्ग तै किया है। विषय-सामग्री, चरित्र-निर्माण, वातावरण-चित्रण, समस्याओ की पकड़ तथा भाषा के प्रयोग मे भारतीय उपन्यास-साहित्य ने महान् प्रगति की है। जहाँ पहले पात्र या तो निरे साधु या निरे खल होते थे, वहाँ अब यह तथ्य स्वीकार कर लिया गया है कि मनुष्य न तो पूर्णत देवता है और न दानव। अब पात्रो मे सद् तथा असद्, पाप एव पुण्य, परोपकार एव स्वार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण पाया जाता है। यदि पहले घटनाओ के आधार पर चरित्रनिर्माण होता था, तो अब पात्र की मूल प्रवृत्तियाँ घटनाओ के निर्माण के लिए उत्तरदायी होती है। जहाँ पहले पात्र के स्थूल बाह्य रूप के चित्रण पर ही ध्यान केन्द्रित रहता था, वहाँ अब हृदय मे होने वाले घात-प्रतिघातो, अन्तर्मन के द्वन्द्वो, क्षण-क्षण पर उठने वाली मानसिक तरगो का सफल विश्लेषण एव चित्रण होता है। यदि पहले पात्र स्थिर एव अपरिवर्तनशील होते थे या फिर विना किसी युक्तियुक्त कारण दिये परिवर्तित कर दिये जाते थे, तो अब उनका विकास घटनाओ की सापेक्षता मे किया जाता है, जिससे वह परिवर्तन आकस्मिक एवं अस्वाभाविक प्रतीत न हो।

कथोपकथनो के प्रयोग मे भी अधिक स्वाभाविकता, नाटकीयता एवं कलात्मकता आगई है। कथोपकथन की भाषा पात्र की सामाजिक स्थिति, शिक्षा-दीक्षा एवं मानसिक दशा के अनुरूप प्रयुक्त की जाती है। बैरिस्टर से लेकर गाड़ीवान तक के मुँह से उपयुक्त भाषा बुलवाने मे लेखको ने असाधारण क्षमता प्रकट की है।

पिछले तीस वर्षो मे जो प्रगति हुई है, वह अनेक दृष्टियो से स्पृहणीय है। भाषा मे गभीरता, वर्णनो मे उपयुक्तता एव सक्षिप्तता, मनोविश्लेषण मे मार्मिकता, प्रादेशिक जीवन के चित्रण मे कौशल, समाज के विभिन्न वर्गो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सकेत आदि इनी प्रगति की ओर इगित करते हैं। मनुष्य के अतर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं तरल से तरल भाववीचियो को पकड़, उन्हे चित्रित करने का जादू आज के लेखकों

को प्राप्त है। अपने अनुभवो को ईमानदारी से व्यक्त करने के लिए आवश्यक सवेदन-क्षमता भी उन्होने संपादित कर ली है। अलकरण-शक्ति एव रचना-कौशल मे ये किसी से पीछे नही। वैयक्तिक व्यथा की अपेक्षा सामाजिक विकलता और वैयक्तिक वेदना के स्थान पर सामाजिक सवेदना को अधिक मान्यता प्रदान करने की प्रवृति मगलकारी दिशा की ओर बढे चरणो का सकेत है। परन्तु दोषो के प्रति उदासीनता या उपेक्षा भी नही दिखानी है। जीवन के प्रति अधिक सजगता, चरित्र के गहरे ज्ञान आदि ने उपन्यासो को अधिक सघन और बौद्धिक बना दिया है। बहुत कम लेखक आशापूर्ण उच्चतर जीवन की आकांक्षा का चित्र दे रहे हैं। वे मानो मनुष्य के भीतर की आत्मिकता एव मानवीयता को भूल गए है। यौन-चित्रण भले ही उन्हे लोकप्रिय बना दे, पर पहले सिद्धान्त निश्चित कर तदुपरान्त उसकी प्रतिष्ठा मे लिखे गए उपन्यास कभी चित्ताकर्षक नही हो सकते। प्रगतिवादी कहे जाने वाले उपन्यासो मे यही दोष है। इनकी जड मे कृत्रिमता का कीडा लग गया है। ये समाज के मन पर आघात भले ही करे, मन का समाधान नही कर सकते। दूसरो का अनुकरण न कर, नवीन कल्पनाओ को पचाकर, उन्हे पूर्णत आत्मसात् करने से ही भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। पुस्तकीय ज्ञान, देश-विदेश से प्राप्त अनुभव-भण्डार और दूसरो के द्वारा प्रस्तुत किये गए आदर्श हमारा पथप्रदर्शन करे—इसमे हमे कोई आपत्ति नही, परन्तु स्वय-अर्जित और स्वत प्रेरित अनुभवो की अपेक्षा उनका महत्त्व निश्चय ही कम है। चित्रपट पर चमकने वाली विद्युत्लेखा से चाहे क्षण भर को मन का समाधान भले ही हो जाय, परन्तु आकाश-पटल को भेद कर चमकने वाली वास्तविक विद्युत् को देखने मे, जो अनुभव-प्राप्ति-जन्य अपार आनन्द प्राप्त होता है, वह अन्यत्र कहाँ!

अनुवाद

भारतीय भाषाओ मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना नाममात्र को ही थी। बँगला उपन्यासो को छोडकर, अन्य भाषाओ के उपन्यासो का अनुवाद दूसरी भाषाओ मे बहुत कम हुआ था। इसका प्रधान कारण था अग्रेजी का आधिपत्य एव परतन्त्रता की वह हीन भावना, जिसके वशीभूत हो हम यही समझते थे कि पश्चिम का जो कुछ है, वह श्रेष्ठ एव अनुकरणीय है। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अग्रेजी के साधारण उपन्यासो—स्कॉट और रेनाल्ड्स की कृतियो का तो अनुवाद हुआ, परन्तु भारतीय भाषाओ के उच्चकोटि के उपन्यासो से अधिकाश भारतीय जनता वचित रही। केवल वे ही लोग किसी विशिष्ट उपन्यास से लाभान्वित हो सकते थे, जो उसकी भाषा से परिचित होते थे। उसका अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओ मे नही हो पाता था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व विद्वानो का जितना ध्यान यूरोपीय भाषाएँ सीखने की ओर था, उतना भारतीय भाषाओ को सीखने की ओर न था। फलस्वरूप सन् १९४७ ई० से पूर्व अनुवाद के क्षेत्र मे अग्रेजी, कुछ फ्रैंच एव रूसी तथा बँगला उपन्यासो का ही बोलबाला रहा। मराठी उपन्यास के प्रारभिक काल मे अंग्रेजी उपन्यासो के बाद बंगला उपन्यासो के अनुवाद ही प्रधान थे। बकिम,

शरच्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ उस समय के लोकप्रिय लेखक थे। बकिम के 'आनदमठ' का भाषांतर १८९८ ई० मे घोडो जगन्नाथ भाँगले ने किया था। तब से लेकर मामा वरेरकर द्वारा किये गए शरत् के उपन्यासो के अनुवाद तक तथा उसके बाद भी बँगला से मराठी में अनुवादो की धारा सतत प्रवाहमान होती रही है। सन् १९०१ से १९१० तक काशिनाथ रघुनाथ मित्र ने जोगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, तारकानाथ गंगोपाध्याय, बकिम, स्वर्णलता देवी इत्यादि की रचनाओ के अनुवाद किये। सन् १९१५-१९१८ के लगभग विठ्ठल सीताराम गुर्जर द्वारा रूपातरित उपन्यासों का क्रम चला। उनके माध्यम से मराठी उपन्यासो मे भावना-विलास, वर्णन-शैली का सौन्दर्य, वातावरण-निर्माण की ओर प्रवृत्ति एवं रसमयता आयी। हरिनारायण आप्टे के अस्त तथा ना० सी० फड़के के उदय के बीच के काल मे वि० सी० गुर्जर का बोलबाला रहा। बँगाल की जमीदारी के नमूने पर मराठी 'इनामदारो' के जीवन का उन्होने सफल चित्रण किया। वासुदेव गोविन्द आप्टे ने बकिम के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का चार भागो मे अनुवाद किया। प्रभाकर श्रीपत भसे ने बँगला उपन्यासो का भाषांतर किया व 'भारत गौरव ग्रंथमाला' के द्वारा मराठी पाठको का ध्यान उधर आकृष्ट किया। इसी माला के अन्तर्गत 'दत्ता' का 'विजया', 'चरित्रहीन' का 'प्रणयपक' 'गृहदाह' का 'अनलज्वाला' और 'शेष प्रश्न' का 'नवी क्षितिजे' नाम से रूपातर हुआ। रवीन्द्र के 'घरे बाहेरे', 'गौरमोहन' और 'नौका डुबी' के मराठी अनुवाद उपलब्ध हैं। दूसरी ओर 'गड आला पण सिंह गेला' जैसी मराठी की सुन्दर कृतियो का बँगला में अनुवाद हुआ।

हिन्दी-गद्य के प्राणप्रतिष्ठाता भारतेन्दु ने बँगला के उपन्यासादि के अनुवाद से हिन्दी के भडार मे वृद्धि की। स्वर्गीय पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके साथ ही उक्त महानुभावो ने कृतज्ञतावश यह भी स्वीकार किया कि जब तक हिन्दी भाषा अपनी इस बड़ी बहिन बँगला का सहारा न लेगी, तब तक वह उन्नत न होगी'[1]। १८७३ ई० मे गदाधरसिंह ने सबसे पहले बँगला से दो उपन्यासो 'बग विजेता' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का हिन्दी मे अनुवाद किया। तदुपरान्त 'भारतेन्दु पत्रिका' मे धारावाहिक रूप से बँगला से अनूदित उपन्यास निकले। राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता', प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', और 'इन्दिरा', राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'मृण्मयी' आदि के अनुवाद किये। हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक युग मे बकिम के उपन्यासो की भी बड़ी धूम रही। उधर उर्दू मे बर्क, सरशार, सज्जाद हुसैन आदि ने बकिम के उपन्यासो के अनुवाद किये। गुजराती मे नारायण हेमचन्द्र नामक विद्वान् ने देवीप्रसन्न राय चौधरी, बकिम एवं रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यासो के अनुवाद किये। कन्नड में वी० वेंकटाचार्य ने बँगला से विशेषत. बंकिम के उपन्यासो का अनुवाद किया।

---

[1] 'साहित्य, उपन्यास और समालोचक'—माधवमिश्र निबंधमाला—चतुर्थ खंड ;
प्रथम संस्करण : पृष्ठ १००-१०१

इधर की ओर विभिन्न प्रान्तवासियो मे एक-दूसरे के विषय मे जानने की उत्सुकता बढ़ी है। भारतीय उपन्यासो का एक दूसरी भाषा मे अनुवाद करने का कार्य सन्तोषजनक गति से हो रहा है। बँगला-उपन्यासो के मराठी-अनुवादो की जो परम्परा अत्यन्त प्रारम्भिक काल से चली थी, वह आज भी अक्षुण्ण है। वरेरकर के अतिरिक्त अन्य कितनो पर भी शरत् का प्रभाव देखा जा सकता है। ना० के० महाजन के 'भुज' के रवि, 'जागृति' के उदय व 'विनाश' के प्रमोद पर बँगला-उपन्यासो के नायको की मनोवृत्ति की गहरी छाया पडी है। इनकी चित्रण-पद्धति व भाषाशैली भी शरत् के मराठी भाषातरो मे दिखने वाली शैली के निकट है। अन्य छोटे-मोटे उपन्यासो पर भी शरत् की चित्रण-शैली व भाववृत्ति का प्रभाव दृष्टिगत होता है। शरत् के उपन्यासो से स्फूर्ति ग्रहण कर तथा कुछ अपनी अनुभूति से सहायता लेकर बगाली जीवन का चित्रण करने का प्रयत्न भी मराठी लेखको ने गत कुछ वर्षों मे किया है। गो० नी० दाडेकर का 'तुडवलेले घरकुल', 'बिन्दूची कथा' इत्यादि उपन्यास इसी श्रेणी मे परिगणित किये जायेंगे।

यद्यपि एकाध बँगला उपन्यास, जैसे मलिक का 'दलित कुसुम', मराठी मे हिन्दी के माध्यम से आया, तथापि हिन्दी-उपन्यासो का मराठी-अनुवाद बँगला उपन्यासो की अपेक्षा देर से हुआ। इस दिशा मे प्रारम्भिक प्रयत्न रा० नी० सहस्रबुद्धे द्वारा अनूदित देवकीनन्दन खत्री के 'वीरेन्द्रवीर' (१६०० ई०), कार्तिकप्रसाद खत्री के 'रजपूत रमणी जया' (१६०१ ई०), अ० के० चितले द्वारा अनूदित देवकीनन्दन खत्री के 'कुसुमकुमारी' (१६०२ ई०), कार्तिकप्रसाद खत्री के 'दलित कुसुम' (१६०२ ई०) तथा राधाकृष्णदास के 'मरता क्या न करता' के 'रामेश्वराचे प्राक्तन' नामक अनुवाद, देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' (१६६४ ई०), ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (१६१६ ई०), आनन्दीरमण के 'राजपूत कुमारी तारा' (१६०६ ई०) तथा कमलाबाई किबे के किशोरीलाल गोस्वामी के एक कथानक के आधार पर लिखे 'राजकुमारी' (१६१२ ई०) के रूप मे हुआ था। परन्तु सुन्दर हिन्दी-उपन्यासो का मराठी-अनुवाद प्रेमचन्द के आविर्भाव के उपरात हुआ। ता० ने० पागळ द्वारा 'महाराज नन्दकुमार को फाँसी' का 'ब्रह्महत्या' (१६२४ ई०) नाम से, भसे द्वारा 'प्रेमाश्रम' (१६२४ ई०) और श० बा० शास्त्री द्वारा प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' का 'चिरजीवन' (१६२८ ई०) नाम से अनुवाद हुआ। अब यशपाल के 'दादा कामरेड', रामानन्द सागर के और 'इन्सान मर गया', राहुल साकृत्यायन और मुल्कराज आनन्द आदि के ग्रन्थो के अनुवाद भी हुए है। गुजराती से 'करण बाघेला', 'दिल्लीवर हल्ला', 'अनारकली आणि सलीम', 'हल्दीघाटी चे युद्ध' आदि ऐतिहासिक और 'प्रियवदा', 'कुसुमसुन्दरी' तथा 'गुण-सुन्दरी' आदि सामाजिक उपन्यासो के अतिरिक्त, जिनमे अन्तिम का अनुवाद साफेकर ने मराठी मे किया है, के० एम० मुशी, रमणलाल देसाई, लीलावती मुशी इत्यादि की कृतियो के मराठी-अनुवाद आज भी हो रहे है।

मलयालम मे उर्दू, हिन्दी, बँगला आदि भाषाओ के उपन्यासो का अनुवाद

बड़ी तेजी से हो रहा है। प्रेमचंद, प्रसाद, बंकिमचंद्र चटर्जी, डी० एल० राय, टैगोर, किशनचंदर तथा अब्बास की रचनाओ के अनुवाद हो चुके है। तामिल मे का० श्री० श्री निवासाचार्य ने महाराष्ट्र के वि० स० खाँडेकर के 'क्रौंचवधम्', 'तरिनुनक्षत्रम्' आदि के अनुवाद किये है। बँगला से 'वन्दना' और गुजराती से 'मनोरमा' उपन्यास अनूदित हुए है। बँगला से अनुवाद करने मे ति० ना० सुब्रह्मण्यम् और हिन्दी से अनुवाद करने वालों में वीलिनाथ, सरस्वती रामनाथ आदि विख्यात है।

गुजराती मे मराठी के उपन्यासों, विशेषकर खाँडेकर की रचनाओ का अनुवाद हुआ है। अन्य मराठी से अनूदित रचनाओं मे 'अठारमी सदीनु महाराष्ट्र', 'वारानगरीनो मुज' और 'उष काल' प्रमुख है। कुछ अनुवाद हिंदी मे भी हुए, जैसे 'लाल चीन', 'काश्मीर अने केशरी', 'प्रमोदा' तथा प्रेमचंद का 'निर्मला'। पजाबी मे भाई मोहनसिंह वैद्य ने हिंदी और वगाला उपन्यासो का अनुवाद किया है।

सविधान द्वारा भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकृत किये जाने के उपरान्त उसका महत्त्व बढ़ जाना स्वाभाविक है। अत. सबसे अधिक भारतीय भाषाओ के उपन्यास हिन्दी मे अनूदित हुए है। मराठी से खाँडेकर, फडके, बा० भ० बोरकर, चन्द्रकान्त काकोडकर, सानेगुरुजी आदि के अनेक उपन्यास भाषातरित किये गए है। कन्नड से 'मरळि मण्णिगे' का 'धरती की ओर' नाम से अनुवाद बाबूराव कुमठेकर ने किया है। एक और उपन्यास 'सध्याराग', जिसके लेखक कन्नड के यशस्वी साहित्यिक अ० न० कृष्णराव हैं, भी हिन्दी मे अनूदित हो चुका है। मलयालम से के० एम० पणिक्कर का 'कल्याणमल', गुजराती से के० एम० मुशी के लगभग सभी उपन्यास, झवेरचन्द मेघाणी का 'सोरठ तेरा वहता पाणी', श्रीमती लीलावती मुशी की रचनाएँ एवं रमणलाल वसन्तलाल देसाई के उपन्यासों के अतिरिक्त, इस भाषा के सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' का भी हिन्दी में भाषातर हो चुका है। पजाबी से अमृता प्रीतम एव कर्तारसिह दुग्गल की रचनाएँ हिन्दी मे आगई है। श्री प्रभाकर माचवे को इन भाषातरित उपन्यासो की भाषा के सम्बन्ध मे शिकायत है जो उचित ही है। वह लिखते हैं, "—परन्तु अमृता और दुग्गल यद्यपि अपनी पुस्तको पर अनुवादको के नाम नही देते फिर भी जाहिर है कि यह हिन्दी उन दोनो की लिखी हुई नही है। वे पजाबी मे अनुवाद किसी भी साधारण भाषाविद् से करा लेते हैं और बाद मे किसी माहिर से शायद सुधरवा लेते हैं। इस सैकेण्ड-हैण्ड, थर्ड-हैण्ड अनुवाद मे भाषा के साथ बड़ी स्वतन्त्रता ले ली जाती है।[1]" बँगला से बंकिम, शरत् एव रवीन्द्र के उपन्यासो के अनुवाद ही नही हुए है, उनका प्रभाव भी हिन्दी-उपन्यासो पर पडा है। रवीन्द्र के 'घरे बाहरे' का प्रभाव जैनेन्द्र और अज्ञेय दोनो पर देखा जाता है। इन दोनो के पात्रों मे रवीन्द्र के 'सदीप' और 'माया' की चित्तवृत्ति किसी-न-किसी अग में काम करती है। हरिप्रसन्न अथवा शेखर की असाधारणता मे सदीप की ही अहवृत्ति प्रबल रूप से व्यक्त

---

[1] प्रभाकर माचवे : समकालीन भारतीय उपन्यास—'आलोचना' का उपन्यास विशेषांक ; पृष्ठ २१८

हुई है। इसी प्रकार शरत् के पात्रो मे समाज की प्रचलित नीति-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की जो प्रवल भावना लक्षित होती है, वह यशपाल, जैनेन्द्र अज्ञेय आदि के उपन्यासो मे सहज ही मिल जायगी। फिर भी, यह कहना कि हिन्दी-उपन्यास बँगला-रचनाओ की प्रतिकृति-मात्र है, हिन्दी-लेखको के प्रति अन्याय होगा। यद्यपि जैनेन्द्र के पात्रो—हरिप्रसन्न, श्रीकात व सुनीता पर क्रमश सदीप, निखिलेश एव विमला की छाया है, तथापि मनोवैज्ञानिक बारीकियो मे "जैनेन्द्र रवीन्द्र को कही पीछे छोड गए है। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रो की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेप-विशेष पहलुओ को ही लिया है और बारीकियो को वह छोडते चले गए है। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल भी नही जितने जैनेन्द्रजी के।—रवीन्द्रनाथ का संदीप एक्स्ट्रोवर्ट (वहिरोन्मुख) है और जैनेन्द्र का हरिप्रसन्न इन्ट्रोवर्ट (अतरोन्मुख)[1]।" आज भी ताराशकर बनर्जी के 'कालिन्दी', 'धरतीमाता' और 'राजकमल' आदि उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद हुआ है। उधर हिन्दी के ग्रन्थो का अन्य भाषाओ मे अनुवाद हो रहा है। मुल्कराज आनद और राहुल के उपन्यासो का अनुवाद बँगला, मराठी, मलयाल्म, गुजराती आदि मे हो चुका है।

इस प्रकार आधुनिक काल मे भारतीय भाषाओ मे एक-दूसरे की कथा-कृतियों का अनुवाद पहले से अधिक वेग से हो रहा है। भारतीय भाषाओ के बढते हुए सम्पर्क के इस युग मे इस प्रकार के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रत्येक भाषा के साहित्य मे स्वतत्र सत्ता व निजी व्यक्तित्व के विकास की सभावना अधिक है। अत यह प्रवृत्ति भविष्य की स्वर्णिम सफलता की पूर्वसूचना है।

विदेशी भाषाओ से अनुवाद का कार्य भी लगभग सभी भारतीय भाषाओ मे होता रहा है और आज भी चालू है। अन्तर केवल इतना है कि पहले हमारा ध्यान अंग्रेजी उपन्यासो पर ही केन्द्रित था, परन्तु अब अन्य विदेशी भाषाओ की सर्वोत्तम कृतियो के भाषातर भी हो रहे है। मलयालम मे हार्डी का 'टेस', फ्लावेयर का 'मदाम बावेरी', टाल्स्टाय का 'पुनर्जन्म', गोर्की का 'माँ' और पर्ल बक का 'अच्छी धरती'; बगाली मे स्टीफेन ज्विग, चेस्टरटन, वुडहाउस, जोला, बाल्जाक की रचनाओ के अनुवाद, मराठी मे सन् १९१५-१८ के काल मे मैरी कारेली, शार्लट ब्राण्टे, डिकिन्स, स्काट, जेन आस्टिन इत्यादि की रचनाओ के और तदुपरान्त टालस्टाय, अप्टन सिंक्लेअर, अलेक्झाडर कुप्रिन इत्यादि की कृतियो के अनुवाद हुए है। गुजराती में भोगीन्द्र राव दीवेटिआ ने श्रीमती हेनरी वुड के 'डेन्सबरी हाउस' का 'मोहिनी' नाम से, टाल्स्टाय के 'एना कैरेनिना' का 'तरला' नाम से, विक्टर ह्यूगो के 'ला मिज्रेबल्स' का 'अजामिल' नाम से रूपातर किया। हैमिग्वे के उपन्यासो के अनुवाद भी अनेक भारतीय भाषाओ मे हुए है। इस प्रकार विदेशी भाषाओ के उत्कृष्ट उपन्यास-ग्रन्थो का अनुवाद लगभग सभी भारतीय भाषाओ मे सुचारु रूप से चल रहा है।

---

[1] इल चन्द्र जोशी—विवेचना, पृष्ठ ११९-२०

भारतीय उपन्यास-साहित्य में मराठी और हिन्दी का स्थान—

इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि भारतीय उपन्यास-साहित्य के प्रारम्भिक काल मे बँगला का उपन्यास सबसे अधिक समृद्ध था और जितना प्रभाव अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य पर बँगला का पड़ा, उतना मराठी तथा हिन्दी का नही। पर आज इन दो भाषाओ का उपन्यास-साहित्य किसी भी दृष्टि से बँगला या अन्य किसी प्रादेशिक भाषा के उपन्यास-वाङ्मय से हीन नही है। कुछ दिशाओ मे तो वह सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि कुसुमावती देशपाँडे के अनुसार "इन भाषाओं के उपन्यास-साहित्य मे मराठी उपन्यास को ही अग्रजन्म का अधिकार मिलता है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।"[1] तथापि बँगला-उपन्यास के साथ उपन्यास-आँगण मे प्रवेश करने के बाद मराठी-उपन्यास बगला-उपन्यास के साथ समृद्धि की दौड मे उससे पीछे रह गया। फिर भी उसका स्थान दूसरा अवश्य रहा, क्योकि १८७८ ई० तक उर्दू मे उपन्यास लिखे ही नही गए थे, हिन्दी मे केवल बँगला से अनूदित उपन्यासो की धूम थी तथा अन्य भाषाओं की भी यही हीन स्थिति थी। कन्नड़ मे मराठी-उपन्यासो के अनुवाद से ही वहाँ का उपन्यास-साहित्य प्रारम्भ हुआ। साराश यह कि प्रारम्भिक काल मे मराठी-उपन्यास जन्म-समय की दृष्टि से बँगला के समकक्ष होते हुए भी, कला की दृष्टि से उसकी बराबरी न कर पाए और हिन्दी-उपन्यास जन्मकाल और कलात्मकता दोनों ही दृष्टि से बँगला उपन्यासो के पीछे रहे। पर आधुनिक काल के उपन्यासो की स्थिति वैसी नहीं है। अब हिन्दी और मराठी के उपन्यास किसी अन्य भारतीय भाषा के उपन्यासों से हीन नही हैं। विषय-वैविध्य तथा रचना-शिल्प, दोनो के क्षेत्र मे उन्होने जो प्रगति की है उस पर लज्जित होने का कोई कारण नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि आधुनिक भारतीय भाषाओ को सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का कथा-साहित्य परम्परा-रूप मे प्राप्त था, परन्तु उनमें उपन्यास-साहित्य का आरम्भ अग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क के बाद ही हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी-उपन्यासो के अनुवाद या उन पर आधारित स्वतत्र उपन्यास लिखे गए। कुछ समय तक बँगला-उपन्यासों ने अन्य भाषाओ के उपन्यासकारो को प्रभावित किया। तदुपरान्त जैसे-जैसे प्रतिभा का विकास एव रुचि का परिष्कार होता गया, वैसे-वैसे उपन्यास-वाङ्मय की शाखा-प्रशाखाएँ अभिनव सौन्दर्य एव नवीन स्फूर्ति के साथ साहित्य-प्राँगण मे फैलती गई।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय उपन्यास का बाल्य-काल था, अत: उस काल के अनुरूप कुतूहल एव जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति के लिए घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए। सस्कृत की परम्परा अभी विस्मृत नही हुई थी, अत नीतिबोध, काव्यगत न्याय की प्रतिष्ठा और शृंगारपूर्ण प्रणय-कथाओ के द्वारा पाठकों का मनोरजन करने की प्रवृत्ति इन रचनाओ मे दृष्टिगत होती है। ऐतिहासिक उपन्यास तक इस प्रवृत्ति से नही बच पाये हैं। ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा होने के कारण ये

---

[1] कुसुमावती देशपाडे 'मराठी कादम्बरी', दूसरा भाग, पृष्ठ १७३

उपन्यास नाम भर को ऐतिहासिक रह गए। बँगला मे राखालदास बनर्जी, मराठी मे हरिनारायण आप्टे तथा मलयालम में सी० वी० रामन पिल्ले के उपन्यास इसके अपवाद है। अधिकांश लेखको ने अपने प्रदेश के इतिहास पर ही लिखा है, अपने प्रदेश से बाहर झाँकने की प्रवृत्ति कम है।

प्रारम्भ मे सम्पूर्ण भारत मे सामाजिक समस्याएँ—बाल-विवाह, विधवाओं का प्रश्न, वेश्या-समस्या आदि समान थी, अतः सभी भाषाओं मे इन प्रश्नो को लेकर उपन्यास लिखे गए।

जहाँ तक शिल्प और शैली का प्रश्न है, 'कादम्बरी' इत्यादि संस्कृत कथा-रचनाओ के प्रभाव एवं अंग्रेजी-उपन्यासो के शिल्प-वैविध्य से कम परिचित होने के कारण अधिकतर उपन्यासो मे कथानक के अतिरिक्त उपन्यास के अन्य तत्वो—चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, पार्श्वभूमि-चित्रण आदि पर कम ध्यान दिया गया और भाषा को अधिकाधिक अलकृत बनाने मे लेखक प्रयत्नशील रहे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते, न केवल सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रो मे ही नव-चेतना का जागरण हुआ, अपितु साहित्य के मानदंड भी बदले। आदर्श-स्थापना के साथ-साथ यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति ने जन्म लिया और समाज एव जीवन की यथार्थ परिस्थितियो के प्रति पाठको के मन मे विक्षोभ उत्पन्न किया गया।

राजनीतिक हलचल ने गाधीजी द्वारा चलाये गए आन्दोलनो पर लिखने की प्रेरणा दी, तो किसान और मजदूर-वर्ग की दयनीय स्थिति से द्रवित हो कुछ लेखको ने उनके जीवन का यथार्थ अकन किया। सभी भाषाओ के राजनीतिक उपन्यासो मे प्राय. दो दोष मिलते है—प्रथम तो अपनी विचारधारा का समर्थन करने के लिए लेखको ने दूसरे पक्षो पर अनावश्यक एव कुरुचिपूर्ण दोषारोपण किया है। दूसरे, उनमे प्रणय-क्रीड़ाओ के भडकीले चित्रो ने राजनीति को दबा लिया है। कुछ भाषाओ जैसे, हिन्दी और गुजराती आदि के उपन्यासो मे यदि गाधीवादी विचारधारा का समर्थन मिलता है, तो कुछ जैसे मराठी मे उसका उत्कट विरोध पाया जाता है।

सभी भाषाओ के उपन्यासकारो को फ्राइड, एडलर, जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तो तथा मार्क्स के विचारो ने आकृष्ट किया और उन्होने अनेक उपन्यास उन सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा तथा विचारो का समर्थन करने के लिए लिखे। लगभग सभी भाषाओ के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे यदि अनुभूति का अभाव एवं मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान का प्रयोग कला के लिए घातक है, तो मार्क्सवाद का अन्धा समर्थन हृदय को स्पर्श करने मे असमर्थ है।

आँचलिकता लाने की प्रवृत्ति का आरम्भ पहले बँगला और मराठी मे हुआ, पर अब सभी भाषाओ के उपन्यासो मे वह दिखाई देती है। यह प्रयत्न वस्तुत श्लाघ्य है।

पिछले पच्चीस वर्षों का भारतीय राजनीतिक जीवन अत्यंत घटना-सकुल रहा

है। अतः १९४२ ई० के आन्दोलन, बंगाल के अकाल, देश-विभाजन आदि पर सभी भाषाओ मे उपन्यास लिखे गए हैं। ऐतिहासिक उपन्यासो में न केवल ऐतिहासिक सत्य एवं यथार्थ वातावरण-चित्रण पर ही बल दिया गया है, अपितु प्रदेश-विशेष के इतिहास के अतिरिक्त अन्य प्रदेशो पर लिखने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है।

शिल्प के क्षेत्र मे पश्चिम से प्रेरणा ले नित्य नये प्रयोग हो रहे है। चेतना-प्रवाह पद्धति एवं सिनेरियो-शिल्प इसके प्रमाण हैं। भाषाओ से पारस्परिक अनुवाद-कार्य को साहित्य-अकादमी की स्थापना के पश्चात् नवीन गति मिली है। अत. सभी क्षेत्रो मे भारतीय उपन्यास ने संतोषजनक प्रगति की है।

प्रकरण : २

मराठी में उपन्यास-साहित्य का प्रारंभ और उसका हिन्दी पर प्रभाव

आधुनिक गद्य के विकास से पूर्व मराठी कथा-साहित्य की स्थिति

उपन्यास नामक साहित्यिक विधा आधुनिक अवश्य है, पर मराठी मे उसके बीज पर्याप्त पुराने हैं। ईसा की बारहवी शताब्दी मे ही हम गद्य तथा पद्य दोनो मे कथा-साहित्य का निर्माण होते देखते है। छोटे बच्चो के लिए लिखी गई नीति-कथाएँ भास्करभट्ट बोरीकर की 'शिशुपाल-वध' तथा नृसिंह का 'नलोपाख्यान' इसके प्रमाण हैं। सन् १३४८ मे मुसलमानो के आधिपत्य से मराठी भाषा को बडी ठेस पहुँची और देवनागरी-अक्षरो मे लिखे जाने पर भी अभिलेखो की भाषा मे अरबी-फारसी शब्दो की भरमार होने लगी। तीन सौ वर्ष तक उसकी स्थिति अत्यन्त हीन रही। परन्तु शिवाजी महाराज के प्रोत्साहन से मराठी भाषा समृद्ध हुई तो साहित्य को भी नई दिशाएँ उपलब्ध हुई और बखरी (देश-भाषा मे लिखी जीवनी) तथा पोवाडा-(वीर-गाथा) के रूप मे वीरो के पराक्रमयुक्त कृत्यो की कथाएँ लिखी जाने लगी। प्रत्येक क्षेत्र मे स्वाभिमान की भावना का प्रसार होने लगा। राज्यव्यवहार-कोश का निर्माण होने से भाषा का स्वरूप पर्याप्त बदल गया। असख्य सस्कृत-शब्दो के पुन प्रचार से मराठी भाषा अत्यन्त प्रौढ व सम्पन्न बन गई।[1] पर आधुनिक उपन्यास के आविर्भाव मे अभी विलम्ब था। इसके दो बडे कारण थे . गद्य का अभाव और धर्म-भावना का अतिरेक। धर्म-भावना के सम्बन्ध मे बापट कहते है, "प्राकृत के उपरान्त देशी भाषाओ मे जो साहित्य-रचना हुई, उसके मूल मे धर्म-प्रेरणा ही प्रमुख थी। अतः कथा-साहित्य का लौकिक स्वरूप निंद्य व त्याज्य ठहराया गया और वह धार्मिकता की ओर उन्मुख हुआ।"[2] जीवन को क्षुद्र मानने के कारण उसका वर्णन करना भी हेय समझा जाता था, उनका मत था, "वाटे चरित्र त्यांचे आपण काही तरावया गावे" अर्थात् हम उनका चरित्र गावे जो भवसागर पार करने को नौका हो। केवल देवताओ और सतो के अदभुत चरित्र-वर्णन के कारण ग्रथ-रचना मे स्वतन्त्र कल्पना को बहुत कम अवसर मिलता था। इस प्रकार प्राचीन मराठी-साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा व रक्षा

---

[1] गो० स० सरदेसाई : मराठशाहीतील गद्य-रचना, त्रि० ज्ञा० वि०, पृ० ४८

[2] बापट और गोडबोले मराठी कादम्बरी तन्त्र आणि विकास ; नवीन संस्करण , पृष्ठ १९६

संत-कवियो के हाथों होने के कारण साहित्य मे यह धार्मिक प्रवृति मोरोपत की मृत्यु तक चलती रही।

गद्य का अभाव भी इसके लिए उत्तरदायी था। प्राचीन मराठी के ६०० वर्षों में 'लीला चरित्र' सरीखे अपवादों को छोड़कर कुल मिलाकर गद्य के प्रति उपेक्षा रही, बहुत सी मनोरम कथाओ का माध्यम पद्य ही था। "पेशवाई का अन्त होने से पूर्व मराठी भाषा मे जो कथा-साहित्य रचा गया, वह धार्मिक होने के साथ-साथ पद्य मे लिखा गया। गद्य मे लिखना अभी भी शिष्ट नही समझा जाता था। मुद्रण-कला का अभी यहां आविर्भाव नही हुआ था। ..साहित्य-निर्माण के लिए आवश्यक स्वस्थता तो थी ही नही, साथ ही उसके लिए अनिवार्य सजीवता भी निश्शेष हो चुकी थी।"[1] गद्य की उत्पत्ति के उपरान्त मराठी कविता लावनी और पौवाडा (वीरगाथा) के साहचर्य से लौकिक स्वरूप की ओर उन्मुख हुई। दादोबा के आत्म-चरित्र की कुछ कविताएँ इस तथ्य की पुष्टि करती है। धार्मिक सस्कारो का प्रभाव दूर होने पर लौकिक साहित्य की ओर जनता की अभिरुचि हुई और उपन्यास-साहित्य की रचना के लिए मार्ग खुल गया।

यहा एक प्रश्न उठता है—क्या मराठी उपन्यास विदेशी ससर्ग के बिना भी विकास को प्राप्त हो सकता था? कुसुमावती देशपाँडे के अनुसार मराठी उपन्यास के विकास के बीज विदेशी ससर्ग से पूर्व ही साहित्य मे विद्यमान थे। उनका मत है कि यदि उस समय राजनीतिक अव्यवस्था के कारण सामाजिक जीवन विश्रृंखलित न हुआ होता तो उपन्यास-साहित्य के विभिन्न प्रकारों मे उत्क्राति हुई होती, कथा का विस्तार बढ़ गया होता, वह अधिक गंभीर हो गई होती, और उसका शिल्प-विकास भी हो गया होता क्योंकि उपन्यास के विकास के लिए जिन उपकरणो की आवश्यकता होती है, वे सब उसके पास थे। "यह वृत्ति, यह दृष्टिकोण, ये अनुभव और कल्पना, सजीव चरित्र-चित्रण अथवा विस्तृत आकर्षक कथानक ही उपन्यास रचना के लिए आवश्यक है, और ये उपादान अंग्रेजी आक्रमण से पूर्व मराठी साहित्य मे निश्चय रूप से विद्यमान थे।"[2] उनकी दृष्टि मे मोरोपंत के 'महाभारत के पर्व', 'रामायण के प्रकार', श्रीधर का 'रामविजय' वामन पडित के 'आख्यान' सभी एक प्रकार के उपन्यास थे क्योंकि उनमे आकर्षक युद्ध-वर्णन, चतुर संभाषण, रोमाचकारी प्रसग, कपटनैपुण्य, निःसंग शौर्य, शृंगार एव करुण रस, मिलते हैं। मन को मुग्ध करने की शक्ति भी उनमे पर्याप्त मात्रा मे है। यदि उस साहित्य तथा उपन्यास-साहित्य मे कोई अन्तर था, तो केवल यह कि प्रथम का माध्यम पद्य था और दूसरे का गद्य, और इस अन्तर को मिटाने के लिए कुसुमावती जी की दृष्टि मे न अंग्रेजी आक्रमण की आवश्यकता थी और न विदेशी साहित्य एव संस्कृति के सम्पर्क की।

अन्य आलोचकों का मत इससे भिन्न है। 'मराठी साहित्य समालोचन' के

---

[1] वि० ह० कुलकर्णी : 'अर्वाचीन मराठी साहित्य', संपादित-कर्वे तथा नैने। पृष्ठ ६८-६९।

[2] कुसुमावती देशपांडे : 'मराठी कादम्बरी' पहिला भाग, पृष्ठ १८।

प्रसिद्ध रचयिता सर्वटे के अनुसार मराठी उपन्यास के सम्मुख यदि संस्कृत साहित्य का ही आदर्श होता, तो उसका विकास इतना न हुआ होता। लेखको को फारसी व अंग्रेजी का कथा-भडार मिला और उसके अनुकरण पर अनेक मराठी उपन्यास लिखे गये। 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोप' का प्रणेता भी इसी मत का है। "······और मराठी का कथा-साहित्य पहले सस्कृत कथा-साहित्य के रूपान्तर से समृद्ध हुआ, बाद मे उस पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा।"[१] वि० वा० आवेकर तो मानो कुसुमावती जी के उठाए प्रश्न का उत्तर देते हुए ही लिखते है "···पर केवल एक इसी तथ्य के आधार पर आग्रहपूर्वक यह कहना कि आधुनिक मराठी साहित्य की उस विधा का मूल, जो पिछले सौ वर्षो के अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन, परिशीलन व अनुकरण से विकसित हुई है, इसी देश के साहित्य मे है, उथली देशभक्ति की भावना के अतिरिक्त अन्य किसी भावना का द्योतक नही है।"[२]

इस प्रकार मराठी उपन्यास के विकास के सम्वन्ध मे दो मत है। हमारी दृष्टि मे प्रथम तो यह प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है कि यदि ऐसा न हुआ होता तो ऐसा होता। व्यर्थ की सभावनाओ मे पड़ने से समय एवं शक्ति का ही ह्रास होता है। दूसरे, यह तो कुसुमावती जी भी मानती है कि मुद्रणकला के अभाव मे मराठी उपन्यास-साहित्य पूर्ण विकास को प्राप्त न हो पाया था और जव मुद्रणकला का महाराष्ट्र मे आविर्भाव हुआ, तो भी वहाँ स्वतंत्र जीवन एव स्वयस्फूर्त दृष्टि का अभाव था। अत. अप्रत्यक्ष रूप मे वह भी पाश्चात्य सपर्क के महत्व एव ऋण को स्वीकार करती है। ईसाई धर्मप्रचारको द्वारा मराठी गद्य के परिपोपण के लिए किये गये कार्य को, जिससे उपन्यास का विकास सभव हो सका, विस्मरण कर देना कृतघ्नता ही होगी। फिर विपय-प्रतिपादन का नवीन ढग, मतप्रदर्शन और आधुनिक विचारधारा का निदर्शन—ये सव मराठी उपन्यास मे आधुनिक तत्त्व थे, जो अंग्रेजी साहित्य के ससर्ग से आए। विद्यालयो मे स्पैन्सर आदि विचारको, मिल्टन और शैक्सपियर, स्काट और रैनाल्ड्स आदि साहित्यकारो की रचनाओ को पढकर मराठी लेखक प्रभावित हुए। ब्रिटिश-विजय ने महाराष्ट्र निवासियो को अपने गौरवपूर्ण भूत एव दयनीय वर्तमान के सम्वन्ध मे सोचने के लिए वाध्य किया और वे उस दयनीय स्थिति के कारणो तथा उससे मुक्त होने के उपायो के सम्वन्ध मे सोचने लगे। हळवे की 'मुक्तामाला' 'कादवरी' के ढग पर अद्भुतरम्य भले ही हो, पर उसका लेखक परमहस-सभा व प्रार्थना-समाज का सदस्य होने के कारण प्रगतिशील विचारो का था। उसमे अभिव्यक्त विधवा-जीवन सम्बन्धी विचार एव सुधारक-दृष्टिकोण निश्चय ही उनके विदेशी सम्पर्क के द्योतक है। अत. निस्सकोच आवेकर के साथ-साथ यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक उपन्यासकारो ने "अंग्रेजी साहित्य के आधार पर मराठी भापा मे सस्कृत सकेतो को बीच-बीच मे स्वीकार करने वाला कथा-साहित्य का एक

---

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष : दसवा विभाग, पृष्ठ २६७।

२. वि० वा० आबेकर : मराठी कादम्बरी 'प्रदक्षिणा', पृष्ठ १६३, दूसरा संस्करण।

नवीन साँचा तैयार किया।"[1]

तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का निरीक्षण एवं अध्ययन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि मराठी भाषा के प्रारम्भिक उपन्यास-साहित्य पर अंग्रेजी कथा-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उस समय यहाँ केवल विदेशी राज्य ही नहीं था, अपितु एक प्रगतिशील संस्कृति एवं सभ्यता के विचारों, मतों और भावनाओं का भी सबल प्रभाव पड़ने लगा था। इस देश के निवासी अपनी स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासु होकर छानबीन करने लगे थे। "……इतना ही नहीं प्रत्येक बात में अंग्रेज-समाज से अपने समाज की तुलना करने के कारण अपने रीति-रिवाजों के दोष भी उनकी दृष्टि में शीघ्र आने लगे।"[2] यह सब अंग्रेजी-साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क से ही हुआ। अतः हम मराठी उपन्यास-साहित्य पर पड़े अंग्रेजी प्रभाव और उसके ऋण को अस्वीकार नहीं कर सकते। इसका यह अर्थ नहीं कि इन लेखकों ने संस्कृत और प्राकृत के ललित वाङ्मय की परम्परा की बिल्कुल ही उपेक्षा की और उसका उपयोग नहीं किया।

15939

प्रारम्भिक मराठी उपन्यास पर पड़े विभिन्न प्रभाव तथा उनका परिणाम

अन्य भारतीय भाषाओं के समान मराठी को भी संस्कृत-साहित्य परम्परा के रूप में प्राप्त हुआ। संस्कृत भाषा में लिखी गई बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का मराठी लेखकों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने इस नवीन साहित्यिक-विधा का नाम ही कादम्बरी रखा। इसके अतिरिक्त 'कादम्बरी' में प्रयुक्त अद्भुत-तत्व, आलंकारिक भाषा तथा उपदेशात्मकता का भी अनुकरण इन प्रारम्भिक उपन्यासों में मिलता है। इस काल में पड़े विभिन्न प्रभावों के परिणामों को अलग-अलग देखना भूल होगी। वस्तुतः कुछ बातें तो सम्मिलित प्रभावों का समूहगत परिणाम थीं, जैसे अद्भुतरम्य की प्रवृत्ति संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी तीनों के कथा-साहित्य का फल थी। इसी प्रकार उपदेश एवं नीतिबोध की प्रवृत्ति संस्कृत और मिशनरी-साहित्य से उद्भूत हुई थी। शृंगार-मयता उर्दू एवं संस्कृत से अपनाई गई थी।

संस्कृत साहित्य का प्रधान लक्ष्य उपदेशात्मकता एवं नीतिबोध रहा है। उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए मराठी में बखरी साहित्य और पौराणिक आख्यानों के संक्षिप्त संस्करण जनसाधारण की भाषा में प्रकाशित होने लगे थे। उनमें 'बकासुरची बखर' (१८४३ ई०) 'चंद्रहास्याची बखर' (१८४६ ई०) 'भागवताची बखर' (१८४७ ई०) विशेष प्रसिद्ध हैं।"[3] अंग्रेजों के आगमन पर ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप नीतिबोधपरक साहित्य का पोषण और संवर्धन और भी अधिक हुआ।

अद्भुतरम्य तत्व के विषय में भी यह सत्य है। पूर्वपरम्परा का अनुकरण करते हुए न केवल 'बखरी-साहित्य' ने अद्भुत तत्व को समाहित किया, अपितु कथा-

---

१. वि० बा० आंबेकर—मराठी कादंबरी, प्रदक्षिणा, पृष्ठ १७१, दूसरा संस्करण।

२. प्रभाकर पाध्ये 'आजकाल चा महाराष्ट्र' पृष्ठ ६४।

३. बापट और गोडबोले, 'मराठी कादंबरी तन्त्र आणि विकास' पृष्ठ १९९।

साहित्य मे भी उसका उपयोग हुआ। बाण की 'कादम्बरी' के अनुकरण पर अद्भुत घटनाओ का समावेश स्वच्छदतापूर्वक हुआ। ल० म० भिगारे ने इन उपन्यासो को 'कादम्बरी की वशवेल' कहा है। "बाणभट्ट की रचना के समान अनेक जन्मो तक चलने वाली कथा, प्रथम मिलन के समय ही उन्मत्त बना देने वाला और वियोग होते ही मृत्यु के निकट पहुँचा देने वाला तीव्र प्रणय, घने जगल और उनमे घूमने वाले राजकुमार एव मन्त्रियो के पुत्र, घोडो के मुखवाले किन्नर और मनुष्यो की भाषा बोलने वाले तोते आदि सामग्री मराठी के अद्भुतरम्य उपन्यासो मे देखकर, यह लगता है कि वे बाणभट्ट और उसके सदृश 'दशकुमार चरित्र' के रचयिता दडी की ही वशवेल है।"[1] इसी प्रकार का अद्भुत-तत्व 'सुरस गोष्ठी' मे था, जो मराठी भाषा-भाषियो को चिपळूणकर के अरबी भाषा से अनुवाद द्वारा उपलब्ध हो चुकी थी। 'बखरी साहित्य' द्वारा पाठको को अद्भुत-कथा पढने का जो चाव लगा, उसकी सम्पूर्ति के लिए लेखको ने उर्दू-फारसी कथा-साहित्य का आश्रय लिया। 'फसाना अजायब' और 'गुलसनोवर' के अनुवाद इसी उद्देश्य को लेकर किये गये थे। सस्कृत और इन फारसी ग्रथो मे बहुत सी समान बाते थी। 'सस्कृत मे तन्वी श्यामा और अरबी-फारसी मे पतली कमर वाली बेगम, इधर श्रृगार और उधर मुहब्बत, सुसंस्कृत मदिरा और ईरानी शराब, अत-पुरो की दासी-कचुकी और जनानखानो की लौंडी और खोजे, मनोविनोद करने वाले तोता-मैना और बुलबुल इन सबको नवीन सादृश्य के कारण एकसाथ ग्रहण किया गया।"[2] अत: सस्कृत, अरबी-फारसी तथा अग्रेजी के कथा-साहित्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप मराठी उपन्यासो मे अद्भुतरम्य-तत्त्व का समावेश हुआ। "प्रारम्भ मे ही उपन्यासो पर फारसी ग्रथो की छाप होने के कारण अद्भुत कथानक व कृत्रिम अलकृत-भाषा, इनका मराठी कथा-साहित्य मे प्रचुर प्रचार हुआ। इसी अद्भुत तत्त्व के प्रभाव के समय लक्ष्मणशास्त्री हळबे नामक चतुर व कल्पनाप्रवण लेखक ने अद्भुत के प्रति बढती हुई अभिरुचि का लाभ उठाकर सन् १८६१ में 'मुक्तामाला' नामक उपन्यास लिखा।"[3]

इन अद्भुतरम्य उपन्यासो की लोकप्रियता एव प्रसार का कारण तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति एव मानसिक स्थिति भी थी। पेशवा-काल के वीरतापूर्ण कार्यो की स्मृति धुधली होती जा रही थी तथा अग्रेजी शासन द्वारा प्रदान की गई नवीन विचारधारा व कार्यक्षमता का उत्साह आने मे अभी कुछ विलम्ब था। स्वराज्य नष्ट होने पर अग्रेजो के शासन की नींव सुदृढ हो चुकी थी। पराक्रम के लिए अवकाश न था क्योकि परतत्रता की भावना एव अपने को असहाय एव निरवलब समझने की मनोवृत्ति के कारण जनता की पराक्रम-प्रवृत्ति लुप्त हो चुकी थी। उनका मन शिथिल और निष्क्रिय था। दूसरे बाजीराव ने स्थूल श्रृगार एव विलास का

---

१. 'कादबरीची वाटचाल' 'नव भारत' मार्च १९५७— पृष्ठ १६।

२. वही पृष्ठ १६।

बापट और गोडबोले : मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास, पृष्ठ २०१-२।

मोहक आकर्षण पहले से ही उनके मन मे उत्पन्न कर दिया था। जमीदार और जागीरदार, जिनके जीवन मे शौर्य का अवसर शेष न रह गया था, स्वप्निल विलास-परता को प्रश्रय देने लगे थे और काल्पनिक तथा अद्भुतरम्य कथाओ द्वारा अपने शिथिल एव तन्द्रिल जीवन मे उत्तेजना भरने की चेष्टा कर रहे थे। "उस मडली का, कहने को नीतिनिष्ठ पर वस्तुत. शृगारपूर्ण व अलकारप्रचुर उपन्यासो से पर्याप्त मनोरजन हुआ।"[1] 'मुक्तामाला', 'मजुघोषा' इत्यादि के लेखक को गायकवाड की ओर से मिलने वाला वार्षिक-धन इसका प्रमाण है।

सस्कृत तथा उर्दू-फारसी ग्रन्थो की लोकप्रियता के परिणामस्वरूप अद्भुत के साथ-साथ शृंगार का पुट मराठी उपन्यासो मे आया और फिर सयोग तथा वियोग शृगार के उत्कट चित्र उपन्यासो मे दीखने लगे। विषय-वस्तु के अतिरिक्त इस काल के उपन्यासो की शैली पर भी सस्कृत-अरवी ग्रन्थो की कथा-शैली का प्रभाव पड़ा, जो आगे हरिभाऊ के 'मयली स्थिति' तक मे पाया जाता है। उसके विषय मे भिगारे लिखते है "—उस समय अत्यन्त प्रचलित 'दशकुमार चरित' अथवा 'आरबी भाषेतील गोष्टी' की रचना-पद्धति का भी कुछ प्रभाव इस पद्धति के स्वीकार करने मे पडा होगा, ऐसा लगता है।"[2]

१८२० ई० मे मुद्रण कला के आविर्भाव, 'नेटिव स्कूल बुक और स्कूल सोसायटी' की स्थापना, ब्रिटिश शासन-अधिकारियो द्वारा लोकभाषा और लोकशिक्षण के लिए एक लाख रुपये खर्च करने का निश्चय, एल्फिन्स्टन साहब के प्रयत्नो और मिशनरियो के कार्य आदि से अग्रेजी-शिक्षण को प्रोत्साहन मिला। यह समझा जाने लगा कि अग्रेजी शिक्षा के अभाव मे मनुष्य सभ्य नही हो सकता। उस काल की विचारधारा का प्रतिविम्ब हमे कृष्णशास्त्री चिपळूणकर के शास्त्राध्ययन समाप्त होने पर, उनके गुरु मोरशास्त्री साठे द्वारा उनको दिए गये उपदेश मे प्राप्त होता है, "इसके बाद कधे पर शाल डालकर घूमने मे प्रतिष्ठा नही मिलेगी। यदि तू चतुर है, तो अग्रेजी सीख।"[3]

अग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने मराठी लेखको को एक ओर अद्भुतरम्य उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी, तो दूसरी ओर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया पैदा की। स्कॉट और रेनाल्ड्स के उपन्यासो को पढकर पाठको की अद्भुत एव साहस की प्यास बुझती थी। अत लेखको ने मराठी मे उनके अनुकरण पर कुछ ग्रंथ लिखे। 'पुण्य-ग्राम रहस्य' 'मिस्ट्रीज आफ दी कोर्ट ऑफ लन्दन' के अनुकरण पर लिखा गया ग्रन्थ है, जिनमे वेश्या-बाजार मे फिरने वाले छैलो, खान-पान मे विधि-निषेध न मानने वालो, तत्कालीन सुशिक्षितो, बाहर से नीति का आडम्बर धारण करने वाले पर भीतर से भ्रष्ट लोगो एव समाज के प्रतिष्ठित नेताओ के चित्र है। दूसरी ओर सन्

---

[1] कुसुमावती देशपाडे—'मराठी कादंबरी' पहिला भाग, पृष्ठ ३७ ।

[2] ग० न० भिंगारे 'हरिभाऊ', पृष्ठ १०१ ।

[3] ल० कृ० चिपळूणकर कृत 'विष्णुशास्त्री चिपळूणकर याचे चरित्र' : दूसरी आवृत्ति : पृ० ५ ।

१८५७ में बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर जब विद्वानो का ध्यान अग्रेजी-साहित्य की ओर गया और उन्होंने मराठी-वाड्मय की तुलना अग्रजी-वाड्मय से की, तो उनके मन मे मराठी साहित्य के परिष्कार व सुधार की आकाक्षा उत्पन्न हुई और शीघ्र ही अद्भुत उपन्यास के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। फलत' प्रथम तो काल्पनिक एव अद्भुत के चित्रण के स्थान पर विगत काल की अद्भुत सदृश साहसपूर्ण घटनाओ का वर्णन होने लगा और दूसरे, राजा रानी के स्थान पर सामान्य व्यक्तियो के जीवन का अकन हुआ। इन्ही दो प्रवृत्तियो का परिणाम था—ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यास। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशकार लिखता है, "यथार्थ की प्रेरणा मराठी लेखको को प्राय अंग्रेजी से प्राप्त हुई।"[1]

कुछ आलोचको के मतानुसार बँगला उपन्यास ने भी प्रारम्भिक मराठी उपन्यास को प्रभावित किया। पर बँकिम, रमेशचद्र दत्त आदि की कृतियो के लगभग मराठी मे दो सौ अनुवाद होने पर भी उन्होने उसकी आत्मा को बहुत कम प्रभावित किया। आगे के मराठी उपन्यासकारो—गुर्जर, भसे, महाजन, वामनराव आप्टे इत्यादि ने बँगला से भावनाविलास, वर्णनशैली व वातावरण-निर्मिति का सौन्दर्य भले ही लिया, परतु प्रारम्भिक उपन्यासकार बँगला प्रभाव से अछूते रहे। बँगला व मराठी उपन्यासो के स्वरूप मे पर्याप्त अन्तर है। बँगला उपन्यासो मे कोमल वाक्यावलि, सुकुमार कथा, अपूर्ण प्रेम-सम्बध, सत्प्रेम, पश्चाताप व आत्महत्या की रेल-पेल होती है। इसके अतिरिक्त बँगाली पाठकों को वृहत्काय कथाएँ रुचिकर नही, अत उनके उपन्यास छोटे होते हैं। उनमे मानव-हृदय मे भावनाओं की कल्लोल उत्पन्न करने की महान शक्ति होती है। यह सब मराठी के प्रारम्भिक उपन्यासो मे नही मिलता। अत यह कहना उचित ही है कि "यद्यपि बँगला से अनेक अनुवाद मराठी मे हुए, तथापि उनका अनुकरण मराठी मे तनिक भी नही हुआ।"[2]

प्रारंभिक मराठी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियाँ

उपदेशात्मकता और नीतिबोध

मराठी-उपन्यास के प्रारम्भिक काल मे सस्कृत कथा-साहित्य की पूर्व-परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी और जनता की प्रवृत्ति भी धर्म की ओर से पूर्णत विमुख नही हुई थी। उधर ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्मप्रचार के हेतु ऐसी पुस्तके प्रकाशित कर रहे थे, जिनमे नीति एवं धर्मोपदेश के तत्त्व कथा-तत्व के साथ मिलकर सहज ही ग्राह्य हो सके। लौकिक साहित्य के प्रति जनता का उपेक्षा-भाव दूर करने के लिए भी उन्हे उसे धार्मिक रग देना आवश्यक जान पडा। इन परिस्थितियो मे मराठी लेखको के लिए नीतिबोध की पूर्ण उपेक्षा करना असम्भव था। मराठी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार बाबा पदमनजी ईसाई धर्मावलम्बी थे। उनके उपन्यास 'यमुना पर्यटण' मे न केवल ईसाई धर्म का प्रचार ही है, अपितु भाषा भी बाईबिल की भाषा के अनुरूप है।

---

१. 'मराठी ज्ञानकोष' दसवा विभाग, पृ० २७४।

२. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष : दसवो विभाग, पृष्ठ २७६।

अन्य प्रारम्भिक मराठी उपन्यासकारों ने भी अपने उपन्यासो का उद्देश्य नीतिबोध रखा। 'मुक्तामाला' का लेखक कहता है—"ईश्वरीय नियमो का अनुसरण करते हुए, जो लोग नीति-मार्ग पर चलते है, उन पर कितने ही सकट क्यो न पड़े, पर अन्त मे वे सब दूर होकर उन्हे सुख ही मिलता है, यह बात पाठको के ध्यान मे जमाने के लिए ही यह इतिहास लिखता हूँ।"[1] 'घाशीराम कोतवाल' की अग्रेजी प्रस्तावना में मोरोबा कान्होबा भी यही लिखते है "यहा जिन विषयो को अपनाया गया है, वे अंशत' वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, पौराणिक, ऐतिहासिक, स्वाभाविक और काल्पनिक हैं...... जिनसे पाठक को शिक्षा तथा मनोरजन प्राप्त हो सके।"

इन उपन्यासो में दापत्य-प्रेम, मित्रता, स्वामिनिष्ठा, इत्यादि गुणों का महत्व प्रतिपादन कर पाठको को इन गुणों को धारण करने की प्रेरणा दी जाती थी। उदाहरण के लिए, रिसबुड अपने उपन्यासो का उद्देश्य बताते हुए लिखते है—"पुरुष मे यदि धैर्य, साहस और निश्चयपूर्ण उद्योग करने की शक्ति हो, तो कैसा ही सकट उस पर आवे, वह उसे निवारण करने मे समर्थ होता है, इसी प्रकार स्त्री में सच्चा पातिव्रत्य होने पर उस पर आने वाले सकटो की निवृत्ति कैसे होती है और अनीति के मार्ग पर चलने वालो का क्या अत होता है, यही बताने के उद्देश्य से...... ।" 'पुण्य-ग्रामरहस्य' तथा 'असगतिदुष्परिणाम' मे ऐसे युवकों का दुष्परिणाम दिखाकर, जो वेश्याव्यसन मे फसकर अपना सर्वस्व गवा बैठते हैं, समाज को शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है।

काव्यगत-न्याय के सिद्धात का परिपालन भी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। यह सिद्धात सभी प्रारम्भिक मराठी उपन्यासो मे प्रयुक्त किया गया है। 'सद्गुणो की जय तथा दुर्गुणो की पराजय' उस युग का बहुप्रचलित मंत्र था। रिसबुड ने इस तथ्य को यदि अपने उपन्यास-नायक विश्वासराव से स्पष्ट कहलाया है, तो 'मुक्तामाला' में कथानक द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है। 'मुक्तामाला' का राजा क्रूर, अविचारी, दुर्व्यसनी एव अशिक्षित था। उस पर शुक्लाक्ष नामक कृतघ्न, कपटी, दुराचारी अधिकारी का बडा प्रभाव था। उन्होने मिलकर घनशंकर नामक सत्वनिष्ठ अमात्य को सताया पर अत मे शुक्लाक्ष को अपने पापो का दण्ड भोगना पडा। इस प्रकार इन उपन्यासो का ध्येय नीतिबोध होता था और उसकी प्रतिष्ठा या तो स्पष्टत पात्रो के मुख से कराई जाती थी अथवा कथानक के निश्चित, पूर्वनिर्णीत अन्त द्वारा।

अद्भुतरम्यता

बखरी साहित्य एव अरबी-फारसी कथाओ को पढकर अद्भुत के प्रति जो रुचि मराठी पाठको मे उद्भूत हुई थी, उसे तृप्त करने के हेतु मराठी लेखको ने अपने उपन्यासो मे अद्भुत घटनाओ और अद्भुत व्यक्तियो के साथ-साथ आश्चर्यजनक, जादू-भरे पदार्थों की भी योजना की। इन उपन्यासो को पढते समय पाठको की दशा

---

[1] 'मुक्तामाला' की भूमिका 'मराठी साहित्य समालोचन' से उद्धृत—, पृष्ठ ७४।

प्रेमचन्द की कहानी 'शतरज के खिलाड़ी' के पात्रो जैसी हो जाती थी। यद्यपि हळवे के उपन्यासो का उद्देश्य भी मनोरंजन था, तथापि रिसवुड के उपन्यासो मे हळवे की अपेक्षा अद्भुत-तत्व का अधिक स्पष्ट व स्थूल रूप मे आश्रय लिया गया है। उनके उपन्यास के नायक वसतमाधव को डौन नामक एक व्यापारी से एक ऐसा विमान मिलता है जिसमे कलपुर्जो के साथ एक ऐसी सीढ़ी है, जिसकी सहायता से वह अपनी प्रेयसि मजुघोपा के महल की खिड़की मे से आ-जा सकता है। इस उपन्यास मे लेखक की सुविधानुसार चाहे जब तूफान चलने लगते है, भूकप आजाता है, और समुद्र मे बहे हुए प्राणी अंत में बच जाते है। इसी प्रकार जोरवेकर के 'विचित्रपुरी' मे भूतप्रेतो, नरवलि इत्यादि के वर्णन द्वारा कथानक को अद्भुत एव रोमाचकारी बनाया गया है। साराश यह है कि इन उपन्यासो मे कल्पना की निर्बाध क्रीड़ा का चमत्कार खूब देखने को मिलता है। कौतुकप्रिय मानव-मन का इन उपन्यासो के माया-जाल मे कुछ देर उलझना स्वाभाविक था क्योकि इन रचनाओ का सारा आकर्षण विस्मयजनक घटनाओ की कौशलपूर्ण योजना पर अवलवित रहता था।

शृंगारमयता

प्रेम एव शृंगार मानव-मन की मूल एव चिरतन वृत्तिया है। उनका स्वरूप चाहे समय-समय पर वदलता रहा हो, परन्तु अस्तित्व सदा से रहा है। यदि आज ना० सी० फडके के उपन्यासो मे उनका विशुद्ध चित्रण है, तो प्रारभिक काल मे उसमे अद्भुत का मिश्रण था। शृंगार-प्रधान उपन्यासो की यह परम्परा १९वी शताब्दी के अन्त तक रही। इनमे से कुछ 'शृंगार मंजरी', 'शृंगार शेखर', 'विश्वसेन पियूषा', 'मदन बाण व पुष्पावती' आदि मे कही-कही यह शृंगार अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। विपयोपभोग एव तद्विषयक कामिनियो का वर्णन अत्यत नग्न एव भड़कीला है। उनके भड़कीलेपन के सन्मुख अन्य वर्णन फीके, धुधले व अस्पष्ट हो गये हैं। रिसवुड के उपन्यासो के विषय मे निम्न मत देखिए—"रिसवुड की रचनाओ मे शृंगारिकता ही अधिक मिलती है, वस्त्राभूषण आदि के वर्णन मे शुद्ध सम्पन्नता का ठाठ ही नही है, विलासप्रियता एवं रगीलापन भी है। ···विलासप्रियता एव कृत्रिमता के क्षेत्र मे रिसवुड वहुत वढे-चढे हैं—।"[1] इस शृंगार परम्परा की उत्कटता एव प्रभावशीलता इस बात से भी प्रगट होती है कि पुरुष-लेखको के अतिरिक्त एक स्त्री-लेखिका साळुवाई ने भी इस परिपाटी का अनुसरण करते हुए शृंगारप्रधान उपन्यास लिखा। "तत्कालीन पुरुष-लेखको का अन्धानुकरण करते हुए साळुवाई ने भी कृत्रिमता मे ही सतोप पाया, और शृंगारपूर्ण अलकारो से अपनी वाग्वधू को सुसज्जित किया।"[2] इन उपन्यासो में उपदेश, अद्भुत व शृंगार का सुमधुर मिश्रण हुआ, जिसने पाठको की कल्पना को स्पर्श कर कुछ समय तक उन्हे अपने माया-जाल मे फँसाए रखा।

---

[1] कुसुमावती देशपांडे : 'मराठी कादंवरी' पहला भाग, ३०-३१।

[2] वही , पृष्ठ ३६।

उपन्यास-शिल्प

इन उपन्यासो मे उपन्यास-शिल्प की वे बारीकियाँ नही, जो आज के कथा-साहित्य मे उपलब्ध हैं। इनका उद्देश्य पाठको की कुतूहल-वृत्ति को तृप्त कर उनका मनोरंजन करना था। लेखक पाठकों का मन घटनाओ मे उलझाये रखने मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री और कला की पराकाष्ठा समझते थे। फलतः इस काल के अधिकांश उपन्यास घटना-प्रधान हैं। कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद व दृश्य-वर्णन मे से केवल कथानक पर ही लेखक का ध्यान केन्द्रित रहता था। इन उपन्यासों को पढ़ने के बाद एक अन्य बात जिसकी ओर सहज ही ध्यान जाता है, वह है कथानक का एक से साचे मे ढला होना। लगभग सभी उपन्यासो मे रूप, यौवन और गुणसंपन्न नायक-नायिका का प्रथम मिलन, तदुपरान्त सकट आने पर जीवन-मार्ग मे बाधाए, बाद में उन संकटो से दैविक चमत्कारो एव मानवी प्रयत्नो की सहायता से मुक्ति और अत मे नायक-नायिका का मिलन तथा राज्यप्राप्ति के बाद आनदमय, सुख-विलासपूर्ण जीवन पाया जाता है। 'वसतकोकिला' मे तोता नायक के पास जा वसतकोकिला के रूप-यौवन की प्रशंसा करता है और नायक अपनी विवाहिता पत्नी को छोड़कर वसतकोकिला की प्राप्ति के लिए देश से निकल पड़ता है। बाद में जादू, मत्र-तत्र आदि की सहायता से अनेक संकटों को पारकर नायक वसंतकोकिला को तथा तोता मनुष्य-देह को प्राप्त कर सुखचैन से जीवन बिताते हैं। अधिकाश कथानक बाह्य-विरोधो, योगायोग व आकस्मिक प्रसगो पर अवलम्बित हैं। उनका मूलभूत तत्व कृत्रिम है। कथा में सूत्र प्राय. एक ही होता है। जैसे 'रत्नप्रभा' मे नायिका रत्नप्रभा व नायक मदनविलास का मिलन (जो मौसी की दुष्टता और प्रेम-कलह आदि अड़चनो के बाद होता है) ही सम्पूर्ण उपन्यास का सूत्र है। यह कथानक एक स्थूल रेखा पर बढ़ता चला जाता है, उसमे न तो विस्तार होता है और न गहराई। कथा के समस्त सूत्र लेखक के हाथ मे रहते है। बीच-बीच मे पात्रो के मुख से सवाद रूप में कथा कहलाने की कला लेखको ने अभी नही सीखी थी।

चरित्र-चित्रण परम्परागत एव रूढ़ रेखाओ के आधार पर किया गया है। स्वभाव की भिन्नता एवं सूक्ष्मता का दर्शन इन उपन्यासो में नहीं होता। मानव-स्वभाव की सूक्ष्म, गूढ एवं तरल भावनाओं और मध्यम-वर्ग के सामान्य मनुष्यो के स्वभाव-वैचित्र्य का अङ्कन करने के लिए जिस प्रतिभा एव कौशल की आवश्यकता होती है, वह अभी मराठी लेखको के पास न था। उनके विषय में पी० जी० सहस्रबुद्धे लिखते हैं "इन लेखको को इस बात का पर्याप्त ज्ञान न था कि मानव मानव के बीच भेद होता है। मानव कैसा होता है, इसका भी उन्हे पता नही था। इस साहित्य के व्यक्ति इसी संसार के है, ऐसा नही लगता।—इस साहित्य के व्यक्ति—किसी निराली सृष्टि के प्रतीत होते हैं।"[1] 'नायक-नायिका सद्गुणो के भडार और सौंदर्य की मूर्ति

---

[1] पु० ग० सहस्रबुद्धे 'स्वभावलेखन', पृष्ठ ५६-५८।

तथा दुष्ट पात्र दुर्गुणो के आगार होते थे।"[1] 'मुक्तामाला' मे राजा तथा शुक्लाक्ष दानवी शक्तियो के प्रतीक हैं, तो धनशकर सात्विक वृत्तियो का भडार। स्त्री-पात्रो मे नारी-सुलभ लज्जा, सकोच व विनय तक नही मिलते। 'विश्वासराव' की मधुमालती का कथन देखिए—"यह जिसकी युक्ति है यदि उससे मेरी भेंट करादे, तो जो चाहे वह पुरस्कार तुझे दूंगी, क्योकि हे कदले ! क्या बताऊँ, ध्यान मे, मन मे, स्वप्न मे, मैं उसी सुकुमार को बसाये हुए हूँ।"ऐसे ही चित्रो को देखकर सहस्रबुद्धे ने लिखा है "ये कलाहीन चित्र देखकर ही उपन्यास का सारा आनन्द नष्ट हो जाता है और पाठको के मन मे एक प्रकार का उद्वेग उत्पन्न हो जाता है।"[2] उपन्यास के प्रारम्भ मे पात्र मे जो गुण-दोष आरोपित किये जाते हैं, उपन्यास के अन्त तक उनमे कोई परिवर्तन नहीं होता। चरित्र-चित्रण के लिए आजकल जिन उपायो का प्रयोग किया जाता है, उनका तब नितान्त अभाव था। लेखक स्वय ही पात्र के गुण-दोषो का वर्णन करता है। पात्रो के संवादों द्वारा उनके प्रति सकेत करने की कला अभी नही आई थी। इन्ही दोषो के कारण अद्भुतरम्य उपन्यास की लोकप्रियता के दिनो मे भी आलोचको द्वारा ऐसे उपन्यासो की कटु टीका हुई। १८७२ ई० मे ही रा० ब० मराठे ने अपनी पुस्तक 'नावल व नाटिका' मे लिखा था "आजकल जो उपन्यास बिकते है, उनके सब पुरुष-पात्र कामदेव की मूर्ति तथा स्त्रियाँ तिलोत्तमा होती है। प्रत्येक शोक के अवसर पर मरणान्तक शोक और आनन्द के क्षण मे स्वर्गिक आनन्द का चित्र अकित किया जाता है, दूसरी कोई उपमा ही उन्हे नही सूझती।"

इन उपन्यासो मे सम्वाद प्राय. नही है और वर्णन एक-से साचे मे ढले हुए है। वर्णनो मे ऐश्वर्य एव प्राकृतिक चित्रण की प्रधानता होती है। खाद्य-पदार्थो या वृक्ष-लताओ का वर्णन करते समय किसी भी ऋतु और किसी भी प्रदेश मे होने वाले पदार्थो की, जिनके नाम लेखक को ज्ञात है, सूची गिना दी जाती है। इन उपन्यासो के प्रकृति-चित्र लेखक के प्रकृति के प्रति स्वाभाविक एव उत्कट प्रेम के द्योतक न होकर उनके रूढिगत होने के प्रमाण है। ये अपने उपन्यासो मे प्रकृति का चित्रण करते थे क्योकि वह उपन्यास मे होना ही चाहिए। उन्हे भय था कि ऐसा न करने से उन्हे उपन्यास-तत्र के उलघन का दोष लगेगा। लेखक का मन उनके चित्रण मे न रमने के कारण, ये प्रकृति-वर्णन ऊपर से ठूसे गये प्रतीत होते है तथा उनमे स्थल-काल की उपेक्षा की गई है। शुक, सारिका, हस, मयूर सभी एक ही स्थान और एक ही समय मे क्रीडा करते दिखाये जाते है तथा मोगरा, जुही, चमेली, सेवती इत्यादि के फूल लेखक की सुविधा के अनुसार चाहे जब और चाहे जहा विकसित होकर अपना सौरभ विकीर्ण करते पाए जाते हैं।

यह स्थल-काल सबधी विसगति प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र तक ही सिमित नही है, पात्रो के स्वभाव व वेशभूषा के सबध मे भी पाई जाती है। जोरवेकर के 'विचित्रपुरी'

---

[1] ल० म० भिगारे—कादंबरीची वाट्चाल, नव भारत मार्च १९५७, पृष्ठ १५।

[2] पु० ग० सहस्रबुद्धे 'स्वभावलेखन', पृष्ठ ६०।

मे यदि एक और मुगलकालीन ठाठ है, तो दूसरी ओर उपन्यास का नायक कलकत्ता यूनिवर्सिटी का एम० ए० है । "उन चारो ने पैरो में कमखाब के पाजामे पहनकर मौजे और उन पर बूट पहन रखे थे । वे शरीर पर रेशमी कुर्ता, उस पर वास्कट व उस पर कामदार अगरखा डाले हुए थे । गलो मे मोती का कठा व कलाइयो पर पहुची पहने हुए थे । ढाल, तलवार व पिस्तौल लटके हुए थे और हाथों मे चाबुक लिए हुए थे । उनके घोडो की काति नीबू के समान थी और उन पर अग्रेजी जीन व अन्य सज्जा रखी हुई थी ।" वस्तुत. स्थल-काल का यथार्थ चित्रण तो यथार्थवादी उपन्यासो मे ही सभव है । जहां उपन्यास का अत पूर्वनिश्चत हो, नायक-नायिका को भयकर से भयकर दुर्घटना से बचाना ही अभिप्रेत हो, योगायोग व चमत्कार का जहां बाहुल्य हो, वहा स्थल-काल संबन्धी असगति होजाना नितान्त स्वाभाविक है । इसी बात को लक्ष्य कर पु० ग० सहस्रबुद्धे लिखते है "...... पर विभिन्न प्रदेशो के राजाओ, मंत्रियो, धन-सम्पन्न गृहस्थों, व्यापारियो, साहूकारो मे कुछ भी भेद नही है । एक स्थान का नमूना ही दूसरे स्थान पर पाया जाता है । दिल्ली तक मे बाबा साहब नाम का राजा तथा शामराव तात्या नामक मत्री दिखाए गये है ।"[1]

सस्कृत एव फारसी के कथा-साहित्य का सबसे बड़ा प्रभाव मराठी उपन्यासों की भाषा पर दृष्टिगत होता है जिसे लक्ष्य कर बापट ने लिखा है "उपन्यास पर फारसी ग्रन्थों की छाप रहने के कारण अद्भुत कथानक व अलकृत और कृत्रिम भाषा का मराठी मे बोलबाला रहा ।"[2] इन उपन्यासों की भाषा-शैली अलकारप्रचुर है । अलकारो मे भी शब्दालकारो की प्रधानता है, जिसके कारण भाषा क्लिष्ट ही नही कृत्रिम भी हो गई है । भाषा-शैली की कृत्रिमता सबसे अधिक रिसवुड मे पाई जाती है । मजुघोषा का पिता अपनी पत्नी पर क्रोध करते समय जिस भाषा का उपयोग करता है, उसका नमूना देखिए, "माझ्या इष्ट कन्येने नृपश्रेष्ठ कुमारास शिष्टजनहि सतुष्ट होऊन, ज्यास मान तुकवतील, अशा अष्ट विवाहातील वरिष्ट गाधर्वविवाहे करुन, ती यथेष्ट सुखोपभोगानुभव घेणार, तो या दुष्टमति भ्रष्ट स्त्रीने केवल एकनिष्ठ सापत्न व मत्सर भावानें तिजवर महारिष्ट आणावे, असा हेतु धारण करुनच्च माझे मनात तिज विषयी क्लिष्ट कल्पना भरवून, रुष्ट अत करणाने तिला नाना कष्ट भोगावयास लावून नष्ट दिशेस लाविले हे स्पष्ट आहे ।" इस उद्धरण मे लेखक ने १६वार 'ष्ट' की आवृत्ति की है । इसी को देखकर रा० ब० मराठे ने लिखा था, "ये खण्टवाक्य सुनकर, जिसे तर्कवाद इष्ट है, वह कहेगा कि क्रोध के ऐसे तुच्छ प्रसग के समय बडे-बड़े व क्लिष्ट शब्द लाने की क्या आवश्यकता थी तथा उस क्रोधाक्रान्त बूढे को इतने 'ष्ट' प्रधान शब्द याद कैसे आए होंगे ?"

पात्र के स्वभाव, वर्ग इत्यादि के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने की लेखको

---

[1] पु० ग० सहस्त्रबुद्धे 'स्वभावलेखन', पृष्ठ ६९ ।

[2] बापट और गोडबोले—मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास, पृष्ठ २०१-२

को चिंता न थी। एक दासी उपन्यास के नायक वसंतमाधव के नाम पर श्लेष की सहायता से परिहास करती है। यद्यपि रिसवुड ने अपने उपन्यास 'विश्वासराव' की भूमिका मे वचन दिया था कि वह सभ्य स्त्रियों में शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से ऐसी भाषा लिखेंगे, जो उस समय प्रचलित थी तथा आसानी से समझ मे आ सकती थी, तथापि वह अपने वचन को पूरा न कर पाए और उनकी भाषा की कृत्रिमता कम नही हुई। निम्न वाक्य देखिए : "इस अपकीर्ति-सर्पिणी ने मेरी सुकीर्ति को डस कर उसके मुख को कालिमा युक्त बना डाला है" अथवा "मुझ निरपराध के मार्ग मे बाधा आने से मैं शोक-समुद्र मे डूब गया हूँ।" अथवा "प्रिये! जिस दिन अगूठे और तर्जनी अगुली के मध्य समाने वाली तेरी कटि के मुझे दर्शन होगे वह अत्यन्त शुभ होगा।"

भाषा कृत्रिम और आलकारिक होने का कारण लेखकों को पाडित्य-प्रदर्शन का दुराग्रह एव आलकारिक भाषा-शैली प्रयोग करने का चाव था। उनके मन मे समकालीन सामाजिक समस्या, मानवी जीवन मे उपस्थित होने वाले दारुण प्रसग इत्यादि का चित्रण करने की कभी उमग या उत्सुकता न जगी। उनका प्रधान लक्ष्य तो विद्वता-पूर्ण, आलकारिक एव परम्परागत दृष्टि से रसपूर्ण रचना करना था। मन मे उठने वाली विचार-तरगो एव भाव-लहरियो को स्पष्ट एव सरल भाषा मे अभिव्यक्त करने के स्थान पर वे अपनी बात को यथाशक्ति सुदर, आकर्षक व अलकृत भाषा मे व्यक्त करना चाहते थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि प्रारम्भिक काल के मराठी उपन्यासो मे कला एवं रचना-शिल्प की वे बारीकियाँ नही थी, जो आज के उपन्यासो मे पाई जाती हैं, परन्तु उस काल के उपन्यासो को आधुनिक मूल्यो और मानदडो की कसौटी पर कसना उस युग के उपन्यासकारो के प्रति अन्याय होगा। प्रत्येक साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियो एव साहित्यिक परम्पराओ से प्रभावित होता है। प्रारम्भिक काल मे मराठी उपन्यासकारो को भी ऐसे पाठको को सन्तुष्ट करना था, जो कुतूहल एव जिज्ञासा-तृप्ति मे ही उपन्यास-कला की इतिश्री मानते थे। इसके अतिरिक्त उनके सामने सस्कृत की काव्य एव कथा-परम्परा थी, जिसमे अलकृत शैली मे प्रत्येक वस्तु का चित्रण प्रस्तुत किया जाता था। नायक-नायिका के रूपवर्णन की भी जो विशिष्ट पद्धति संस्कृत साहित्य मे थी, उसकी अवहेलना करना सभव न था। मानव-स्वभाव की विविधता, विचित्रता, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियो और कुठाओ का उस समय नाम तक ज्ञात न था। अत यदि उस समय के उपन्यासो मे इनका अभाव है, तो कोई आश्चर्य नही। इसीलिए पु० ग० सहस्त्रबुद्धे की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी आलोचना सम्यक् प्रतीत नही होती। इसी प्रकार नायक-नायिका के कथोपकथन के सम्बध मे जो निर्लज्जता का आरोप उन्होने किया है, वह भी अयथार्थ है, क्योंकि प्रथम तो नायिका का वह सम्भाषण अपनी अभिन्न सखी से एकात मे हुआ है और दूसरे, भावावेश एव प्रेमोन्माद के क्षणो मे। प्रकृति-चित्रो के सम्बध मे, जो वस्तुपरिगणन प्रणाली एव असगति का दोष लगाया गया है, वह भी तत्कालीन काव्य-

परम्परा एव पाठको की रुचि को देखते हुए उतना गंभीर नही है। ये दोनों दोष काव्यो की वर्णन-पद्धति से प्रभावित होने के कारण तत्कालीन उपन्यास-लेखको मे आ गये हैं। साराश यह है कि आधुनिक कला के मानदडों का आश्रय लेने पर तत्कालीन उपन्यास भले ही कलाविहीन प्रतीत हो, परतु निरपेक्ष दृष्टि से तत्कालीन साहित्यिक स्थिति देखते हुए तथा उस समय के साहित्यिक मानदडो को दृष्टि मे रखते हुए, इन कृतियो को कूडा-करकट नही कहा जा सकता। उनका अपना मूल्य है और साहित्य मे ऐतिहासिक महत्त्व है।

सामाजिक उपन्यास—इस काल मे अद्‌भुतरम्य एव कौतूहलपूर्ण घटनाओं से युक्त उपन्यासों की प्रधानता होने पर भी, तत्कालीन सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओ की छाया उपन्यासो पर पडी। अतः पुनर्विवाह, वृद्धविवाह, बालविवाह, विधवाविवाह के समान खलबली मचा देने वाली समस्याओ का खंडन-मडन करने वाले उपन्यास लिखे गये। बाबा पदमनजी, रहाळकर, धनुर्धर, रा० ब० नाईक जैसे लेखकों ने समकालीन सामाजिक दोषो, अभावो एव कुरीतियो तथा ग्रामीण जीवन की दुर्दशा की ओर ध्यान दिया। स्वयं अद्‌भुतरम्य उपन्यासो के बीच-बीच मे भी यथार्थ जीवन की झाँकी एव सामाजिक समस्याओ का विवेचन हुआ। 'रत्नप्रभा' मे हळबे ने अपने पात्रो का पुनर्विवाह कराकर, मुक्तामाला के पिता के वैधव्य सम्बंन्धी विचारो को अश्लाघ्य दिखाया है। इसी बात को लक्ष्य कर वि० बा० आँबेकर ने लिखा है "अधिक क्या, नायिका पर आने वाले सकटो व उसकी असहायता का वर्णन करते हुए लेखक तत्कालीन सुधारको के स्त्री-जीवन सम्बधी विचार सूचित करना चाहते थे, ऐसा प्रतीत होता है।"[1] इसी प्रकार 'नारायणराव आणि गोदावरी' मे धन के लोभ से अपनी कन्या का वृद्ध के साथ विवाह करने वाले पिता, धूर्त व छली मित्र और निष्पाप हिंदू स्त्रियो का चित्रण किया गया है। गोदावरी दुश्चरित्र लड़के से विवाह करने के बजाय घर छोड़कर चली जाती है तथा अपनी इच्छा से नारायणराव से प्रेम-विवाह कर लेती है। उस समय छोटे गाँव मे रहने वाले, अल्प-शिक्षित परतु ध्येयवादी व्यक्तियों, विशेषत. स्त्रियों को, धनिकवर्ग के व्यक्ति किस प्रकार सताते थे, इसका यथार्थ चित्रण भी इस उपन्यास में मिलता है। रिश्वतखोरी का वर्णन लेखक के सूक्ष्मावलोकन एव यथार्थवादी दृष्टि का परिचायक है। विधवा-जीवन में विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले, मराठी के पहले उपन्यास 'यमुना पर्यटण' मे यद्यपि लेखक का मुख्य ध्येय ईसाई धर्म का प्रचार था, तथापि उसने निरवलब विधवा, सम्बधियों के आश्रय मे रहने वाली विधवा और रिश्तेदारो द्वारा वचित विधवा के जीवन की करुण स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। हिंदू धर्म के अमानुषिक रीति-रिवाजों, उनके समर्थक दंभी एव आडम्बरपूर्ण रुढिग्रस्त व्यक्तियो और समाज की विषमता और निर्दयता के अनेक मनोवेधक और कलात्मक चित्र इस ग्रंथ मे मिलते है। इसकी यथार्थवादिता को उस युग की साहित्यिक परिस्थितियो के प्रसग मे रख कर

---

[1] वि० बा० आंबेकर : मराठी कादम्बरी '[illegible]', पृष्ठ १७१, दूसरा संस्करण।

देखने पर तो आश्चर्य होता है, परंतु सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए वह नितात स्वाभाविक ही है। सन् १८३७ से ही महाराष्ट्र मे विधवा-विवाह सम्बंधी आन्दोलन प्रारभ हो गया था। कोल्हटकर के लेख और शास्त्री-मडलियो के इस विषय पर वाद-विवाद के अतिरिक्त बाळशास्त्री जांभेकर के प्रोत्साहन से गगाधर शास्त्री कटके ने विधवा-विवाह के समर्थन मे एक ग्रथ लिखा था। १८५६ ई० मे ईश्वरचंद्र विद्यासागर के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप विधवा-विवाह से उत्पन्न सतान को कानूनसम्मत मान लिया गया। इन सबका प्रभाव बाबा पदमनजी आदि लेखको पर पड़ना स्वाभाविक था। अत. 'यमुना पर्यटण' के 'सभा' नामक प्रकरण मे कमिश्नर के हैड क्लर्क के घर पुत्र-जन्मोत्सव के समय शास्त्री-मडली के बीच विधवा-विवाह के प्रश्न को लेकर जो वाद-विवाद चित्रित किया गया है, वह तत्कालीन विचारो का प्रतिनिधित्व करता है। सुधारक के साथ-साथ बाबा पदमनजी की दृष्टि यथार्थवादी, मानवतावादी व सूक्ष्मावलोकनपूर्ण भी थी। अत. उनके उपन्यास मे घरेलू प्रसगो और सास-ननद के सभाषणो का बडा हृदयस्पर्शी वर्णन है।

साराँश यह है कि यद्यपि १९०० ई० तक जनता की अभिरुचि मुख्यतः धार्मिक थी, तथापि वह अगतिक एवं रुढिग्रस्त नही रही। शिक्षा के प्रसार से ज्यो-ज्यो मराठी लेखको की दृष्टि समाज की हीन अवस्था एव उसके दोषो पर गई और वे उन्हें दूर करने का प्रयत्न करने लगे, त्यो-त्यो कथा-वाङ्मय मे यथार्थवाद का पुट बढता गया। इस यथार्थवादी प्रवृत्ति को कुछ सहायता अंग्रेजी व फ्रेंच भाषाओ के रूपातरित उपन्यासो से भी मिली।

'यमुनापर्यटण' की भाषा भी अपने युग के उपन्यासो की भाषा से भिन्न है। "बाबा की भाषा वस्तुत बहुत मधुर है। उसमे भक्ति की सजीवता है, समाज-सुधार की व्याकुलता है। वाक्य सीधे, सरल, सरस व चटकदार है। रचना-शैली गम्भीर व प्रौढ है। शब्द चुने हुए है—उनकी मधुर व सुन्दर भाषा देखकर बाबा की गणना उत्तम मराठी लेखको मे की जानी चाहिए।"[1] विषय और भाषा-शैली दोनो ही यथार्थवादी होने के कारण कुसुमावती देशपांडे ने 'यमुनापर्यटण' को हरिभाऊ आप्टे के वाङ्मय की श्रेणी मे रखा है। "समाज-परिवर्तन सम्बंधी उत्कट आकांक्षा, सहृदयता व भाषा की अनलकृत सरलता, इन सब-बातो मे बाबा पदमनजी का 'यमुनापर्यटण', हरिनारायण आप्टे के साहित्य का पूर्वचिह्न प्रतीत होता है।"[2] समकालीन लेखन-परम्परा की उपेक्षा कर नवीन मार्ग पर चलना उनके साहस, मेधा एव मानव-संवेद्य हृदय का परिचायक है।

इस प्रकार अद्भुतरम्य उपन्यासो के पूर्ण उत्कर्ष के समय भी सामाजिक उपन्यासो की धारा विद्यमान थी। यदि कुछ उपन्यासो में अद्भुत व यथार्थ का मिश्रण है, तो कुछ मे सामाजिक व ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध अद्भुत प्रसगो की

---

[1] मराठी गद्याचा इंग्रजी अवतार, पृष्ठ ९६।

[2] कुसुमावती देशपांडे : 'मराठी कादंबरी' पहले शतक, प्रथम भाग, पृष्ठ २५।

सयोजना। उदाहरणार्थ रा० ब० नाईक के 'काळपुरुष' व 'नाहीच ना ऐकायचं' मे सामान्य जीवन व अद्भुत रोमहर्षक प्रसगो का सम्मिश्रण है, तो वळवत मनोहर पडित के 'सुशील यमुना' अथवा वासुदेव वळवत फडके के 'बडाची धूमधाम' व 'लक्ष्मी आणि सरस्वती' सामाजिक व ऐतिहासिक उपन्यासों की सधिरेखा पर अवस्थित हैं। इस समय के मराठी उपन्यासो मे दो प्रवृत्तियाँ पाई जाती है। एक, अदभुतरम्य, अलकारप्रचुर व मनोरजनपूर्ण उपन्यासो की तथा दूसरी, वस्तुनिष्ठ, सामाजिक रचनाओ की। प्रथम परम्परा का समर्थन करने वाली थी, तो दूसरी प्रगतिशील जीवन को समझकर उसमें परिवर्तन लाने की आकाक्षा वाली। ये प्रवृत्तियाँ मानव-मनोरचना से मूलत· सबद्ध हैं और आज भी उनका पूर्ण लोप नही हुआ है। इसीलिए आंबेकर ने कहा है "साहित्य के ये दो प्रवाह हळवे व पदमनजी मे प्राचीन और नवीन की कल्पना के कारण न मानकर, यह मानना अधिक उपयुक्त होगा कि प्रत्येक ललित-साहित्य मे दो भिन्न मनोरचना होती है।"[1] आज भी ना० सी० फडके, जिनके साहित्य पर युवक-समाज मुग्ध है, के उपन्यासो मे अद्भुतरम्य की वृत्ति मिलती है। वर्ण्य-विषय व वर्णन की वृत्ति वही है, केवल ऊपर का रूप व वेष बदल गया है। हाँ, अद्भुत के प्रति मनुष्य की यह रुचि सदा एक-सी नही रही। प्रारम्भिक काल मे पाठक की कुतूहल-वृत्ति स्थूल, आश्चर्यजनक, असभव एव तर्कविहीन बातो से सतुष्ट हो सकती थी और अद्भुतरम्य उपन्यासो 'मुक्तामाला' तथा 'मंजुघोषा' के दस-दस सस्करण निकल सकते थे, परन्तु आज वह ऐसी घटनाओ से तृप्ति-लाभ नही कर पाता। आज की परिष्कृत रुचि का पाठक ऐयारी, तिलस्मी या जादूभरी घटनाओ वाले उपन्यास को बच्चो या गँवारो का साहित्य कहकर ठुकरा देता है।

मराठी उपन्यास के प्रथम २५-३० वर्षो मे लेखको ने अद्भुत से यथार्थ की ओर प्रयाण किया और पाठको ने अलौकिक व रोमाचकारी प्रसगो की तरह ही लौकिक व दैनिक जीवन की घटनाओ पर आधारित कथानकों मे आनन्द पाया। एक और महत्वपूर्ण कार्य, जो इन लेखको ने किया, वह था मराठी भाषा का पोषण एव उसकी शक्तियो का विकास। कुसुमावतीजी लिखती है "सस्कृत के अमर वैभव की उन्होंने मराठी को याद दिलाई और अग्रेजो के आक्रमण के कठिन समय मे मराठी भाषा के उस मूल-स्रोत की रक्षा की। वे अनेक बार अतिशयोक्ति के दोष से नही बच पाये, तो भी निस्सदेह उनका कार्य बड़े महत्व का है।"[2] इस काल के उपन्यासो का मूल्याकन करते हुए वि० वा० आंबेकर ने 'प्रदक्षिणा' के लेख मे जो कुछ कहा है वह अत्यंत उपयुक्त एवं उचित है "···इस सम्पूर्ण कथा-साहित्य मे नव-निर्माण की आकाक्षा है, समकालीन सघर्षो को कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप मे चित्रित करने की हौस है। साहित्यिक वर्णन प्राचीन साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर खरे उतरें, ऐसी रुढिप्रियता है। मराठी भाषा को निरतर विकसित रखने के लिए, उसे पुस्तकीय रूप प्रदान करने

---

[1] वि० दा० आंबेकर : मराठी कादम्बरी, प्रदक्षिणा, पृष्ठ १६६-७ दूसरा संस्करण।

[2] कुसुमावती देशपांडे : 'मराठी कादम्बरी' पहिला भाग, पृष्ठ ३७।

एव व्युत्पन्न, अभिजात और व्यापक बनाने की कुशलता है। अद्भुत की प्रीति और यथार्थ का थोडा बहुत ज्ञान है।"[1]

ऐतिहासिक उपन्यास—१८६८ ई० मे रानाडे ने मराठी उपन्यासो का विवेचन करते हुए उनके दो वर्ग किए है—कल्पनारम्य एव ऐतिहासिक। "मराठी की कथा-कृतियो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है। एक तो विशुद्ध कथाएँ, जिन पर समय, स्थान और परिस्थितियो का कोई प्रभाव नही पडता और जो प्रेम-वृत्ति के द्वारा हमारे सामान्य मानव-मन को स्पर्श करती हे तथा दूसरी वे जिनका झुकाव इतिहास की ओर है, जो समय एव परिस्थितियो द्वारा आबद्ध है और जो आधुनिक जीवन को उसकी पूर्ण विविधता एव जटिलता के साथ चित्रित करने के लिए लिखी गई है।"

ऐतिहासिक उपन्यास अद्भुत व यथार्थ को जोड़ने वाली शृखला होता है। ऐतिहासिक उपन्यास मे अद्भुतरम्य उपन्यास के ऐश्वर्यसपन्न और मनमोहक वातावरण को रखते हुए, कथानक पर सत्य का मुलम्मा चढा देने से, वह अधिक आकर्षक एवं प्रत्ययकारी हो जाता है। ऐसे उपन्यासो की रचना के लिए एक विशिष्ट वातावरण एव मनोरचना की आवश्यकता होती है। जिनके मन मे देश के लिए कुछ कर मिटने की आकाक्षा है, जिन्हे अपने पूर्वजो के गौरव व आत्म-सम्मान का ध्यान है, वे ही इस प्रकार के उपन्यास लिख सकते है।

अग्रेजी शासन के प्रारम्भ मे महाराष्ट्रीय जनता निष्क्रिय व अकर्मण्य थी। यदि हृदय के किसी कोने में प्राचीन स्मृतियाँ शेष रह भी गई थी, तो वे निकट भूत की अर्थात् दूसरे बाजीराव के विलास एव पतन-काल की थी। ऐसी स्थिति मे प्राचीन पराक्रम की गाथा कहना और सुनना असभव था। परन्तु १८६५-७५ ई० के दशक मे शिक्षा-प्रसार से पाठको की संख्या बढ गई। अग्रेजी शिक्षा ने नए विचार एव नए सस्कार जगाए। राष्ट्रजागृति उत्पन्न करने वाले अनेक आदोलन उस समय महाराष्ट्र मे हुए। सार्वजनिक सभा पुणे (१८७० ई०), मुबई वक्तृत्वोत्तेजक सभा (१८६७ ई०) प्रार्थना समाज (१८६७ ई०) इत्यादि अनेक सस्थाएँ उदय हुई। १८७४ ई० मे 'निबधमाला' का प्रारम्भ हुआ। इस जागृति के कारण जनता अपने चतुर्दिक जीवन मे रस लेने लगी। कीर्तने, रानाडे, चिपळूणकर के लेखो ने लोगो मे अपने देश के इतिहास के प्रति जिज्ञासा एव पूर्वजो के प्रति तीव्र अभिमान की भावना उत्पन्न की। ग्राट डफ सरीखे इतिहासकारों की युक्तियो तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किये गए तथ्यों को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। नीलकठराव कीर्तने ने विद्यार्थी अवस्था मे ही यह प्रमाणित कर दिया कि ग्राट डफ द्वारा किये गए मराठी राज्य व व्यक्तियों के वर्णन अज्ञानपूर्ण एव असत्य है। अतः मराठी इतिहास का परिशीलन भिन्न प्रकार से होने लगा। १८७८ ई० मे 'काव्येतिहाससग्रह' नामक मासिक के जन्म से ऐतिहासिक व्यक्तियो के चरित्र छपने लगे और लोगो का ज्ञान अभिवृद्ध हुआ। इसीलिए पोतदार ने कहा, १८७८ मे 'काव्येतिहास-सग्रह' का जन्म हुआ व महाराष्ट्र मे ऐति-

---

[1] वि० बा० आँबेकर—मराठी कादबरी, अदक्षिणा, पृ० १७५ : दूसरा संस्करण।

हासिक शोध-कार्य का वास्तविक आरम्भ हुआ ।"[1] अंग्रेजी के ऐतिहासिक उपन्यास पढने तथा थोरले माधवराव की मृत्यु पर सुन्दर नाटक प्रकाशित होने से तत्कालीन मराठी पाठको के मन में अद्‌भुतरम्य एव कल्पित कथा-कहानियो के प्रति रुचि कम होने लगी और "उनकी अद्‌भुत की जिज्ञासा को अशत. पूरा करने वाले पर अपने देश के वास्तविक इतिहास के अभिमान को पुष्ट करने वाले ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर आकर्षण बढने लगा ।"[2]

१८६७ ई० मे मराठी का पहला ऐतिहासिक उपन्यास गुजीकर लिखित 'मोचनगड' प्रकाशित होना आरम्भ हुआ । लेखक ने यद्यपि उसे 'कल्पित गोष्ट' कहा है, तथापि वह उपन्यास ही नही, ऐतिहासिक उपन्यास कहे जाने का पूर्ण अधिकारी है । अ० का० प्रियोळकर ने तो उसे ऐतिहासिक उपन्यास का उत्कृष्ट आदर्श कहा है ।[3] गुजीकर को ऐतिहासिक उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध मे स्पष्ट कल्पना थी । 'विश्वासराव' नामक उपन्यास की समीक्षा करते हुए उन्होने उपन्यासकार के दो विशेष गुणो—गभीर अध्ययन एव विवेकशील विचार-पद्धति—पर बल दिया है और 'मोचनगड' मे ये दोनो गुण स्पष्टतया परिलक्षित होते है । प्रियोळकर ने ऐतिहासिक उपन्यासकारो को सुझाव देते हुए लिखा था, "जिन्हे ऐतिहासिक उपन्यास लिखने हो, वे काल्पनिक पात्र, प्रसग व स्थल लेकर प्राचीन रीति-रिवाज व वातावरण की सहायता से ऐतिहासिक सत्याभास निर्माण करें ।" पाश्चात्य ऐतिहासिक उपन्यास के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए गए है । ट्रिव्हेलियन के अनुसार "ऐतिहासिक उपन्यास मे भूतकाल की सच्ची घटनाओ का निरूपण तो अपवादात्मक होता है । उसमे ऐतिहासिक तथ्यो का अनुकरण कर नैसर्गिक जीवन के वैचित्र्य एवं समृद्धि से युक्त प्रतिनिधिक कथा लिखने का प्रयास किया जाता है ।" गुजीकर मे ये सब गुण थे । उनके उपन्यास के रगोपत, शामजी रागई इत्यादि सभी मुख्य पात्र, प्रसग व स्थल काल्पनिक हैं । केवल कुछ स्थलो पर तानाजी या बाजी फसलकर का निर्देश व उपन्यास के अन्त मे शिवाजी महाराज के दर्शन ही ऐतिहासिक तथ्य कहे जा सकते हैं । गुजीकर की भाषा भी सरल, सीधी और भावगर्भित है । मुगलकाल के पतनोन्मुख देशमुख घराने का चित्र, पतिवियुक्ता स्त्री के चिन्ताग्रस्त मन का वर्णन या दौलत्या सरीखे धूर्त, चपल व नटखट बालक का चटकदार चित्र उनकी चित्रणकला के सुन्दर उदाहरण हैं । इन्ही सब विशेषताओ ने 'मोचनगड' को सफल ऐतिहासिक उपन्यास बना दिया ।

'मोचनगड' को देखकर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का चाव अन्य लेखकों को भी लगा और ना० वि० बापट ने 'पहिले बाजीराव साहेब', 'सभाजी', 'चितुरगडचा वेढा' इत्यादि ग्रन्थ लिखे । परन्तु इनमे न तो ऐतिहासिक उपन्यास की कला है और

---

[1] द० वा० पोतदार : अ० म० सा०, पृष्ठ ३०३ ।

[2] अ० ना० देशपांडे : आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास :, पृष्ठ ७३ : पहला भाग ।

[3] [illegible] [illegible] में दिया भाषण, मोचनगड, तीसरी आवृत्ति, परिशिष्ट से उद्धृत ।

न ऐतिहासिक सत्य के प्रति विशेष आदर-भाव ही। ये उपन्यास केवल भाषा व प्रसंग-चित्रण की कला के कारण उल्लेखनीय हैं। गुंजीकर की परम्परा में कल्पित पात्रों पर आधारित वि० ज० पटवर्धन लिखित '१८५७ सालचे बंडाची धामधूम किंवा इंद्रीरराव व पुतळाबाई' अधिक सफल रचना है।

बलवंत मनोहर पण्डित के 'सुशील यमुना' और 'लक्ष्मी आणि सरस्वती' अर्ध-ऐतिहासिक उपन्यास हैं। उनमें सामाजिक कथा व राजनीतिक घटनाओं का मिश्रण है। लेखक को तत्कालीन घटनाओं, सामाजिक व राजनीतिक विचारधाराओं एवं जीवन-पद्धति का पूरा ज्ञान था, तथापि वह ज्ञान आरोपित सा लगता है, कथा के कलेवर से एकजीव नहीं हुआ है, भाषा भी 'मुक्तामाला' आदि उपन्यासों की भाषा के समान अलंकार-प्रचुर, कृत्रिम व क्लिष्ट है। गुंजीकर व पण्डित के दृष्टिकोण व कलातन्त्र में पर्याप्त भेद है। पूर्व-इतिहास सम्बंधी आस्था से प्रेरणा ग्रहण कर, वर्ण्यकाल के विषय में बहुत कम सामग्री उपलब्ध होने पर भी, जहाँ गुंजीकर ने उस काल के वातावरण से समरस होकर 'मोचनगड' लिखा, वहाँ पण्डित पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होते हुए भी अपने वर्णित काल से समरस नहीं हो पाए। अत. उनके उपन्यासों में कला का उत्कर्ष नहीं आ पाया है।

द्वा० ना० रणदिवे का 'शिक्षक' नामक ग्रंथ शं० गं० दाते के अनुसार सामाजिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए। परन्तु उसके रचयिता का ध्येय ऐतिहासिक वातावरण निर्माण कर लार्ड डलहौजी की भारतीय राज्यों को लुप्त करने की नीति की आलोचना करना था। अतः उसे सामाजिक न कहकर ऐतिहासिक कहना अधिक उचित होगा। देशकाल के चित्रण की दृष्टि से लेखक का प्रयत्न श्लाघनीय है। 'अव्वल-अंग्रेजी-काल' के जागीदारों के जीवन का चित्रण करने में उसे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

इन मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में कुछ अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास भी प्रकाशित हुए। इनमें अंग्रेजी से रूपान्तरित 'ठगाची जबानी' 'शिलादित्य', 'अनाथ पांडुरंग' और 'मथुरा' तथा बँगला से भाषांतरित 'श्री शिवछत्रपति' और 'दुर्गेशनन्दिनी' उल्लेखनीय हैं।

प्रारम्भिक मराठी उपन्यास का हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव—उपर्युक्त विवेचन से मराठी उपन्यास-साहित्य की आरम्भिक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जहाँ तक हिंदी और मराठी उपन्यास के पारस्परिक परिचय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। एक ओर विजयशंकर मल्ल का कथन है "आधुनिक साहित्य के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान हिंदी में उपन्यासों के अभाव की ओर भी गया और सबसे पहले उन्होंने सामयिक समस्या पर प्रकाश डालने वाले मराठी उपन्यास 'पूर्णप्रभा-चंद्रप्रकाश' का अनुवाद करा कर लेखकों को सामाजिक उपन्यास की सम्भावनाओं के प्रति सचेत करने की चेष्टा की।"[1] दूसरी ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी उपन्यास को मौलिक

---

[1] आलोचना : 'उपन्यास अंक', पृष्ठ ६४-६५।

मानते है, "भारतेन्दुजी ने पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा नाम का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा ।"[1] उनके इस मत का कारण 'खगविलास' प्रेस, बाँकीपुर, पटना द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का मुखपृष्ठ जान पडता है, जिसकी प्रतिलिपि हम नीचे देते है.—

पूर्णप्रकाश—चन्द्रप्रभा—मनोहर उपन्यास
भारतभूषण भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र लिखित
जिसको हिन्दी भाषा के प्रेमी तथा रसिकजनो के मनोविलास के लिए क्षत्रिय पत्रिका के सम्पादक म० कु० बाबू रामदीन सिंह ने प्रकाशित किया ।
पटना खगविलास प्रेस बाँकीपुर
१८८६
प्रथम बार हरिश्चन्द्राब्द ५ दाम ३ आना

बाबू ब्रजरत्नदास, राधाकृष्णदास एव शिवनन्दनसहाय के अनुसार इस उपन्यास का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी 'चंद्रिका' ने किया तथा बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे शुद्ध किया । स्वर्गीय राधाकृष्णदासजी लिखते हैं "···राधारानी, स्वर्णलता आदि उन्ही के अनुरोध से अनुवाद किये गए । चन्द्रप्रभा और पूर्णप्रकाश को अनुवाद कराके स्वयं शुद्ध किया था ।" बाबू ब्रजरत्नदास भी इसी आधार पर इस पुस्तक को भारतेन्दु-कृत न मानकर उनके द्वारा संशोधित मानते हैं। "राधारानी (सन् १८८३ ई०), चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश तथा सौन्दर्यमयी को श्रीमती माल्लिका देवी 'चन्द्रिका' ने अनूदित किया था ।"[2] बाबू शिवनन्दनसहाय-कृत 'हरिश्चन्द्र' मे भी इसी मत की पुष्टि की गई है ।[3] 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित भारतेन्दु पर लिखे गए लेख मे भी उसे मौलिक ग्रन्थ न मानकर अनूदित ही कहा गया है 'चन्द्रप्रभा और पूर्णप्रकाश' को अनुवाद कराके स्वय शुद्ध किया था ।"[4] इस प्रकार अधिकाश लेखकों का मत है कि यह मौलिक ग्रन्थ न होकर अनूदित ग्रन्थ है तथा इसके लेखक भारतेन्दु न होकर श्रीमती मल्लिका देवी है । यह मत इन प्रमाणो के आधार पर ठीक ही है । सभव है, कुछ तो भारतेन्दु द्वारा संशोधित किये जाने के फलस्वरूप और कुछ उनकी कीर्ति के कारण पुस्तक के प्रचारार्थ प्रकाशकों ने उसके मुखपृष्ठ पर भारतेन्दु का नाम डाल दिया हो ।

अब प्रश्न यह है कि यह पुस्तक बँगला से अनूदित है अथवा मराठी से ! विजयशंकर मल्ल उसे मराठी रचना का अनुवाद मानते है, तो राधाकृष्णदास, ब्रजरत्नदास आदि उसे बँगला से अनूदित ग्रन्थ समझते है ।[5] प्रथम तो विजयशकर मल्ल ने जिस रचना को मराठी का अनुवाद बताया है उसका नाम ही गलत दिया है । उनके अनुसार पुस्तक का नाम है 'पूर्णप्रभा-चन्द्रप्रकाश' जबकि जो पुस्तक हमे देखने

---

[1] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य' : प्रथम संस्करण . पृष्ठ ४१५ ।

[2] बाबू ब्रजरत्नदास 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', पृष्ठ १२६ ।

[3] बाबू शिवनन्दन सहाय 'हरिश्चन्द्र', पृष्ठ २८४ ।

[4] सरस्वती सं० १६००, पृष्ठ १४२ ।

[5] बाबू ब्रजरत्नदास 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', पृष्ठ १२८-१२६ ।

को मिली और जिसके मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि ऊपर दी जा चुकी है, उसका नाम है 'पूर्णप्रकाश-चन्द्रप्रभा', दूसरे इसके नायक-नायिका का नाम क्रमशः पूर्णप्रकाश तथा चन्द्रप्रभा है न कि चन्द्रप्रकाश और पूर्णप्रभा। हमने डा० दाते की मराठी पुस्तको की सूची का पर्यवेक्षण भी इसी तथ्य का पता लगाने के लिए किया और इस पुस्तक से कुछ-कुछ मिलता-जुलता नाम यदि किसी उपन्यास का मिला, तो वह है 'चन्द्रप्रभा विरह वर्णन'। इसकी लेखिका है सालूबाई ताँववेकर तथा यह सन् १८७३ मे लिखा गया था। परन्तु इसका विपय वह नही, जो हिन्दी रचना का है। हिन्दी उपन्यास का विपय है 'वृद्ध विवाह' और उसका मजाक उडाना, जबकि मराठी उपन्यास का पूर्वार्ध चन्द्रप्रभा के वचपन, उसके जादू, तन्त्र-मन्त्र-सम्बन्धी ज्ञान, और पिता को सकट से मुक्त करने से सम्बन्धित है। उत्तरार्ध मे उसका विवाह वचपन के प्रेमी कृष्णराव से अवश्य हो जाता है। उपन्यास के नायक का नाम पूर्णप्रकाश न होकर कृष्णराव है। उपन्यास के अन्त मे थोडे से गाने और २१२ आर्या छन्द है। इस प्रकार हिंदी उपन्यास इस मराठी उपन्यास से नितान्त भिन्न है। अत राधाकृष्णदास, शिवनन्दनसहाय आदि के मत से ही सहमत होना उचित जान पडता है कि यह रचना मराठी से अनूदित न होकर बँगला का अनुवाद है और वह भी अक्षरश नही। वस्तुतः मराठी से जिन उपन्यासकारो की कृतियो का सर्वप्रथम हिन्दी मे अनुवाद हुआ, वे थे वा० ना० शाह, हरिनारायण आप्टे और वामन मल्हार जोशी। इस वात की पुष्टि न केवल अनूदित उपन्यासो की सूची से ही होती है, अपितु महावीरप्रसाद द्विवेदी का निम्न कथन भी इसका प्रमाण है "हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के 'छत्रसाल' को छोडकर अभी तक एक भी नाम लेने योग्य मराठी उपन्यास का अनुवाद नही हुआ।"[६] परन्तु ये लेखक आरम्भिक उपन्यासकारो की श्रेणी मे नही रखे गए है। अत हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो पर मराठी उपन्यासो का अनुवाद के माध्यम से जो कुछ प्रभाव पड सकता था, उसका अवसर ही यहा उपस्थित नही हुआ। भारतेन्दु युग की पत्रिकाओ 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'हिन्दी प्रदीप' की समस्त प्रतियो के अवलोकन से भी एक वात स्पष्ट हो जाती है कि उनमे बँगला उपन्यासो के अनुवादो का तो बहुत विज्ञापन है पर मराठी से अनूदित उपन्यासो का कुछ भी नही है। इससे भी प्रमाणित होता है कि प्रारम्भिक युग मे हिन्दी उपन्यास पर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा के उपन्यास-वाङ्मय का प्रभाव पडा, तो वह केवल बँगला का पडा, मराठी का नही।

पर यह स्मरण रखना होगा कि समान साहित्यिक परम्पराओ, विदेशी सम्पर्क, स्वभावगत विशेषताओ और साहित्यिक अभिरुचि के कारण दोनो भाषाओ मे लगभग एक ही प्रकार के उपन्यास-वाङ्मय का निर्माण हुआ। हिन्दी तथा मराठी दोनों भाषाओ के उपन्यासो का जन्म गद्य के साथ-साथ हुआ और दोनो पर सस्कृत-अरबी-फारसी की कथाओ का एक ओर से तथा अंग्रेजी के नाविल का दूसरी ओर से प्रभाव

---

[६] सरस्वती नवम्बर १६२०, पृष्ठ ३१६ ।

पड़ा । उदाहरण के लिए, स्त्रियो को पुरुष वेश मे घुमाने की प्रेरणा हिन्दी और मराठी के कुछ उपन्यासकारो ने यदि शेक्सपीयर के नाटको से ग्रहण की, तो स्त्री-सौन्दर्य और शृगार, उपवन, अरण्य और ऋतुओ के चित्र बाण की 'कादम्बरी' आदि सस्कृत ग्रन्थो के अनुकरण पर अंकित किये । गाधर्व-विवाह की पद्धति इन लोगो ने यदि सस्कृत ग्रथो से ग्रहण की, तो बहुपत्नीत्व की प्रथा मुसलमानी कथा-साहित्य से । नीतिबोध और उपदेशात्मकता की जो प्रवृत्ति मराठी के प्रारभिक उपन्यासो मे सस्कृत-साहित्य की पूर्व-परम्परा एव ईसाई धर्म-प्रचारको की कृतियो के प्रभावस्वरूप अवतरित हुई, वही लगभग वैसे ही प्रभावो के कारण हिन्दी उपन्यासो मे प्रतिलक्षित होती है । हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' के तो पूरे के पूरे प्रकरणो मे शिक्षामूलक धारावाही सम्वादो की योजना हुई है तथा भूमिका मे बतला दिया है कि ऐसे प्रसगो मे जिनकी रुचि न हो, वे उन्हे छोड दे । किशोरीलाल गोस्वामी भी उपन्यास को सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का साधन समझते थे, "...इसके पढने मे मनुष्य के हृदय के ऊपर बडा असर होता है, और सब बात बनती है ।"[1] इस प्रवृत्ति के उपन्यासो की लोकप्रियता से प्रभावित होकर कुछ लेखको ने प्रेम-कथाओ तक मे नीति-वाक्य चिपकाकर उपन्यास लिखे । रत्नचन्द प्लीडर कृत 'नूतन चरित' इस प्रकार की प्रतिनिधि रचना है । "इस समय के अन्य अधिकाश उपन्यासो मे भी' 'हितोपदेश' 'मनुस्मृति', 'सुभाषित रत्नावली', रहिमन विलास' तथा चाणक्य, भर्तृहरि, कालिदास, व्यास, हर्ष, शेखसादी, शेक्सपीयर आदि की शिक्षामूलक सूक्तियो को प्रत्येक अध्याय के आरभ और अन्य स्थलों पर उद्धृत करने की परिपाटी लेखको की इस उपदेशप्रधान मनोवृत्ति की ही सूचना देती है ।"[2]

हळेर और रिनवुड के अद्भुतरम्य उपन्यासो के समान हिन्दी मे देवकीनदन खत्री के तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासो मे अद्भुत घटनाए पाई जाती है । इन रचनाओ मे असभव घटनाओ की योजना कुतूहल की वृद्धि करती है । ऐसे ही अद्भुत दृश्यो से युक्त पर तिलिस्मी उपन्यासो से भिन्न अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' है, जिसमे एक व्यक्ति स्वप्न मे गया से काशी होते हुए चित्रकूट तक का भ्रमण करता हुआ जगलो, पहाडो और कन्दराओ के ऐसे विलक्षण दृश्य देखता है जिनका विवरण सुनकर पाठक विस्मयाभिभूत हुए बिना नही रह सकता ।

हिन्दी-काव्य के रीतिकाल की नायक-नायिका चर्चा एव अरबी-फारसी प्रेम कथाओ के प्रभाव के कारण मराठी शृंगार-प्रधान उपन्यासो के समान हिन्दी मे भी ऐसे उपन्यासो की रचना हुई जिनमे एकान्तिक तथा परम्परागत प्रेमलीला को विषय बनाया गया । किशोरीलाल गोस्वामी इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि उपन्यासकार थे । प्रेम और शृगार का भूत उनके सिर पर इतना अधिक सवार था कि सामाजिक और गार्हस्थिक उपन्यासो के साथ-साथ ऐतिहासिक उपन्यासो मे भी उन्होने प्रेमचर्चा को प्रधान स्थान दिया । उर्दू काव्य और पारसी-नाटको का प्रभाव लिये रामलाल वर्मा

---

[1] किशोरीलाल गोस्वामी 'हृदयहारिणी', भूमिका ।

[2] आलोचना 'उपन्यास विशेषांक', पृष्ठ ७३ ।

और लज्जाराम शर्मा उनसे भी एक पग आगे बढ गए। उनके उपन्यासो मे घटनाओ की अतिरजना, शृगार का ओछा प्रदर्शन तथा बाजारू गाने देखकर उन्हे सत्-साहित्य तो क्या, साहित्य कहने मे भी सकोच होता है।

जिस प्रकार मराठी मे बाबा पदमनजी ने अपने नीतिप्रधान उपन्यास के बीच-बीच मे समाज की यथार्थ झाँकी पाठको को दिखाई, विशेषत हिंदू विधवा स्त्री की दयनीय स्थिति से पाठको को परिचित कराया; उसी प्रकार हिंदी मे लाला श्रीनिवासदास ने अपने 'परीक्षा-गुरु' मे उपदेशात्मकता के साथ-साथ तत्कालीन मध्यवर्ग का जीवन यथार्थ रूप मे चित्रित किया। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास मे इस वर्ग की नई और पुरानी पीढी का वैषम्य तथा तज्जन्य समस्या का निरूपण साकेतिक ढग से किया गया है। नवशिक्षित मध्यवर्ग की कमजोरियो का यथार्थ वर्णन भी बडा सजीव हुआ है। 'परीक्षा गुरु' जैसे सामाजिक उपन्यासो की परम्परा का यद्यपि उचित विकास न हो सका, तथापि वह निरन्तर चलती रही। अयोध्यासिह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाट' मे अनमेल-विवाह की समस्या तथा उसका दुष्परिणाम दिखाया गया है, तो जगमोहनसिह के 'श्यामा स्वप्न' मे स्वच्छन्द-प्रेम, गाधर्व विवाह, अन्तर्जातीय विवाह इत्यादि की योजना कर, प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे कठोर सामाजिक रूढियो के प्रति तत्कालीन शिक्षित वर्ग मे व्याप्त असतोष को भली-भाँति चित्रित किया गया है।

हिंदी और मराठी के उपन्यासो की यह सार्थकता केवल विषय-वस्तु तक ही सीमित न रहकर, रचना-तत्र सबधी उपेक्षा एव अकुशलता के सम्बध मे भी पाई जाती है। साँचे मे ढले कथानक, कथा का शिथिल सगठन, उपदेशात्मक वृत्ति की प्रबलता कलात्मक सयम का अभाव, कथावस्तु का कौतुकावह घटनाओ पर आश्रित होना, परिपाटी विहित प्रकृति-चित्र, स्थिर, अस्वाभाविक पात्र और वर्णन की वह शैली, जो घटनाओ की गतिशीलता मे व्याघात उपस्थित करती है आदि दोष दोनो भाषाओ के आरम्भिक उपन्यासो मे पाए जाते है। दोनो भाषाओ के इस काल के उपन्यासो के रूपगठन की एक अन्य विशेषता यह है कि उपन्यास के अध्यायो के प्रारम्भ मे देशी तथा विदेशी मनीषियो के नीतिवचन या सस्कृत ग्रन्थो की सूक्तियाँ उद्धृत की गई है। ये सूक्तियाँ सम्बद्ध अध्याय की कथावस्तु से कही तो मेल खाती हैं और कही-कही इनका अस्तित्व एकदम स्वतत्र तथा निरपेक्ष है। इन सूक्तियो एव उद्धरणो को पुस्तक के आरम्भ मे रखना सस्कृत के उस गहरे प्रभाव का द्योतक है, जिसके परिणामस्वरूप आज भी हम अपने पत्रो मे 'अत्र कुशल तत्रास्तु' लिखते है।

आरम्भ काल मे दोनो भाषाओ ने अग्रेजी तथा बँगला उपन्यासो के अनुवादो मे अपने उपन्यास-भडार को सम्पन्न एव समृद्ध बनाया। साथ ही जिस प्रकार मराठी मे अधिकतर अग्रेजी के रेनाल्ड्स और स्काट जैसे लेखको के साहसिक, जासूसी और प्रेम-चर्चा प्रधान उपन्यासो का अनुवाद हुआ, उसी प्रकार हिंदी मे अग्रेजी के सास्कृतिक और सामाजिक उपन्यासो के बजाय 'लदन रहस्य' और 'लैला' जैसे साहसिक

तथा प्रेमचर्चा-प्रधान उपन्यास ही अनुवादयोग्य समझे गए। बँगला से हुए अनुवादो मे एक बात विशिष्ट रूप से प्रतिलक्षित होती है। हिन्दी अनुवादको ने मूलग्रन्थ के भाव पर ही ध्यान दिया है, हिन्दी भाषा और समाज की प्रकृति के अनुसार रचना मे थोड़ा बहुत हेरफेर करने मे उन्होने किसी सकोच का अनुभव नही किया है। गोपालराम गहमरी के गार्हस्थ्य उपन्यास इसी प्रकार के है। बँगला के कुछ ऐसे उपन्यासो ने, जिनमे शृगार के निम्नकोटि के अतिरजित चित्र तथा इतिहास की अनपेक्षित दुर्दशा की गई है, किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो को प्रभावित किया, पर समग्र रूप से बँगला उपन्यासो का हिन्दी उपन्यासो पर बहुत बडा ऋण है। उन्होने हिन्दी भाषा-भाषी जनता तथा लेखको का रुचि-सस्कार करने मे बहुत सहायता की तथा हिन्दी की औपन्यासिक शैली को भी नई भाव-भगी सिखलाई। इस दृष्टि से मराठी उपन्यासो पर बँगला उपन्यासो का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ा। केवल कुछ मराठी उपन्यासो की भाषा एवं भाव-विलास ही पर बँगला उपन्यासो का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

इन दोनो भाषाओं के प्रारम्भिक उपन्यासो मे कुछ ऐसी बाते भी है, जो एक दूसरे से नही मिलती। भावात्मक-उपन्यास इस आरम्भिक काल मे हिन्दी मे अधिक उपलब्ध होते है, मराठी मे उनका अपेक्षाकृत अभाव है। जासूसी उपन्यास मराठी मे पुस्तक रूप मे तो कम उपलब्ध होते है परंतु 'इदु प्रकाश' जैसी पत्रिकाओ व 'एकाणामाला' मे वे निरतर प्रकाशित होते रहते थे। दूसरी ओर ऐतिहासिक उपन्यासो की दृष्टि से इस काल का मराठी साहित्य हिन्दी साहित्य से अधिक सम्पन्न एव समृद्ध है। जबकि गुजीकर तथा हरिभाऊ ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे ऐतिहासिक सामग्री की उपेक्षा न कर ऐतिहासिक कालखण्ड से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी ने जान-बूझकर ऐतिहासिक तथ्यो की उपेक्षा की।

अस्तु, दोनो भाषाओ के उपन्यास-साहित्य के आरम्भिक काल मे उपन्यास की प्रगति तो समान दिशाओ मे हुई, पर पारस्परिक सम्पर्क कम होने के कारण एव देश मे परतन्त्रता की बेडियो से जकडे भारतवासियो के दृष्टि-क्षितिज के सीमित होने के परिणामस्वरूप मराठी उपन्यासो का प्रभाव हिन्दी उपन्यासो पर न पडा। साथ ही दोनो का उपन्यास साहित्य अग्रेजी, सस्कृत और अरबी-फारसी के कथा-साहित्य से इतना प्रभावित था कि उन्हे किसी अन्य दिशा मे देखने की आवश्यकता और अवसर ही न था। एक तीसरा कारण यह भी है कि देशीय भाषाओ मे बँगला ने उपन्यास-क्षेत्र मे वकिम आदि के द्वारा सर्वाधिक प्रगति कर ली थी। अत उसकी आश्चर्यजनक उन्नति एव सफलतापूर्ण विकास ने अन्य भाषा-भाषियो को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लिया। साथ ही बँगला भाषा-भाषी शिक्षित जन देश के सभी भागो मे विभिन्न पदो पर नियुक्त होकर फैले हुए थे और वे अपने साथ-साथ अपनी भाषा व उसका उपन्यास-साहित्य भी लेते गए थे जिसमे कुछ तो अपनी उत्कृष्टता के कारण

और कुछ प्रचार-कार्य मे इस प्रकार की सहायता पाकर वँगला उपन्यास शीघ्र ही अनेक प्रदेशो मे लोकप्रिय हो उठा। इसके विपरीत महाराष्ट्र मे एक तो उपन्यास को हरिभाऊ जैसा उत्कृष्ट लेखक अपेक्षाकृत वाद मे उपलब्ध हुआ और दूसरे, महाराष्ट्र-निवासी अपने प्रदेश से वाहर जाने मे सकोच अनुभव करते थे। प्रभाकर पाध्ये इस सम्वध मे 'केसरी' के 'टिळक' अक को उद्धृत करते हुए लिखते है "……तो भी वाहर वसने अथवा दृष्टि व्यापक करने का विचार उनके मन मे नही आया, यह आश्चर्य की वात है।"[१] अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यास-लेखको का ध्यान अग्रेजी उपन्यास के वाद यदि किसी अन्य उपन्यास-साहित्य की ओर गया, तो वह वँगला का उपन्यास-वाङ्मय ही था। उसकी चकाचौध मे वे लोग इतने भ्रमित हुए कि उनका ध्यान अन्य देशी भाषाओ के उपन्यास-रत्नो की ओर गया ही नही और इस प्रकार उन पर एक दूसरे के उपन्यासो का कोई प्रभाव न पड सका। वँगला के तो निकृष्ट उपन्यासो का भी अनुवाद होता रहा जिससे क्षुब्ध हो द्विवेदी जी ने लिखा था "वँगला के अच्छे उपन्यासो के दर्शन वहुत कम होते हैं। चरित्रनाशक उपन्यासो के ही अधिक।"[२] और अन्य भाषाओ के प्रति उपेक्षा वनी रही। उदाहरण के लिए, मराठी ऐतिहासिक उपन्यास को ही ले। मराठी का प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यास-साहित्य काल की दृष्टि से वँगला का समकालीन व गुणो की दृष्टि से उससे किसी प्रकार भी हीन नही है। पर हिन्दी उपन्यासकार वँगला से ही परिचित थे। अत किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर वँगला के ऐतिहासिक उपन्यासो, उनकी विलासवृत्ति एव नग्न शृंगारिता का प्रभाव तो दृष्टिगत होता है, पर मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासो की राष्ट्रीय-भावना, देश-प्रेम, वातावरण-निर्मिति, आदि का किंचित् भी दर्शन नही होता।

साराश यह है कि मराठी के प्रारम्भिक उपन्यास-वाङ्मय ने हिन्दी उपन्यास को किंचित् भी प्रभावित नही किया। यदि उनमे समान प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, तो उसका कारण पारस्परिक प्रभाव न होकर वे परिस्थितियाँ, साहित्यिक सम्पर्क एव मानसिक मूल वृत्तियाँ है, जिनके ससर्ग से इन दोनो भाषाओ के उपन्यास पल्लवित हुए।

---

[१] प्रभाकर पाध्ये 'आजकाल चा महाराष्ट्र', पृ० १७।

[२] महावीर प्रसाद द्विवेदी 'उपन्यास रहस्य' सरस्वती—अक्टूबर १९२२, पृष्ठ १९८।

प्रकरण : ३

मराठी उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद : उनकी लोकप्रियता : उनका हिन्दी पर प्रभाव

हिन्दी के आधुनिक कथा-साहित्य के विकास मे अनूदित उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी उपन्यास के आरंभ-काल मे अंग्रेजी और बँगला से अनूदित उपन्यास पढ़कर ही पाठको के हृदय मे उपन्यास-साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत हुई। जनता की उपन्यास सम्बन्धी माग पूरा करने तथा स्वय भी अनूदित उपन्यासो से प्रेरणा पाकर हिन्दी लेखक साहित्य की इस नवीन विधा की ओर उन्मुख हुए। अंग्रेजी-साहित्य के परिचय के परिणामस्वरूप उत्तर मे बँगला तथा पश्चिम मे मराठी उपन्यास-साहित्य लगभग एक साथ ही उद्भूत हुआ, परन्तु भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक कारणों से हिन्दी का परिचय मराठी की अपेक्षा बँगला उपन्यास से पहले हुआ। अपने रिक्त उपन्यास-भडार को सम्पन्न बनाने के लिए बँगला उपन्यासो के अनुवादो की जो परम्परा एक बार चल निकली, तो फिर उसकी मधुमयी रस-सरिता मे निमग्न लेखकों और पाठको की दृष्टि अन्यत्र जाने में असमर्थ रही। हिन्दी वालो की इसी उदासीनता को लक्ष्यकर आधुनिक मराठी साहित्य के सुविख्यात लेखक मामा वरेरकर ने लिखा है "हिन्दी वालो से मेरी एक शिकायत है। उन्हें बँगाल के सिवाय किसी दूसरे प्रान्त के साहित्य मे दिलचस्पी नही है।"[1] इसी उदासीनता का फल है कि १९५० ई० तक पच्चीस से भी कम मराठी उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। इन अनुवादो को दो कालों मे विभक्त करना उचित होगा—(क) प्रथम काल—१९२० से १९२८ ई०, (ख) द्वितीय काल—१९४० से १९५० ई०। यद्यपि १९२० ई० से पहले वा० ना० शाह के दो उपन्यासो—'सम्राट अशोक' एव 'छत्रसाल' के अनुवाद क्रमश: हरिभाऊ उपाध्याय तथा रामचन्द्र वर्मा ने १९१३ ई० व १९१६ ई० मे किये थे, तथापि अनुवादों की क्रमिक परम्परा १९२० ई० से आरम्भ होती है।

प्रथम काल (१९२०-१९२८ ई०)—१९२८ ई० तक मराठी से केवल ऐतिहासिक उपन्यासों का ही अनुवाद हुआ। वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' और 'आश्रमहरिणी' इसके अपवाद है। इनमे प्रथम 'रागिणी' मे दार्शनिक वाद-विवादो के साथ-साथ [illegible] [illegible] रहस्यमय तत्वो की प्रधानता है। उस काल के मराठी तथा हिन्दी पाठक को

---

[1] डा० पु० शर्मा 'हिन्दी [illegible]' से उद्धृत, पृष्ठ ४३।

उसमे अपनी रुचि के अनुकूल पर्याप्त मनोरंजन की सामग्री उपलब्ध हुई और वह लोकप्रिय हो गया। दूसरा उपन्यास पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित है और द्विपतित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। पौराणिक विषय और वातावरण होने के कारण (पौराणिक गाथाएँ उस समय सहज ही लेखको एव पाठको का ध्यान आकृष्ट कर लेती थी) वह अनूदित तो हुआ, पर हिन्दी भाषा-भाषी पाठको की सैद्धान्तिक वाद-विवाद के प्रति कम रुचि होने तथा स्त्री-स्वातत्र्य सम्बन्धी अति प्रगतिशील विचारो को यहाँ महाराष्ट्र की अपेक्षा कम प्रश्रय मिलने के कारण यह उपन्यास हिन्दी पाठको को 'रागिणी' की अपेक्षा कम आकर्षक एवं रुचिकर प्रतीत हुआ। 'रागिणी' उपन्यास का हिन्दी पाठको ने पर्याप्त स्वागत किया। इसका प्रमाण हमें 'उषा-काल' की प्रस्तावना से मिलता है। उसका प्रकाशक लिखता है "जिस मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'रागिणी' का अनुवाद कराके हमने छापा और उसका जैसा आदर हमारे प्रेमी पाठको और समालोचको ने करके हमारे उत्साह को बढ़ाया कि हम फिर मराठी के एक बहुत ही उच्च कोटि के उपन्यास के छापने की लालसा को रोक न सके।"[१]

उपर्युक्त दो उपन्यासो के अतिरिक्त इस काल के मराठी से अनूदित अन्य सब उपन्यास ऐतिहासिक हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हिन्दी मे सामाजिक उपन्यास तो थे, पर उच्च-कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासो का नितान्त अभाव था। मराठी मे उस समय हरिनारायण आप्टे के उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास विद्यमान थे, जबकि हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी के अत्यन्त हीन-कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासो के अतिरिक्त हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासो का भण्डार रिक्त-प्राय था। उस रिक्तता को दूर करने के लिए लेखको ने मराठी के साधारण ऐतिहासिक उपन्यासो तक का अनुवाद किया। उदाहरण के लिए ना० सी० फडके का 'अल्ला हो अकबर' लीजिए। वह आधुनिक युग के उत्कृष्ट उपन्यासकारो मे से एक है, परन्तु उनका आरम्भिक ऐतिहासिक उपन्यास 'अल्ला हो अकबर' किसी भी कसौटी पर उत्कृष्ट नही कहा जा सकता। इस पर भी उनके इस उपन्यास का हिन्दी मे अनुवाद हुआ। इसी प्रकार आज के साहित्यिक मानदडो के आधार पर वा० ना० शाह के दोनो ऐतिहासिक उपन्यास 'छत्रसाल' तथा 'सम्राट अशोक', जिनके हिन्दी मे अनुवाद हुए, साधारण कोटि के ही उपन्यास है। अत. इस काल मे मराठी से जिन ऐतिहासिक उपन्यासो का अनुवाद हुआ वे हरि भाऊ आप्टे को छोड़कर, प्राय. सभी साधारण कोटि के थे और उनका अनुवाद या तो हिन्दी पाठको को मराठी साहित्य से परिचित कराने अथवा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास-कोष को समृद्ध करने के लिए किया गया। दूसरे, जिन सम्राट अशोक, वीर शिवाजी एव छत्रसाल के पराक्रम एव वीर कृत्यो की आधारशिला पर मराठी ऐतिहासिक उपन्यास का प्रासाद निर्माण किया गया था, वे हिन्दी भाषा-भाषी द्वारा भी

---

[१] 'उषाकाल' : हिन्दी अनुवाद · 'प्रस्तावना', पृष्ठ क।

'रागिणी' के पात्रो के नामो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है।

द्वितीय काल (१६४०-१६५० ई०)—यदि प्रथम अनुवाद-काल (१६२२-२८ ई०) मे ऐतिहासिक उपन्यासो के अनुवादो की प्रधानता रही, तो द्वितीय काल (१६४०-१६५० ई०) मे सामाजिक उपन्यासो की। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि जहाँ मराठी मे ऐतिहासिक उपन्यासो की धारा प्रारम्भिक काल के उपरान्त क्षीण होती चली गई, वहाँ हिन्दी मे स्वतन्त्र ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाने लगे और १६४० ई० तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी का ऐतिहासिक उपन्यास-कोष इतना दरिद्र नही रह गया था जितना अपने प्रारम्भिक काल मे था। इसका यह अर्थ नही कि इस काल मे एक भी मराठी ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद नही हुआ। हरिनारायण आप्टे का 'राष्ट्रपतन' एव नारायण हरि आप्टे का 'अजिक्य तारा' इसी काल के अनुवाद हैं, पर इन अनुवादो के पीछे लेखक की प्रसिद्धि ही मूल प्रेरणा है। हरिनारायण आप्टे के अन्य कई ऐतिहासिक उपन्यास 'उषाकाल', 'वज्राघात', 'सूर्य ग्रहण', 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त' पहले प्रकाशित हो चुके थे, उसी कडी को पूरा करने के लिए 'राष्ट्र पतन' का अनुवाद हुआ। 'अजिक्य तारा' स्वय एक सुन्दर रचना है, पर उसका अनुवाद भ्रान्ति के कारण ही हुआ है। उसकी प्रस्तावना एव परिचय से ज्ञात होता है कि लेखक अथवा प्रकाशक ने उसे हरिनारायण आप्टे की कृति समझा है, जबकि वस्तुत वह नारायण हरि आप्टे की रचना है और लेखक के नाम की प्रसिद्धि के कारण ही उसका अनुवाद किया गया है। अनूदित सामाजिक उपन्यासो मे साने गुरुजी, वि० स० खाडेकर, ग० त्र्य० माडखोळकर के उपन्यास प्रमुख हैं।

इस काल के अनूदित उपन्यासो को लिखने की प्रेरणा कुछ अनुवादको को प्रकाशको एवं पाठको से मिली। उदाहरण के लिए माडखोळकर जी के उपन्यास 'सरस्वती सिरीज' के अन्तर्गत मुद्रित हुए हैं। इस 'सिरीज़' का उद्देश्य हिन्दी पाठको को कम मूल्य पर भारत की ही नही, ससार की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओ को उपलब्ध कराना था। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने मराठी उपन्यासो मे से श्री माडखोळकर जी के 'कांता' और 'भगलेले देऊळ' को चुना और गोविन्दराव मराठे द्वारा उनका हिन्दी मे अनुवाद कराया। "सिरीज़' के अन्तर्गत कम पन्नो मे पुस्तक छापने के कारण ही, ये पुस्तके अविकल अनुवाद न होकर छायानुवाद हैं। 'काता' के सम्बन्ध मे लिखा गया है, "इस पुस्तक को हम एकदम अनुवाद भी नही कह सकते। इसे सकलन ही कहना ठीक होगा। विस्तार के भय से ऐसा करना पड़ा। मूल उपन्यास के जिन-जिन अगो को मैंने अनावश्यक समझा, उन्हे इसमे स्थान नही दिया है।"[1] यही बात उन्होने 'उपेक्षिता', जो 'भंगलेले देऊळ' का हिन्दी अनुवाद है, के सम्बन्ध में कही है। स्पष्ट है कि प्रकाशकों के अनुरोध पर अनुवाद करने के कारण ही उन्हे यह काट-छाँट करनी पड़ी है। 'काता' की भूमिका मे उन्होने यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया है, "मराठी साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करने की प्रवृत्ति मुझे मेरे कतिपय मित्रो,

---

[1] गोविन्दराव मराठे 'काता' हिन्दी अनुवाद : भूमिका : पृष्ठ ६।

सपादको और प्रकाशको की कृपा से प्राप्त हुई ।"[1]

कुछ कृतियो का अनुवाद उनके लेखको की प्रसिद्धि एवं उनके कथा-सौन्दर्य तथा साहित्यिक मूल्य के कारण हुआ। साने गुरुजी के उपन्यास उपन्यास-कला की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नही ठहराये जा सकते, परन्तु राजनीति के क्षेत्र में अपनी प्रसिद्धि एव गांधीवादी विचारधारा के कारण हिन्दी प्रदेश मे वह शीघ्र ही परिचित हो गए और उनकी रचनाओं का हिन्दी अनुवाद भी हुआ। सावरकर का 'काला पानी' यदि हिन्दी में अनूदित हुआ, तो उसका कारण उसके लेखक की क्रान्तिकारी और राजनीतिक नेता के रूप मे प्रसिद्धि अधिक थी। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि कला की दृष्टि से ये व्यर्थ है। इन कृतियो मे कथा का सौन्दर्य एव विषय का आकर्षण भी निश्चय ही अनुवादको के लिए प्रेरणा रहे। 'आस्तिक' में नाग एव आर्यजाति का सघर्ष तथा मानवतावाद का सदेश तथा 'काला पानी' की राजनीतिक पृष्ठ-भूमि, वातावरण व कथा-सौन्दर्य इसके उदाहरण है। पर साथ ही लेखको की कीर्ति भी अनुवादो के लिए कम उत्तरदायी नही है। खाडेकर, फडके आदि की कहानियो के अनुवाद समय-समय पर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ मे निकलते रहते थे। हिन्दी पाठको ने उन्हे पसन्द किया। इन पाठको के हृदय मे उनके उपन्यास-साहित्य से परिचित होने की जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए इन लेखको के उपन्यासो के अनुवाद हुए। 'काता' की भूमिका में इसी तथ्य की पुष्टि की गई है "मेरा ख्याल है हिन्दी के पाठको ने इन लोगो (खाडेकर, फडके आदि) के साहित्य को समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ में हिन्दी मे देखा है। और स्वयं मेरा भी यह अनुभव है कि खाडेकर और माडखोळकर की कहानियाँ हिन्दी पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं।"[2] पारस्परिक परिचय की भावना तो सर्वदा की तरह इन अनुवादो के पीछे थी ही। खाडेकर के चित्रपट-उपन्यास 'मेरा हक' का अनुवादक लिखता है "साहित्य को प्रान्तो की एक्यता का साधन जानते हुए हमारी इच्छा हिन्दी वाचको को मराठी की अन्य उत्कृष्ट सामग्री से परिचित कराने की है।"[3]

साराश यह है कि दूसरे काल मे प्रधानत. मराठी के सामाजिक उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद हुआ। उनके अनुवादको को लेखको की प्रसिद्धि, पाठको एवं प्रकाशको की रुचि एव अन्त.प्रान्तीय आदान-प्रदान की भावना ने अनुवाद-कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। कुछ उपन्यासों के अविकल अनुवाद हुए, तो कुछ के केवल छायानुवाद।

अनुवादों की लोकप्रियता—भारत की सास्कृतिक एवं धार्मिक एकता के परिणाम-स्वरूप विभिन्न प्रदेशो में रहने वाले व्यक्तियो के हृदय एक प्रच्छन्न सम्बन्ध-सूत्र से अनुस्यूत रहते हैं। इसलिए एक प्रदेश की साहित्यिक कृतियो को जब दूसरे प्रदेश में

---

[1] गोविन्दराव मराठे 'कान्ता' हिन्दी अनुवाद . भूमिका : पृष्ठ ५ ।

[2] गोविन्दराव मराठे 'काना' : भूमिका : पृष्ठ ४ ।

[3] आनन्दकुमार 'मेरा हक' : मूल लेखक खाडेकर : भूमिका : पृष्ठ १ ।

प्रवेश करने का अवसर मिलता है, तो शीघ्र ही उनका जनता में स्वागत व अभिनन्दन होने लगता है। महाराष्ट्र मे शिवाजी ने जो शौर्य, साहस, त्याग एव गौ-ब्राह्मण प्रतिपालन का दृष्टान्त प्रस्तुत किया उसका प्रभाव वही के समाज पर नही पडा, अपितु इतर प्रदेशो मे भी उनके उस कृतित्व का आदर हुआ। हिन्दी-भाषी प्रदेशो में यवनो के आतक एव अनाचार से हिन्दू जनता उतनी ही सत्रस्त थी जितनी महाराष्ट्र मे। वीर शिवाजी द्वारा मुगलो को परास्त होते हुए देखकर उन्हे भी उतनी ही हार्दिक प्रसन्नता होती थी जितनी महाराष्ट्र निवासियो को। अतः हरिनारायण आप्टे ने जब शिवाजी के जीवन एव कर्तृत्व से सम्बन्धित उपन्यास लिखे और उनके हिन्दी अनुवाद हिन्दीवालो को उपलब्ध हुए, तो उन्होने उनका खूब स्वागत किया। उन्हे पढकर वे शिवाजी एव उनके साथियो के चातुर्य, शौर्य, साहस तथा निष्ठा पर गर्व करते थे तथा यवनो की पराजय और उनके अपमान के प्रसगो को पढकर मन ही मन मुस्कराते थे। इस सास्कृतिक एव धार्मिक एकता के अतिरिक्त उनके उपन्यासो के लोकप्रिय होने का कारण यह भी है कि उनमे मानव स्वभाव की सामान्यता प्रतिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए 'उषाकाल' मे रगराव अप्पा की स्वामिनिष्ठा, नाना साहब का देशप्रेम, साव्ळया की चतुराई, शिवाजी और उनके साथियो का शौर्य चित्रित करते हुए लेखक एक पल के लिए भी उनके स्वाभाविक सामान्य गुणो को विस्मृत नही करता। यही कारण है कि महाराष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर आधारित होकर भी यह उपन्यास हिन्दी मे अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। न केवल उसके अविकल हिन्दी अनुवाद के ही तीन सस्करण निकल चुके हैं, अपितु 'महाराष्ट्र प्रभात' नाम से उसका सक्षिप्त सस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। उसकी लोकप्रियता के सम्बन्ध मे गोडबोले साहब का मत है "उषाकाल नामक उपन्यास यद्यपि महाराष्ट्रीय पार्श्वभूमि पर चित्रित है, यद्यपि उसका ऐतिहासिक समय महाराष्ट्र के अभिमान का है, तथापि हिन्दी मे अनूदित होने पर वह हिन्दी मे भी बड़ा लोकप्रिय है।"[१]

इन्ही का दूसरा सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास है 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त' जिसका प्रथम हिन्दी अनुवाद लक्ष्मीधर वाजपेयी ने किया था पर जिसका साद्यन्त संशोधित चतुर्थ सस्करण ठा० राजबहादुर सिंह की लेखनी से तैयार कराकर राजकमल एण्ड सस, दिल्ली ने अगस्त १९५६ मे निकाला है। इसका विषय मौर्यवशीय चन्द्रगुप्त तथा जगत्-प्रसिद्ध चाणक्य का कर्तृत्व है। अत. यदि उसने हिन्दी भाषियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, तो इसमे किंचित् आश्चर्य नही। प्रतिपाद्य विषय के अतिरिक्त हरिनारायण आप्टे के उपन्यासो का शिल्प, कथा-संगठन और शैली भी इतनी आकर्षक है कि पाठक उन पर शीघ्र ही मुग्ध हो गए। बिखरी हुई कथाओ को एकत्रित करने की पटुता, रहस्य-निर्माण और उससे पाठको के हृदय मे कुतूहल जाग्रत कर धीरे-धीरे उसको शमन करने की कला, चरित्र-चित्रण मे कौशल, विवरणो की यथार्थता, शैली की सरलता आदि के द्वारा उन्होने तत्कालीन पाठको को विमुग्ध कर

---

[१] गो बोले 'मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास', पृष्ठ १४६।

लिया। आज भी जो पाठक अपनी कुतूहल-वृत्ति के तनाव तथा बाद मे उसके धीरे-धीरे उतार मे मनोरजन पाने के अभ्यासी है, उन्हे हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासो मे पर्याप्त मन-बहलाव की सामग्री मिल सकती है।

हरिभाऊ के 'गड आला पण सिंह गेला' का अनुवाद 'सिंहगढ विजय' नाम से कृष्णकान्त मालवीय के सम्पादकत्व मे 'अभ्युदय प्रेस प्रयाग' से पहली बार सम्वत् १९७९ मे प्रकाशित हुआ। वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया जिससे १९२८ ई० तक ही उसके तीन संस्करण प्रकाशित हो गए। उसकी उपयोगिता एवं सुन्दर शैली के कारण यदि एक ओर उत्तर-प्रदेश के 'बोर्ड आफ इन्टरमीडियेट एण्ड हाई स्कूल ऐज्यूकेशन' ने इस पुस्तक को स्कूलो की आठवी कक्षा के 'रैपिड रीडिंग कोर्स' के लिए मनोनीत किया, तो दूसरी ओर राजस्थान मे विद्यार्थियो के लिए 'प्रणवीर' नाम से उसका 'स्टूडेन्ट्स ऐडिशन' राजस्थान पुस्तक मन्दिर, जयपुर, द्वारा प्रकाशित कराया गया। नाथमाधव के 'वीर राजपूत' ने भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की। दस वर्ष मे ही उसको तीन संस्करणो में छापना पडा। इसका कारण उसका विषय—राजपूतो का शौर्य एवं विषय-प्रतिपादन की शैली है, जो अन्त तक कुतूहल-वर्धन करने के कारण बड़ी रोचक बन पड़ी है।

वा० ना० शाह के 'छत्रसाल' और 'सम्राट् अशोक' के अनुवादो के अल्प-काल मे ही दो-दो सस्करण निकल चुके है, जिससे उनकी लोकप्रियता प्रकट होती है। उनकी लोकप्रियता का कारण उनको उपन्यास-कला का सौन्दर्य, हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासो का अभाव होने के कारण उनके प्रति हिन्दी पाठको की ललक, उनमे सन्निहित रहस्य-निर्माण एव कुतूहल-जाग्रति द्वारा मनोरंजन को सामग्री तथा मराठी आलोचको द्वारा वा० ना० शाह की प्रशस्ति देखकर उनकी ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति है। बाबा खापर्डे द्वारा वा० ना० शाह को मराठी का वाल्टर स्कॉट कहा जाना बाबू रामचन्द्र वर्मा द्वारा 'छत्रसाल' के अनुवाद की प्रेरणा का एक कारण था। छत्रसाल के 'निवेदन' मे उस प्रशंसा को देखकर तथा उसमें पर्याप्त मनोरजन सामग्री प्राप्त कर पाठको को वह रुचिकर प्रतीत हुआ। 'आपकी रचना-चातुरी से प्रसन्न होकर सुप्रसिद्ध देशभक्त दादा साहब खापर्डे ने सम्मति दी है कि आप मराठी भाषा के सर वाल्टर स्कॉट होगे।—पुस्तक की उपयोगिता आदि सिद्ध करने के लिए केवल इतना ही बतला देना यथेष्ट है कि 'केसरी', 'इन्दु प्रकाश' आदि अच्छे पत्रो ने उसकी बहुत अच्छी आलोचना और श्रीयुत शिवराम महादेव परांजपे तथा श्रीयुत दादा साहब खापर्डे ने बहुत प्रशसा की है।"[1]

सामाजिक और राजनीतिक उपन्यासो मे माडखोळकर के 'कांता' उपन्यास को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उसी के सर्वाधिक सस्करण निकल चुके हैं। इसका प्रमाण हमे गोविंदराव मराठे की उस भूमिका से भी मिलता है, जो उन्होने 'भंगलेले देऊळ' के हिन्दी रूपान्तर 'उपेक्षिता' के सम्बन्ध मे लिखी है। "उनकी (माडखोळकर की)

---

१. रामचन्द्र वर्मा, छत्रसाल 'निवेदन', पृष्ठ ३।

कथा-शैली हिन्दी पाठको के लिए लोकप्रिय हो चुकी है। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि उनका एक उपन्यास 'कान्ता', जिसका हिन्दी रूपान्तर हो चुका है, छपते ही हाथो-हाथ बिक गया। उसकी अब तक कई आवृत्तियाँ भी निकल चुकी है।"[1] सारांश यह कि मराठी उपन्यासकारो मे १९५० ई० तक केवल हरिनारायण आप्टे, वा० ना० शाह एव माडखोळकर की कृतियाँ लोकप्रिय हुई है। अन्य उपन्यासकारो की प्रथम तो एक-दो कृतियाँ ही अनूदित हुई है, दूसरे, उनमे उपन्यास-रस भी पर्याप्त नही है। उदाहरण के लिए, साने गुरुजी की तीन कृतियो के अद्यावत् अनुवाद हो चुके है, पर उनमे उपन्यास-रस की कमी होने के कारण वे अधिक लोकप्रिय नही बन पाए है।

कुल मिलाकर बगला उपन्यासो की अपेक्षा मराठी उपन्यासो के अनुवाद हिन्दी मे कम लोकप्रिय हुए। इसके कई कारण है। हिन्दी को उपन्यास लिखने-पढने की प्रेरणा बँगला से मिली। आरम्भिक काल मे हिन्दी जनता को बँगला के अनूदित उपन्यास ही पढने को मिले और अन्य सामग्री के अभाव मे वे लोकप्रिय हो गए। बँगला के अनुवादो को पढते-पढते हिन्दी पाठको मे एक विशिष्ट रुचि भी निर्माण हो गई, जो कोमलता, भावुकता, सहृदयता, कल्पनाशीलता के अधिक अनुकूल थी। अत हिन्दी पाठको को मराठी के सिद्धान्त-प्रधान, बुद्धि-प्रधान उपन्यास रुचिकर होने सभव न थे।

अनूदित उपन्यासो एव उनके रचयिताओ की सख्या का भी पाठको पर प्रभाव पड़ता है। १९५० ई० तक मराठी उपन्यासो के लगभग २२ अनुवाद हुए, जबकि बँगला से अनूदित उपन्यासो की सख्या सैकडो मे है। 'सरस्वती', 'हँस', 'वीणा', 'विशाल भारत' आदि पत्रिकाओ को देखने पर भी यह ज्ञात हुआ कि उनमे आकर्षक रगीन पन्नो पर बँगला के रवीन्द्र, शरद्, रमेशचन्द्र दत्त, प्रभातकुमार मुकर्जी आदि के उपन्यासो का तो विज्ञापन लगभग प्रत्येक प्रति मे है, परन्तु मराठी के केवल कतिपय उपन्यासो 'रागिणी', 'वज्राघात' आदि का ही विज्ञापन है। इसका यह अभिप्राय नही कि हिन्दी पत्रिकाओ के सम्पादक मराठी साहित्य से परिचित नही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पदमलाल पुन्नालाल बख्शी मराठी जानते थे और उन्होने मराठी साहित्य के सम्बन्ध मे आनन्दराव जोशी इत्यादि लेखको से लेख लिखवाए हैं। सन् १९२७ की जनवरी मास की 'सरस्वती' मे मराठी उपन्यास पर आनन्दराव जोशी का लेख प्रकाशित हुआ था। मराठी से अनूदित पुस्तको का विज्ञापन भी इस पत्रिका मे छपता था। 'दासबोध', 'महाराष्ट्र धर्म', 'गीता-रहस्य' आदि का विज्ञापन इसका प्रमाण है। 'हस' पत्रिका मे 'मुक्ता मजूषा' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ की रचनाओ का परिचय दिया जाता था, जैसे सन् १९३७ के जून मास की प्रति मे गीता साने के उपन्यास 'लतिका' का परिचय है। उसके सहायक-सम्पादको मे मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार 'खाडेकर' का नाम भी था। इसमे मराठी साहित्य के ऊपर लेख भी प्रकाशित होते थे, जैसे, हमे एक लेख 'ना०

---

[1] 'उपेक्षिता' की भूमिका, पृष्ठ १।

सी० फडके' एव दूसरा 'मराठी कहानी' पर देखने को मिला। परन्तु जहाँ तक मराठी उपन्यासो के हिन्दी अनुवादो का प्रश्न है, वे न तो इन पत्रिकाओ मे छपे ही (उपन्यास स्थान अधिक घेरता है, यह इसका एक कारण है क्योकि मराठी कहानियो के अनुवाद तो मिलते ही हैं) और न उनका विज्ञापन ही देखने को मिलता है। यही बात 'वीणा' के सम्बन्ध मे भी है। द्विभाषी मध्य-प्रदेश की प्रमुख पत्रिका होते हुए भी उसमे मराठी से अनूदित उपन्यासों की चर्चा नही है। बीसवी शताब्दी विज्ञापन का युग है, अतः यदि हिन्दी पाठको का ध्यान मराठी के अनूदित उपन्यासो की अल्प सख्या और विज्ञापन के अभाव मे उधर की ओर कम गया तथा वे अधिक लोकप्रिय न हो पाए, तो इसमे कोई आश्चर्य नही। इन्ही सब बातो को देखकर कदाचित् बख्शी जी ने ठीक ही कहा है "—फिर भी लोकप्रियता की दृष्टि से बँगला के ही उपन्यास हिन्दी मे अग्रगण्य हैं।"[1]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विशेषकर १९५० ई० के बाद मराठी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओ के साथ हिन्दी वालो का परिचय बढता जा रहा है। केन्द्रीय शासन भी 'साहित्य-अकादमी' द्वारा विभिन्न भाषाओ के उपन्यासो के अनुवाद करा रहा है। सन् १९५० के बाद खांडेकर के लगभग सभी प्रमुख उपन्यासो का अनुवाद हिन्दी मे हो चुका है। बोरकर का 'भावीण', प्रेमा कटक का 'काम और कामिनी', फडके के 'बस नम्बर बारा', 'कश्मीरी गुलाब', शि० चौगुले का 'जमीदार की बेटी', ब० ह० पिटके का 'क्रान्तिकाल', कवठेकर का 'रेशम की गाँठें', काकोडकर के 'मुक्तनारी' और 'कीर्तिमन्दिर', माया बोरकर का 'सर्व मगला' हरिनारायण आप्टे का 'पण लक्षात कोण घेतो', खांडेकर का 'ययाति', वसन्त कानेटकर का 'घर' आदि भी हिन्दी भाषा-भाषियो को अनूदित रूप मे उपलब्ध है। इस प्रकार मराठी उपन्यासो के अनुवादो की प्रारम्भ से अब तक निरन्तर बढती हुई सख्या को देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे उत्तरोत्तर लोकप्रिय होते जा रहे है।

मराठी उपन्यासो का प्रभाव—हिन्दी मे सर्वप्रथम मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासो, विशेषकर वा० ना० शाह और हरिनारायण आप्टे की रचनाओं का अनुवाद हुआ। उनमे भी वा० ना० शाह के दो उपन्यासो 'छत्रसाल' और 'सम्राट् अशोक' को हिन्दी मे सर्वप्रथम अनूदित होने का गौरव प्राप्त हुआ। वीर छत्रसाल को आधार बनाकर हिन्दी गद्य मे एक पुस्तक लिखी गयी है—श्रीयुत विश्व की 'वीर छत्रसाल'। यह १९३० ई० मे प्रकाशित हुई थी। श्री विश्व का 'छत्रसाल' मराठी के 'छत्रसाल' के अनुवाद के लगभग १४ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ और उस पर मराठी रचना का प्रभाव पड़ना सभव था, परन्तु इन दोनो रचनाओ की तुलना से ज्ञात हो जाता है कि हिन्दी पुस्तक पर वा० ना० शाह के उपन्यास का किंचित् भी प्रभाव नही पडा है। मराठी पुस्तक मे उपन्यास कला का यथासाध्य निर्वाह हुआ है और उसके रचना-काल को देखते हुए उसकी प्रशंसा करने मे कोई सकोच नही होता। इसके विपरीत हिन्दी

---

[1] प० पु० बख्शी 'हिन्दी कथा साहित्य', पृष्ठ ४१।

का 'वीर छत्रसाल' उपन्यास न होकर जीवन-चरित्र अधिक है। लेखक ने उसे स्वय जीवन-चरित्र कहा है तथा उसके प्रकरणो—बुन्देलो की उत्पत्ति, बुन्देलो की वशावलि, इत्यादि से भी उसकी जीवन-चरित्र के समान योजना प्रमाणित होती है। विभिन्न स्थलो का विवरण, 'छत्र-प्रकाश' नामक ग्रन्थ से प्रचुर उद्धरण, वश-वेल आदि उसकी कला के लिए घातक है जिससे पाठक उसमे उपन्यास का मनोरजन न पाकर ऐतिहासिक जीवन-वृत्त की शुष्कता ही पाता है। पुस्तक की भूमिका से भी प्रमाणित हो जाता है कि लेखक पर मराठी रचना का कोई प्रभाव नही पड़ा है। "इस पुस्तक की रचना विशेपतया काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'छत्र-प्रकाश' नामक काव्य-ग्रन्थ से की गयी है। उक्त मूल पुस्तक के अलकार एवम् अतिशयोक्तियो को निकालकर जो कुछ अवशेप वचा है, उसी का इस पुस्तक मे समावेश है।"[1] अत· स्पष्ट है कि प्रस्तुत पुस्तक पर मराठी के 'छत्रसाल' उपन्यास का कोई प्रभाव नही पडा है। इधर की ओर वृन्दावनलाल वर्मा ने इसी वीर पुरुप को लेकर 'छत्रसाल' नामक उपन्यास की रचना की है। वह अभी तक प्रकाशित नही हुई है। अत यह बताना कठिन है कि उस पर वा० ना० शाह की कृति का प्रभाव है अथवा नही। 'सम्राट् अशोक' को लेकर हिन्दी मे नाटक तो लिखे गए है, परन्तु उनके सम्बन्ध मे कोई उपन्यास देखने को नही मिला। अतः यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वा० ना० शाह के 'सम्राट् अशोक' ने हिन्दी उपन्यास को कहाँ तक प्रभावित किया है।

हरिनारायण आप्टे के जिन उपन्यासो का अनुवाद हिन्दी मे हुआ है, उनके विषय है—शिवकाल, विजयनगर राज्य एव चन्द्रगुप्त मौर्य। प्रथम दो पर आलोच्य-काल (१९००-१९५० ई०) के अन्तर्गत हिन्दी मे कोई ऐतिहासिक उपन्यास नही लिखा गया है, अत· प्रभाव का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऊपर अवश्य मिश्रवन्धुकृत 'चन्द्रगुप्त मौर्य' १९४७ ई० मे तथा सत्यकेतु विद्यालंकार कृत 'आचार्य चाणक्य' १९५३ ई० मे प्रकाशित हुए है। दूसरी रचना हमारे क्षेत्र से वाहर है क्योकि उसका प्रकाशन १९५० ई० के उपारान्त हुआ है। मिश्रवन्धु-कृत उपन्यास हरिनारायण आप्टे की रचना के वाद प्रकाशित हुआ और उस पर उनका प्रभाव पडना सभव था।

मराठी उपन्यास मे ग्रीक इतिहास से उपलब्ध होने वाले वृत्तान्त का वहुत थोडा उपयोग किया गया है, जवकि हिन्दी रचना मे उसका अधिक परिमाण मे उपयोग किया गया है। इसी प्रकार मिश्रवन्धुओ ने वौद्ध-जैन-ग्रथो एव विविध पुराणो की सामग्री के आधार पर अपनी रचना का निर्माण किया है जवकि हरिभाऊ आप्टे का आधार वौद्ध ग्रथ और 'मुद्राराक्षस' नाटक है। दोनो ने वौद्ध-ग्रन्थो का अनुकरण कर मगध के राजा का नाम धनानन्द रखा है परन्तु अन्य विवरणो मे जो विभेद है, वह उनकी आधार-सामग्री की विभिन्नता की ओर सकेत करता है। आप्टे ने चन्द्रगुप्त को नद वश का पुत्र माना है। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त की माता मुरा कुलीन वश की थी, परन्तु विवाह-

---

[1] श्रीयुत विश्व 'वीर छत्रसाल', भूमिका, पृष्ठ ४।

के उपरान्त अन्य रानियो के षड्यन्त्र के कारण उसे दासी-पुत्री घोषित किया गया और उसके नवजात शिशु चन्द्रगुप्त का वध कराने के लिए उसे जगल मे निराश्रय छोड दिया गया, जहाँ भाग्यवश वह एक भील गुरखिये को मिल गया । उसी ने उसका पालन-पोषण किया और बाद मे चाणक्य को दे दिया । इसके विपरीत मिश्रबन्धुओ ने 'महावग' एव 'महा परिनिब्बान सुत' के आधार पर चन्द्रगुप्त को पिप्पली-कानन का क्षत्रिय राजकुमार और उसके पिता को नद का सामन्त और आधीन अधिकारी माना है । भूमिका मे वे लिखते है, "महावंश लका का प्राचीन ग्रथ मौर्यों को शाक्य वशी कहता है तथा चन्द्रगुप्त के पिता को हिमालय के एक राज्य का भूपाल बतलाता है । 'महा परि निब्बान सुत्त' मे मौर्य पिप्पली-कानन के शासक छटी शताब्दी बी० सी० मे थे ।"[1]

आप्टे ने 'मुद्राराक्षस' से सकेत ग्रहण कर नद के प्राधानामात्य का नाम राक्षस रखा है तथा उसी के आधार पर उसमे नन्दो के प्रति अतुल निष्ठा, प्रज्ञा, भक्ति आदि गुण प्रतिष्ठित किये है । चाणक्य के कपट-प्रयोगो की रचना करने मे भी आप्टे को 'मुद्राराक्षस' नाटक से कुछ सकेत मिले है । इसके विपरीत मिश्रबन्धुओ ने नद के मन्त्री का नाम कात्यायन रखा है । इसकी प्रेरणा उन्हे कथा-सरित्सागर और जैन-ग्रथो से मिली है । "कथा-सरित्सागर नंद-वश का मन्त्री वररुचि को कहता है । एक जैन-ग्र थ के अनुसार वररुचि ही कात्यायन थे । यह कथन जैन-परिशिष्टपर्व मे है, जो १४वी शताब्दी का ग्रथ है···वास्तव मे राक्षस सुबुद्धि शर्मा का उपनाम था । यह कात्यायन के मित्र थे ।"[2] महापद्मनद को सम्राट महानदिन की दुराचारिणी रानी का एक नाई से उत्पन्न पुत्र मानने मे भी मिश्रबन्धुओ ने जैन-ग्रथो और ग्रीक लेखक स्ट्रैबो का आधार ग्रहण किया है । उपन्यास के अन्त मे चन्द्रगुप्त को जो सन्यासी एव वानप्रस्थ बनाया गया है, उसका कारण भी जैन-ग्रथ का ही आधार है । "एक जैन-ग्रथ का कहना है कि भद्रबाहु नामक एक जैन आचार्य के उपदेश से चन्द्रगुप्त अत मे जन भिक्षु हो तथा राज्य त्याग कर १२ वर्ष माइसोर-प्रात मे रहे । ···हमने इसे माना तो नही है किन्तु औपन्यासिक रीति से सुनदा के उपदेश से इनका ग्रहत्यागी होकर वानप्रस्थ तथा सन्यासी होना लिखा है ।"[3] बौद्ध-जैन-ग्रन्थो और ग्रीक इतिहासकारो के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास मे मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण आदि का भी आधार ग्रहण किया गया है और उनके अनुसार महापद्मनद को शूद्रा मे उत्पन्न (मत्स्य-पुराण) तथा चन्द्रगुप्त को मगधवशी क्षत्रिय माना है । मराठी और हिन्दी लेखको ने एक ही विषय पर उपन्यास लिखते हुए भी सामग्री विभिन्न स्रोतो से ग्रहण की है । अत यह निश्चित है कि मराठी उपन्यास का हिन्दी उपन्यास ने अनुकरण नही किया है ।

मूल स्रोतो की विभिन्नता के अतिरिक्त जब हम इन दोनो उपन्यासो की

---

[1] मिश्रबन्धु 'चन्द्रगुप्त मौर्य' भूमिका, पृष्ठ ७ ।
[2] वही „ पृष्ठ ६ ।
[3] वही „ पृष्ठ ११ ।

कथा-वस्तु, कथा-सगठन एव शिल्प पर ध्यान देते है, तो उनमे भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। मिश्रबन्धुओ ने सुनदा नाम की नद राजा की पुत्री को अवतारणा की है और उसे प्रारम्भ मे चन्द्रगुप्त से प्रेम करते दिखाया है। चन्द्रगुप्त द्वारा उसके प्रणय को अस्वीकार कर देने के परिणामस्वरूप ही नद एव चन्द्रगुप्त मे सघर्ष उत्पन्न होता है। आगे चलकर यही सुनन्दा चन्द्रगुप्त को दुर्धरा एव हैलेन की प्राप्ति मे सहायता देती है तथा उसी के उपदेश से वह वानप्रस्थ ग्रहण करता है। यह कल्पित पात्र ही उपन्यास की नायिका है। आप्टे के उपन्यास मे इस पात्र का उल्लेख तक नही है।

यद्यपि दोनो उपन्यासो मे चन्द्रगुप्त गौण पात्र है, वह पृष्ठभूमि मे रखा गया है, परन्तु जहाँ मराठी उपन्यास मे वह सुन्दर, शूरवीर, तेजस्वी युवक है, वहाँ हिन्दी मे तीन स्त्रियो के प्रति उसे अनुरक्त दिखा एव सुनन्दा द्वारा बार-बार अस्वीकार कर देने पर भी उससे प्रणय-निवेदन करते हुए चित्रित करके हिन्दी लेखक ने उसे स्त्रियासक्त और प्रणयलोलुप बना कर उसका चरित्र गिरा दिया है। चन्द्रगुप्त के ईरान जाकर ग्रीक युद्ध-विद्या सीखने एव वहाँ हैलेन से प्रणय उत्पन्न होने पर फिलिप्स से कलह का उल्लेख भी मराठी उपन्यास मे नही मिलना। वहाँ अन्तिम युद्ध मे सैल्यूकस पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त ही उसे हैलेन मिलती है, जबकि हिन्दी उपन्यास मे युद्ध-विद्या सीखने के समय हैलन और चन्द्रगुप्त के प्रणय, तदनन्तर सुनन्दा की सहायता से उनके विवाह और विवाह के उपरान्त सैल्यूकस और चन्द्रगुप्त की लडाई का वर्णन मिलता है।

आप्टे के उपन्यास मे चन्द्रगुप्त की मा मुरा का प्रमुख स्थान है। उसके चरित्र-चित्रण से लेखक के अपार कौशल का परिचय मिलता है। अपने अपमान और पुत्र के अकारण वध का प्रतिशोध लेने की इच्छा करने वाली मुरा साधारण स्त्री नही है। उसका निश्चय पक्का, साहस उग्र एव कपट रहस्यपूर्ण है। घनानन्द को फन्दे मे पकडने के लिए वह जिस धूर्तता से मायाविनी बनती है, वह अतुलनीय है। यह सब होते हुए भी अन्त मे उसका कोमल भाव जाग्रत कर तथा पति को विकराल मृत्यु की ओर खिचते देख उसे अनुताप की असह्य अग्नि मे दग्ध होते दिखाकर लेखक ने एक सुन्दर और प्रभावशाली चरित्र प्रदान किया है। हिन्दी उपन्यास मे मुरा का उल्लेख तक नही है।

कुछ अन्य बातो मे भी दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे विभेद मिलता है। 'नव-नद' का अर्थ मराठी उपन्यास मे नौ नद है तो हिन्दी मे नया नद लिया गया है। मराठी रचना मे चाणक्य तक्षशिला से पाटलिपुत्र आता है, जबकि हिन्दी उपन्यास मे वह पाटलिपुत्र से तक्षशिला जाता है और बाद मे पुन पाटलिपुत्र आता है। हरिभाऊ के उपन्यास मे सब प्रकट-प्रयोगो के उपरान्त भी चाणक्य राक्षस को सरल नीति द्वारा ही अपनी ओर मिला पाता है, जबकि हिन्दी उपन्यास का कात्यायन सबलनद एवं चन्दनदास को मृत्यु-पाश मे आबद्ध देख चन्द्रगुप्त का पक्ष ही ग्रहण नही करता, अपितु चाणक्य की अधीनता मे मन्त्रित्व भी स्वीकार कर लेता है। मराठी उपन्यास के राक्षस का चरित्र निश्चय ही हिन्दी उपन्यास के कात्यायन की अपेक्षा अधिक दृढ, उदात्त एव गरिमामय है।

कला, शिल्प, एवं शैली की दृष्टि से भी दोनो उपन्यासो मे पर्याप्त भेद है।[1] मराठी उपन्यास के कथानक का आन्तरिक अश वैयक्तिक सम्बन्धो द्वारा निर्मित होने पर भी उसमे राष्ट्रीय स्वातत्र्य के भाव भरे गए है। ऐतिहासिक दृष्टि तो मूल मे है ही। दो ढाई हज़ार वर्षो के पूर्व के भारत का चित्र प्रस्तुत करने मे लेखक पूर्णतया सफल हुआ है। तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति—पौराणिक हिन्दू धर्म की लोकमान्यता और राज्यमान्यता तथा दूसरी ओर बौद्ध-धर्म के अभ्युदय की अवस्था—चित्रित की गई है। उसमे राष्ट्रीय दृष्टि और भारतीय स्वतन्त्रता का भाव भी सुस्पष्ट है। हिन्दी उपन्यास मे राष्ट्रीयता का स्वर अत्यन्त क्षीण है और ऐतिहासिक वातावरण के चित्र भी अस्पष्ट है।

मुरा के घनानद के विरुद्ध कुचक्रो एव चाणक्य के राक्षस के प्रति कपट-प्रयोगो ने मराठी उपन्यास मे रहस्यमयता और कुतूहल-निर्माण द्वारा उसे प्रचुर मनोरजन-सामग्री प्रदान की है। यह बात हिन्दी रचना के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती। उसकी शैली भी मराठी उपन्यास के समान कलात्मक नही। अध्यायो के उपविभाग, बीच-बीच मे नाटको के समान सकेत कि तदुपरान्त निम्न प्रकार का वार्तालाप उन दो पात्रो के बीच हुआ, रचना को शिथिल बना देते है तथा उसे इतिहास-ग्रथ का रूप प्रदान करते है। इस प्रकार आधार-स्रोत, विषय-वस्तु, कथा-सगठन और शिल्प तथा शैली के उपर्युक्त भेद को देखकर यह कहना कि मराठी रचना ने हिन्दी उपन्यास को प्रभावित किया है, उचित नही।

राजपूत-काल पर प्रथम तो मराठी मे उपन्यास ही चार-छ लिखे गए, फिर उनमे से भी केवल 'अल्ला हो अकबर', 'वीर राजपूत', 'अजिक्य तारा' का हिन्दी मे अनुवाद हुआ। उधर हिन्दी मे बँगला लेखको के राजपूत-काल पर लिखे गए उपन्यासो 'राजपूत जीवन सध्या', 'राजपूत नन्दिनी' आदि के अनुवाद मराठी उपन्यासो से पहले हुए। अत राजपूत-काल के हिन्दी उपन्यासो पर बँगला का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है। किशोरीलाल गोस्वामी एव गगाप्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यास इनके प्रमाण हैं। शेष लेखकों—बलदेव मिश्र आदि—के इस काल को लेकर लिखे गए उपन्यास या तो स्वतत्र मौलिक रचनाएँ है अथवा थोडा बहुत बँगला से प्रभावित है। उन पर मराठी उपन्यासो का प्रभाव नही है।

वामन मल्हार जोशी विचार-प्रधान उपन्यास लेखक थे। उनके 'रागिणी' उपन्यास मे कथा के साथ निर्गुण-सगुण, स्त्री-स्वातत्र्य, ईश्वर का अस्तित्व, स्वहितवाद, उपयोगितावाद आदि की भी प्रचुर चर्चा है। उनका प्रधान लक्ष्य अपने विचारो व सिद्धान्तों को पाठको तक पहुँचाना था। वह पहले विचारो का ढाँचा तैयार कर तदनन्तर उसके लिए कथानक की रचना करते थे। हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करने से हमे इस प्रकार की कोई रचना नही दिखाई पड़ती जिसमे ब्रह्म, स्त्री-स्वातत्र्य आदि के विषय मे सैद्धान्तिक वाद-विवाद के अनुरूप कथा के सूत्र तैयार किये गए हो। उत्तरा जैसी नफेजेट स्त्री का चित्रण भी १९२० ई० के लगभग हिन्दी

उपन्यासो मे नही मिलता। अत सहज ही यह कहा जा सकता है कि 'रागिणी' का प्रभाव हिन्दी उपन्यासो पर नही पडा है।

जहाँ तक राजनीतिक उपन्यासो का सम्बन्ध है, आलोच्य-काल मे हिन्दी मे केवल माडखोळकर का 'काता', खाडेकर का 'क्रौंचवध' और साने गुरुजी का पौराणिक-कथा पर आधारित परन्तु तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के लिए उपादेय उपन्यास 'आस्तिक' अनूदित हुए है। प्रथम दो मे गाधीवादी विचारधारा का विरोध है। गाधीवाद के विरोधी हिन्दी लेखक—यशपाल, राहुल, आदि स्वतन्त्रचेता लेखक हैं। उन्हे गाधीवाद का विरोध करने की प्रेरणा या तो देश की स्थिति के स्वतन्त्र अध्ययन से मिली है अथवा साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण। अत उनकी रचनाओ मे मराठी उपन्यासो का प्रभाव ढूंढना नितान्त अनुचित ही नही व्यर्थ भी है। साथ ही इन उपन्यासो के अनुवाद १९४० ई० के पश्चात् हुए है और उनका परिचय भी बहुत कम लेखको को है। ऐसी दशा मे हिन्दी उपन्यास पर उनका प्रभाव पडना कठिन था। साने गुरुजी के उपन्यास अवश्य गाधीवाद व मानवतावाद का समर्थन करते है। समान मनोवृत्ति (भावुकता, उदारता, कोमलता आदि) के कारण हिन्दी भाषा-भाषी उनकी ओर आकृष्ट हो सकते थे, परन्तु हिन्दी में प्रेमचन्द, प्रसाद आदि ने मानवतावाद एव गाधीवाद का समर्थन बडे सुन्दर रूप मे किया। अत बाद के हिन्दी लेखको ने उन्ही की परम्परा को अपनाया। वे साने गुरुजी से प्रभावित नही हुए।

यही स्थिति सामाजिक उपन्यासो की है। प्रथम तो, मराठी से बहुत कम सामाजिक उपन्यास हिन्दी मे अनूदित हुए। दूसरे, जिन उपन्यासो के हिन्दी अनुवाद हुए, उनमे भी वे ही समस्याएँ—विधवा की दयनीय स्थिति (मेरा हक) पुरुषो द्वारा स्त्री के साथ छल (मेरा हक, उपेक्षिता) स्वच्छन्द प्रणय (मेरा हक, बस नम्बर बारा) सुशिक्षित स्त्री की समस्याएँ (उपेक्षिता, काता) आदि है, जो हिन्दी प्रदेश के सामाजिक जीवन मे पाई जाती हैं। इन समस्याओ को चित्रित करने की प्रेरणा हिन्दी लेखको को प्रत्यक्ष समाज से मिली, न कि मराठी उपन्यासो से। तीसरे, इस काल के प्रमुख लेखक प्रेमचन्द एव कौशिक ने जो सामाजिक दृष्टिकोण अपनाया, वह मराठी लेखको से भिन्न था। हिन्दी लेखको ने सामजस्य और आदर्श पर अधिक बल दिया, जबकि मराठी लेखक अपने विचारो मे अधिक उग्र, क्रान्तिकारी एव विद्रोहपूर्ण थे। हिन्दी के अन्य उपन्यास लेखक प्रेमचन्द के दृष्टिकोण से इतना अधिक प्रभावित थे कि अन्य किसी प्रकार की विचारधारा उन्हे प्रभावित न कर सकी।

जिन कारणो एव परिस्थितियो के परिणामस्वरूप मराठी उपन्यास कथा-वस्तु के क्षेत्र मे हिन्दी उपन्यासो को प्रभावित नही कर सके, उन्ही के फलस्वरूप शिल्प और शैली के क्षेत्र मे भी हिन्दी उपन्यास मराठी उपन्यास-साहित्य से अप्रभावित रहे। जैसा कि दूसरे अध्याय मे बता चुके हैं, दोनो के प्रारभिक उपन्यास-साहित्य की शैली और शिल्प-विधि पर एक ओर सस्कृत और फारसी रचना-शिल्प तथा शैली का

प्रभाव था, तो दूसरी ओर रेनाल्ड्स की रचनाओ का। बाद के उपन्यासो के शिल्प पर भी अंग्रेजी का प्रभाव अधिक है। उदाहरण के लिए, हिन्दी और मराठी दोनो के उपन्यासो मे मृत्यु के निकट स्थित व्यक्ति को अपने विगत जीवन का चित्र स्मृतियों के रूप मे अंकित करते दिखाया गया है। माडखोळकर के 'भंगलेले देऊळ' व हिन्दी के 'सुखदा' या 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' मे यही शिल्प अपनाया गया है। यह ठीक है कि हिन्दी के इन दो उपन्यासो से पूर्व 'भगलेले देऊळ' लिखा जा चुका था और उसका हिन्दी अनुवाद भी कम से कम 'सुखदा' के पूर्व हो चुका था, पर यह कहना नितान्त असगत होगा कि जैनेन्द्र जी ने इस शिल्प को माडखोळकर के 'भगलेले देऊळ' के हिन्दी अनुवाद को पढकर ग्रहण किया था। वस्तुत यह शिल्प दोनो ने अंग्रेजी से ग्रहण किया है, क्योकि यह शिल्प मराठी तथा हिन्दी दोनो के उपन्यासो से पूर्व अंग्रेजी उपन्यासो मे अपनाया जा चुका था और जैनेन्द्र तथा माडखोळकर अंग्रेजी-साहित्य से पर्याप्त परिचित भी थे।

साने गुरुजी के तीन उपन्यासो के अनुवाद हिन्दी मे हो चुके हैं। पौराणिक उपन्यास 'आस्तिक' मे उन्होने जन्मेजय के नागयज्ञ की पौराणिक कथा का हिन्दु-मुसलमानो की एकता के लिए रूपक के रूप मे प्रयोग किया है। इस प्रकार पौराणिक कथा का आधुनिक राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओ के समाधान के लिए उपयोग हिन्दी मे देखने को नही मिला। दूसरे उपन्यास 'श्याम की मा' का मुख्य सूत्र माता की महिमा है और वह सस्मरणो के रूप मे लिखा गया है। इस प्रकार की भी कोई रचना हिन्दी मे नही लिखी गई है। अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साने गुरुजी ने अपनी रचनाओ मे जो नवीन शिल्प अपनाया है, उसका न तो प्रभाव ही हिन्दी पर पडा है और न उसका अनुसरण ही हिन्दी मे हुआ है।

खाडेकर के 'क्रौंचवध' मे एक अभिनव शिल्प-विधि अपनाई गई है। कथा तृतीय-पुरुष मे न कही जाकर विभिन्न पात्रो के आत्म-निवेदन के रूप मे तथा डायरी के द्वारा कही गई है। हिन्दी मे भी कुछ उपन्यासो की कथा विभिन्न पात्रो के मुख से कहलाई गई है। इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' मे इसी शिल्प को अपनाया गया है। पर यहाँ भी मानना पड़ता है कि इस शिल्प का उपयोग पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन का परिणाम है, मराठी का प्रभाव नहीं। दोनो ने यह शिल्प पश्चिम से लिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि मराठी के ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास हिन्दी मे अनूदित हुए, पर उनका प्रभाव हिन्दी लेखको पर अधिक नही पड़ा। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास लेखको ने भले ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की अप्रत्यक्ष प्रेरणा मराठी उपन्यासकारो से प्राप्त की हो, पर प्रेरणा प्रदान करने मे अधिक श्रेय हम उन्हे नही दे सकते। प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखक के प्रश्न के उत्तर मे मराठी उपन्यासो के अनुवादकर्त्ता, सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी बाबू रामचन्द्र वर्मा ने भी यही मत प्रगट करते हुए लिखा है, "मेरी

समझ मे हिन्दी की उपन्यास रचना पर मराठी उपन्यासो का कुछ भी प्रभाव नहीं पडा है। और फिर हिन्दी मे मराठी के अनुवाद है भी बहुत कम।"[1] इसके अनेक कारण थे। प्रथम तो मराठी से अनूदित उपन्यासो की संख्या बहुत कम है। कुल मिलाकर १९५० ई० तक लगभग २२ उपन्यासो के हिन्दी अनुवाद हुए है। अनुवादको के नाम देखने पर भी यह ज्ञात होता है कि केवल तीन-चार लेखको ने प्रमुख रूप से इस क्षेत्र मे कार्य किया। इस सम्बन्ध मे सर्वश्री रामचन्द्र वर्मा, हरिभाऊ उपाध्याय और लक्ष्मीधर वाजपेयी और इधर की ओर गोविंदराव मराठे और सर्वटे के नाम उल्लेखनीय है। आधे से अधिक उपन्यासो का अनुवाद इन चार व्यक्तियो ने किया है। १९५० ई० तक के अनुवादो की सख्या तथा उसमे भी अधिकतर इन तीन-चार व्यक्तियो के ही द्वारा किये गए अनुवाद-कार्य को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि मराठी उपन्यासो के अनुवाद का कार्य हिन्दी मे गभीरतापूर्वक नही किया गया। केवल लेखको की रुचि के अनुसार छुटपुट प्रयत्न होते रहे। इसी कारण न तो जनता मे वे अधिक लोकप्रिय हुए और न उनका प्रभाव ही हिन्दी उपन्यासो पर पड़ा। बँगाल-निवासियो के समान हिन्दी भाषा-भाषियो की प्रकृति भी भावुकता, कोमलता, कल्पनाप्रवणता एव हृदय की अन्य कोमल-स्वप्निल भावनाओ की ओर सहज ही आकृष्ट होती है। अत. हिन्दी भाषा-भाषियो ने बँगला उपन्यास मे कथा की जो सरलता प्राप्त की, वह उन्हे मराठी भाषा के उपन्यास साहित्य मे उपलब्ध नही हुई। पर इधर की ओर मराठी उपन्यासो के अनुवाद जिस गति से हो रहे है, वह सतोषजनक है।

मराठी से अनूदित कितने ही उपन्यासो मे व्याकरण सबंधी भूले, मराठी शब्दो एव मुहावरो के पर्याय न मालूम होने अथवा असावधानी के कारण उन्हे ज्यो का त्यो रख देने की प्रवृत्ति, वाक्य-शैथिल्य आदि दोष देखे जाते है। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित 'सम्राट अशोक' मे किले की दीवार के लिए 'तट', स्वीकृति देने के लिए 'हुकार दर्शाया', विफल करने के लिए 'हरताळ पोतेंगे' आदि का प्रयोग, गोपीवल्लभ द्वारा अनूदित 'जव सूर्योदय होगा' मे स्वास्थ्य बिगाडने के लिए 'प्रकृति का अपाय करना', ऊब के लिए 'कटाला', खतरे के लिए 'धोखा', ठीक के लिए 'चक्क' आदि प्रयोग इसके उदाहरण है।

इस प्रकार अनूदित उपन्यासो और हिन्दी पाठको के मध्य उनकी लोकप्रियता का अध्ययन-अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बँगला व गुजराती भाषाओ के कुछ उपन्यासो को छोडकर हिन्दी का साधारण पाठक, उपन्यासकार व आलोचक अपनी भाषा के उपन्यासो को ही अधिक पढता है और लेखक विदेशी उपन्यासो के पैटर्न (आदर्श) पर अपने ढाँचे बनाता है।

---

[1] श्री रामचन्द्र वर्मा का प्रबन्ध-लेखक के नाम पत्र, लेखन तिथि १३-९-५८।

प्रकरण : ४

हिन्दी और मराठी उपन्यासों की प्रवृत्तियां

सामाजिक पृष्ठभूमि—हिन्दी मे प्रेमचन्द तथा मराठी मे हरिनारायण आप्टे से पूर्व का उपन्यास-साहित्य जनता के सुख-दुःख की वाणी न होकर तान्द्रिल मन को रमाए रखने का साधन-मात्र था। प्रेमचन्द ने लिखा था, "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खडी कर उसमे मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे .....साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनो परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थी।"[1]

इस आरम्भिक काल का अन्त होते-होते सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ इतने वेग से बदली कि लेखको का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, थियोसोफीकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन जैसी सुधारक संस्थाओ के प्रयत्नो के फलस्वरूप भारतवासियो, विशेषत. हिन्दुओ, के हृदय मे सामाजिक तथा धार्मिक दुर्व्यवस्था के प्रति घोर घृणा तथा विद्रोह की अग्नि सुलगने लगी और हिन्दू समाज मे फैली हुई कुप्रथाओ की भर्त्सना होने लगी। हिन्दू समाज की चिरलांछिता एव चिरवंचिता स्त्रियो की हीनावस्था ने सुधारको और लेखको का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया। महाराष्ट्र मे १८८० ई० से १९२० ई० तक का काल 'स्त्री सुधार' का काल था। प्रारम्भ मे अधिकाश हिन्दू समाज इन सुधारको के विरुद्ध था। परन्तु बाळशास्त्री जाभेकर, लोकहितवादी गो० ह० देशमुख, फुले, रानडे, आगरकर, गोखले इत्यादि व्यक्तियों एव 'पुनर्विवाहोत्तेजक मंडली (१८६५ ई०), प्रार्थना-समाज (१८६७ ई०) इत्यादि संस्थाओ के प्रयत्नों तथा अंग्रेजी साहित्य, विशेषकर मिल एव स्पेन्सर की कृतियो, के अध्ययन के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र मे 'स्त्री दास्यविमोचन' का आन्दोलन बडी तेजी से बढा। फुले की वृत्ति भूतदयावादी थी जैसा कि उनके 'शतपत्रों' से प्रकट होता है। "लाखो स्त्रियाँ भूखी मरती हैं। घर नही, द्वार नही, वस्त्र नही. अन्न नही। और ये दुष्ट पंडित ऐसे प्रसंगो मे दैत्य सरीखे निष्ठुर बन बोलते है, उन्हे क्या कहे ?"[2] उन्होंने स्त्रीजाति के प्रति सहानुभूति जाग्रत करने के लिए युक्तिवाद का आश्रय न लेकर भूतदयावाद का अवलंब ग्रहण किया।

---

[1] प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ६।

[2] लोकहितवादी, शतपत्रे, पत्र नं० १०४।

परशुराम पडित, रानडे और भडारकर जानते थे कि स्त्री-सुधार के लिए जनता की सहानुभूति पर भरोसा करना तब तक व्यर्थ है, जब तक उसके साथ-साथ धर्म-ग्रन्थो की उक्तियो का बल न हो। "अतः उन्होने सुधारो को धर्म-वचनो की चौखट मे बिठाने का प्रयत्न किया"[1] परशुराम पडित ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की विधवा-विवाह विषयक पुस्तक का मराठी भाषान्तर कर पुनर्विवाह को शास्त्र-प्रमाणित सिद्ध किया। पर अभी सफलता दूर थी। आगरकर के समय मे स्त्री की समस्या कौटुम्बिक थी। "इस देश मे रसोई बनाने एव बर्तन माजने इत्यादि के कार्य मे कुशलता ही स्त्री का सर्वोत्कृष्ट गुण माना जाता है और इन गुणो को शीघ्रातिशीघ्र उपयोग मे लाने के लिए देशभर मे स्त्रियो का विवाह दस से लेकर पन्द्रह वर्ष तक की वय मे कर दिया जाता है—रसोई बनाने एव महरी का कार्य करने मे सारा जीवन बिताना ही इस देश मे कुटुम्ब-सुख माना जाता है।" उन्होने व्यक्ति-स्वातन्त्रय का पक्ष ग्रहण किया और उसे शास्त्रीय दृष्टि से युक्तियुक्त प्रमाणित किया। 'केसरी-मराठा', 'निबन्धमाला', मिल के 'सब्जेक्शन ऑफ विमेन' इत्यादि ने लेखको का ध्यान स्त्रीजाति की दुर्दशा की ओर आकृष्ट किया। कविता के क्षेत्र मे यदि केशवसुत आगरकर के नव-विचारो के प्रतिनिधि हुए, तो उपन्यास-ससार मे हरिनारायण आप्टे। मराठी मे स्त्री की हीन दशा एव उसे सुधारने की जो प्रवृत्ति हरिभाऊ-युग मे दिखाई देती है, उसका मूल स्रोत तो बाबा पदमनजी के 'यमुना-पर्यटण' मे मिलता है पर युग की सामाजिक परिस्थितियो ने उसे वास्तविक बल प्रदान किया। यही बात हिन्दी उपन्यासो के विषय मे कही जा सकती है। वैसे तो स्त्री-सम्बन्धी सुधार की प्रवृत्ति के दर्शन भारतेन्दु-युग मे ही मिलने लगते है, तथापि आर्यसमाज-आन्दोलन, 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन एव महावीरप्रसाद द्विवेदी के सबल साहित्यिक व्यक्तित्व के कारण इसका पूर्ण प्रकर्ष प्रेमचन्द-युग मे ही हुआ। तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर हिन्दी तथा मराठी के उपन्यासकारो ने अपनी कृतियो द्वारा उन प्रश्नो को उठाया जिनका मेरुदण्ड समाज-सुधार की भावना थी। इन प्रश्नो मे से कुछ इतने उत्कट एव गभीर थे कि अनेक उपन्यासकारो ने उन्हे अपनी कृतियो मे स्थान दिया और उन्होने प्रवृत्ति का रूप धारण कर लिया।

विधवा जीवन के चित्रण की प्रवृत्ति—हिन्दू-समाज मे चिरकाल से विधवा की स्थिति करुणोत्पादक रही है। महाराष्ट्र मे यद्यपि स्त्रियाँ पर्दे की प्रथा के दुखो से मुक्त रही, तथापि वैधव्य के कष्टो से वे भी न बच सकी। वैसे तो मराठी के प्रथम उपन्यास 'यमुना पर्यटण' (१८५७ ई०) मे ही इस समस्या का उल्लेख मिलता है, तथापि विधवा की मूक वेदना को वाणी देने का श्रेय वस्तुत हरिनारायण आप्टे को है। उन्होने अपने उपन्यासो 'गणपतराव', 'पण लक्षात कोण घेतो' एव 'मी' में विधवा के 'केशवपन' (सिर मुडाना) की भयकर रुढि तथा अन्य अत्याचारो का बडा हृदयग्राही वर्णन किया है। 'गणपतराव' मे गोदावरी के ससुराल एव पीहर मे होने

---

[1] डा० दु० का० संत 'मराठी स्त्री', पृष्ठ २६४।

वाले कष्टो को पढकर सर्वटे ने लिखा था "ब्राह्मण संयुक्त-परिवार मे स्त्रियो के ऊपर होने वाले विलक्षण अत्याचार……और पति के मरते ही स्त्री की होने वाली दयनीय, असहाय एव पगु स्थिति का बडा गम्भीर एव स्थायी प्रभाव यह उपन्यास पाठको के मन पर छोड जाता है।"[1] उस समय शकर मामजी जैसे ससुर, तथा सास, देवर, जेठ आदि द्वारा धर्माभिमान की ओट मे विधवाओ के साथ जो छल किया जाता था, उसका बडा हृदयग्राही वर्णन हरिभाऊ ने अपने उपन्यासो मे किया था। फलतः जिस प्रकार मिसेज हैरियट स्टो के 'अङ्किल टौम्स कैबिन' उपन्यास ने दास-व्यापार के विरुद्ध अमेरिका मे लोकमत प्रक्षुब्ध कर दिया था, उसी प्रकार हरिभाऊ की कृतियों ने केशवपन की निन्दनीय रुढि के विरुद्ध जनमत तैयार किया। उनके बाद तो सम्मिलित-कुटुम्ब मे विधवा की होने वाली विडम्बना, परिस्थिति के कारण पतन, तदुपरान्त उसकी असहाय स्थिति, आजीविका के साधनो का अभाव, लंपट एव ढोगी साधुओ तथा गुडो द्वारा उनके छले जाने, इत्यादि का चित्रण करने वाले अनेको उपन्यास लिखे गए। 'लग्नाचाबाजार' से लेकर मर्ढेकर के 'तांबडी माती' तक मे यह समस्या उठाई गई है। स्त्री-उपन्यासकारो ने भी इस समस्या पर विचार किया। शाता शेलके ने 'ओढ' मे विधवा स्त्री के अपने देवर से प्रेम होने एव मातृत्व के चिन्ह प्रकट होते ही उनके द्वारा त्यागे जाने और सास द्वारा विष दिए जाने की कहानी कही है। आरम्भ मे इस समस्या के समाधान के लिए विभिन्न आश्रमो, संस्थाओ, मन्दिरो इत्यादि की स्थापना को ही पर्याप्त समझा गया। 'लग्नाचाबाजार' मे 'सत्यवती का आश्रम' या 'कर्त्तव्याची जाणीव' मे 'सरस्वती मन्दिर' और 'जन्मठेप' मे 'अनाथ सहायक मण्डल' की योजना इसी प्रकार की है। आर्थिक एव कानूनी दृष्टि से विधवा की असहाय स्थिति का दिग्दर्शन करने के लिए भी कुछ रचनाएँ लिखी गई जैसे 'पराधीन' एव 'जन्माचा बदिवान'।

वस्तुनिष्ठ चित्र प्रस्तुत करने के साथ हरिभाऊ ने 'मी' की ताई के माध्यम से वैधव्यावस्था का एक अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया। स्त्री-शिक्षण पर बल देते हुए उन्होंने ताई को तेजस्वी, उदारमना एव समाजोपयोगी चित्रित किया। मामा वरेरकर का 'विधवा कुमारी', 'पण लक्षात' के यथार्थ एव 'मी' के आदर्श का समन्वय लिए हुए भी उनसे एक पग आगे है। वरेरकर के इस प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का श्रेय उन क्रमिक विचारधारा को है, जिसने प्रथम विधवाओ के कल्याण के लिए आश्रमो को पर्याप्त समझा और पुनर्विवाह को शास्त्र-विरुद्ध माना। (कुलकर्णी की 'जन्मठेप' मे यमुना द्वारा प्रश्न करने पर सुशीला कहती है, "हमारे शास्त्रो मे पुनर्विवाह की आज्ञा कहाँ है? विधवा को नर्क मे तो ढकेला जाता है पर उन्हे पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता तनिक भी नही है।"[2]) तदुपरान्त पुनर्विवाह का समर्थन करते हुए भी शुद्धाचरण को अधिक महत्व दिया (जैसे गडकरी एव शाने गुरुजी ने), तथा अन्त मे

---

[1] वि० म० सर्वटे 'मराठी साहित्य समालोचन', पृष्ठ ३५१।

[2] कुलकर्णी 'जन्मठेप', पृष्ठ ८४।

जिसने पुनर्विवाह का पूर्णरूप से पक्ष ग्रहण किया। वामनमल्हार जोशी के 'रागिणी' मे केवल वाद-विवाद मे पुनर्विवाह का समर्थन किया गया है, पर उन्ही के 'सुशीला चा देव' मे सुशीला माँ के विरुद्ध होतेहुए भी पुनर्विवाह करती है। खाडेकर के 'काचन मृग' का नायक सुधाकर भी पुस्तकान्त मे विधवा सुधा से विवाह करता है।

१९२८ ई० तक आते-आते महाराष्ट्र मे पुनर्विवाह का अधिक विरोध न रह गया था। अतः मामा वरेरकर ने 'विधवा कुमारी' मे यद्यपि 'पण लक्षात' की यमू की तरह मथू की भी कौटुम्बिक विडम्बना एव समाज द्वारा प्रवचना का हृदयग्राही चित्रण उतनी ही प्रभावोत्पादक भाषाशैली मे किया है जितना हरिभाऊ ने। "मेरा विवाह हो गया था—इसकी मुझे केवल धुधली सी स्मृति है,······अब मैं विधवा हो गई हूँ, ऐसा लोग कहते है,······। मैं युवती कब हुई, पत्नी कब हुई और विधवा कैसे हो गई—इन तीनो बातो का मुझे ज्ञान नही।······जिनसे कोई सम्बन्ध न था ऐसे अपरिचित व्यक्तियो ने मुझे सताया और आज मैं विवाह के कारण ही निरवलब हो गई हूँ।"[1] परन्तु उन्होने अपनी अन्य नायिकाओ के समान मथू को विद्रोही, दृढ स्वभाव-वाली एव तेजस्वी नारी के रूप मे चित्रित किया है। विधवाओ के कुकुम लगाने, पुनर्विवाह करने, कथा-पुराण कहने के सम्बन्ध मे उनके क्रान्तिकारी विचार एव कृत्य इसके प्रमाण है। वह अंग्रेजी एव सस्कृत पढती है। दूर-दूर तक कथा कहने जाती है, विधवा होते हुए भी 'कुकुम, स्त्री का मूल अधिकार है, उसका पति-प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नही' कह कर माग मे सिंदूर भरती है। इस प्रकार 'पण लक्षांत' की परम्परा का निर्वाह करते हुए भी उन्होने एक विद्रोही नायिका का चित्र उपस्थित कर विधवाओ की स्वतत्रता एवं पुनर्विवाहाधिकार का समर्थन किया है।

डा० केतकर की दृष्टि कलावादी न होकर समाजशास्त्रीय थी। उनकी मनोवृत्ति स्वच्छन्द, परम्पराविरोधी एव उच्छृखल थी। उन्होने विधवा-विवाह का समर्थन करने के साथ-साथ विभिन्न मनोवृत्ति वाली विधवाओ के चित्र भी प्रदान किये हैं। जहाँ एक ओर उनके उपन्यास-साहित्य मे हमे शारदा जैसी विशिष्ट जीवनोद्देश्य की खोज मे प्रयत्नशील विधवा के दर्शन होते है, वहाँ दूसरी ओर पुनर्विवाह कर आनन्द से जीवन बिताने वाली, कलाप्रिय, प्रणयासक्त व उथली भावनाओ वाली विधवा भी मिलती है। प्रारम्भ से ही विद्रोह-वृत्ति वाली मधुमालती भी डा० केतकर के उपन्यासाकाश की एक चमकीली तारिका है, जो पिता की इच्छा के विरुद्ध विवाह करती है, वैधव्य-प्राप्ति पर पिता के घर लौट आती है, पर पुन प्रेमपाश मे आबद्ध हो घर से भाग निकलती है।

इस प्रकार मराठी उपन्यास-साहित्य मे विधवा-जीवन के चित्रण मे एक क्रमिक विकास है। जहाँ प्रारम्भिक उपन्यासकारो ने विधवा के करुण जीवन-चित्रण और उनके कल्याण के लिए आश्रम-स्थापना को पर्याप्त माना, वहाँ बाद के उपन्यासकारो

---

[1] भा० वि० वरेरकर, 'विधवाकुमारी', दूसरी आवृत्ति, पृष्ठ १४५-४६।

ने पुनर्विवाह का ही समर्थन नही किया है, अपितु विधवाओ को विद्रोही तथा उच्छृंखल भी चित्रित किया है । इस प्रश्न ने लेखको को इतना अधिक प्रभावित किया कि ऐतिहासिक एव मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे भी उसका चित्रण एव विश्लेषण हुआ । 'दुर्दैवी रंगू' नामक ऐतिहासिक एव 'अन्ध अंधारी वैसले' नामक मनोवैज्ञानिक उपन्यास इसके प्रमाण हैं । 'तावडी माती', 'वैष्णव', 'काळी राणी', इत्यादि आधुनिक उपन्यासों मे भी विधवा की दुर्दशा के सकेत लेखकों ने दिये है, जिससे स्पष्ट है कि यह समस्या अभी भी पूर्णत विस्मृत नही हुई है ।

विधवा की समस्या हिन्दू-समाज की सर्वव्यापी समस्या थी । अत. उसका चित्रण एव विश्लेषण अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यासो मे भी हुआ । बँगला के प्रारम्भिक उपन्यासो—वंकिम के 'विषवृक्ष', रवीन्द्र के 'आँख की किरकिरी', हिन्दी में प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारो ने इस समस्या को उठाया और अपने-अपने दृष्टिकोण से उसका विश्लेषण एवं समाधान प्रस्तुत किया । प्रेमचन्द की यथार्थवादी नुकीली दृष्टि ने विधवा की विवशताओ का वर्णन करने के साथ-साथ उनको पददलित एव तिरस्कृत समझने वाले पोगा-पथियो एव उनके सतीत्व से खेलने वाले दुष्टो की पोल खोली । उनका 'प्रतिज्ञा' उपन्यास मुख्य रूप से इसी समस्या को लेकर लिखा गया है । 'वरदान', 'निर्मला' और 'कर्मभूमि' मे भी विधवाओ के उपेक्षित, तिरस्कृत एव अभिशप्त जीवन के चित्र प्रस्तुत किये गए है । 'प्रतिज्ञा' मे पूर्णा की कहानी वह दर्पण है, जिसमे हिन्दू-विधवा का जीवन अपनी सम्पूर्ण दयनीयता, विवशता एव दुर्बलता के साथ प्रतिविम्वित हुआ है । 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा यदि कमलाप्रसाद जैसे ढोगी द्वारा फुसलाई एव सताई जाती है, तो 'निर्मला' मे रुक्मणी आर्थिक विवशता के कारण दासी की तरह अपने भाई मुशी तोताराम के यहाँ अपमानित जीवन का बोझ ढोती है और कल्याणी को अपनी लडकियो का अनमेल विवाह करना पडता है । इस प्रकार प्रेमचन्द ने आर्थिक तथा समाजिक दोनो कारणो से उत्पन्न होने वाली विधवा-जीवन की विडम्वना का चित्र प्रस्तुत किया । उनकी दृष्टि में विधवा की समस्या प्रमुखत. आर्थिक है न कि यौन-सम्वन्धी । इसके लिए उन्होने दो उपाय वताए—(१) विधवा-विवाह, (२) वनिता-आश्रम की स्थापना । 'प्रतिज्ञा' का अमृतराय स्वय विधवा से विवाह करता है और 'वनिता-आश्रम' खोलता है, यद्यपि उसे अपने मित्रो एव सम्वन्धियो के कटु कटाक्ष सहने पडते है । "कमाने का नया ढग निकाला है—वनिता-आश्रम मे विधवाओ का पालन-पोषण किया जायगा । उन्हें शिक्षा भी दी जायगी । चन्दे की रकमे आयेगी और यार लोग मौज करेंगे । कौन जानता है, कहाँ से कितने रुपये आए ? महीने भर मे एक झूठा-सच्चा हिसाव छपवा दिया ।"[1] आधुनिक आलोचकों की दृष्टि मे प्रेमचन्द के ये आदर्शवादी समाधान भले ही प्रतिक्रियावादी हों, परन्तु उनके युग के लिए उनकी उपादेयता को अस्वीकार नही किया जा सकता ।

---

[1] प्रेमचन्द 'प्रतिज्ञा', पृ. ४३ ।

जयशंकर प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा ने भी इस प्रश्न को उठाया, पर कोई समाधान प्रस्तुत नही किया। 'कंकाल' की बालविधवा घंटी को समाज ने ऐसी चिता मे ढकेल दिया है, जिसमे धुआ तो है पर ज्वालाएँ नही। वह अपनी आकाक्षाओ को अभिव्यक्त न कर सकने के कारण जीवन भर घुटती रहती है। इसी उपन्यास की रामा देवर से छली जाकर बाद मे घर से निकाल दी जाती है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'प्रेम की भेट' मे बालविधवा उजियारी को अपनी इच्छाओ को मारते-मारते एक दिन मृत्यु का आलिंगन करना पडता है। कुछ उपन्यासो मे विधवा का यौवन के उद्दाम क्षणो मे स्खलन तो दिखाया गया है, पर आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण अन्त मे उसे उदात्त, त्याग एव सेवा की मूर्ति चित्रित किया गया है। 'तितली' की राजकुमारी, 'पतिता की साधना' की नन्दा, एव 'राम रहीम' की बेला इसी प्रकार के चरित्र है।

अधिकाश उपन्यासकारो ने मध्यवर्ग की विधवा के जीवन की विडम्बनाओ का चित्रण किया, परन्तु प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विजय' मे उच्चवर्ग की सुशिक्षित और धनवान विधवा को लेकर जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह परिस्थिति के आश्रित न होकर बुद्धि के आश्रित है। उन्होने हिन्दू-विधवा को ईश्वर का तप-रूप मानकर जो कल्पना प्रस्तुत की है, वह उनके घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण की परिचायक है। उन्होने विधवा के संयमपूर्ण जीवन को श्रेयस्कर माना है, पर चंचल दुर्बल-चरित्र नारियो के लिए पुनर्विवाह की सहमति दी है।

समय के साथ हिन्दी लेखको की विचारधारा मे परिवर्तन हुआ और वे विधवा-विवाह का समर्थन अपनी रचनाओ मे करने लगे। प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' मे इसका समर्थन किया था, पर उन्होने समाज मे होने वाली उसकी कटु प्रतिक्रिया, आलोचना एव व्यग का चित्रण कर यह बता दिया था कि समाज उसके लिए उस युग मे तैयार न था। उसके बाद स्थिति बदली और वृन्दावनलाल वर्मा ने 'अचल मेरा कोई...' मे अचल और निशा के विवाह द्वारा विधवा-विवाह का समर्थन किया। जैनेन्द्र के 'परख' मे यद्यपि परिस्थितियो के कारण कट्टो और सत्यधन का विवाह नही हो पाता, पर वह उससे विवाह करने के लिए तैयार है और उसके इस विचार को लेकर उसके आस-पास के समाज मे कोई ऊहापोह भी मचता नही दिखाई पडता। अंचल के 'मरु प्रदीप' मे भी मध्यवर्ग की बाल विधवा शान्ति के विमल के प्रति प्रच्छन्न प्रेम और कमलाकान्त के साथ थोडे से अमर्यादित सम्बन्ध के साथ-साथ बडी ओजस्विनी भाषा मे विधवाविवाह का समर्थन विमल द्वारा कराया गया है। "जिस निवृति की तुम आज तक दुहाई देती रही हो वह पूर्णता की पुकार नही रिक्तता की रकता है शून्यता का सन्ताप है। आत्म-प्रसाद नही—आत्म-प्रताडना है यह। स्वभाव बनाने की चेष्टा तुम करती रहो पर अभाव कभी स्वभाव बन सका है..."[१]।

मराठी तथा हिन्दी उपन्यासों मे विधवा-जीवन के चित्रण को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि दोनो भाषाओ के लेखको को इस ज्वलन्त समस्या ने समान रूप से आकृष्ट किया

---

[१] रा० शु० अंचल, 'मरुप्रदीप', पृष्ठ २१४।

था और दोनो के उपन्यासकारो ने समान क्रम—विधवा के अभिशप्त जीवन का यथार्थ चित्रण, सयम को पुनर्विवाह से श्रेयस्कर मानना और तदुपरान्त पुनर्विवाह का पूर्ण समर्थन—को अपनी रचनाओ मे अपनाया है। परन्तु इस समानता के साथ ही एक अन्तर भी दिखलाई पडता है। महाराष्ट्र-समाज में यह समस्या अब नगरो मे नही-सी हो गई है। विधवा का विवाह होना चाहिए—इस सम्बन्ध मे वहाँ दो मत नही है। अत मराठी उपन्यासो मे इस समस्या का चित्रण नही मिलता। इसके विपरीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तो के मध्यवर्ग मे यह समस्या अभी भी बनी हुई है। अत उसका चित्रण मराठी उपन्यासों की अपेक्षा हिन्दी रचनाओ मे कुछ अधिक होता है। दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे यदि लेखक इस समस्या के सामाजिक पहलू की ओर कम ध्यान दे रहे हैं, तो उसका कारण यह है कि आज के उपन्यास समाज का प्रतिनिधित्व करने की अपेक्षा व्यक्तिवादी अधिक हो गए हैं। उनमे विधवा की सामाजिक समस्याओ के स्थान पर व्यक्तिगत समस्याओ को अधिक प्रधानता मिली है। अब विधवा का प्रश्न न रहकर नारी के व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न बन गया है। कुकुम का प्रश्न भी, जो एक समय मराठी समाज का ज्वलन्त प्रश्न था, हिन्दी मे नही उठाया गया है, क्योकि कुकुम को जितना महत्त्व महाराष्ट्र मे मिलता है, उतना इधर की ओर नही। मराठी के समान हिन्दी मे कानूनी दृष्टि से विधवा की हीन स्थिति दिखाने के लिए कोई अलग से स्वतत्र उपन्यास नही लिखा गया है। यहाँ उसकी आर्थिक समस्या को कौटुम्बिक समस्या के साथ ही मिला दिया गया है।

वेश्या-जीवन के चित्रण की प्रवृति—वेश्या की समस्या भारतीय उपन्यास-साहित्य के लिए नवीन समस्या न होकर चिरपरिचित समस्या है। महान प्रतिभाशाली एव यशस्वी उपन्यासकारो से लेकर साधारण कोटि तक के लेखको ने इसे अपनी रचनाओ का विषय बनाया है, पर अभी तक कोई सर्वग्राह्य समाधान प्रस्तुत नही हो सका है। उपन्यासकारो के दृष्टिकोण मे समय की गति के साथ एक क्रमिक परिवर्तन एव विकास अवश्य प्रतिलक्षित होता है।

यद्यपि १९०० ई० से पूर्व महाराष्ट्र मे वेश्या के यहाँ पालकी मे बैठकर जाना तथा उससे सम्पर्क रखना कला-प्रिय, धनिक एव अभिजात्य होने का चिह्न समझा जाता था, तथापि उसके कारण कही-कही गृह-कलह एवं पारिवारिक अशान्ति होने तथा सामान्य वेश्याओ के छल-कपटपूर्ण व्यवहार के कारण १९०० ई० के आसपास जनता एव उसके प्रतिनिधि लेखको के हृदय मे वेश्याओ और उनके व्यवसाय के प्रति घृणा एव तिरस्कार की भावना वर्तमान थी। वे वेश्या को नारी-जाति का कलक, पुरुष के विलास का साधन, उसको कुमार्ग पर लेजाने वाली तथा समाज मे अशान्ति, कलह एव दुर्व्यवस्था लाने वाली अपकारक शक्ति मानते थे। उनका वेश्या जीवन का अध्ययन ऊपरी था। उन्होने न तो उन दुर्दमनीय परिस्थितियो का अध्ययन और विश्लेषण करने की चेष्टा की, जिनके शिकंजे मे पडकर असहाय और निरवलव स्त्रियाँ इस घृणित व्यवसाय को अपनाती है और न उन्होने वेश्या हृदय के

हाहाकार, सघर्ष और सताप को जानने की चेष्टा की। उन्हे यह कभी अवगत न हुआ कि वेश्या की समस्या मुख्यत आर्थिक है और यदि वह हल हो जाय, तो इस कुरीति का भी अन्त हो सकता है। उनका मत था कि वेश्याएँ हमारे सामाजिक-जीवन की मोरियाँ है और इनसे मेलजोल रखने वाले लोग इस नरक के बिलबिलाते कीडे, जिन्हे समाज के इस कोढ से दूर रखना ही कल्याणकर है।

मराठी तथा हिन्दी दोनो के प्रारम्भिक उपन्यासो—मराठी के 'मधली स्थिति' एव हिन्दी के 'परीक्षा गुरु' तथा 'सौ अजान एक सुजान' मे—वेश्या-बाजार व उसमे घूमनेवाले छैलो, कुसगति के कारण वेश्यागमन मे प्रवृत हो अपना सर्वस्व लुटानेवालो, वेश्याओ के कोठो और वहाँ के वातावरण, उनकी चालबाजियो, नखरो, कपटपूर्ण पारस्परिक ईर्ष्या तथा दलालो एव कुटनियो के चित्र मिलते है। इन उपन्यासो मे वेश्यागमन को एक दुर्व्यसन समझा गया है और उससे दूर रहने का उपदेश दिया गया है। बाद के कुछ उपन्यासो मे भी कही-कही यही प्रवृति दृष्टिगत होती है, जैसे प्रेमचन्द के 'सेवासदन', प्रसाद के 'ककाल' या भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमत्रण' मे।

इससे अगली स्थिति मे लेखको के हृदय मे वेश्याओ के प्रति सहानुभूति एवं अनुकम्पा के दर्शन होते है। वे इस समस्या के कारणो, सुधार व उसके भविष्य के प्रश्नो पर विचार करते दृष्टिगत होते है। डा० केतकर ने 'विचक्षणा' मे पद्मनाभ एव डा० तर्कटे के द्वारा, वेश्याओ को क्या करना चाहिए, इस पर प्रकाश डाला है। यद्यपि वेश्या-व्यवसाय को वह अन्य व्यवसायो के समान ही उचित व्यवसाय मानते हैं और उसे सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हितकारी एव आवश्यक समझते है, तथापि 'आशावादी' मे उनकी उन्नति के सुझाव भी उन्होने दिए है।[१] वे वेश्या-समस्या को मुख्यत आर्थिक समझते थे। उसी दृष्टि से उन्होने उसका समाधान प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत अन्य मराठी उपन्यासकारो ने डा० केतकर की समाजशास्त्रीय दृष्टि न अपनाकर सामाजिक दृष्टि द्वारा इस समस्या का समाधान ढूंढा है। कुमुदिनी प्रभावळकर के निर्माल्यातील कळी', पु० य० देशपाडे के 'बधनाच्या पलीकडे' तथा फडके के कुछ उपन्यासो मे नवयुवको को वेश्याओ या वेश्यापुत्रियो के साथ विवाह करने का उद्बोधन देकर इस प्रश्न को हल किया गया है। इस उद्बोधन का व्यावहारिक जगत मे सुफल भी हुआ। कितने ही उदार व्यक्तियो, जिनमे साहित्य-सेवी भी है, ने वेश्या या वेश्या-कन्याओ से विवाह किये। उदाहरण के लिए, सुप्रसिद्ध कवि एव कथाकार अनत काळेकर ने वेश्या से विवाह कर एक उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया।

हिन्दी मे प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' द्वारा इस समस्या पर प्रकाश डाला। यद्यपि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गए समाधान—वेश्याओ को सार्वजनिक स्थानो तथा बस्ती से दूर रखना, उनके नाच पर भारी टैक्स लगाना या उनके लिए 'सेवासदन' जैसे आश्रम खोलना और उनका विवाह करना—उनके युग मे व्यावहारिक नही थे। वे इस समस्या को रूसी लेखक अलेग्जेंडर क्यूपरिन के 'यामा द पिट' की विचार-

---

[१] डा० केतकर, 'आशावादी', पृष्ठ १८९-१९२।

परिणति तक भी नही पहुँचा सके है, तथापि इस कुप्रथा के कारणों पर उन्होने जो प्रकाश डाला है, वह प्रशसनीय है। वह वेश्या की ओर तिरस्कार एव घृणा की दृष्टि से न देखकर अनुकम्पा एव सहानुभूति की दृष्टि से देखते है। वह जानते थे कि स्त्री बिल्कुल विवश होकर इस घृणित पथ पर चलती है। सुमन कहती है, "आप सोचते होगे कि भोग-विलास की लालसा से कुमार्ग मे आई हूँ, पर वास्तव मे ऐसा नहीं है।...जिसका निरादर होना चाहिये, उसका आदर होते देखकर मेरे हृदय मे कुवासनाएँ उठने लगती थी...मैने चाहा कि कपडे सीकर अपना निर्वाह-करूँ, पर दुष्टो ने मुझे ऐसा तंग किया कि अन्त मे मुझे कुएँ मे कूदना पडा।"[1] वे वेश्याओ को दोषी नही ठहराते क्योकि उनके मतानुसार वेश्यावृत्ति समाज के पापो का ही फल है। "यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ है जिन्होने वेश्याओ का रूप धारण किया।"[2] उन्होने अनमेल विवाह, पारिवारिक कलह, वेश्याओ का समाज मे आदर और स्त्री की आर्थिक असहायता को इस कुरूढि का कारण बताया, जो ठीक ही है। यह कहना कि "उनके वर्ग की विचारधारा उनके मार्ग मे बाधक होती है और उन्हे गहराई मे जाकर उन सामाजिक और आर्थिक कारणो को नही खोजने देती, जो इस समस्या को उत्पन्न करते है...जिस बहु-विवाह प्रथा की उपज यह वेश्यावृत्ति है, उसकी लेखक ने बिल्कुल अवहेलना कर दी है। इस सामाजिक बुराई का उसने जो विश्लेषण किया है, वह भी उथला है..." गलत है।

उनके बाद के उपन्यासकार भी कोई सन्तोषजनक हल प्रस्तुत नही कर सके हैं। उग्र के 'शराबी' तथा कौशिक के 'मा' आदि मे लेखको की मजिल युवको को वेश्याओं से विवाह कर उनका उद्धार करने तक ही गई है।

आधुनिक उपन्यासकार वेश्या के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत वेश्याओं के चित्र, जहाँ एक ओर उदात्त, त्यागमय, प्रेम एव सेवा की मूर्ति के रूप मे अंकित किये गए है, वहाँ दूसरी ओर उनकी असहाय, दयनीय एव उपेक्षित स्थिति के प्रति पाठक के हृदय मे दया उत्पन्न करते है। वरेरकर के 'कुलदैवत' मे दो स्त्रियाँ माणक व वेणू वेश्या के पतित जीवन के प्रति द्रवित हो उससे मित्रता जोडती है और अवसर पडने पर अपने इष्ट-मित्रो एव पति तक से उसके लिए झगडने का धैर्य दिखाती है। "डाक्टर केतकर ने इस व्यवसाय मे लिप्त स्त्रियों के चरित्र मे प्रवाहित होने वाली मानवता की धारा के दिग्दर्शन कराए है और बताया है कि वेश्या का जीवन भी भिन्न-भिन्न उदात्त एव श्रेष्ठ भावनाओ से युक्त होता है।"[3] उनकी कपिला वेश्या के घर पाले जाने पर भी वेश्या-वृत्ति की इच्छा नही करती तथा उससे बचने की चेष्टा करती है। काकोडकर के 'गोमतका जागा हो' एव बा०

---

[1] १. प्रेमचन्द 'सेवासदन', पृष्ठ ९१-९२।

[2] २. वही, पृष्ठ २१५।

[3] ३. डा० संत 'मराठी स्त्री', पृष्ठ ४१३।

भ० बोरकर के 'भावीण' मे देवदासियो के उदात्त चरित्र सहानुभूतिपूर्वक अकित किये गए है। शेवती का निग्रही भावजीवन तो बहुत ही हृदयस्पर्शी एव उदात्त बन पडा है।

हिन्दी मे 'सेवासदन' से लेकर 'प्रेत और छाया' तक इस प्रश्न से सबधित लगभग सभी उपन्यासो मे वेश्या के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। यदि निराला के 'अप्सरा' मे एक वेश्या की करुण स्थिति का समाज-सुधार की दृष्टि से चित्रण मिलता है, तो 'समाज की वेदी पर' मे एक वेश्या-बालिका और एक प्रोफेसर के प्रेम की कहानी वर्णित है। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' मे सरोज नामक वेश्या के स्वाभाविक, निस्वार्थ एवं उदात्त प्रेम को दिखाकर लेखक ने यह बतलाया है कि वेश्याएँ जन्म से वेश्या नही होती, अपितु परिस्थितियाँ उन्हे वेश्या बनाती है और कभी-कभी इन वेश्याओं मे लोभ-प्रेरित मध्यवर्ग की सुशिक्षित युवतियो से भी अधिक दया, ममता और सात्विक प्रेम-भावना होती है। जैनेन्द्र की मृणाल बुआ तो वेश्यावृत्ति के प्रति हमारी सपूर्ण सहानुभूति खीचकर पाप-पुण्य के बाट ही गलत सिद्ध कर देती है। इलाचन्द्र जोशी ने 'पर्दे की रानी' मे निरजना और उसकी माँ और 'प्रेत और छाया' मे मजरी द्वारा सकुचित दृष्टि वाले यथार्थवादियो की तरह उनकी नग्न अवतारणा नही की है, वरन् परिस्थितियो की विवशता से पराजित विकलता को एक करुणार्द्र समवेदना प्रदान की है। उन्होने बताया है कि वेश्याओ के भी हृदय होता है, उनमे भी आत्म-सम्मान की भावना होती है और वे भी समाज मे सम्मानपूर्वक वैवाहिक जीवन बिताने की इच्छा से व्याकुल रहती है, परन्तु अनेक युवक उन्हे विवाह का वचन देकर भी उनसे विवाह नही करते। 'घरौंदे' का कामेश्वर नादानी को तथा 'तीन वर्ष' का रमेश सरोज को ऐन मौके पर छोडकर चल देते है।

सर्वप्रथम शरत ने उपन्यास-साहित्य मे त्यागमयी वेश्याओ का सृजन किया। उनके बाद तो भारत की सभी भाषाओ के साहित्य मे 'देवदास' की चदा के अनुकरण पर अनेक उदात्त-चरित्र वेश्याएँ अवतरित हुई। 'तीन वर्ष' की सरोज, 'शराबी' की जवाहर एवं 'पतिता की साधना' की नंदा इसी कोटि मे आती है। ये वेश्या होकर भी वेश्यावृत्ति न कर शरीर से शुद्ध बनी रहती है और समय आने पर अपने प्रेमी के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहती है।

इन उपन्यासो के वेश्या अथवा वेश्यालय के चित्रण मे कही भी निम्नकोटि की वासना प्रदर्शित करने वाले दृश्य नही है। मिथ्या यथार्थवादियो की भाँति उन्होने वेश्याओ का नग्न उद्घाटन नही किया है। मराठी के 'बन्धनाच्या पलीकडे' या हिन्दी के 'सेवासदन' और 'तीन वर्ष' को पढकर सुसंस्कृत पाठक के हृदय मे वह जुगुप्सा की भावना उत्पन्न नही होती, जो बेचनशर्मा उग्र, ऋषभचरण या चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासो मे वेश्यालय के नग्न चित्रण को पढकर होती है।

विधवा-समस्या की तरह वेश्या का प्रश्न भी इतना शक्तिशाली था कि उसने मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो तक को प्रभावित किया। पु० य० देशपाडे ने 'बधनाच्या

पलीकडे', बोरकर ने 'भावीण' तथा हिन्दी मे जैनेन्द्र एव इलाचन्द्र जोशी ने 'त्यागपत्र', 'पर्दे की रानी' एव 'प्रेत और छाया' मे इस समस्या को उठाया। जहाँ पु० य० देशपाँडे, बोरकर एव जैनेन्द्र ने वेश्या-हृदय के सघर्ष का चित्रण एवं उसके हृदय में उठने वाली भावोर्मियो का विश्लेषण कर पाठको को उनके आन्तरिक जीवन से परिचित कराया, वहाँ इलाचन्द्र जोशी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वेश्या के सस्कार प्रयत्न करने पर भी नही हटते। निरजना वेश्यापुत्री होने के सस्कारो के कारण उच्च शिक्षा-दीक्षा के बाद भी इन्द्रमोहन को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है और उसके लिए जाने-अनजाने प्रयत्न करती रहती है। 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी विवाहिता होकर भी पारसनाथ को रिझाने मे अपनी वेश्यावृत्ति का पूर्ण प्रदर्शन करती है और बाद मे पारसनाथ की उपेक्षा कर अपनी बहनो की तरह खुलकर वेश्यावृत्ति करने लगती है।

वेश्याओ से भी अधिक महत्वपूर्ण एव हृदयवेधक प्रश्न वेश्या-सतति का है, जो केवल वेश्या-माँ के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण समाज द्वारा तिरस्कृत एव प्रताडित होती है। न चाहने पर भी उन्हे वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पडती है और भरसक प्रयत्न करने पर भी वे इस पक से निकलने मे अपने को असमर्थ पाती है। डा० केतकर ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया। सर्वप्रथम 'परागदा' मे डा० मत्तमयूरी के माध्यम से उन्होने इस समस्या का स्पर्श भर किया, उसके मूल तक जाने एव व्यावहारिक समाधान पाने की चेष्टा नही की। तदुपरान्त 'ब्राह्मण कन्या' मे उन्होंने बताया कि सुधारक, यदि उदारतावश किसी वेश्या-कन्या से विवाह कर भी ले, तो उच्च समाज द्वारा उसका बहिष्कार होता है और वेश्या से उत्पन्न सतान के विवाह मे अनेक अडचने उपस्थित होती है। उसे रखेली या वेश्या का ही जीवन बिताना पड़ता है। अन्य उपन्यासकारो—पु० य० देशपाडे एव कुमुदनी प्रभावळकर ने वेश्या-कन्याओ से विवाह करने के लिए युवको को उद्बुद्ध किया। हिन्दी मे समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार नही किया गया, केवल उन अडचनो का चित्रण किया गया है, जो सात्विक जीवन बिताने की इच्छा करने वाली वेश्या-कन्या को झेलनी पडती है। 'बहता तिनका' मे वेश्या-कन्या के उन सघर्षो का चित्र खीचा गया है, जो उसके पवित्र जीवन व्यतीत करने के मार्ग मे बाधक होते है। लाख हाथ-पाव मारने पर, जीवन मे पग-पग पर आर्थिक और सामाजिक रूढियो से जूझने पर भी इस क्रूर समाज के विषाक्त जबड़ो से उसकी रक्षा नही हो पाती।

वेश्या एव वेश्या-कन्या को लेकर लिखे गए मराठी और हिन्दी उपन्यासो मे लगभग एकसा विकास एव समान विशेषताएँ मिलती है। दोनो के प्रारम्भिक उपन्यासो मे वेश्या को समाज का घातक अग समझा गया, तदुपरान्त दोनो ने उसकी समस्या को सहानुभूतिपूर्वक देखा, उसके उदात्त, त्यागमय रूप को पाठको के सम्मुख रखा, मनोविज्ञान की दृष्टि से उसकी भावोर्मियो का विश्लेषण किया एव समाज द्वारा की गई उसकी प्रवँचना तथा प्रतारणा का हृदयग्राही चित्र अकित किया। डा०

केतकर के विशिष्ट दृष्टिकोण एव अति प्रगतिशील विचारधारा के कारण मराठी उपन्यासो मे जो वेश्या-जीवन सम्बधी एक विशिष्टता आगई है, उसका हिन्दी उपन्यासो मे अभाव है। हिन्दी मे डा० केतकर के समान समाजशास्त्र-प्रधान दृष्टिकोण वाला कोई उपन्यास लेखक नही हुआ। अत. वेश्याओ के प्रश्न पर समाजशास्त्र की दृष्टि से यहाँ कोई रचना निसृत नही हुई। उग्र तथा ऋषभचरण जैन ने भले ही अतियथार्थवादी शैली मे वेश्यालयो के नग्न शृगार-संयुक्त चित्र प्रस्तुत किये हो, पर डा० केतकर के समान किसी भी हिन्दी उपन्यासकार ने वेश्या-व्यवसाय को अन्य साधारण व्यवसायो के समान न तो मान्य ही घोषित किया और न उसे समाज के स्वास्थ्य के लिए उपादेय एव आवश्यक ही माना।

वैवाहिक जीवन से संबंधित समस्याओं के चित्रण की प्रवृत्ति—विश्व भर के उपन्यास-साहित्य मे सबसे अधिक चर्चा का विषय रहा है स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध और वैवाहिक जीवन। समाज की परिस्थितियो एव शिक्षा-स्तर के अनुरूप इस सम्बन्ध मे विचारधारा बदलती रही है और तदनुसार उपन्यासो मे विवाह सम्बन्धी प्रश्नो की चर्चा एव उनका भिन्न-भिन्न समाधान प्रस्तुत किया जाता रहा है। यह प्रश्न दो भागो मे बाँटा जा सकता है—विवाहपूर्व की समस्याएँ और विवाहोत्तर समस्याएँ।

मनु के विधान के अनुसार हिन्दू-स्त्री को बाल्यावस्था मे माता-पिता, यौवन मे पति तथा वृद्धावस्था मे पुत्र के अधीन रहना पडता है। विवाह के समय अपना मत प्रकट करने का अधिकार, कुछ अपवादो को छोडकर, उसे अभी तक प्राप्त नही है। माता-पिता की आज्ञा के अनुसार उनके द्वारा चुने हुए पुरुष से विवाह करना उसका परम कर्त्तव्य समझा जाता है। प्रारभ मे युवको के लिए भी यही बंधन था, पर उन्होंने यह बधन शीघ्र ही तोड़ डाला और भावी बधू को विवाह से पूर्व देखने का उनका अधिकार समाज द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इससे युवको के अधिकार-क्षेत्र मे जहाँ वृद्धि हुई, वहाँ बेचारी युवतियो की दशा और भी दयनीय हो उठी। हरिनारायण की यमू उस स्थिति का वर्णन बडी हृदयद्रावक शैली मे करती है, "ढोरो के बजार मे कसाई लोग भेड़-बकरी खरीदते समय किस प्रकार उनकी परीक्षा करते है, यह मुझे पता नही…पर मैंने जो कुछ सुना है, उससे लगता है कि भावी वधू को देखने के लिए जिस प्रकार की परीक्षा की जाती है, वह भी उसी प्रकार की होती होगी। अंतर इतना है कि उन जानवरो को वह परीक्षण बुरा नही लगता, जबकि हम लड़कियो को वह अत्यन्त अनुचित एव अपमानजनक प्रतीत होता है।…आखे होते हुए भी हम अधी, कान होते हुए भी बहरीं, जीभ होते हुए भी गूगी, हाथ होते हुए भी टौटी एव पैर होते हुए भी लगडी होती है।" यह स्थिति हरिभाऊ के युग मे ही नही थी, अपितु अब भी विद्यमान है। क्षीरसागर का 'राक्षस विवाह' यद्यपि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है, तथापि उसमे इस कुरूढि एव उससे उत्पन्न होने वाली युवती की व्यथा का चित्रण किया गया है। "बाजारी बधू-परीक्षा, वर पक्ष की विजेता की भूमिका व

अपरिचित वर के सम्मुख एक दिन शरीरार्पण—इन कारणों से मुझे रूढ-विवाह 'राक्षस-विवाह' प्रतीत होता है।"

आर्थिक परिस्थितियो से बाध्य हो मा बाप प्राय पुत्री का विवाह ऐसे पुरुष से कर देते थे जो वय, बुद्धि एव गुणो मे उसके अनुपयुक्त होता था तथा जिसके कारण उसे जीवन भर कष्ट भोगना पडता था। बाल-विवाह के कारण शीघ्र ही प्राप्त वैधव्य से होने वाले कष्टो का वर्णन यदि इदिराबाई के 'गोदावरी' मे मिलता है, तो नारायण हरि के 'न पटणारी गोष्ट' मे वृद्ध-विवाह से होने वाले बालिका के शारीरिक एव मानसिक सताप का हृदयद्रावक वर्णन किया गया है। उपन्यासो मे अनमेल विवाह विषय की प्रधानता को देखकर ही कुसुमावती ने लिखा है, "इस समय (१९२० ई० के आस-पास) अनमेल विवाह के कारण बुद्धिमान एव कर्तृत्वशील युवतियो के कष्टमय जीवन की समस्या महाराष्ट्र के सम्मुख अनेको ललित कृतियो मे उपस्थित की जा रही थी।"[1] आज भी अनमेल विवाह पर कृतियाँ प्रकाशित होती रहती है। 'वज्रलेप' की छाया 'न पटणारी गोष्ट' की नीरा का स्मरण करा देती है, साथ ही वृद्ध-विवाह से उत्पन्न सासर्गिक रोग विषय का समावेश कर लेखिका ने कथा को और अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

15939

दहेज और जात्याभिमान के कारण बहुत से विषम विवाह समाज मे होते रहे हैं और आज भी यह समस्या बनी हुई है। महाराष्ट्र मे चान्द्रसेनीय कायस्थ-प्रभु नामक उपजाति एक छोटी सी जाति है और उसमे दहेज प्रथा आज भी पर्याप्त प्रचलित है। उपन्यासकारो ने समाज की इस दूषित रूढि के प्रति पाठको का ध्यान आकृष्ट किया और पाठको के मन मे उन अभागी युवतियो के प्रति करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा की जिनका जीवन इस कुरूढि के कारण कण्टकमय बन जाता है। एक ओर सहकारी कृष्ण से लेकर खाडेकर तक अनेक लेखको ने दहेज के कारण बालिका के विवाह मे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो का वर्णन किया, तो दूसरी ओर हडप के 'झाकली मूठ' वा० वी० जोशी के 'रोहिणी', केतकर के 'ब्राह्मण कन्या', साने गुरुजी के 'क्राति' मे जाति-भेद के कारण विवाह न हो सकने से उत्पन्न कष्टो का चित्र प्रस्तुत किया गया और अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया गया। 'झाकली मूठ' मे तारा नामक मराठा लडकी का ब्राह्मण तरुण अण्णा पर प्रेम होते हुए भी विवाह नही हो पाता और उनका जीवन दु खमय हो जाता है। उसमे तथा वा० वि० जोशी के 'रोहिणी' मे ब्राह्मण मराठा विवाह का समर्थन किया गया है। साने गुरुजी ने 'आस्तिक' मे वत्सला-नागानद तथा कृष्णी-कार्तिक का विवाह करा के अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है। अन्तर्जातीय विवाह के समान ही अन्तर्प्रान्तीय विवाह का समर्थन कुछ उपन्यासों—साने गुरुजी के 'क्रान्ति', जानकीबाई देसाई के 'चारुगात्री' आदि मे हुआ है। प्रथम मे महाराष्ट्रीय एव बँगाली युवक-युवती तथा दूसरे मे मद्रासी नायक व बँगाली नायिका को प्रणय-सूत्र मे बाधा गया है।

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठा कादम्बरी', प्रथम भाग, पृ

विवाह से पूर्व युवक-युवती के प्रेम को हिन्दू समाज सदा तिरस्कार की दृष्टिसे देखता रहा है। माता-पिता ने प्राय. ऐसे मिलन को पापपूर्ण समझ उसका निषेध किया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक युवक-युवतियो का ससार धूल मे मिल गया। उपन्यासकारो की दृष्टि इस समस्या की ओर गई। प्रारभिक उपन्यासो मे ऐसे दुर्भाग्यग्रस्त तरुण-तरुणियो की दु खभरी गाथा कहकर प्रेम-विवाह का केवल अप्रत्यक्ष समर्थन किया गया, परन्तु बाद के लेखको ने साहसपूर्वक इसका प्रत्यक्ष रूप से पक्ष ग्रहण किया। पुरोहित के 'मीकोण' अळतेकर के 'मुक्तबन्ध', गागल के 'आसवाची माळ' मे पिता के दुराग्रह से प्रेमी-प्रेमिका का विवाह नही हो पाता और उनका सारा जीवन कष्ट मे बीतता है। कुछ उपन्यासकारो ने युवक-युवतियो को पिता के इस अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने का सदेश दिया और अपने उपन्यासो मे नायक-नायिका को ऐसा करते हुए दिखाया। पु० य० देशपाडे के 'बन्धनाच्या पलीकडे' का प्रभाकर यदि पिता से विद्रोह कर वेश्या-कन्या से विवाह करता है, तो वोकील के 'फोल आशा' मे लडकी को उपदेश दिया गया है कि यदि मा-बाप विवाह के सबध मे न सुने, तो वह उस व्यक्ति से कभी विवाह न करे जिससे उसकी इच्छा न हो। डा० केतकर के विचार सबसे अधिक प्रगतिशील थे। उन्होंने प्रत्येक प्रकार के विवाह को मान्यता दी है। 'ब्राह्मण कन्या" मे कालिन्दी और रामराव का प्रेम-विवाह उनके दृष्टिकोण का परिचायक है। यह सच है कि कभी-कभी जातिभेद, माता-पिता के विरोध या अन्यकारणो से विवाह न होने से युवक-युवति का जीवन दु खपूर्ण हो जाता था, पर वस्तुत समाज मे ऐसे प्रसग बहुत कम उपस्थित होते थे। उपन्यास लेखको द्वारा इस प्रकार के प्रसगो पर उपन्यास रचना का कारण उनका कल्पना-राज्य मे विचरण करना, पाश्चात्य उपन्यासो की प्रणयरम्य कथाओ का अनुकरण करना, साम्यवाद द्वारा प्रचारित मुक्त प्रेम के स्वर्णिम स्वप्न देखना तथा उसका समर्थन करना था।

विवाह-पूर्व की समस्याओ मे से एक अन्य समस्या, जिसकी ओर मराठी लेखको का ध्यान आकृष्ट हुआ, प्रौढ-कुमारिकाओ का प्रश्न था। यदि पहले अल्प वय मे विवाह होने के कारण बालिकाओ का जीवन दुखमय बन जाता था, तो आज सुशिक्षित तरुणी को बड़ी उम्र तक विवाह-सुख से वचित रहना पडता है। वामनराव जोशी एव विभावरी शिरुरकर आदि ने विवाह न होने के कारण पितृगृह मे रहने वाली युवती के दु खो को देखा और उनका वर्णन किया। वामनराव जोशी के 'नलिनी' मे कमला का विवाह न होने, उसके मोह मे पडने, तथा उससे उत्पन्न सकट एव तदुपरान्त मृत्यु का बडा हृदयग्राही चित्रण है। ऐसी युवती के प्रति सम्वेदना उत्पन्न करता हुआ लेखक लिखता है, "स्त्री यदि कुमार्ग पर पैर रख दे या रखने वाली हो और समाज को इसका ज्ञान हो जाये, तो वह समाज के आदर एव सहानुभूति से पूर्णतः वचित हो जाती है—इतनी कि उसका पश्चाताप, स्वार्थ त्याग इत्यादि अन्य गुण व्यर्थ हो जाते है और उसे तथा उसके घरवालो को लगने लगता है

कि वह मर जाय तो अच्छा है।"[1] विभावरी शिरुरकर ने आजीविका कमाकर पिता की देखभाल करने के कारण मन मे सघर्ष होने वाली नायिका का वडा मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है।

विवाहोत्तर समस्याओ मे सबसे अधिक प्रभावशाली समस्या, जिसने आरभिक उपन्यासकारो का ध्यान आकृष्ट किया, स्त्री को ससुराल मे पति, ससुर या सास इत्यादि द्वारा दी जाने वाली यंत्रणा की समस्या थी। 'पण लक्षात' मे एक ओर पति के जीवित रहते हुए भी ससुर शकर मामजी, ददिया सास, छोटी ममिया सास एव ननद द्वारा यमू को दी गई यातना का मार्मिक वर्णन है, तो दूसरी ओर दुर्गी के छोटी उम्र मे वच्चे होने के कारण मिलने वाली यंत्रणा का चित्रण है। आज के उपन्यासो मे भी कभी-कभी इस समस्या को अपनाकर हृदयविदारक चित्र उपस्थित किये गए है। कमठेकर के 'अपुरा डाव' मे मीना के प्रति पति की उपेक्षा देख उसकी सास उसे मारती-पीटती है, उसे पढने नही देती, घर का सारा काम उससे कराती है और उसे उसके पति के पास जाने से भी रोकती है। पर जैसे-जैसे सयुक्त परिवार की प्रथा समाप्त होती गई, वैसे-वैसे उपन्यासकारो ने पति द्वारा पत्नी की प्रवचना एवं यातना के चित्रण पर ही अधिक वल दिया। कमलाबाई वम्बेवाला के 'एकेरी गाँठ', नारायण हरि के 'भुरळ', शाताबाई का 'पुसलेल्या रागोळया', बोकील के 'कुवेर की रक', दीक्षित के 'दुहेरी ससार', वरेरकर के 'कुलदैवत', विभावरी शिरुरकर के 'हिंदोळयावर' आदि अनेक उपन्यासो मे पर-स्त्री-रत अथवा दूसरा विवाह करने वाले पति के दुर्व्यवहार से होने वाले कष्टो का वर्णन किया गया है। वैवाहिक अन्यायो से स्त्री की मुक्ति के सम्बध मे पुरुष-लेखको ने पक्षपात किया है, यह समझकर गीता साने ने अपनी जाति के दु खो का वड़ा भडकीला चित्र प्रस्तुत किया। अन्य उपन्यास-लेखिकाओ ने भी स्त्री के वैवाहिक-जीवन के कष्टो एव दु खो का वर्णन वडी मार्मिक शैली मे किया है। सुधा साठे का 'पुसलेली चित्रें' उन सुखमय चित्रो के नष्ट होने की कहानी है, जो नायिका ने विवाह से पूर्व अपने कल्पना-पटल पर खीचे थे और मालतीबाई दाडेकर का 'वज्रलेख' यह वतलाता है कि पुरुष अब भी पहले के समान निरकुश है और स्त्री के वधन अनेक है। 'काटेरी मार्ग' मे लेखिका ने इस वात पर बल दिया है कि समाज के अधिकाश पुरुष स्त्रियो की भावनाओ की उपेक्षा करते हैं, जिससे उनकी कामनाएँ कुठित हो जाती है। गीता साने की 'निखळलेली हिरकणी' का साधारणत. सज्जन एवं सुसस्कृत अच्युत अपनी पत्नी से उत्कट, इन्द्रियासक्त प्रेम तो करता है, परन्तु पत्नी के मनोभाव समझने की कभी चेष्टा नही करता। १९३० ई० के लगभग परित्यक्ताओ का प्रश्न महाराष्ट्र-समाज मे एक महत्वपूर्ण विषय था। अतः अनेक उपन्यासकारो ने इस विषय पर लेखनी चलाई। कुल मिलाकर, गीता साने जैसे एकाध अपवाद को छोडकर, जिन्होने अतिशयोक्ति से काम लिया है, अधिकाँश स्त्री-उपन्यासकारो ने स्त्री-जीवन के सुख-दु.ख का परिचय अधिक मार्मिकता एव प्रतीतिमय ढग से कराया है।

---

[1] वामन मल्हार जोशी 'नलिनी', पृष्ठ १३१।

पुरुष-लेखको मे जहाँ स्वप्नरजन दृष्टिगत होता है, वहाँ लेखिकाओ की कृतियो मे बहुधा यथार्थवादिता एव व्यापकता के दर्शन होते हैं।

जैसे-जैसे स्त्रियाँ सुशिक्षित होती गई, नवोदित आकाक्षाओ व भावनाओ ने उनके हृदय मे जन्म लिया। "स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो के बारे मे समाज की परम्परागत शिष्ट-सम्मत नीति-कल्पना तत्कालीन परिस्थितियो के परिपार्श्व मे अनुपयुक्त समझी जाने लगी।"[1] लेखको ने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से तलाक का समर्थन किया और स्त्रियो को स्वावलम्बी बनने का उद्बोधन दिया। 'हिंदोळयावर' की अचला पति द्वारा परित्यक्त होने पर अपने मातृत्व के अधिकार के लिए लडकर और उसे प्राप्त कर इसी सत्य का प्रतिपादन करती है। वह स्वावलम्बी बनकर व्यक्ति-स्वातंत्र्य प्राप्त करती है। वरेरकर ने अपने 'कुलदैवत' मे स्त्री को होटल आदि चलाकर अपने पैरो पर खडे होने का उपदेश दिया। केतकर के उपन्यासो मे स्त्री के आर्थिक स्वातत्र्य पर बल दिया गया है। उनके मतानुसार मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन को समर्थ और सुखी बनाने के लिए अकेली प्रेमभावना असमर्थ है। यद्यपि हरिभाऊ ने तलाक के विरुद्ध स्पष्ट मत नही दिया है, तथापि स्त्रियो के प्रति अमानुषिक व्यवहार का जो चित्रण किया है, उससे स्पष्ट है कि वे लग्नविच्छेद की आवश्यकता को स्वीकार करते थे। "हरिभाऊ ने अपने उपन्यासो मे प्रसगवश केवल सकेत दिया कि तलाक की प्रथा यदि अपने समाज मे प्रचलित हो जाय, तो कितना अच्छा हो।"[2] १९३० ई० के लगभग समाजवाद के प्रभाव से विवाह को कुछ लोग एक करार मानने लगे, जो अन्य करारो की तरह तोड़ा जा सकता है। वा० वि० जोशी, कमलाबाई बम्बेवाला, इदिराबाई सहस्रबुद्धे, मालतीबाई दाडेकर, रघुनाथ कवठेकर प्रभृति अनेक उपन्यासकारो ने विवाह-विच्छेद का समर्थन किया। उनके विचारो का प्रतिनिधित्व 'एकेरी गाँठ' की निम्न पक्तियाँ करती है, "पति-पत्नी के मध्य तनिक भी आकर्षण न होते हुए, यदि समाज केवल विवाह होने के कारण, उनसे साथ रहने की अपेक्षा करता है, तो यह उसका अत्याचार है।...प्रेमविहीन पति-पत्नी को एकत्र रहने के लिए बाध्य कर और उनके विवाह-सूत्र को और अधिक गठीला बनाने की बजाय प्रेम और सहानुभूति के अभाव मे उस विवाह की गाँठ को तलाक की सहायता से खोल डालना...अधिक श्रेयस्कर ...था।"[3] तलाक का विरोध करने वाले भी एक-दो उपन्यास लिखे गए, जिनमे यह दिखाने की चेष्टा की गई कि केवल तलाक से स्त्री को मुक्ति नही मिल सकती। मालतीबाई दाडेकर का 'काटेरी मार्ग' इसी विचार को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है।

महाराष्ट्र मे १९३५ ई० के बाद स्त्री-पुरुष के जीवन मे क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। स्त्री घर की चारदीवारी मे रहने वाली दासी-मात्र नही रह गई।

---

[1] के० ना० काले का 'हिन्दोलयावर' पर परीक्षण लेख, 'प्रतिभा' ६ जुलाई, १९३४ ई०।

[2] डा० दु० का० सन्त 'मराठी स्त्री', पृष्ठ ३५।

[3] कमलाबाई बम्बेवाला 'एकेरी गाठ', पृष्ठ १२०-१२१।

वह आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र होने लगी और बौद्धिक जीवन बिताने लगी। प्राचीन और नवीन युग की स्त्री की समस्याओ का अन्तर बताते हुए रा० श० वळिंबे लिखते है, "प्राचीन स्त्री पति के दुर्व्यवहार पर घर मे शोरगुल मचा पितृगृह मे फरियाद करती थी और आस-पडौस मे समय बिताने के लिए जा सकती थी, पर आज की उत्तरदायी, सुशिक्षित स्त्री को अपने ससार का नाश चुपचाप देखना पडता है, मन की कुठाओ को बिना किसी विरोध के सहन करना पडता है···प्राचीन जीवन मे कदाचित् प्रेम न था पर निष्ठा थी, स्थैर्य था। नये जीवन मे न प्रेम है, न निष्ठा और न स्थिरता ही।"[1] इस स्थित्यतर से उत्पन्न होने वाली समस्याओ और स्त्री-मन की कुठाओ का चित्रण और समाधान निरतर के 'जीवन नृत्य', ताळत्रलकर के 'आकाश मदिर', आवेकर के 'काळे ढग', कुसुमावती के 'भूकप' के अतिरिक्त 'पुसलेली चित्रे', 'निरजन', 'दुसरी सावली', 'दूर कुठेतरी' प्रभृति मे उपस्थित किया गया है। कुछ उपन्यासकारो ने स्त्री के आर्थिक-स्वातत्र्य को उसकी समस्याओ का समाधान माना था, परन्तु माडखोळकर ने 'भगलेले देऊळ', फडके ने 'उद्धार' तथा गीता साने ने 'वठलेला वृक्ष' द्वारा यह बताने की चेष्टा की है कि कुटुम्ब मे पुरुष के स्वामित्व एव प्राधान्य, तथा स्त्री की प्रेममयता एव पुरुष के प्रति प्रेम और आसक्ति से मुक्त होने की असमर्थता तथा मानसिक दुर्बलता के कारण स्त्री को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने पर भी अपने मन की आकाँक्षाओ और अभिरुचियो को कुठित करना पडता है। 'उद्धार' मे फडके का स्पष्ट मत है कि आर्थिक स्वातत्र्य से नही, अपितु 'जब तक सारी नीति-अनीति और स्त्रियो की पवित्रता तथा श्रेष्ठता का आधार विवाहयुक्त मातृत्व है, तब तक स्त्रियो का सच्चा उद्धार होना सभव नही।"

विधवाओ एव कुमारियो के विभिन्न कार्यक्षेत्रों मे पुरुषो के साथ-साथ कार्य करने के परिणामस्वरूप विवाहित पुरुषो एव अविवाहित युवतियो मे प्रेम-सम्बन्ध जुड जाने और इससे वैवाहिक जीवन मे कठिनाइयाँ उपस्थित होने का वर्णन भी उपन्यासो मे हुआ है। माडखोळकर के 'भगलेले देऊळ', 'दुहेरी जीवन', 'नवेससार' इत्यादि मे पत्नी के सुसस्कृत, विदुषी एव चतुर होते हुए भी, पति अन्य स्त्री से प्रेम करने लगता है और पत्नी को पुरुष की भ्रमर-वृत्ति के कारण मानसिक व्यथा भोगनी पडती है। खेद का विषय है कि मराठी उपन्यासकारो ने इस समस्या पर सर्वांगीण विचार कर व्यावहारिक दृष्टि से कोई उपयुक्त समाधान प्रस्तुत नही किया है। कुछ ने स्त्रियो के कष्ट की उपेक्षा कर पुरुष के प्रत्येक नये प्रेम का विलासमय चित्रण किया है और उस व्यभिचार का समर्थन कराया है। 'दुहेरी जीवन' की नायिका पति के विवाहोत्तर स्वैराचार को दोष तो देती ही नही, उसका स्पष्ट समर्थन करती है। 'नदनवन' की नायिका अपनी सपत्नी को बडे आनन्द से घर ले आती है। ये दोनो समाधान नितान्त अस्वाभाविक है। इसके विपरीत कुछ उपन्यासो मे इस अनैतिक सम्बन्ध की शारीरिक सम्बन्ध मे परिणति न होते दिखाकर उसकी उदात्त प्रेम मे परिणति

---

[1] रा० श० वलिबे 'मुक्तात्म्यापासून प्रमद्वरेपर्यंत', पृष्ठ २१०।

दिखाई है। लेखको का आदर्शवाद, समाज की रूढ नीति के प्रति विद्रोह करने के सम्बन्ध मे उनकी भीति एव उपयुक्त समाधान का अभाव ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। पु० य० देशपाडे के 'सुकलेले फूल' मे कृष्णा-दिवाकर, खाडेकर के 'रिकामा देव्हारा' मे तारा-अशोक, फडके के 'निरजन' मे निरजन-मदाकिनी तथा 'प्रवासी' की उमा का उदात्त प्रेम इन लेखको के इसी मन्तव्य की ओर इगित करता है। इसके विपरीत माडखोळकर ने 'भगलेले देऊळ' एव' शाप' मे उदात्त प्रेम की व्यर्थता दिखाकर उसे केवल आत्म-प्रवँचना माना है।

कुछ उपन्यासकारो ने विवाह-बाह्य प्रेम को विवाहित स्त्री के प्रेम के समान ही उत्कट एव नैसर्गिक माना है तथा उसे वासना, मोह या बुराई कहना अनुचित ठहराया है। वे उसे एक अप्रिय सत्य मानते हैं, जिसे समाज टाल नही सकता। पर इस समस्या का समाधान देते समय वे पुन आदर्शवाद की धारा मे वह गए है। फडके ने 'अजलि' मे तथा शाता शेळके ने 'कोजागिरी' मे मनोवृत्ति के उन्नयन को एक मार्ग बताया है। माधव अजलि के प्रति उमडने वाली वासना का शमन कर डालता है। उन्नयन का यह स्वरूप है तो बडा आकर्पक, पर कोई सर्वव्यापी समाधान प्रस्तुत नही करता। इसी प्रकार तळवळकर के 'मालकस' का विश्वात्मक सौन्दर्यवाद भी असतोपजनक समाधान है।

अतियथार्थवादी उपन्यासकारो ने इस सम्बन्ध मे या तो विवाह-सस्था का ही विरोध किया है अथवा स्त्री-पुरुप दोनो को निस्सकोच स्वैराचार करने की स्वतत्रता प्रदान की है। शातावाई नाशिककर के 'लग्नाचा बाजार' मे विवाह-संस्था के दोष दिखाए गए और आग्रह किया गया कि इस सस्था मे क्रातिकारी परिवर्तन होने चाहिये। 'केवळ ध्येयासाठी' मे विवाह-सस्था को अनावश्यक बताया गया है। 'आधळा न्याय' मे पुरुष के स्वैराचार से उत्पन्न स्त्री के कष्टो का चित्रण कर विवाह-बधन को नष्ट करने का परामर्श दिया गया है। स्त्री को पुरुष के अत्याचारो से मुक्त करने के नाम पर कुछ उपन्यासो मे स्वैराचार एव स्त्री-पुरुष के उन्मुक्त प्रेम-सम्बधो का चित्रण किया गया। हरिभाऊ, वामनराव जोशी, मामा वरेरकर, विभावरी शिरुरकर इत्यादि ने भी स्त्री-स्वातत्र्य पर उपन्यास लिखे थे, परन्तु उनकी लेखनी मे जो सयम था, वह आधुनिक उपन्यासकारो मे नही मिलता। इसका कारण फ्राइड के अर्धचेतन, अचेतन, सुप्तवासना आदि से सम्बधित सिद्धान्तो का प्रभाव है, जिन्होने मराठी लेखको की परम्परागत नीति-कल्पना को आघात पहुँचाया और जिन्होने पाश्चात्य उपन्यासकारो फ्लॉबेयर, जोला, लारेंन्स इत्यादि की छाया ग्रहण कर उच्छृखल प्रेम-विलास के चित्र मराठी पाठको को प्रदान किये। कही नग्न शृगार-चेष्टाओ का वर्णन है, तो कही हीन विकारो का प्रदर्शन। 'वसुधा' मे हेमा का पति अपनी मुहबोली बहिन का सोते समय चुबन लेता है और अपनी पत्नी से उसका समर्थन चाहता है। 'अभिसारिका' मे कुछ पात्रो को स्वैराचार प्रिय है, तो 'धवधब्याच्या धारेंत' मे कुमारी माता, देवर-भावज, बहिन-भाई के मध्य अनैतिक सम्बंधों के प्रति क्षमावृत्ति उत्पन्न

करने का प्रयत्न किया गया है। 'झपूर्झा' मे भी यही हीन वृत्ति दिखलाई पडती है। रागणेकर, गागल, दाडेकर, तळवळकर, निरतर, कवठेकर प्रभृति लेखको की कृतियों मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के सम्बध मे प्राचीन नैतिक मूल्यो के विरुद्ध विध्वसात्मक प्रतिक्रिया हुई है। इसीलिए 'मृगजल', 'सीमोलघन' जैसी कृतियो मे बहुपतित्व तक का समर्थन किया गया है। उपन्यास-जगत मे स्वैराचार की बढती हुई इसी प्रवृत्ति को देखकर कहा गया है, "वैवाहिक जीवन के असतोष प्रकट करने वाले नवमतवादी उपन्यासो मे विवाहितो के पर-स्त्री-पुरुष के प्रति आकर्षण के वर्णन को अभिप्रेत माना गया है। नैतिक मूल्य बदलने की आवश्यकता प्रतीत होने के उपरान्त लेखको को कलाविलास, यथार्थवाद, मनोविश्लेषण इत्यादि मधुर शब्दो की ओट मे कामवासना के नग्न प्रदर्शन करने की मानो पूरी छूट ही मिल गई है।"[1]

हिन्दू समाज मे स्त्रियो की समस्याएँ सर्वत्र समान थी। अत. हिन्दी मे भी अभिजात्य-भावना, जातिमर्यादा एव दहेज के कारण होने वाले असफल विवाहो एव उनसे उत्पन्न युवक-युवतियो को मिलने वाले कष्टो का वर्णन किया गया है। 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' से लेकर प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो और 'अचल' के 'नई इमारत' तक जातिभेद के कारण युवक-युवतियो के विवाह-मार्ग मे आने वाली बाधाओ का वर्णन एव उनके जीवन के ध्वस होने का चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द एव वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे भिन्नजातीय कुमार-कुमारियो के मध्य प्रेम का चित्रण तो यथार्थवादी है, परन्तु इन लेखको ने, जो समाधान—हत्या एव आत्म-घात प्रस्तुत किये है, वे आदर्शवादी होने के कारण सामाजिक विद्रोह की भूमि तक नही उठ सके है। 'रगभूमि' मे सोफिया एव 'गढकुंडार' मे दिवाकर-तारा का असफल प्रेम उन्यासकारो की दुर्बल मन स्थिति का सूचक है। बाद के उपन्यासकारो का दृष्टिकोण कुछ और प्रगतिशील बना। 'अश्क' का चेतन जाति-पाति की मर्यादा तोडकर प्रकाशो नामक बालिका की ओर दौडता है, तो 'अचल' ने अपनी 'नई इमारत' को दृढ बनाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह को आवश्यक समझा है। रागेय राघव ने अपने 'घरौदे' मे अन्तर्जातीय प्रणय को मान्यता दी है। फिर भी मराठी की अपेक्षा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन हिन्दी मे कम पाया जाता है।

दहेज के कारण असफल या अनमेल विवाह के चित्र प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' से लेकर धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तक मे मिलते है, पर कोई भी लेखक इसका उचित समाधान प्रस्तुत नही कर सका है। यह समस्या न तो कानून बनाने से और न गरीबी दूर होने से ही मिट सकती है। यह तो एक ऐसी सामाजिक कुरीति है, जो केवल नैतिक बल से हल की जा सकती है। इसीलिए प्रेमचन्द तथा वृन्दावनलाल वर्मा ने कुछ ऐसे युवको की अवतारणा की है, जो माता-पिता की आज्ञा का उल्लघन कर अपनी प्रेमिका से विवाह कर लेते है। 'कायाकल्प' का चक्रधर तथा 'लगन' का देवीसिंह ऐसे ही

---

[1] बापट और गोलबोले 'मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास' : द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २१६।

दृढ-चरित्र पुरुष है। कुछ उपन्यासो मे माता-पिता अथवा सरक्षको की दुराग्रही वृत्ति के कारण प्रेमी-प्रेमिका के विवाह न हो सकने एव तज्जन्य कष्टो का चित्रण है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल, 'गिरती दीवारो' का चेतन तथा उसकी पत्नी, 'पुरुष और नारी' के अजीत तथा सुधा हिन्दी उपन्यासो के उन अभागे प्रेमी-प्रेमिकाओ मे से कुछ है, जो स्वच्छन्दप्रेम, निषेध एव सामाजिक रूढियो के शिकार बने है। इधर की ओर के उपन्यासो मे इसके प्रति विद्रोह दिखाने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ 'नई पौध' मे गाँव के नवयुवक विश्वेश्वरी का विवाह साठ वर्ष के बूढे से नही होने देते और एक नवयुवक से उसका विवाह करा देते है।

सन् १९३०-३२ के राजनीतिक आन्दोलन ने नारी को जीवन के खुले प्रागण मे ला खडा किया और वह पूर्ण स्वातत्र्य माँगने लगी। उसकी समस्या बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, दहेज इत्यादि की इतनी नही रही जितनी व्यक्ति-स्वातत्र्य की। नारी के साथ समस्त सहानुभूति रखते हुए भी प्रेमचन्द ने विवाह-सस्था को पवित्र मानकर उसे कोई आघात नही पहुँचाया था। रतन और निर्मला मूक भाव से अत्याचार सहती रहती है। प्रेमचन्द की इस परम्परा का निर्वाह प्रसाद, कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि ने भी किया। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है "स्त्री पुरुप मे प्रेम हो जाना स्वाभाविक क्रिया है, लेकिन जिस प्रेम का अन्त विवाह नही, केवल वासना हो, वह कलुपित है, उसकी निन्दा होती है।" साराश यह कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व पढा-लिखा मध्यवर्गीय समाज विवाह-सस्था मे विश्वास करते हुए, रोमाण्टिक प्रेम की चरम परिणति विवाह मे देखना चाहता था। अत इस समय के उपन्यासो की विवाहोत्तर समस्याओ मे विवाह-बाह्य सम्बन्ध, पति की सदेहशील वृत्ति एव अह भाव के कारण पत्नी के कष्टो को प्रधानता मिली। 'अचल मेरा कोई…' की कुन्ती, 'कल्याणी' की कल्याणी, 'त्यागपत्र' की मृणाल, 'सन्यासी' की शान्ति और जयन्ती, निरपराध होते हुए भी पति की सन्देहशील वृत्ति के कारण जीवन भर यन्त्रणा भोगती हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे मराठी उपन्यासो के समान पुरुष या स्त्री के अह भाव के कारण दाम्पत्य-जीवन विषमय होते हुए दिखाया गया है। जोशी का 'सन्यासी', जैनेन्द्र का 'सुखदा', सुनीता' इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ है।

हिन्दी के कुछ उपन्यासकारो ने भी स्त्री के आर्थिक स्वावलम्बन को उसकी सम्पूर्ण समस्याओ का समाधान माना, पर तुरन्त ही अन्य उपन्यासकारो ने अपनी रचनाओ द्वारा यह प्रतिपादित किया कि आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र होने पर भी स्त्री अपनी मूलभूत प्रकृति—त्याग, साधना, पति-प्रेम और मातृत्व के कारण पुरुष से सर्वदा दबती रहेगी एव जैनेन्द्र की कल्याणी के समान विवश हो यातना सहती रहेगी। डा० असरानी कल्याणी को कभी-कभी पीट देते है, पर वह कहती है दोष पति का नही है, उसका है। "मेरे बारे मे जो भी खोटा सुना हो, सब सही है। मैं निष्पाप नही हूँ।"

हिन्दू-समाज मे फ्राइड के विचारो के फलस्वरूप नैतिक मूल्यो मे परिवर्तन हुए। उधर साम्यवादियो का कहना था कि पत्नी की परायणता पति की धनराशि पर अवलम्बित है। अत. पूँजीवाद के साथ पातिव्रत्य-भाव को भी मिटना चाहिये और प्रत्येक कुमारी, सधवा या विधवा को स्वतत्र प्रणय का अधिकार मिलना चाहिये। स्त्री का जो मूल्य अब तक उसकी यौन-पवित्रता पर आँका जा रहा था धीरे-धीरे शिथिल होने लगा। मृणाल बुआ पर-पुरुष-गमन करने पर भी आत्मा से पवित्र बनी रहती है। श्रीनाथसिंह के 'उलझन' तथा सर्वदानद वर्मा के 'नरमेध' मे स्त्री-पुरुष के अवैध सम्बन्ध को बुरा नही समझा गया है। यशपाल का दृष्टिकोण है कि स्त्री अनेक पुरुषो के साथ रमण करने पर भी पवित्र रह सकती है, यदि उसका मन पवित्र है। सुनीता अपने पति श्रीकान्त द्वारा पर-पुरुष से प्रेम करने के लिए बाध्य की जाती है। इस प्रकार मनोविज्ञान के नाम पर बहुत से उपन्यासकारो ने नैतिकता की अवहेलना की है। प्रेम के लिए कोई मर्यादा अथवा सीमा बाह्य-जगत मे नही रह गई है। इस सबका प्रभाव हिन्दी और मराठी के लिए एक चिन्त्य विषय है।

वैवाहिक समस्याओ के चित्रण मे मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो मे पर्याप्त समानताएँ दृष्टिगत होती हैं—जैसे, हिन्दू परिवार की कन्या के विवाह मे जाति-मर्यादा, अभिजात्य भावना या दहेज के कारण होने वाली अड़चने तथा उनके परिणाम-स्वरूप अनमेल विवाह, माता-पिता के दुराग्रह के कारण स्वच्छन्द प्रेम-मार्ग मे बाधाएँ, विवाह के बाद पतिगृह मे पति तथा सास-ससुर आदि अन्य सम्बन्धियो द्वारा उत्पीडन, विवाह-बाह्य सम्बन्ध, स्त्री की आर्थिक परावलम्बता के कारण होने वाले कष्ट, इत्यादि। दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे अतियथार्थवाद से उत्पन्न विकृतियां—नग्नता एव अश्लीलता भी एक समान दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर कुछ भिन्नताएँ भी है। प्रौढ-कुमारिका का प्रश्न मराठी-समाज का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जब कि हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश मे अभी इस समस्या ने उग्र रूप धारण नही किया है। अत इस समस्या की चर्चा हिन्दी उपन्यासो मे नही हुई है। स्वच्छन्द प्रेम के सम्बध मे भी आरम्भिक हिन्दी तथा मराठी उपन्यासकारो मे भिन्न दृष्टिकोण पाया जाता है। जहाँ मराठी लेखको ने युवक-युवतियो को माता-पिता के प्रति विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित किया है, वहाँ हिन्दी लेखको ने समाज-भय या नैतिक साहस के अभाव मे नायक-नायिका को पुस्तकान्त मे आत्म-हत्या करते दिखाकर समस्या को टालने का प्रयत्न किया है। रवीन्द्र और शरत् के साहित्य से प्रभावित हो तथा सामयिक परिस्थितियो को देखकर हिन्दी लेखको ने अपने उपन्यासो मे स्त्री के सामने 'घर और बाहर' की समस्या उपस्थित की है। जैनेन्द्र की सुनीता और सुखदा के सम्मुख यही प्रश्न है, परन्तु लेखक ने उसे सामाजिक से अधिक मनोवैज्ञानिक बना दिया है। मराठी मे यह प्रश्न उठाया तो गया है, पर उसे मनोवैज्ञानिक रूप नही दिया गया है, शुद्ध आर्थिक और सामाजिक आकार ही प्रदान किया गया है। महाराष्ट्र मे स्त्री-शिक्षा एव स्वातंत्र्य अधिक होने, एव कमाऊ स्त्रियो की सख्या पर्याप्त होने के

परिणामस्वरूप पुरुषो और स्त्रियो के पारस्परिक सम्पर्क तथा विवाह-बाह्य प्रेम के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होने से वहाँ यह प्रश्न अधिक सजीव एव महत्त्व का बन गया है। हिन्दी क्षेत्र मे यह प्रश्न काल्पनिक अधिक है। जहाँ तक वैवाहिक जीवन की समस्याओ के समाधान का प्रश्न है, दोनो भाषाओ के उपन्यासकारो ने लगभग एकसे समाधान—तलाक, प्रेम-भावना का उन्नयन, पत्नी का पति की इच्छानुसारआचरण एव स्वैराचार का समर्थन आदि सुझाये है। हिन्दी मे वरेरकर की भाँति उषा देवी मित्रा ने स्त्री को स्वतंत्र व्यवसाय चलाकर अपने पैरो खडे होने की शिक्षा 'पथचारी' मे दी है। पर जैनेन्द्र आदि हिन्दी लेखक फडके के समान नारी के एकमात्र आर्थिक स्वातत्र्य मे उसकी समस्त समस्याओ का समाधान नही मानते।

सामाजिक अनाचार, धार्मिक दंभ, ढोग एव अंधरूढ़ियो के चित्रण की प्रवृत्ति—प्रत्येक धर्म प्रारम्भ मे पवित्र, उच्च एवं उदात्त विचारो का प्रचार करता है तथा अपने अनुयायियो को पवित्र मार्ग पर चलने की स्फूर्ति प्रदान करता है। धीरे-धीरे उसमे धर्मगुरुओ के निजी स्वार्थ या अनुयायियो के अज्ञान के कारण विकृतियाँ आने लगती है। धर्म के सत्-सिद्धान्तो का स्थान अधरूढियाँ ले लेती है और समाज मे अनाचार होने लगते है। मध्यकाल तक आते-आते धार्मिक विकृतियो, धर्मगुरुओ की लोलुपता, स्वार्थान्धता तथा सामाजिक अनीति ने हिन्दू समाज की जड़ को भी खोखला करना आरम्भ कर दिया था। यह स्थिति १९वी शताब्दी के मध्य तक चलती रही, जबकि ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज आदि आन्दोलनो के फलस्वरूप सजग लेखको का ध्यान इस पतन की ओर गया और उन्होने उसको कभी उपदेश तो कभी व्यग्य द्वारा रोकने की चेष्टा की। मराठी मे हरिभाऊ ने अपने 'मधली स्थिति' मे चिद्विवेकानद तथा ज्ञानार्कानद स्वामी के व्यग्य चित्रो द्वारा समाज के ढोग तथा पापबुद्धि पर तीव्र कटाक्ष किया, तो शातावाई के 'हाच कां धर्म' मे यह बताया गया कि हिन्दू धर्म की अनेक रूढियाँ, विचार व प्रथा विकृत हो गई हैं। नायक यशवत यात्रा के समय अनेक ढोग, कथा-कीर्तन, धर्मशाला, तीर्थो मे होने वाले कदाचार, श्राद्धपक्ष मे दान-दक्षिणा, गोशाला, अन्नक्षेत्र इत्यादि को देखता है, उनके प्रति उसके हृदय मे तीव्र असतोष होता है और वह हर जगह उनके विरुद्ध व्याख्यान देता है। खाडेकर के 'रिकामा देव्हारा' मे भी साधुओ की लम्पटता, स्वार्थी आश्रम-कार्यकर्ताओ का चित्रण, सन्तानलाभ के लिए यज्ञ, हवन, और बलि ही नही अपितु सतीत्वदान तक करने को तैयार स्त्रियो के अधविश्वास का चित्रण है। गीता साने के 'निखळलेली हिरकणी' मे समाज के ढोग, झूठी नीतिमयता एव भूतप्रेत पर विश्वास आदि की आलोचना की गई है। समाज के आडम्बर के विषय मे लेखिका कहती है, "धर्मनीति की रामनामी चादर के पीछे छिपे राक्षसो, हरियाली मे छिपे जहरीले सापों को देख उसे क्रोध आता था ···नीतिनियम मन से पालने वाला केवल मध्यवर्ग है। श्रीमान-समाज इन नियमो के प्रति खुला विद्रोह न करते हुए भी उनका उल्लघन

करता है तथा पैसे के कारण उनके सब दोषो पर पर्दा पड जाता है।"[१]

पश्चिम के साहित्य, राजनीति और ज्ञान-विज्ञान के परिणामस्वरूप जब समाज पर व्यक्ति की उत्कृष्टता प्रतिपादित हो गई, तो हिन्दी लेखको ने भी जीवन को रूढियो के अधकूप से निकालने के लिए समाज के गले-सडे अगो की विवेचना एव उनको काट फेकने की प्रेरणा पाठको को दी। प्रसाद के 'ककाल' मे टी० एस० इलियट के 'वेस्ट लैन्ड' की तरह समाज और मनुष्य के खोखलेपन की ओर इंगित किया गया है तथा यह बताया गया है कि समाज के सारे आदर्श नकली, खोखले एव निस्सार है। विजय कहता है "जिन्हे आवश्यकता नही, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाय···जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है···वे मनुष्य, कुत्तो के साथ जूठी पत्तलो के लिए लडे, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।"[२] प्रसाद के 'तितली', प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' मे महन्त की पापलीला, बिहारीजी के नाम पर सूद, वेश्या नचाने के साथ-साथ ठाकुरजी की पूजा आदि विकृतियो पर व्यग्य कसा गया है। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' मे सिद्धान्तवादियो का व्यावहारिक असयम और दुर्बलता दिखाकर लोक-प्रतिष्ठित आचार-सम्बन्धी विचारो की निस्सारता व्यजित की गई है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा की पद्मनी' तथा 'प्रत्यागत' धार्मिक अध-विश्वास (कुमुद को दुर्गा का अवतार समझना) की ओर इंगित करने वाली रचनाएँ है। इन रचनाओ की विशेषता यह है कि लेखको ने सयम एव मर्यादा का निर्वाह किया है।

सामाजिक अनाचार के कुछ अन्य रूप हमे मराठी मे नाथमाधव, हडप और हिन्दी मे चतुरसेन शास्त्री, 'उग्र' आदि की कृतियो मे मिलते है। पतित विधवा, बहकाई गई तरुणी, विलासी पुरुषो के कदाचार आदि का चित्रण इनकी विशेषता है। 'लग्नलाछन', 'आभास', 'बहकलेली तरुणी', 'जाळयातील माशा', 'मास्तरीण काकू' इत्यादि मराठी और 'गगाजमुनी', 'हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी' आदि हिन्दी उपन्यासो मे समाज के उन कुम्भीपाको को अनावृत्त किया गया है, जो अनाचार के अड्डे बने हुए है। इनका विषय तो वही है जो 'ककाल' या 'सेवासदन' का अर्थात् धर्म की ओट मे होने वाले घोर पाखण्ड तथा स्त्रियो के प्रति अमानुपिक व्यवहार, पर रचना-शैली एव दृष्टिकोण मे अन्तर है। जो बाते उन्होने कही है वे असत्य नही, पर उनके वासनापूर्ण नग्न प्रदर्शन मे तटस्थता की अपेक्षा तन्मयता अधिक है, जो अनैतिकता के प्रति क्षुब्ध करने की बजाय लुब्ध करती है। यथार्थ का यह आग्रह स्तुत्य होते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति मे निंद्य हो उठा है।

सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप है—उच्च वर्ग वालो का अछूत कही जाने वाली जातियो के प्रति तिरस्कार भाव, उनका शोषण तथा दमन। यद्यपि गाधीजी से कितने ही वर्ष पूर्व महाराष्ट्र मे लोकहितवादी, फुले आदि सुधारको का

---

[१] गीता साने, 'निखललेली हिरकणी', पृष्ठ ५६।

[२] जयशंकर प्रसाद 'कंकाल', पृष्ठ ८७ : आठवा संस्करण।

ध्यान उनकी दयनीय स्थिति की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होने अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रगतिशील विचार प्रकट किये, "ब्राह्मण महारो की निन्दा करते है, उन्हे स्पर्श नही करते पर अग्रेजो के पास बडे प्रेम से बैठते है, यह देख मुझे आश्चर्य होता है। शास्त्र-दृष्टि से देखे तो महार हमारे अधिक निकट है।"[1] जोतीबा फुले ने १८५४ ई० मे ही महार और माग जाति वालो के लिए पाठशाला चलाई, तथापि अछूतों का उद्धार करने के लिए हरिजन-आन्दोलन को प्रमुख बनाने का श्रेय गाधीजी को ही है। प्रारम्भ मे गांधीजी ने हरिजनो के मन्दिर-प्रवेश पर अधिक बल दिया था। अतः अधिकाश उपन्यासो मे हरिजनो के मन्दिर-प्रवेश के अधिकार को समुचित बताने के साथ उच्चवर्ग वालों की रूढ धार्मिक-कल्पना के कारण उन्हे मिलने वाली अमानुषिक यातनाओ का चित्रण किया गया। मराठी मे ना० सी० फडके के 'प्रतिज्ञा' तथा 'कीर्ति' इत्यादि मे मन्दिर-प्रवेश तक ही इस समस्या को सीमित रखा गया, परन्तु अन्य उपन्यासो मे हरिजनो की अन्य समस्याओ पर प्रकाश डालते हुए उनके सुधार का मार्ग बताने की भी चेष्टा की गई। वामनराव जोशी के 'इदुकाळे सरला भोळे' मे यह समस्या मन्दिर-प्रवेश से आगे बढती है। अखबार मे यह पढने पर कि एक अछूत को तालाब मे स्नान करने के कारण गाववालो ने बहुत मारा, जब काळोबा कहता है "अछूतों का यह दु खमय जीवन कब समाप्त होगा, कौन जाने।"[2] तो विनायकराव उत्तर देते है, "समाप्त होगा, कुछ दिनो मे समाप्त होगा" पर कोई निश्चित उपाय बताने मे वह अपने को असमर्थ पाते है। कोल्हटकर के 'श्यामसुदर' मे, आदर्श नायक द्वारा लेखक ने अछूतोद्धार के कुछ उपाय—रात्रि-पाठशाला, शराबबन्दी, और स्वच्छता की शिक्षा, सहभोज आदि बताये है पर जितने अल्प समय मे नायक उनका सुधार करने मे सफल हुआ है, वह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। खाँडेकर के 'दोन मनें' मे हरिजनो के उद्धार मे लीन एक आश्रम-संचालक का आदर्श चरित्र दिखाकर युवको को हरिजनोद्धार के कार्य मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी गई है। 'एल्गार', 'गारबीचा बापू' आदि मे भी छूआछूत के विरुद्ध विचार प्रकट किये गए है। इन लेखकों का समाधान आदर्शवादी है। इसके विपरीत साने गुरुजी अस्पृश्यता को अधर्माचरण मानते हैं और 'चदनवाडी' का अभिमन्यु हिन्दू समाज को दोष देता है, "हीन समझकर बाहर निकाल देने वाले हिन्दू समाज के चारो ओर यदि एक घेरा बन गया है, जिसमे अस्पृश्य कहे जाने वाले प्रवेश नही पा सकते, तो दोष किसका है?—हिन्दूओ और अस्पृश्यो के बीच कोई समानता नही है। दोनो के हित-सम्बन्ध भिन्न, दोनो के समाज भिन्न, धर्मग्रथ भिन्न, देवता-मदिर भिन्न, फिर हिन्दुत्व का ऐसा कौनसा अधिकार हमे प्राप्त है जिसकी अभिलाषा से हम अपने को हिन्दू कहे। अतः अस्पृश्यों को स्वतत्र राष्ट्र मिलना चाहिये।" अस्पृश्यो की अन्य वर्गवालों से समानता बताते हुए कहा गया है, "महार जाति के लोग क्या अन्य मनुष्यो से भिन्न होते है? क्या उनके पशुओ जैसी

---

[1] लोकहितवादी, शतपत्रें न० ६४।

[2] वामन राव जोशी 'इदुकाले सरला भोले', पृष्ठ ११०।

पूँछ होती है अथवा भूतो की तरह उल्टे पैर होते है ?···महार होने से क्या वह मनुष्य नही रहता ?"[1]

इन सबसे विलक्षण पर अत्यन्त सुन्दर यथार्थवादी कृति है विभावरी शिरुरकर की 'बळी' जिसमे माँग-गारुडी नामक आदिवासी जाति के जीवन का यथार्थ बीभत्स चित्र—तारो का घेरा, भूखे-नगे, चिडचिडे बच्चे, पैसों पर इज्जत बेचने वाली स्त्रियाँ, चोरी करने वाले पुरुष, झूठन पर कुत्ते की तरह टूटने वाले प्राणी, बेकारी का ताडव नृत्य, गदगी इत्यादि उपस्थित करने के साथ-साथ लेखिका ने यह बताया है कि चेष्टा करने पर भी केवल कायदे-कानून अथवा उपदेशो से उस जाति का जीवन नही सुधारा जा सकता। उसके लिए उनकी आर्थिक एव सामाजिक दशा को सुधारना होगा क्योकि जब गाधी सेवा-मडल मे कई वर्ष तक रहने वाला सदाचारी, बुद्धिमान, प्रतिदिन स्नान कर स्वच्छ कपड़े धारण करने वाला आबा ही मारपीट कर होटल से अछूत होने के कारण निकाल दिया जाता है एव चेष्टा करने पर भी सरल प्रतिष्ठामय जीवन व्यतीत नही कर पाता, तो अन्य साधारण व्यक्तियो की दुर्दशा का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार मराठी उपन्यासकारो का ध्यान अछूतो से माग-गारुडी आदि गुन्हेगार जाति की ओर मुडा, जो समाज से उतनी ही उपेक्षा, तिरस्कार एव दमन पाते है जितने हरिजन।

१९४२ ई० के बाद भील, माग, गारुडी इत्यादि के जीवन को उपन्यासो मे विशेष स्थान मिला क्योकि १९४२ ई० के 'भारत छोडो' आन्दोलन मे उन्होने सफेदपोश कार्यकर्ताओ का साथ दिया। शिरवाडकर का 'वैष्णव', ठोकळ का 'गाँवगुड' इसी प्रकार की रचनाएँ है। आदिवासी जातियो के ऊपर लिखने वाले अधिकाँश कलाकारो ने उनके जीवन को निकट से देख उनकी 'वेठी' (बेगार) सरीखी समस्याओ तथा कष्टपूर्ण परिस्थितियो का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। जगली जाति के विद्रोह करने पर "उस सघर्ष को नष्ट करने के लिए दमन का आश्रय लिखा जाता है।"[2] इसके यथार्थ चित्र अत्यन्त हृदयग्राही बन पडे है। उनकी दरिद्रता एव भीतिमयता के चित्र भी सर्वत्र बिखरे पडे है। 'उनके जानवर अधिकतर दुर्बल, विकलाग एव ककाल मात्र है।"[3] "रेजर साहब ने उसे धक्के मारना शुरू किया, बेचारे की पगडी खुलकर गिर पडी।"[4] "सारे ढोरो को काजीहौज मे बद करने का पटेल को आदेश दिया गया।"[5] "चिलम ही उनकी शातिदात्री है, वही उन्हे स्फूर्ति देने वाली है।"[6] इस प्रकार जगली पिछडी जातियो के यथार्थ करुण चित्र प्रस्तुत कर लेखको ने पाठको का ध्यान

---

१. ग०त्र्य० माडखोलकर 'चन्दनवाडी', पृष्ठ ६६।

२. श्रीराम अत्तरदे 'सावलीच्या उन्हात', पृष्ठ १०६।

३. वही, पृष्ठ ११।

४. वही, पृष्ठ १४।

५. वही, पृष्ठ १५।

६. वही, पृष्ठ ८६।

उनकी समस्या के प्रति आकृष्ट किया है और उनके प्रति सम्वेदना जागृत करने की चेष्टा की है।

हिन्दी मे अछूतो को लेकर तो अनेक उपन्यास लिखे गए, क्योकि गाधीजी के हरिजन-आन्दोलन का प्रभाव भारत-व्यापी था, परन्तु उनमे प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' ही ऐसी रचना है जिसमे यह समस्या मन्दिर-प्रवेश तक ही सीमित नही रह गई है। यद्यपि 'कर्मभूमि' का विषय एक चमार-बस्ती है, परन्तु जो विचार उन्होने इस जाति के विषय मे व्यक्त किये है, वे उस जाति-विशेष तक ही सीमित न रहकर पूरे अछूत-वर्ग के लिए व्यक्त किये गए समझे जाने चाहिये। अछूत-समस्या को केवल धार्मिक समझना एवं उन्हे मन्दिर-प्रवेश की स्वतंत्रता दे देना पर्याप्त नही, क्योकि मात्र मदिर-प्रवेश से उनके जीवन मे कोई परिवर्तन नही आता। उनकी मूल समस्या तो सामाजिक एवं आर्थिक है। अत' प्रेमचन्द ने इस समस्या को उसके सम्पूर्ण परिवेश मे देखा है। अछूतो की आर्थिक स्थिति का भयावह चित्र निम्न पक्तियो मे है "...उसका हृदय काँप उठा। मानों दरिद्रता छाती पीट-पीट कर रो रही है।"[१], तो सामाजिक दुर्दशा का चित्र बालको के मुख से सुनिये "कहाँ जाय, हमे कौन पढाये ? मदरसे मे कोई जाने तो देता नही...सब लडके हमे चमार-चमार कहकर चिढाते थे।'[२] और अछूतो के मंदिर-प्रवेश से उत्पन्न होने वाले प्रसग का चित्र निम्न पक्तियो मे देखिये "धर्मात्माओ के क्रोध का पारापार न रहा। कई आदमी जूते ले-लेकर उन गरीबो पर पिल पड़े। भगवान के मदिर मे, भगवान के भक्तो के हाथो, भगवान के भक्तो पर पादुका-प्रहार होने लगा।"[३] उन्होने इस वर्ग के दोषो—शराब, मुर्दा-मास-भक्षण इत्यादि पर भी प्रकाश डाला है। एक अन्य विशेषता जो हमे प्रेमचन्द मे मिलती है वह यह कि उन्होने इस वर्ग को केवल मूक, क्षयग्रस्त एव दमित ही चित्रित नही किया, अपितु उसमे वर्ग-चेतना की चिन्गारी सुलगती दिखाई है। गाँव का चौधरी गूदड कहता है, "भगवान ने छोटे-बडे का भेद क्यो लगा दिया, इसका मरम समझ मे नही आता—यह कोई न्याय नही है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम मे लगे रहे और पेट भर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले।[४]" उनका मदिर-प्रवेश हृदय-परिवर्तन के द्वारा न होकर बलिदानो पर आधारित है। अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए भी वे सत्याग्रह का आश्रय लेते है। इस प्रकार प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' समसामयिक जीवन से आगे बढ जाता है और मौलिक समाधान उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करता है। श्रीनाथसिंह के 'जागरण' मे भी अछूतो की समस्या को स्पर्श किया गया है। वे गाधीवादी हल के समर्थक है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'झासी की रानी' मे जनेऊ के प्रश्न को लेकर झगडा खडा

---

[१] प्रेमचन्द 'कर्मभूमि', पृष्ठ १४८ आठवा संस्करण।

[२] वही, पृष्ठ १५२।

[३] वही, पृष्ठ २०६।

[४] वही, पृष्ठ १५७।

किया गया है तथा उसके द्वारा निम्न वर्ग के समकालीन सामाजिक असन्तोष एवं विद्रोह-भाव को व्यक्त किया गया है। जगली जाति से सम्बधित कोई सम्पूर्ण उपन्यास आलोच्यकाल मे हिन्दी में नही लिखा गया, केवल प्रसादजी के 'ककाल' मे समाज से बहिर्भूत कंजर, गूजर आदि वर्गो का विशद चित्रण है। साराश यह कि मराठी उपन्यासो की अपेक्षा एक तो आदिवासी जातियो पर लिखे गए हिन्दी उपन्यासो की सख्या कम है। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'रथ के पहिये' जैसे आदिवासियो के जीवन पर लिखे गए उपन्यास हिन्दी मे अपवाद स्वरूप ही हैं। दूसरे, अछूतो पर लिखे गए हिन्दी उपन्यासो मे उतने क्रातिकारी एव विद्रोही विचार (जैसे चंदनवाडी का त्रिराष्ट्रवाद) नही प्रकट किये गए हैं, जितने मराठी मे।

शैक्षणिक समस्याओं के चित्रण की प्रवृत्ति—भारतीय जीवन में शिक्षा तथा शिक्षको को सदा बहुत महत्त्व दिया गया है, क्योकि शिक्षक सदा त्याग और तपस्या का जीवन बिताते रहते है और उन्होने समाज के सम्मुख उच्च आदर्श प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन काल मे शिक्षा नि.शुल्क होती थी। विद्यार्थियो द्वारा शारीरिक श्रम एव गुरुसेवा ही विद्या का प्रतिदान समझे जाते थे। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के आगमन से शिक्षा के लिए विद्यार्थियो को शुल्क देना पड़ने लगा और गरीब विद्यार्थियो के सामने न केवल शुल्क की, अपितु भोजन की भी समस्या उठ खडी हुई क्योकि आश्रमो मे न केवल नि:शुल्क शिक्षा ही उन्हें मिलती थी, अपितु भोजन की भी सब सुविधाएँ वहाँ रहती थी। महाराष्ट्र ने विद्यार्थियो की इस समस्या को 'मधुकरी प्रथा' द्वारा सुलझाया, जिसका उल्लेख वा० गो० आप्टे ने मधुकरी मागकर विद्यार्जन करने वाले विद्यार्थियो के चित्रण द्वारा किया है। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त होगई। उधर अध्यापको का समाज मे उतना सम्मान एव आदर नही रह गया जितना प्राचीन युग मे था। प्रथम तो वेतन लेने के कारण उन्हे वह सम्मान मिलना सम्भव न था, जो त्याग और तपस्या के बदले समाज व्यक्ति को प्रदान करता है; दूसरे, जो वेतन उन्हे मिलता था, वह केवल पेट भरने भर को पर्याप्त होता था। दरिद्रावस्था मे उन्हे समाज मे उच्च स्थान मिलना सम्भव न था। फिर भी १९३४-१९३५ ई० तक महाराष्ट्र मे निस्वार्थ शिक्षा-प्रसार के कार्य को पर्याप्त सम्मान मिलता रहा और अध्यापको की दुर्दशा, कष्ट एव जीवन मे होने वाली प्रवञ्चनाओ को स्पष्टतया व्यक्त नही किया गया। परन्तु धीरे-धीरे उपन्यासकारो को, खांडेकर जैसे कुछ लेखको को, अपने स्वानुभव से इसकी अवगति हुई और उन्होने उसको अपनी रचनाओं मे चित्रित किया।

वि० वा० हडप का मुख्य उद्देश्य समाज के अनाचारो को अनावृत्त करना था। अत. उस अनाचार की शिकार अध्यापिकाओ के जीवन मे होने वाली विडम्बनाओं पर उनकी दृष्टि गई और 'मास्तरीण काकू' मे उन्होने अधिकारियो द्वारा अध्यापिकाओ पर किये गए अत्याचार का विशद चित्रण किया। वि० वि० बोकील के 'झझावात' में भी पाठशाला के शिक्षक के दृष्टिकोण से पाठशाला का चित्रण किया गया है। सर्वत्र

पाठशालाओ मे दिखाई देने वाले बाजारूपन, पूजीवादियो के अत्याचार, अशैक्षणिक दृष्टिकोण की प्रधानता इत्यादि का चित्र वोकील ने बड़ी मार्मिकता एव सजीवता से अकित किया है। उधर वि० वा० शिरवाडकर के 'वैष्णव' मे ऐसे निरीह दीन अध्यापक का चित्र है, जो शाला का सारा कार्य करने पर भी सदा प्रधानाध्यापक से डाँट-फटकार खाता है तथा जिसके परिश्रम और कार्यदक्षता का श्रेय प्रधानाध्यापक को मिलता है। प्रथम मे अध्यापक पर अत्याचार करने वाले पाठशाला के पूजीपति व्यवस्थापक है, तो दूसरे मे प्रधानाध्यापक एव शिक्षा-अधिकारी। बेचारा अध्यापक जीवन भर गरीबी एवं दरिद्रता की चक्की मे पिसता है। उसे अपनी आकाक्षाओ का सदा दम घोटना पडता है। उसकी गरीबी का एक दृश्य देखिये "बैठक मे एक फटी और बदरगी शतरजी बिछी थी। उसके ऊपर रखे तकिये मे फटे छेदो मे से जगह-जगह रुई झाक रही थी। एक कोने मे वश-परम्परा से चली आती आराम कुर्सी रखी थी। काल-गति के कारण पीली पडी एक टाइमपीस घडी कुछ पुस्तको के पास रखी टिक-टिक कर रही थी।"[1] खाडेकर के 'उल्का' मे भी भाऊ के माध्यम से एक गरीब आदर्शवादी अध्यापक की समाज मे होने वाली उपेक्षा, दुर्वस्था, दारिद्रय एव तिरस्कार, धनाभाव से पुत्री के विवाह मे होने वाली बाधाओ आदि का चित्रण है। निरतर का 'अधारातील दिवे' भी एक अध्यापक के अपमान व आर्थिक कुठाओ की कहानी है। इस प्रकार मराठी उपन्यासों मे अध्यापको के ऊपर समाज, शिक्षाधिकारियो, शाला-व्यवस्थापको एव प्रधानाध्यापको सभी के द्वारा किये जाने वाले अत्याचारो एव दुर्व्यवहारो का वर्णन किया गया है। हरिभाऊ के युग से आज तक उसकी स्थिति मे जो परिवर्तन होता रहा है, उसका दिग्दर्शन सुचारु रूप से मराठी रचनाओ मे मिलता है।

इन अत्याचारो के होते हुए भी मराठी अध्यापक सदैव आदर्श की सर्वोच्च सीमा तक पहुँचने की चेष्टा करता रहा है। उसके आदर्श रूप के प्रति जनता की भी श्रद्धा रही है, जिसके फलस्वरूप उसके आदर्शवादी चित्रों को उपन्यासो मे पर्याप्त स्थान मिला है। खाडेकर के 'उल्का' का भाऊ, पेडसे के 'हद्दपार' का राजे मास्तर तथा शिरवाडकर के 'वैष्णव' का विनायकराव ऐसे ही आदर्शवादी अध्यापक हैं। राजे मास्तर का सबल व्यक्तित्व, उसका ग्राम्यजीवन मे आदरणीय स्थान, विद्यार्थियो के मन मे उसके प्रति आदर, उसका विद्यार्थियों के प्रति प्रेम-व्यवहार, सिद्धान्त-निष्ठा, मानवता, तेजस्विता आदि गुण उन्हे सामान्य अध्यापको की श्रेणी से अलग कर देते है, परन्तु 'वैष्णव' के विनायकराव के समान डरपोक, दुर्बलचित्त, विनम्र, दीन-हीन शिक्षक, जो क्रान्ति का सन्देश सुन अथवा किसी विशिष्ट प्रेरणा को पा अपनी सम्पूर्ण कायरता त्याग, साहसपूर्वक देश-कार्य मे जुट पडे, सर्वत्र मिल सकते है। इसी प्रकार का चरित्र हमे 'काचन मृग' के सुधाकर मे मिलता है। एम० ए० होते हुए भी प्रोफेसरी त्यागकर वह गाँव मे पाठशाला खोलता है तथा निराशापूर्ण परिस्थितियो मे भी सकट झेलते हुए राष्ट्रसेवा करता रहता है। उसका ध्येय है "सच्चा शिक्षक एक

---

[1] वि० वा० शिरवाडकर, 'वैष्णव', पृष्ठ ६।

मूर्तिकार होता है, जिसका लक्ष्य होता है पत्थर से देवता निर्माण करने का कौशल प्राप्त करना।" ऐसे ही उदात्त चरित्र वाले हैं 'उल्का' के भाऊ जो सरस्वती की सेवा करने के हेतु लक्ष्मी की ओर से पीठ मोड लेते है।

अध्यापको की यथार्थ स्थिति एव उनके आदर्श चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ मराठी लेखको ने शालेय-जीवन के भी अनेक सुन्दर-कुरूप चित्र प्रस्तुत किये है। यदि कमलाबाई सोहोनी ने कन्या-पाठशाला के मनोरजक, विनोदी वातावरण, लडकियो के पारस्परिक वार्तालाप, उनकी भावनाओ और आकाक्षाओ का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, फडके के 'कुलाब्याची दाडी' मे तत्कालीन कालिज-जीवन, वहांके आसपास के वातावरण एव परिपार्श्व का सुमधुर चित्र अकित किया गया है, साने गुरुजी के 'श्याम-प्रथम खड' मे विद्यार्थी-जीवन का यथार्थ चित्र है, तो 'वैष्णव' में पाठशाला की अव्यवस्था पर कटु व्यग्य किया गया है। "शाला विद्यार्थियों के लिए होती है कि उच्चाधिकारियो के लिए ? विवाह के लिए देखने आने वाले युवक के सम्मुख जिस प्रकार कोई बालिका वस्त्रालकारो से विभूषित कर खडी की जाती है, उसी प्रकार यह शाला अधिकारियो के लिए विशेष रूप से सजाई-सवारी जाती है।"[1]

एकाध उपन्यासकार ने शिक्षा विषयक दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। साने गुरुजी ने प्राचीन आश्रमपद्धति को श्रेयस्कर माना है तथा 'छडी लगे छमछम, विद्या आवे घमघम' के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया है। उनका मत है कि बच्चे को शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा देना प्रारम्भ कर देना चाहिये, चाहे उस शिक्षा-क्रम मे सुन्दर सुभाषित और श्लोक ही क्यो न रखे जायँ। वे शिक्षालयो मे भेदभाव, छूआछूत को समाप्त करने के पक्ष मे थे तथा विश्वविद्यालयो को शिक्षित बनाने का कारखाना मानते थे जो कि आज भी बहुतो की दृष्टि मे सच है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मराठी उपन्यासकारो ने शिक्षालय, विद्यार्थी अध्यापक आदि शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले प्राय सभी अगो पर विचार किया है। हिन्दी मे इस प्रश्न की पूर्णत उपेक्षा की गई है। प्रेमचन्द को छोडकर, जिनका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल एव अनुभव अत्यन्त विस्तृत था, इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक किसी ने नही सोचा। उन्होने अवश्य अपने 'वरदान', 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' पर विशेषत 'कर्मभूमि' मे शिक्षा का उद्देश्य, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अध्यापको और युवको की मनोवृत्ति, शैक्षणिक सस्थाओ आदि पर अपने विचार प्रकट किये है। वह बी० ए०, एम० ए० की डिग्री से कही अधिक महत्व सेवा-भाव को देते है। उन्हे अध्यापको की फैशन-परस्ती एव स्वार्थमयता से घृणा है, "इनमे भी वही दम्भ है, वही धन-मद है, वही अधिकार का मद है।······वे आप अपने मनोविकारो के कैदी है। आप अपनी इच्छाओ के गुलाम है और अपने शिष्यो को भी उसी कैद और गुलामी मे डालते हैं।"[2] वह शिक्षा के प्राचीन आदर्श को मानते थे, पर इसका यह अभिप्राय नही

---

[1] वि० वा० शिरवाडकर, 'वैष्णव', पृष्ठ ६।

[2] प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृष्ठ १०८ : आठवा संस्करण।

कि वे साने गुरुजी की तरह गुरुकुल-पद्धति को पुनर्जीवित करना चाहते थे। विद्यालयो को कारखाना समझने मे वे साने गुरुजी से सहमत थे और चाहते थे "ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए मुआफ हो।"[1] शैक्षणिक सस्थाओ का यथार्थ चित्रण एव उनके दोषो को प्रकाश मे लाने मे भी उन्होने तत्परता दिखाई। 'हमारे स्कूलो और कालेजो मे जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नही वसूल की जाती।···वही हृदयहीन दफ्तरी शासन, जो अन्य विभागो मे है, हमारे विद्यालयो मे भी है।····· वहाँ स्थायी रूप से मार्शल-ला का व्यवहार होता है। देर मे आइये तो जुर्माना, न आइये तो जुर्माना···शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है।"[2] वह शिक्षालयो मे छूआछूत के विरुद्ध थे। एक जागरूक साहित्यकार के समान उन्होने विभिन्न शैक्षणिक प्रश्नो पर अपने विचार प्रकट किये हैं, परन्तु अध्यापको की दुरवस्था एव प्रवंचना के विषय मे वे भी मौन रहे। स्वय कुछ दिन तक अध्यापन-कार्य कर एवं अधिकारीवर्ग की नौकरशाही वृत्ति का अनुभव पाकर भी उन्होने इस सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा, यह आश्चर्य की बात है।

बाद के लेखको मे भी यही उपेक्षा-भाव बना रहा। यदि किसी ने इस विषय पर कुछ लिखा भी, तो उसका क्षेत्र केवल विश्वविद्यालयो और वहाँ के वातावरण-चित्रण तक ही सीमित रहा। उनमे से अधिकांश ने भारतीय विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति समझने एवं शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नो पर मनन करने का प्रयत्न नही किया। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के वातावरण को सजीव बनाने का प्रयत्न किया गया, एक तो छोटे से छोटे विवरण पर ध्यान देकर तथा दूसरे विद्यार्थियो के पारस्परिक संवादो द्वारा। साथ ही एक सरल ग्रामीण विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति को तटस्थ रूप मे चित्रित करने का भी उन्होने सफल प्रयत्न किया और बताया कि किस प्रकार विश्वविद्यालय की चमक-दमक में रमेश जैसे ग्रामीण विद्यार्थी अपना लक्ष्य खो बैठते हैं और लड़कियो के लिए बसो एवं रिक्शो के पीछे दौडते हैं। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे भी विश्वविद्यालय के छात्रावासो मे रहने वाले विद्यार्थियों का व्यंग्य-चित्र है। उनके ठाट-बाट, आधे तथा उपनामो को लेकर पुकारने की प्रवृत्ति, आपस मे छात्राओ की चर्चा तथा उनके नैकट्य की होड़ आदि दुर्व्यसनो का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। रागेय राघव के 'घरौंदे' का विषय छात्र-छात्राओ के मध्य पारस्परिक चलने वाला प्रेम, प्रोफेसर तथा शिष्याओ के बीच होने वाले घात-प्रतिघात तथा विद्यालयो का राजनीतिक जागरण है। प्रोफेसर मिश्रा को लेकर उपन्यासकार ने इस समाज की अच्छी पोल खोली है और उनकी त्रुटियो को दिखाया है। कालेज के चुनावो और अविश्वास के प्रस्तावो का भी अच्छा चित्र खीचा गया है। साराश यह कि हिन्दी मे विश्वविद्यालयों के तो बडे सफल यथार्थ व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किये गए हैं, पर अध्यापको की दुरवस्था एव

---

[1] प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि.' पृष्ठ ६ : आठवां सस्करण।

[2] वही, पृष्ठ ५।

विद्यालयो मे अधिकारियो के कारण होने वाली उनकी विडम्बना के चित्र प्रस्तुत नही किये गए है। एक और अभाव जो हिन्दी उपन्यासो मे मराठी उपन्यासो को पढने के बाद खटकता है, वह है अध्यापको के आदर्शवादी चित्रो का। इस प्रकार मराठी उपन्यासकारो ने जहाँ अध्यापको के यथार्थ एव आदर्श चित्र प्रस्तुत करने पर विशेष ध्यान दिया है, वहाँ हिन्दी लेखको का मुख्य विषय विश्वविद्यालय, वहाँ का वातावरण एव त्रुटियो का प्रकाशन रहा है। शैक्षणिक समस्याओ का उनके समग्र परिवेश मे चित्रण दोनो भाषाओ मे से किसी के उपन्यासो मे नही हुआ है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोषो के सम्बन्ध मे तो जगह-जगह आलोचना सुनाई पडती है, पर उनके निराकरण के उपायो एव उसके स्थान पर किसी आदर्श शिक्षा-पद्धति पर अभी तक कोई उपन्यास नही रचा गया है।

गांधीवादी आन्दोलन एवं विचारधारा के चित्रण की प्रवृत्ति—लोकमान्य तिलक और गाधीजी से पूर्व काग्रेस जन साधारण की वस्तु न हो कर राष्ट्रीय विचार रखने वाले कतिपय सुशिक्षित देशभक्तो की सस्था थी। रानडे का दृढ विश्वास था कि अग्रेज भारत के हितार्थ ईश्वर द्वारा प्रेषित दूत हैं। उन्हे अग्रेजो के प्रति सशय-भाव उचित प्रतीत नही होता था। दूसरी ओर चिपळूणकर, तिलक, पराजपे गर्म विचारो के व्यक्ति थे, जो समय-समय पर अग्रेजी-शासन की आलोचना करने व उनके दोष दिखाने मे सकोच नही करते थे। इनमे भी सबसे अधिक उग्र विचार तिलक के थे। १८९६ ई० मे देशव्यापी अकाल पड़ा, तिलक ने जनता को अपने अधिकारो से परिचित कराया, "जहाँ-जहाँ अकाल पड़ा है, वहाँ-वहा के लोगों को कलक्टर साहब के पास जाकर निम्न-लिखित मागे करनी चाहियें—(१) हमारी जमीन पर सारा टैक्स छोड़ो, (२) हमारे गाव के आसपास ऐसे काम शुरू करो जिससे हमे मजदूरी मिले, (३) तकावी के रूप मे खेती के लिए कर्ज दो।"[1] तिलक से पूर्व अपने अधिकारो की तीव्र चेतना जनता मे विशेष रूप से न थी। जनता सरकार से भयाक्रान्त थी। तिलक ने उस भय को दूर कर उसे बताया कि राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेना कोई पाप नही है। सारांश यह कि तिलक के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप राजनीतिक जाग्रति सभव हो सकी। यद्यपि गोखले ने कहा था, "गांधी नि शस्त्र प्रतिरोध करते हैं, यह सर्वथा उचित है, ऐसा हम सबका मत है।"[2] तथापि उनके विचार नरम अधिक थे।

सन् १९१४ मे अफ्रीका से भारत लौट आने पर गाधीजी ने देश की जागृति के लिए साधारण जनता की सामूहिक शक्ति को अपने आन्दोलन की नीव बनाया। साबरमती आश्रम से रौलट-बिल के विरोध मे सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ हुआ। १९१९ ई० के जलियावाला-बाग के हत्याकाड और तदुपरान्त गाधीजी के असहयोग-आन्दोलन ने राजनीतिक चेतना को और भी अधिक तीव्र बना दिया। इसके बाद तो गाधीजी के सिद्धान्तो के अनुकरण पर आन्दोलनो का एक क्रम ही प्रारम्भ हो गया। महाराष्ट्र ने

---

[1] लो० तिलक के 'केसरी' में लेख, १-७३।

[2] गो० कृ० गोखले. स्पीचेज, पृष्ठ ८९१-८९२।

इन आन्दोलनो मे भाग तो लिया, परन्तु महाराष्ट्र निवासी गाधीजी के कार्यक्रम से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित न कर सके। १९२०-२१ ई० के आदोलन मे उन्होने भाग अवश्य लिया, पर अवसर प्राप्त होते ही उन्होने अपना असतोष व्यक्त किया। 'मुळशी' सत्याग्रह के कारण कुछ दृढ-निश्चयी, त्यागी व देशभक्त व्यक्ति आगे आये, परन्तु उसकी असफलता को देख बहुतो का गाधी-दर्शन पर से विश्वास उठ गया। वे दूसरा मार्ग खोजने लगे। इसका एक अन्य कारण यह भी था कि गाधीजी सब समस्याओ की ओर धर्मनिष्ठ दृष्टि से देखते थे और महाराष्ट्र की आलोचक एव बुद्धिनिष्ठ मति को धर्म तथा राजनीति का सम्मिश्रण अनावश्यक प्रतीत होता था।

गांधीजी की विचारधारा का इस प्रकार महाराष्ट्र मे विरोध ही अधिक हुआ, पर इसका यह अभिप्राय नही कि उसका वहाँ कोई प्रभाव ही नही पडा। अनेक भावना-प्रधान तरुण उनकी तपस्या, नेतृत्वशक्ति, देशभक्ति, उनका स्वार्थ-त्याग देख उनकी विचारधारा से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर उनके शिष्य बन गए। इसी को देख कहा गया है, "तिलक व गोखले की राजनीति के समाप्त होने पर महात्माजी के असहयोग आन्दोलन से हिन्दुस्तान मे—महाराष्ट्र मे—एक नवीन युग अवतरित होता है।"[1] मराठी लेखको ने गाधीवादी राजनीति का विवेचन एव विश्लेषण अपने उपन्यासो मे किया। सर्वप्रथम हम वामनराव जोशी के 'इन्दुकाळे सरला भोळे' मे गाधीवादी कार्यकर्ता विनायकराव को सत्याग्रह-आन्दोलन मे कार्य करते और उसके परिणामस्वरूप यत्रणा भोगते देखते है। उन्हे गाधीवाद अधिक मान्य न था, तथापि महात्मा गाधी के राजनीतिक क्षेत्र मे किये गए कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए उन्होने विनायकराव भोळे और सुन्दराव जैसे पात्रो का निर्माण किया। तदुपरान्त गाधीजी के असहयोग आन्दोलन, १९३० ई० के राजनीतिक आन्दोलन, नमक-सत्याग्रह, लगान-माफी आन्दोलन, जगल-सत्याग्रह, अछूत-आन्दोलन इत्यादि को पृष्ठभूमि बनाकर तो अनेक उपन्यास लिखे गए। उनमे युवको के त्याग, साहस एव बलिदान के अनेक साहसपूर्ण कृत्यो का चित्रण किया गया है। वरेरकर का 'भानगड गल्ली', लोटलीकर का 'दडपशाही', शिवराम का 'विषप्रयोग', दा० न० शिखरे का 'थोरली आई', साने गुरुजी का 'सध्या', हडप का 'भारतमातेची हाक', फडके के 'जेहलम', 'निरजन', 'प्रवासी' इत्यादि, खाडेकर का 'दोन मने' एव 'क्रौचवध', माडखोळकर का 'काता', पु० य० देशपाडे का 'विशाल जीवन' इत्यादि उल्लेखनीय कृतियाँ है।

गाधीजी के विभिन्न विचारो और सिद्धान्तो को महाराष्ट्र के कोने-कोने तक सरल-सीधी भाषा मे पहुँचाने का महान कार्य साने गुरुजी ने किया। अपनी 'आस्तिक', 'सती', 'क्राति' आदि रचनाओं द्वारा उन्होने गाधीजी के साक्षरता-प्रसार, खादी-प्रचार, श्रमपूजा, सत्य-अहिंसा आदि सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, पर काग्रेस व गाधीजी पर उनकी अधश्रद्धा नही थी। वे स्वतन्त्र चिन्तनशील व्यक्ति थे। इसलिए जहाँ एक ओर वे शातिमय क्रान्ति और अहिंसा को स्वीकार करते थे, वहाँ दूसरी ओर

---

[1] प्रभाकर पाध्ये, आजकालचा महाराष्ट्र, पृष्ठ २८६।

देश की रक्षा के लिए सेना को भी आवश्यक समझते थे। उनके समानता तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार उनके स्वतन्त्र दृष्टिकोण के परिचायक है। खाडेकर के उपन्यासो मे यद्यपि वहुधा हमे समाजवादी विचारधारा के दर्शन मिलते है, तथापि 'क्रौचवध' के निवेदन मे उन्होने गाधीवादी विचारधारा, विशेषत उनके मानवतावाद का अभिनन्दन किया है और दिलीप का चरित्र उसी भूमि पर निर्माण किया है। गाधीवादी मानवतावाद के विषय मे उनके विचार देखिये, "सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तो को लो, खादीप्रसार और हरिजन-सेवा जैसे कार्यक्रमो को देखो अथवा 'नमक सत्याग्रह' या 'भारत छोडो' जैसे उग्र राजनीतिक आन्दोलनो को लो, सर्वत्र मानवता की पूजा के लिए मनुष्य का जन्म हुआ है, कहने वाली गाधीजी की मूर्ति के दर्शन होगे।"[1] गाधीवादी आदर्शो का प्रतिपादन करने के लिए उपन्यास-लेखन मे प्रवृत्त होने वाली एक अन्य उपन्यासकार है, प्रेमाकटक। अपने 'काम आणि कामिनी' मे उन्होने गाधीजी के वैवाहिक ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त का निरुपण किया है।

गाधीवादी विचारधारा का प्रतिपादन करने वाले मराठी उपन्यासो मे दो दोष मिलते है। प्रथम तो इन लेखको ने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए दूसरे पक्षो की अनावश्यक और निराधार आलोचना की है। प्रेमाकटक ने यदि गाधीवाद के समर्थन के लिए कम्यूनिस्टो को स्वैराचारी, अनाचारी, रूस के धन पर मौज करने वाला वताया है, तो वरेरकर के 'शिपायाची वायको' मे डा० अम्बेदकर और स्वतन्त्र मजदूर-पक्ष, लोकशाही स्वराज्य-पक्ष एव भारतीय साम्यवादियो की आलोचना की गई है। दूसरा दोष जिससे मराठी के लगभग सभी उपन्यास आक्रान्त है, यह है कि राजनीतिक घटनाओ को पृष्ठभूमि के रूप मे उपयोग करने अथवा उनके द्वारा अपने नायक को उदात्त वनाने का प्रयत्न करने के उपरान्त लेखक उपन्यास को प्रणयरम्य कथा-मात्र वना पाये है। फडके के 'निरजन', 'आशा', 'प्रवासी' आदि मे एक ओर आन्दोलनो की रौद्र पृष्ठभूमि तथा दूसरी ओर उत्कट, उन्मादकारी प्रणय-चित्रो के कारण ही असगति एव अस्वाभाविकता आगई है। ऐसे ही उपन्यासो के वारे मे कहा गया है, "इन उपन्यासो मे राजनीति मात्र धोती मे की किनारी की तरह रह गई है।" अथवा "गाधीवाद व साम्यवाद का प्रयोग चटनी-मुरब्बे की तरह किया गया है। सारा महत्व और वल विकृत प्रेम पर है।"[1]

कुल मिलाकर मराठी उपन्यासो मे समाजवादी विचारधारा का समर्थन अधिक मिलता है। खाडेकर और वरेरकर जैसे गाधीवादी उपन्यासकारो तक ने गाधीवाद का समर्थन करने के साथ-साथ समाजवाद का पक्ष ग्रहण किया है। खाडेकर के 'पाडरे ढग' का अभय गाधीजी के उपकारो को मानते हुए भी गाधीवाद की अशास्त्रीय भूमिका से सहमत नही होता। खादी को वह वेकारी दूर करने का उपाय नही मानता। वह कहता है कि कौन क्या खाये से अधिक महत्वपूर्ण वात यह है कि समाज के प्रत्येक

---

१. खाडेकर 'गोफ आणि गोफण'—प्रस्तावना, पृष्ठ १५।
२. डा० न० शिखरे, 'कादम्बरीकार', दूसरा भाग, पृष्ठ ४७।

व्यक्ति को खाना कैसे मिले। उसका स्पष्ट मत यह है कि यत्रयुग की समस्याये पुराण-युग के तत्वज्ञान से, जिनका आश्रय गाधीजी ने लिया है, हल नही हो सकती। समाज आत्मिक तत्वज्ञान पर नही जी सकता। समाज को सुखी बनाने के लिए पहले सामाजिक मनस्थिति निर्माण करनी होगी। अन्य लेखको ने गाधीवाद का प्रत्यक्ष विरोध किया है, जो कही-कही उतना ही निराधार, वीभत्स एवं अप्रासगिक है जितना गाधीवादी कृतियो मे साम्यवाद का विरोध। गाधीवाद का विरोध न कर कुछ लेखको ने स्वय गाधीजी अथवा उनके अनुयायियो की व्यक्ति-रूप मे निन्दा की है। ऐसे उपन्यासकारो मे माडखोळकर प्रमुख है। उन्होने एक ओर गाधीजी को "गोखले और टालस्टाय के परस्पर विरोधी मतो का मिश्रण कर उसे अपना स्वतन्त्र मत कहने वाला विक्षिप्त मनुष्य" कहा है और "एक ओर अपने को दरिद्रनारायण कहलवाकर नगे शरीर घूमना और दूसरी ओर करोड़पतियो के माध्यम से राजनीति के सूत्र चलाना, ···एक ओर ब्रह्मचर्य पर व्याख्यान देना और दूसरी ओर तरुण शिष्याओ से शरीर-सेवा कराना" इत्यादि शब्दो द्वारा भर्त्सना की है, तो दूसरी ओर 'मुखवटे' मे प्रियदर्शन के माध्यम से डा० खरे एव गाधीवाद की कटु आलोचना की है। गाधीजी के सम्बन्ध मे माडखोलकर की बार-बार आलोचना पढकर ऐसा जान पड़ने लगता है मानो गोल्डस्मिथ का निम्न वाक्य ही उनका सिद्धान्त वाक्य है "फौलीज़ औफिन रिपीटेड लूज़ देयर एब्सरडिटी एण्ड एस्यूम दी ऐपीयरेन्स आफ रीज़न।" अर्थात् मूर्खताओ की पुनरावृत्ति से उनका दोष कम हो जाता है और वे बुद्धिसम्मत जान पडने लगती हैं। वि० वा० हडप ने भी गाधीभक्त पात्रो की विफलता दिखाकर गाधीजी के राजनीतिक सिद्धान्तो की निरर्थकता प्रमाणित की है। इतना ही नही, उन्होने कांग्रेसवालो का अतिशयोक्तिपूर्ण दोष-वर्णन भी किया है। तर्क-दृष्टि तक से वह अनुपयुक्त है, क्योकि गाधीजी या अन्य काग्रेस के विशिष्ट व्यक्तियो के दोष या पराभव दिखाने से गाधीवाद का पराभव नही हो सकता।

मराठी मे गाधीवादी विचारधारा के विरोध का कारण महाराष्ट्र-निवासियो की प्रकृति मे मिलेगा। वे भावुक की अपेक्षा तर्कशील अधिक हैं। उन्हे वे ही सिद्धान्त और योजनाएँ आकृष्ट कर सकती है, जो बुद्धि एवं तर्क पर आधारित हो और जिनकी उपयोगिता एव फल वे शीघ्र समझ सके। गाधीवाद भावना एव हृदय की कोमल वृत्तियो को स्पर्श करता है, बुद्धिप्रवण एवं तर्कशील प्राणी उससे कम प्रभावित होते है। उसकी अपील हृदय के प्रति है, मस्तिष्क उससे अछूता ही रह जाता है। महाराष्ट्रवासी भावुक कम तथा व्यावहारिक अधिक हैं। गाधीवाद की बार-बार की तात्कालिक असफलता ने उन्हे क्षुब्ध कर दिया और उन्होने उसका विरोध किया।

गाधीजी की विचारधारा से मराठी की अपेक्षा हिन्दी उपन्यासकार अधिक प्रभावित हुए। प्रेमचन्द ने गाधीजी द्वारा उठाये लगभग सभी प्रश्नो को 'कर्मभूमि', 'रगभूमि', 'प्रेमाश्रम', आदि उपन्यासो मे अपनाया और उनका समाधान गाधीजी के आदर्शो पर प्रस्तुत किया। सूरदास, विनय, सोफिया, प्रभुसेवक, अमरकान्त, नैना,

सकीना आदि के चरित्र गाधीवादी जीवन-दृष्टि से स्पष्ट प्रभावित हैं। 'रंगभूमि' मे सूरदास के शब्द गाधी-दर्शन की ही प्रतिध्वनि है "जिन्होने मुझ पर जुलुम किया है, उनके दिल मे दया-धरम जागे, बस मैं आप लोगों से और कुछ नही चाहता"[1] सत्याग्रह-सग्राम तथा असहयोग-आन्दोलन के सजीव रोमाचकारी चित्र उन्होने हिन्दी पाठको को प्रदान कर उनमे अद्भुत स्फूर्ति का सचार किया। अन्य गाधीवादी उपन्यासकारों मे श्रीनाथसिंह, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण सिंह, गोविन्ददास, गुरुदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीनाथसिंह के 'जागरण' मे खादी-आन्दोलन एव ग्राम्य-आन्दोलन की सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है। भगवतीचरण वर्मा के 'टेढे-मेढे रास्ते' मे पात्रो के सम्वादो द्वारा गांधीवाद, क्रान्तिवाद तथा साम्यवाद की विवेचना की गई है तथा अन्त मे काग्रेस की पदलोलुपता, अपरिणामदर्शिता आदि त्रुटियो पर कठोर आघात करते हुए भी गाधीवाद की ही पुष्टि की की गई है। यज्ञदत्त शर्मा ने जहाँ एक ओर 'इसान' मे कम्यूनिस्ट पार्टी का विरोध किया है, वहाँ 'अतिमचरण' मे मत्री सकटानन्द के द्वारा दूसरे के शवो पर अपना जीवन निर्माण करने वाले काग्रेस मन्त्रियो का चित्र प्रस्तुत किया है।

मराठी के समान हिन्दी मे भी गाधीवाद की आलोचना हुई, परन्तु माडखोळकर के समान व्यक्तिगत रूप से गाधीजी की निन्दा करने वाला कोई भी हिन्दी उपन्यासकार नही मिलता। यशपाल ने 'देशद्रोही' आदि उपन्यासो मे सवादों एवं व्यग्योक्तियो द्वारा काग्रेस-कार्यक्रम की खिल्ली उडाने का प्रयत्न अवश्य किया है। निराला भी गाधीवाद के समर्थक नही हैं। उन्हे नेताओ की आडम्बर-प्रियता और सत्य की क्षीणता से चिढ है। नागार्जुन के 'बलचनमा' मे फूल बाबू और राधे बाबू के माध्यम से काग्रेसियो के प्रति तीखा और मार्मिक व्यग्य किया गया है। साराश यह है कि दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे गाधीवाद की आलोचना हुई है, परन्तु पक्षपातपूर्ण दृष्टि एवं असयमित शैली के कारण मराठी उपन्यासों मे जितनी विकृति आ गई है, उतनी हिन्दी मे नही।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के चित्रण की प्रवृत्ति—भारत मे हिंदुत्व और इस्लाम के झगडे बहुत पुराने समय से चले आ रहे हैं। इस्लाम धर्मजेता बनकर भारत मे प्रविष्ट हुआ, उसका स्वरूप एक आक्रामक शक्ति का था। मुगल शासन काल तक उसके प्रचार-प्रसार के सभी भले-बुरे साधन उपयोग मे लाए गए और कटुता की भावना ने इन दोनो वर्गो के हृदय मे जन्म लिया। मध्ययुगीन सन्तो और सूफियो ने इसे दूर करने की चेष्टा की थी, पर वे भी सफल न हुए। भारत में राजनीतिक जाग्रति होते देख उसका निराकरण करने के लिए अग्रेजी शासकों ने अनेक उपाय सोचे। जहाँ एक ओर उन्होने गतिरोधक शक्तियो को प्रश्रय देना प्रारम्भ किया और सामन्ती युग के अवशेष—जमीदारो, रायबहादुरों, नवाबजादो के प्रयत्नो से राजनीतिक जाग्रति को दबाने का प्रयत्न किया, वहाँ दूसरी ओर कभी एक वर्ग का पक्ष ले और कभी

---

[1] प्रेमचन्द 'रंगभूमि' भाग १, पृष्ठ ३१६ : ग्यारहवा संस्करण।

दूसरे को सरक्षण दे, हिन्दू-मुस्लिम दगो एव ब्राह्मण-अब्राह्मण के प्रश्न के रूप मे जातीय विद्वेष की भूमि तैयार की। फलत १८८५ ई० से ही देश मे जब-तब साम्प्रदायिक झगडे आरम्भ हो गए, जिससे राजनीतिक वातावरण गभीर एव विषाक्त हो उठा। गाधीजी ने इन झगडो को मिटाने के लिए अनेक वार अनेक प्रकार के प्रयत्न किये। पर इन संघर्षो की जड देश की सस्कृति मे न होकर विदेशी कूटनीति मे थी। अत. ये झगडे तब तक कम न हुए जब तक विदेशी सत्ता ही अपनी कूटनीति सहित भारत-भूमि को त्याग कर यहाँ से नही चली गई।

प्रारम्भ मे उपन्यासकार ब्रिटिश अधिकारियो की इस कूटनीति को नही समझ पाये। उन्होने इस समस्या का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया। वामन मल्हार जोशी ने 'सुशीला चा देव' मे हिन्दू-मुस्लिम झगडे के समय अपने सहधर्मियो को दु ख पहुँचाकर भी सच्चा निर्णय देने वाले बळवतराव की अवतारणा की, भा० द० खेर ने 'प्रायश्चित' मे सुझाव दिया कि दोनो वर्गो के तरुण-तरुणियो को इस जातीय वैर से अलिप्त रहना चाहिये। समीर और गिरीन को प्रेमी-प्रेमिका के रूप मे चित्रित कर उन्होने यह दिखाया कि युवक-युवती जाति-विद्वेष एव साम्प्रदायिक ईर्ष्या-भाव से मुक्त रह सकते है। जातीय वैमनस्य का जगली रूप व उससे होने वाले विध्वस का चित्रण यद्यपि अत्यन्त प्रभावशाली ढग से हुआ है, तथापि इस सघर्ष के मूल कारण से परिचित न होने के कारण उपन्यास का अत अस्वाभाविक हो गया है। साने गुरुजी ने गाधीजी के रूप मे आस्तिक ऋषि का चित्रण कर हिन्दू-मुस्लिम झगडो को पारस्परिक प्रेम, सद्‌भावना एव सहायता द्वारा शान्त करने का मार्ग सुझाया, जो केवल आदर्शवादी होने तथा समस्या के मूल पर आघात न कर सकने के कारण अपूर्ण एव असन्तोषजनक सिद्ध हुआ।

इधर की ओर के उपन्यासो मे इस समस्या का कोई प्रत्यक्ष समाधान प्रस्तुत न कर केवल यथार्थवादी चित्रण किया गया है। 'सुनीता' के लेखक बिवल्कर को 'नवयुग' पत्र के प्रतिनिधि के रूप मे नोआखाली जाने का अवसर मिला था। उन्होने वहाँ घूम-फिर कर न केवल उस अमानुषिक हत्याकाण्ड के कारणो का ही पता लगाया, अपितु वहाँ के प्रत्यक्ष अनुभवो, जीवन-दर्शन, समाज की मूलभूत प्रवृत्तियो तथा यथार्थ स्थिति के आधार पर यह उपन्यास लिखा। अत इस रचना मे केवल सकीर्ण घटनाचित्र न होकर जनता की मूल प्रवृत्तियो के सघर्ष का यथार्थ के साथ-साथ कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार पेडसे के 'एल्गार' मे हिन्दू-मुसलमानो के स्वातन्त्र्यपूर्व व स्वातन्त्र्योत्तर सम्बन्धो की विषमता का चित्रण कोकण की पार्श्व-भूमि पर किया गया है कि किस प्रकार प्रारम्भ मे गाँव मे दोनो वर्गों के लोग मुसलमानो के पीर, हिन्दुओ की सावित्री नदी एव देवी की पूजा करते थे तथा एक दूसरे के उत्सवो मे भाग लेते थे, किस प्रकार दो भिन्न धर्मीय नवयुवको व उनके परिवारो मे अभिन्न मित्रता थी, परन्तु साम्प्रदायिक द्वेष के कारण बाद मे वे दोनो युवक एक दूसरी जाति के खून के प्यासे हो उठे। रघू कहता है, "जिसके बाप-दादो ने दुर्गा-

उत्सव के लिए तेल देने मे गर्व अनुभव किया, पोक्षे मास्टर ने पेट के बच्चे की तरह जिसका गौरव बढ़ाने की चेष्टा की, हिन्दू भी इतना सुशील नही हो सकता कहकर जिसकी आज तक मैं इतनी प्रशसा करता रहा, वही कादर आज पाकिस्तान की भाषा बोलने लगा है।"[1] यहाँ तक तो लेखक यथार्थ का निर्वाह सम्यक् रूप से कर सका है, पर कादिर के घर मे आग लगने के प्रसग के बाद उपन्यास मे अयथार्थता एव अतिरजितता आगई है। लेखक ने रघु को विशाल मानवता की भावना से युक्त कर उसके द्वारा कादिर के परिवार की रक्षा कराई है। पाठक को इस आकस्मिक परिवर्तन पर विश्वास नही होता। कुल मिलाकर मराठी उपन्यासो मे इस समस्या का चित्रण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी पद्धति पर हुआ है। प्रारम्भिक उपन्यासकार जहाँ इसे सामाजिक समस्या मानते थे, वहा आधुनिक लेखको को उसका राजनीतिक स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

हिन्दी मे प्रेमचन्द-युग मे इस समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया था। उनकी पैनी दृष्टि इस ओर गई और उन्होने उसके राजनीतिक स्वरूप को तुरन्त पहिचान लिया। उनके 'कायाकल्प' मे यह स्थापित करने के साथ-साथ कि जातीय वैमनस्य की जड़ें देश की संस्कृति मे न होकर विदेशी कूटनीति मे हैं, इन दंगो के कारणों तथा परिणामो की भी चर्चा की गई है, "निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक सग्राम के क्षेत्र मे खीच लाये जाते थे…सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनो अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। …ठाकुर द्वारे मे ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियो की निन्दा होती थी, मसजिदों में नमाज की जगह देवताओ की दुर्गति।"[2] इस समस्या के हल के निमित्त वे—धर्म की सच्ची शिक्षा, "जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा होगी।"[3] मध्ययुगीय इतिहास को स्वस्थ दृष्टि से देखना, आपसी झगड़ो को पचायत द्वारा निपटाना, छूआछूत से दूर रहना तथा पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति आवश्यक मानते हैं। इस युग के अन्य उपन्यासों 'राम-रहीम', 'चन्द हसीनो के खतूत' आदि में भी इसी समझौते की भूमि को अपनाया गया है। अंचल के 'नई इमारत' मे भी महमूद और आरती का प्रणय दिखाकर हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर आग्रह तथा खान-पान के भेद के प्रति घृणा का दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है। इस प्रकार देश-विभाजन से पूर्व हिन्दी उपन्यासो मे मराठी उपन्यासो की तरह आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। इधर के उपन्यासो मे यथार्थवाद का पुट कुछ अधिक आ गया है, क्योंकि जिन घटनाओ पर ये उपन्यास आधारित है, वे हाल मे ही घटी है। रघुवीरशरण मित्र का 'बलिदान' इसी प्रकार की रचना है। इसके अन्दर १९४२ ई० की क्रान्ति के पश्चात् अंग्रेजो ने किस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को उठा भारत की

---

[1] श्री० ना० पेंडसे, 'एल्गार', पृष्ठ ११०।

[2] प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृष्ठ २५६।

[3] वही, पृष्ठ २२७।

स्वतन्त्रता को पीछे ढकेलना चाहा, पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर किस प्रकार देश को खडित किया गया, और उसका क्या दुष्परिणाम हुआ आदि की यथार्थ कहानी कही गई है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बयालीस' सन् ४२ की क्रान्ति पर आधारित है, पर उसमे भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या को उठाकर इन दो वर्गो की एकता पर बल दिया गया है। इस प्रकार मराठी तथा हिन्दी के उपन्यासो मे इस समस्या का चित्रण तो यथार्थवादी ढग पर हुआ है, परन्तु समाधान पाने के लिए या तो लेखको ने आदर्शवाद की शरण ली है अथवा कोई समाधान प्रस्तुत नही किया है। विभाजन के बाद यद्यपि इस समस्या का उग्र व भयानक रूप समाप्त हो गया है, तथापि वह अधसुलगी चिन्गारी की तरह अभी भी छिपी पड़ी है और परिस्थितियो का वायु-प्रकम्पन पा कभी भी भड़ककर समाज को नष्ट-प्राय कर सकती है। अत उसका समाधान पाना नितान्त आवश्यक है।

ग्रामीण जीवन एवं समस्याओं के चित्रण की प्रवृत्ति—शस्य श्यामला भारतमाता की आत्मा गाँवो मे निवास करती है। अग्रेजी शासन के उपरान्त इन गाँवो की दशा आर्थिक उत्पीड़न एव शोषण के कारण इतनी दयनीय हो उठी कि जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। हिन्दुस्तान के दारिद्रय के सम्बन्ध मे भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और खबाटा ने १९२४ ई० में लिखा था, "हिन्दुस्तानियो की औसत आमदनी इतनी होती है कि तीन आदमियो की आमदनी से दो का पेट भर सकता है।"[1] १९३१ ई० मे किसानो की स्थिति के विषय मे डा० पट्टाभि सीतारमैय्या लिखते है "बेदखलियो तथा दबाव की ज्यादती से यह विपत्ति और भी अधिक गम्भीर हो गई। अनेक ग्रामीण क्षेत्रो मे तो किसानो पर आतक का राज्य छा गया है और उसके साथ क्रूरता पर क्रूरता होने लगी।"[2] उसके बाद सन् १९३३ के लगभग भारतीय किसान और खेती की दशा के सम्बन्ध मे राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान मे भूमि की समस्याएँ' मे लिखा था "धरती से जीविका चलाने वालो की संख्या इतनी बढ़ गई कि खेत बिल्कुल छोटे-छोटे हो गए है। इन छोटे खेतो मे एक पूरे परिवार को भी पूरा काम नही मिलता।......साथ ही जमीदार अपने पुराने और सम्मानपूर्ण चलन को नहीं निभाते। वे किसी तरह की दौलत पैदा नही करते, उनका काम सिर्फ लगान वसूल करना है।......इससे खेत जोतने वाले किसानो की हालत बद से बदतर होती जाती है।"[3] साराश यह कि १९००-१९३५ ई० के काल मे भारतीय किसानो की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। मराठी और हिन्दी उपन्यासकारो का ध्यान उधर गया और उन्होने उसके अनेक करुण चित्र अपनी कृतियो मे उपस्थित किये। प्रारम्भ में ग्रामीण जीवन की आर्थिक और सामाजिक समस्याओ ने ही लेखकों का ध्यान

---

[1] शाह और खंबाटा, भारत की सम्पत्ति और उसकी करोपयोगी क्षमता, १९२४ ई०, पृष्ठ १३५।

[2] पट्टाभि सीतारमैय्या, काग्रेस का इतिहास, पृष्ठ ४०४।

[3] राधाकमल मुकर्जी, 'हिन्दुस्तान में भूमि की समस्या', पृष्ठ १६१-१६२।

आकृष्ट किया। उन्होने ग्रामीण जीवन के सास्कृतिक चित्र प्रदान नही किये।

ग्राम्य जीवन के यथार्थ चित्रो एव ग्राम-सुधार के विचारो से पूर्ण कितने ही उपन्यास हिन्दी की तरह मराठी मे भी लिखे गए। इस विषय पर सर्वप्रथम सफल उपन्यास १८९९ ई० मे लिखा धनुर्धर का 'पिराजी पाटील' है। इसमे महाराष्ट्रीय ग्राम-जीवन की दुर्दशा, अव्यवस्था एव दीनता का बडा सुन्दर वर्णन किया गया है तथा उसका उत्तरदायित्व अधिकारियो की लापरवाही, नवीन राज्य-व्यवस्था एवं प्रकृति के कोप पर रखा है। ना० वि० कुलकर्णी के 'शिपाई' व 'माणिक' का विषय भी जमीदार आदि धनिकवर्गो का भोले-भाले अनपढ़ गाँव वालो के साथ कपट, उनकी व्यसनाधीनता एव अत्याचार है, पर उन्होने जिन ग्राम-सुधारो की ओर संकेत किया है, वे आदर्शवादी हैं। यही बात वरेरकर के 'फाटकी वाकळ' और 'सातलाखातील एक' तथा 'स्वाधीन ससार', 'खरा उद्धार', 'पैसा', 'कसे दिवस जातील', 'देशाचे दुर्दैव' आदि के विषय मे सत्य है। ये सब उपन्यास ग्रामीण समस्याओ का चित्रण तो यथार्थवादी दृष्टि से करते है, परन्तु उनका समाधान (सूत-कातना, मार्ग बनाना, शिक्षणकार्य, स्वच्छता, सहकारिता) आदर्शवादी होने के कारण अवास्तविक एव अपूर्ण होता है। हडप के 'गौरीशकर' और दा० न० शिखरे के 'आईची कृपा' मे यदि ग्रामीण आन्दोलनो—शराब बदी, अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दुत्वनिष्ठा आदि और सुधारको के मार्ग की बाधाओ का सजीव व सुन्दर वर्णन हुआ है, तो वि० द० चिदरकर के 'महापूर' मे आदर्शवादी सुधारो की निस्सारता दिखाकर यह बताया गया है कि जब तक राजसत्ता पूरी तरह हस्तगत नही होती, तब तक किसी प्रकार का कल्याण नही हो सकता। उनका कहना है कि ग्रामीण मन पर प्राचीन रूढ सस्कार इतनी दृढ़ता से जमे बैठे हैं कि बिना राजकीय सत्ता की सहायता के वे नही हट सकते। नारखेडे के 'अजली', माडखोळकर के 'चदर्नवाडी', हडप के 'अन्नदाता उपाशी' और 'गोदाराणी', म० भा० भोसले के 'उघड्या जगाँत' एव 'समरागण', पेडसे के 'हद्द पार', सांमत के 'आम्ही खेडवळ माणस' आदि मे साहूकारों, जमीदारो, पुलिस-अधिकारियो के बीभत्स अत्याचारो, किसानो की दुर्दशा, उनके जाति-द्वेष, स्वार्थ, निरक्षरता, अज्ञान और उनकी सहनशक्ति आदि के सजीव मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये गए है। 'अन्नदाता उपाशी' की भूमिका देखिये "जमा-खर्च बराबर करने के लिए किसान कर्ज लेता है तथा मूल और व्याज न लौटा सकने पर जमीन गिरवी रखता है···किसानों का कर्ज इतना बढ गया है कि भूमि-स्वामित्व नाम-मात्र का रह गया है।···लगान की पद्धति आज बड़ी अत्याचारपूर्ण होगई है। महाराष्ट्र मे आधबटाई की प्रथा सर्वत्र साधारण बात है। कौंकण मे जमीदारो के विरुद्ध किसानो मे फैले असंतोष के चिह्न जो सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं, इस उपन्यास मे कथाबद्ध किये गए है।" मर्ढेकर के 'पाणी' मे दो महायुद्धों तथा पूजीवाद से उत्पन्न परिणामो का ग्रामीण जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, उसका सुन्दर अकन तो है ही, साथ ही "महाराष्ट्रीय किसानो, उनके सीधे सरल कुटम्ब-जीवन, उनकी साहसिकता, सामर्थ्य, निष्ठा, परम्परा, दु ख, अज्ञान इत्यादि का बड़ी

सहानुभूति से चित्र''[१] अंकित किया गया है। इन बाद की रचनाओ मे ग्रामीण जीवन की समस्याओ का यथार्थ चित्रण है, कोई आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत नही किया गया है।

उपर्युक्त उपन्यासो मे ग्रामीण सस्कृति, उत्फुल्ल प्रकृति और विशुद्ध वातावरण के चित्रण का जो अभाव था, उसकी पूर्ति र० वा० दिघे ने की। "उनका पहला उपन्यास 'पाणकळा' विशुद्ध ग्रामीण है···ग्राम्य जीवन पर आधारित उपन्यासो को नई दिशा देने का श्रेय दिघे को है।"[२] किसानो पर होने वाले अत्याचारो का उल्लेख करते हुए भी लेखक ने कोकण प्रदेश के गाँवो की उत्फुल्ल प्रकृति एव खेतिहर जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये है। उनके उपन्यासो का नायक व्यक्ति विशेष न होकर पूरा गांव होता है। उनमे वन्यजाति के स्वच्छद जीवन, प्राकृतिक भावनाओ व उन्मादक सौन्दर्य का समावेश हुआ है, जो उनके सूक्ष्म निरीक्षण एव दीर्घ प्राकृतिक साहचर्य का द्योतक है। क्षितिज तक फैली हुई पर्वतश्रेणियाँ, सपूर्ण गाँव मे छाये हुए काले पहाड, उनकी गोद मे छिपे हुए धान के खेत, उनमे विहार करने वाले विभिन्न पक्षी और वृक्ष, झरने, गुफाएँ व उनमे निवास करने वाले जगली मानव और पशु, इन सबका वर्णन बडे उत्कृष्ट रूप मे हुआ है। पशुओं की चहल-पहल का एक चित्र देखिये 'दूर जगल मे भेकर (हिरन) कै-कै कर रहे थे, सावर (बारहसिंघे) शोर मचा रहे थे और चीतल कुकु-कुकु की आवाज कर रहे थे। ये सब प्राणी एकदम चुप हो गए। जलती हुई आग बुझने लगी, रात्रि भयकर हो उठी और सर्वत्र कमाल की शाति छा गई। तभी पानी मे बाघ के नेत्र बडे-बड़े दो अगारो की तरह चमके।" 'कातोडी' समाज के शब्दचित्र 'सराई' मे बडी कुशलता से रेखाकित किये गए है। उनकी दरिद्रता का एक चित्र निम्न शब्दो मे अकित किया गया है "कातोडियो के झोपड़े मे कुछ मिट्टी की मटकी दिख रही थी। शेष सामान शिकारियो का था—धनुष-बाण, काटा, भाले, बर्छी बड़ी सावधानी से रखे गए थे। झोपड़े की दरारो मे हसिया, गडासा, कुल्हाड़ी लटका दिये गए थे। खूटी से ढोल लटका हुआ था। सारा झोपडा मानो कातोडी जाति का हवाई महल था।" पेंडसे भी आचलिक उपन्यासकार हैं। वह स्वय लिखते है, "हर्णै, भुरुड, आजले, मुर्डी, इन बंदरपट्टी के गावो तथा वरती, दापोली आदि पर मैने हाडमास के मनुष्यो की तरह प्रेम किया है।" उनके 'एल्गार' का मुख्य विषय यद्यपि हिन्दू-मुसलमानो का सम्बन्ध है, तथापि रघू के गाँव की प्राकृतिक सुषमा, वहाँ के कुछ टिपीकल व्यक्तियो के चित्र अत्यन्त स्वाभाविक एव प्रत्ययकारी बन पड़े है। अपने उपन्यास के कण-कण मे ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाले लेखको मे दिघे व पेंडसे के अतिरिक्त ग० ल० ठोकळ, चि० य० मराठे, द० र० कवटेकर प्रभृति मुख्य है। इन लेखको ने न केवल प्रादेशिक भूमि के प्राकृतिक दृश्यो का ही कुशलतापूर्वक चित्रण किया है, अपितु प्रादेशिक भाषा का प्रयोग कर उपन्यास की स्वाभाविकता को और अधिक बढा दिया है।

---

[१] म० व० राजाध्यक्ष 'कादंबरीकार मर्ढेकर'—सत्यकथा, मई १९५६।

[२] दा० न० शिखरे 'कादंबरीकार', दूसरा भाग • पृष्ठ ९७-९८।

कुछ लेखको ने ग्रामीण सस्कृति के सुन्दर, पर पक्षपातपूर्ण, चित्र प्रस्तुत किये है। रामहनय के 'साखर गोठी' अथवा कवठेकर के 'रेशमी गाठी' मे ग्रामीण जीवन एव सस्कृति के सुन्दर चित्र तो है, पर लेखको ने ग्रामीण सस्कृति को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसके विपरीत पेडसे के 'हद्दपार', बिवल्कर के 'शुभा' व शाता शेलके के ग्रामीण चित्रो मे अवास्तविक कल्पना कम है और आधुनिकता के पाश मे आबद्ध ग्रामीण सस्कृति मे लोगो के पारस्परिक व्यवहार, उनके छोटे-मोटे झगड़े, हर्ष-अमर्ष, महाराष्ट्र की नैसर्गिक प्रकृति आदि के चित्र अत्यन्त कुशलता से अकित किये गए है। इस प्रकार मराठी मे ग्रामीण जीवन का चित्रण करने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणो—सुधारवादी, यथार्थवादी, सास्कृतिक, आँचलिक आदि को अपनाया गया है। कुछ मे राजनीति होते हुए भी पार्श्वभूमि ग्रामीण है, तो कुछ मे व्यक्ति-चित्रण एव मनोविज्ञान की प्रधानता होते हुए भी गाँवो को घटनास्थल के रूप मे चुना गया है। ग्रामीण जीवन मे कल्पनारम्य वातावरण लाने का प्रयत्न दिघे ने किया है, तो नैसर्गिक वर्णनो के लिए पेडसे प्रसिद्ध है। इन उपन्यासो मे एक दोप भी है। ग्रामीण जीवन से सबधित उपलब्ध सपूर्ण ज्ञान को कथा मे ठूँसने का प्रयत्न किया गया है। उस जीवन के दोप दूर करने के हेतु जो उपाय सूझते है, उनकी साँगोपाँग चर्चा वह अपने पात्रो के मुख से कराने की चेष्टा करता है। इन लेखको के हृदय मे इस जीवन के प्रति सहानुभूति है, अनेक समस्याओ के समाधान पाने की आतुरता है, उसमे इष्ट सुधार करने की आकाक्षा भी है, पर जब तक वे पूर्वग्रह, सनक एव स्थूल दृष्टि को नही त्याग देगे, तब तक उनकी कृतियो मे अतिरजन व नाटकीयता बनी रहेगी।

यद्यपि प्रेमचन्द से पूर्व शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' मे भी ग्रामीण जीवन का सुन्दर चित्र खीचा गया था, तथापि ग्राम्य जीवन और उसकी समस्याओ का सजीव चित्रण करने वाले प्रथम हिन्दी उपन्यासकार प्रेमचन्द थे। इसका कारण उनका ग्रामीण जनता और उसकी समस्याओ के निकट सम्पर्क मे आना एव ग्रामीण जीवन के प्रति अपार प्रेम था। किसान-वर्ग के मनोविज्ञान से भली-भाँति परिचित होने के कारण उन्होने उसकी चारित्रिक विशेषताओ, अधविश्वासों और दुर्बलताओं पर स्पष्ट रूप से लिखा है। 'वरदान' और 'रगभूमि मे ग्रामीण स्त्रियो के हृदय पर छाये हुए भूत-प्रेत-चुडैल आदि के आतक का वर्णन इसी का द्योतक है। "पीपल का त्रास सारे गाँव के हृदय पर ऐसा छाया हुआ है कि सूर्यास्त ही से मार्ग बन्द हो जाता है।"[1] भारतीय किसान की विशेषताओ और स्वार्थी मनोवृत्ति के मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए निम्न पक्तियाँ दृष्टव्य है, "किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमे सन्देह नही। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बडी मुश्किल से निकलते है, भाव-ताव मे भी वह चौकस होता है, व्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घटों चिरौरी करता

---

१. प्रेमचन्द 'वरदान', पृष्ठ ८० . पाञ्चवा सस्करण।

है । जब तक पक्का विश्वास न हो जाय वह किसी के फुसलाने मे नही आता ।"[1] युगो के दमन-चक्र मे पिसे किसान किस तरह अपने अधिकारों की माँग तक करने मे डरते है, "जब दूसरो के पाँवों तले गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवो को सहलाने मे ही कुशल है ।"[2] तथा जहाँ तक होता है झगड़ो से दूर रहने की चेष्टा करते है—यह होरी के चरित्र से स्पष्ट हो जाता है । उनको अभिलाषाये छोटी होते हुए भी पूरी नही हो पाती । "सवेरे-सवेरे गऊ के दर्शन हो जायँ, तो क्या कहना । न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा ।"[3] इस प्रकार प्रेमचन्द ने कृषक के स्वभाव पर जगह-जगह बड़े मनोयोग से लिखा है ।

किसानो की आर्थिक स्थिति भी उनकी आँखो से ओझल नही रही । जमीदारी की कोढ़ग्रस्त प्रथा, भूखे किसानो की दरिद्रता, लगान, बेगार, पटवारी, दरोगा, मुन्सिफ सभी का व्यग्यपूर्ण चित्र 'प्रेमाश्रम' मे मौजूद है । इस रचना मे जमीदारो तथा किसानो के अधिकारो के संघर्ष का बडा सजीव वर्णन है तथा यह बताया गया है कि किसानों का घर जलाना, चौपायो को चरागाह मे न चरने देना, भूखे तथा दीन किसानो के ऊपर बेदखली तथा इजाफा के मुकदमे चलाना, हाकिमो को दावतो तथा डालियो से खुश करके नाजायज फैसला करवा लेना जमीदारो के बाये हाथ का खेल था । 'रगभूमि' मे भारतीय ग्रामीणो के दैनिक सघर्षो की गाथा है । पाडेपुर मे सिगरेट फैक्टरी खुलने से जो सभावनाएँ खड़ी हो जाती है और अधा सूरदास जिन अधिकारो के लिए मर मिटता है, उनका चित्र बड़ा ही प्राणवान एव प्रभावोत्पादक है । उन दिनो भारतीय किसानो की सबसे ज्वलत समस्या ऋण के बोझ से मुक्त होने की थी । वे लोग महाजनी-पाट के नीचे बुरी तरह पिस रहे थे । उनके लिए "कर्ज वह मेहमान है, जो एक बार आकर जाने का नाम नही लेता ।"[4] 'गोदान' का होरी ऋण-भार के कारण ही आजन्म कष्ट उठाता है । धर्मभीरुता भी उनके शोषण के लिए उत्तरदायी थी ।"…लेकिन ब्राह्मण के रुपये । उसकी एक पाई भी दब गई, तो हड्डी तोड़कर निकलेगी ।"[5] शोषक-वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए ऐसे ही धर्म की व्यवस्था कर रखी थी । स्पष्ट है कि ग्रामीण दशा का चित्रण करते समय उनकी दृष्टि विशुद्ध यथार्थवादी थी, परन्तु समाधान प्रस्तुत करते समय उनका आदर्शवाद उन पर हावी हो जाता था । इसीलिए 'प्रेमाश्रम' मे अनेक विलासी और अत्याचारी पात्र अपने विलास-वैभव को त्याग प्रेमशकर के साथ 'प्रेमाश्रम' मे सेवा-कार्य करने लग जाते है और एक आदर्श ग्राम की स्थापना होती है । पर आगे के उपन्यासो मे प्रेमचन्द ने आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत न कर क्रातिकारी मत प्रकट किया है कि

---

[1] प्रेमचन्द 'गोदान', पृष्ठ ११ : तेरहवां संस्करण ।

[2] प्रेमचन्द 'गोदान', पृष्ठ ५ ।

[3] वही, पृष्ठ ७ ।

[4] वही, पृष्ठ ३३८ ।

[5] वही, पृष्ठ २३१ ।

किसान का शोषण करने वाला वर्ग नष्ट होना ही चाहिये और इसके लिए उन्होने किसान-वर्ग मे उभरती एक नयी विद्रोही पीढ़ी का चित्रण करके किसानों को मुक्ति-संग्राम की शिक्षा दी है। मनोहर, बलराज, गोवर इत्यादि के विद्रोही चरित्र इसी धारणा के परिणाम हैं। गोवर के माध्यम से प्रेमचन्द भारतीय किसानो को जो सदेश देते हैं, वह किसान-वर्ग के भविष्य का मूलाधार है "अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा, कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी।"[1]

प्रसादजी के 'तितली' में ग्रामजीवन का चित्रण उतना अभीष्ट नही है, जितना ग्राम्य समस्याओं का। उनके ग्राम-नवनिर्माण सम्बन्धी विचार गृह-शिल्प, सहयोगिता, शिक्षा और सम्मिलित खेती के आदर्श पर आधारित है। जहाँ तक ग्राम-चित्रों का सम्बन्ध है, वे नागरिक कवि की सम्पूर्ण भावना, सारी अनुभूति और समस्त सम्वेदना को हमारे सामने लाते है, जिसके कारण इस उपन्यास को ग्रामगीत (पेस्टोरल आइडल) कहा गया है। ग्राम-सुधार पर आदर्शवादी लेखनी का प्रयोग करने वालो मे श्रीनाथसिंह भी उल्लेखनीय है। इसके विपरीत निराला ने विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाकर 'अल्का' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की रचना की। 'अल्का' मे गाँव की जनता एव उन पर किये गए अत्याचारो का वर्णन है, तो 'बिल्लेसुर बकरिहा' मे सामाजिक विद्रोह एव सामूहिक असन्तोष का चित्रण। इसमे ग्रामीण जीवन के सुधार का कोई सुझाव नही दिया गया है।

आँचलिकता—मराठी के समान हिन्दी मे आँचलिक उपन्यास यद्यपि आलोच्यकाल (१९००-१९५० ई०) के बाद लिखे गए है, तथापि उनका थोड़ा-सा उल्लेख करना यहाँ अनुपयुक्त न होगा। वैसे तो वृन्दावनलाल वर्मा ने भी अधिकाधिक यथार्थानुकारिता और स्वाभाविकता लाने के लिए बुन्देलखड की भाषा, रीति-रिवाज आदि का प्रसगानुसार चित्रण किया था और प्रसादजी के 'तितली' मे भी शेरकोट और बनजरिया को स्थानीय विशेषताओ के साथ अकित किया गया है, परन्तु उनके उपन्यासो को हम आँचलिक नही कह सकते, जबकि नागार्जुन एवं फणीश्वर रेणु की रचनाओ को इस श्रेणी के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है। इन लेखको ने बिहार के कुछ जनपदो को अपने उपन्यासो का घटनास्थल चुना है और वहाँ की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओ, लोगो के जीवन-स्तर, रीति-रिवाज, त्यौहार, धर्म, लोक-विश्वास, भाषा आदि का चित्रण प्रसगवश नहीं, अपितु विशेष रूप मे साग्रह किया है। इसके लिए उन्होने अपने कथानक मे ढूँढ़-ढूँढ कर अवसर निकाले हैं। इन उपन्यासो मे कथासूत्र क्षीण और जीवन-वैविध्य अधिक होता है। 'मैला आँचल' मे पूर्णियाँ जिले के एक गाँव की संस्कृति और उसकी वैविध्यपूर्ण जिन्दगी का बडा ही सजीव व यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। गाँव की भौगोलिक स्थिति, उस स्थिति का वहाँ के निवासियो के जीवन पर प्रभाव, विभिन्न जातियो और

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ ३६४ : तेरहवाँ संस्करण।

समुदायो की स्थिति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रीति-रिवाज, उत्सव, धार्मिक स्थिति, राजनीतिक चेतना आदि का यथार्थ और सही विवरण इस रचना मे दिया गया है ।

नागार्जुन ने भी लोकजीवन से रस-ग्रहण कर अपनी कृतियो को रसमय तथा सवेदनपूर्ण बनाया है । मैथिल प्रान्त की शस्य-श्यामला भूमि, सघन अमराइयो, तालाब-पोखरो से सिंचित कृषि, वहाँ के निवासियो के खानपान, रीति-रिवाज अध-रूढियो, उत्सव, राजनीतिक चेतना, आर्थिक कठिनाइयो, समाज की विषमता, स्वार्थ-परता, नारी के उत्पीडन, आदि के बडे ही सहज, स्वाभाविक, व सजीव चित्र उनके उपन्यासो मे अकित हुए है । उनकी रचनाओ को उस अर्थ मे तो आँचलिक नही कहा जा सकता, जिस अर्थ मे 'मैला आँचल' को, तथापि वे आँचलिक उपन्यास के अत्यन्त निकट है । उन्ही के उपन्यासो के समान कुछ-कुछ आँचलिक विशेषता लिए हुए देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' है, जिसमे मध्य-प्रदेश के गोडो के एक गाँव 'करजिया' को कथा का विषय बनाया गया है तथा गोड जीवन की सजीव झाँकी—लामसेना-प्रथा, भीमसेन की कहानी, करमानृत्य, लोकगीतो, सामाजिक प्रथाओ और धार्मिक विश्वासो द्वारा प्रस्तुत की गई है । इन उपन्यासो का एक विशिष्ट आकर्षण है उनकी भाषा । लेखको ने जिस प्रदेश के जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है, उसी प्रदेश की दिन-प्रतिदिन की भाषा का व्यवहार पात्रो द्वारा करा कर रचना को विशिष्ट माधुर्य प्रदान किया है । इस सम्बन्ध मे दो बातो की आवश्यकता है । प्रथम तो अपरिचित शब्दो की लडियो के प्रयोग, अतिरजना और भावुकता से बचा जाय और दूसरे, स्वस्थ, निर्लिप्त दृष्टि से जनजीवन का चित्रण किया जाना चाहिये ।

इस प्रकार हिन्दी और मराठी के उपन्यासो मे ग्रामीण जीवन की दुरवस्था के चित्रण, वहाँ की आर्थिक समस्याओ और उनके समाधान के उपाय बताने के साथ-साथ ग्राम्यजीवन की सस्कृति, उत्फुल्ल प्रकृति, रुढि, रीति-रिवाज, उत्सव, सामाजिक विषमता आदि के यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत किये गए है । भूमि के लिए संघर्ष, साहूकारो एव जमीदारो के अत्याचार, पुलिस के हथकंडो से उत्पीड़ित किसान दोनो भाषाओ के उपन्यासो के विषय रहे हैं । गाधीवादी ग्राम-सुधार की योजना को दोनो भाषाओ के उपन्यासकारों ने अपनाया है और फिर उससे असतुष्ट हो केवल यथार्थवादी चित्र दोनो ने उपस्थित किये हैं । कुछ उपन्यासो मे जनपद विशेष को पार्श्वभूमि बनाकर वहाँ की भौगोलिक, सामाजिक और साँस्कृतिक स्थिति के शब्दचित्र अकित किये गए है । आँचलिक उपन्यास हिन्दी की अपेक्षा मराठी मे पहले लिखे गए, तथापि दोनो भाषाओ की कृतियाँ यथार्थ चित्रण एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रशसा की पात्र है ।

समाजवाद का समर्थन करने की प्रवृत्ति—१९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन से निराश तरुणो का विश्वास गाधीवादी दर्शन से उठ गया और नवीन मार्ग की खोज मे इनका ध्यान मार्क्सवाद की ओर गया । १९१७ ई० में रूस की कम्यूनिस्ट

पार्टी ने लेनिन के नेतृत्व मे सफलतापूर्वक मजदूर-क्रान्ति की थी, जिसकी ओर भारत-वासियो का ध्यान सहज ही आकृष्ट हुआ। १९२६ ई० के शीतकाल मे पार्लिमेण्ट के भारतीय कम्यूनिस्ट सभासद कामरेड सकलातवाला ने भारत का दौरा किया और अपने विशिष्ट सिद्धान्तो का प्रचार किया। १९२९ ई० के मार्च मे सम्पूर्ण भारत के ३२ कम्यूनिस्ट कार्यकर्त्ताओ को कारावास का दड दिया गया। उनमे से चौथाई से भी अधिक मराठी भाषा-भाषी थे। अत मराठा-समाज मे कम्यूनिज्म के सम्बन्ध मे कुतूहल होना स्वाभाविक था। १९३०-३३ ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे शासन की आज्ञा का उल्लघन करने वाले युवको ने कारागार मे अन्तर्मुखी दृष्टि से अपने मतो व भारतीय आन्दोलन का पर्यालोचन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साम्यवाद के अतिरिक्त भारत के उद्धार का अन्य कोई मार्ग नही है। उन्होने राष्ट्र-सभा से साम्यवादी पक्ष की स्थापना की। उसका ध्येय तो मजदूर और किसान वर्ग को सत्ता प्राप्त कराना ही था, पर उसे कम्यूनिष्टो का आततायीपन, अत्याचार व राष्ट्र-सभा मे अलग होकर काम करने की प्रवृत्ति स्वीकार न थी। इससे समाजवाद का जन्म हुआ और उसके प्रसार मे महाराष्ट्र निवासियो की बुद्धि-प्रधानता एव दरिद्रता ने सहायता की। इस विचार-प्रणाली के प्रवर्तक मार्क्स के अनुसार ससार मे केवल एक आदि सत्ता है—भौतिकता। समाज मे अर्थ-पदार्थ-व्यवस्था ही परम सत्य है। यह समाज दो विरोधी वर्गो—पूँजीपति तथा सर्वहारा—द्वारा बना है। इन आधिभौतिक शक्तियो मे जो वर्ग पतनोन्मुखी हो—और उनके मतानुसार पूँजीवादी वर्ग ही पतनोन्मुख है—उसे हेय सिद्ध करना और नष्ट करना तथा सर्वहारा को प्रश्रय देना ही कलाकारो का परम कर्त्तव्य समझा जाता है।

मराठी मे सर्वप्रथम समाजवादी विचारधारा के दर्शन हमे वामन मल्हार जोशी के उपन्यासो मे मिलते है, यद्यपि उनसे भी पूर्व विष्णु बुवा ब्रह्मचारी के विचारो मे साम्यवाद के आदि-तत्व प्रतिबिबित होते दिखाई देते है "सब प्रकार के उद्योगपतियो, किसानो व राजा को एक सदृश निरामिष भोजन खाना चाहिये···सबके विवाह का प्रबन्ध राज्य करे। स्त्री पुरुष को नापसन्द होने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार हो। बच्चे के पाँच वर्ष की अवस्था प्राप्त होते ही उसे राज्य के नियन्त्रण मे रखा जाय, तदनन्तर उन्हे सब विद्या सिखाकर, जो जिस काम के लिए अधिक उपयुक्त हो, उसे उसी काम मे लगाया जाय। वृद्धावस्था मे स्त्री-पुरुषो से काम न लेकर उनके आराम से खाने की व्यवस्था हो···।"[1] वामनराव तत्कालीन समाज-व्यवस्था से असतुष्ट थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति, दिखावटी धर्मश्रद्धा और ढोंगी शिष्टाचार के वे विरोधी थे और समाजवादी व्यवस्था द्वारा समाज के दोषो का परिहार करने के पक्ष मे थे। प्रेमचन्द के समान उनका समाजवाद पूँजीवाद की प्रतिक्रिया न होकर वैयक्तिक ध्येयवाद का परिणाम अधिक था। सुशीला का निम्न कथन देखिये, "हमारी विश्वकुटुम्बी सस्था न ईश्वरवादी है, न निरीश्वरवादी, हम सत्यवादी है। हमारी

---

[1] विष्णु बुवा ब्रह्मचारी, 'सुखदायक राज्यप्रकरणी निबन्ध'।

राज्यव्यवस्था मे सबका विचार-स्वातत्र्य व मत-स्वातत्र्य होगा। किसी विशिष्ट वर्ग का अन्य वर्गो पर अत्याचार हो, यह मत हमे बिल्कुल पसन्द नही।"[1] उनकी विचार-धारा को शुद्ध समाजवादी नही कहा जा सकता। उसमे भूतदयावाद का पुट मिला हुआ है। यही बात खाडेकर के विषय मे है। वे मानवतावादी पहले है, कुछ और बाद मे। उनकी रचनाओ मे गरीबो के कष्टो, धनिको के अत्याचारो, समाज की विषमताओ का हृदयद्रावक चित्र मिलेगा, पर उस सबके पीछे लेखक के कोमल हृदय की सवेदना अधिक है, समाजवाद कम। उन्होने 'दोन ध्रुव', 'पाढरे ढग' इत्यादि मे गरीबी-अमीरी के बीच वैषम्य पर ही अपना रोष प्रकट नही किया है, अपितु विद्वता व अज्ञान, कलाजीवी व श्रमजीवी के भेद को दूर करने के लिए भी कथाएँ लिखी है। "कला और जीवन, सफेदपोश एव मजदूर, भोग और त्याग—वत्सला को सर्वत्र दो विरोध दिखने लगे···। इस विभेद के कारण ही संसार के सब दुख उत्पन्न हुए है।"[2] साथ ही समाजवाद के प्रभाव को खाडेकर पर स्वीकार न करना दुराग्रह होगा। उनके बहुत से विचारो का मूल समाजवाद ही है जैसे, "सुख मनुष्य के श्रम पर अवलबित होना चाहिये।" या "मुझे विश्वास हो गया है कि हमारा समाज एकरूप नही है, एक जीव नही है। समाज दो भागो मे बँट गया है। उसमे एक भाग का सुख दूसरे भाग के कष्टो पर अवलबित है। एक की रगपचमी दूसरे के रक्त से मनायी जाती है।"[3] 'पाढरे ढग' का केन्द्रीय विचार ही यह है कि संसार की विषमता से उत्पन्न दुखो को दूर करने का एकमात्र उपाय समाजवाद है। अन्य उपन्यासकारो मे भी समाजवादी विचारधारा के यत्र-तत्र दर्शन तो मिलते है, पर उन्हे पूर्णत समाजवादी नही कहा जा सकता। पु० य० देशपाडे ने समाज के आर्थिक सम्बन्धो से अधिक बल व्यक्ति के आचरण-स्वातत्र्य पर दिया है, तो साने गुरुजी मे गाधीवाद एव समाजवाद का मिश्रण मिलता है।

शुद्ध समाजवादी उपन्यासकारो मे हडप, गीता साने, माडखोळकर, प० त्रि० सहस्रबुद्धे के नाम उल्लेखनीय है। सन् १९४४ ई० के बाद हडप ने भारतीय जीवन का चित्रण वर्गसघर्ष की दृष्टि से किया है। "गोदाराणी' मे उन्होने वारली जाति को कम्यूनिस्टो के नेतृत्व मे जमीदारो के विरुद्ध क्रान्ति करते दिखाया है, तो 'अन्नदाता उपाशी' मे किसानो को भूस्वामियो के विरुद्ध सघर्ष करते। 'आजचा प्रश्न' मे उन्होने ४२ ई० की क्रान्ति के समय साम्यवादियो द्वारा अपनाई गई नीति का समर्थन करने का प्रयत्न किया है। उनके इसी कृतित्व को देख समाजवादी विचारधारा के प्रचार एव प्रसार मे उनके उपन्याओ की सहायता का मूल्याँकन करते हुए श्री माटे ने कहा है, "स्वय समाजवादियो ने अपने नये सदेश को, जितने लोगो तक पहुँचाया है, उससे

---

१. वामन मल्हार जोशी 'सुशीला चा देव', दूसरी आवृत्ति, पृष्ठ ११४।

२. वि० स० खाडेकर 'दोन लव'. चौथी आवृत्ति, पृष्ठ १५६।

३. वही, वही, भूमिका, पृष्ठ १९।

कही अधिक हडप ने अपने उपन्यासो द्वारा पहुँचाया है ।"[1] गीता साने ने 'दीपस्तम्भ' एव 'आविष्कार' मे सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नो का समाधान समाजवादी विचारधारा मे पाया है । माडखोलकर के 'मुक्तात्मा' मे यदि यह बताया गया है कि भारत मे किन राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियो के कारण समाजवाद का उदय व प्रसार हुआ, तो समाजवादी सिद्धान्तो का स्पष्ट प्रतिपादन हमे उनके 'नवे ससार' तथा 'चदनवाडी' मे मिलता है । 'नवे ससार' का विषय धनिकवर्ग की जीर्ण सस्कृति और आर्थिक वैषम्य के कारण उत्पन्न अनेक दुखो का चित्रण करना है । उनके अधिकाश पात्र समाजवाद के समर्थक हैं । चन्द्रशेखर को लगता है कि समाजवाद ही देश का उद्धार करने मे समर्थ हो सकता है । अवधूत को भी समाजवाद प्रिय है । "व्यक्तिमात्र को समान अवसर और समान अधिकार देने वाला समाजवाद ही सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता की समान भूमि पर ला सकेगा ।"[2] इस प्रकार माडखोळकर समाजवाद के समर्थक है । उस समाजवाद ने भिन्न-भिन्न रचनाओ मे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिया है । चन्द्रशेखर का आतकवादी, निशिकात का व्यक्तिनिष्ठ, अवधूत का सर्वांगीण क्रान्ति करने वाला व स्वामीजी का आध्यात्मिक समाजवाद इसके उदाहरण हैं । उनकी रचनाओ मे आत्म-विश्वास का अभाव है । अतः वे गांधीवाद के विध्वस का कार्य तो कर सके हैं, पर नये मत का प्रतिपादन एवं समाजवादी आन्दोलन के अतरग का दिग्दर्शन कराने मे असमर्थ रहे है । दूसरे, उनके उन्मादक प्रणय-चित्रो के भडकीले रगो के कारण समाजवाद का रग फीका पड़ गया है ।

हिन्दी मे मार्क्सवादी सिद्धान्तो की अवतारणा सर्वप्रथम 'हस' मे फुटकर लेखो, कविताओ और कहानियो द्वारा हुई । प्रेमचन्द मे समाजवादी विचारधारा के दर्शन अवश्य मिलते हैं जैसे, 'प्रेमाश्रम' मे रायसाहब का कथन "दूसरे के परिश्रम पर किसी को भी मोटे होने का अधिकार नही है", परन्तु उनकी भावपूर्ण शैली, आदर्शवादी दृष्टि, सुधारवादी वृत्ति एव दार्शनिक आधार उनकी कृतियो को समाजवादी स्वरूप से नितान्त भिन्न बना देते है । वस्तुतः उनके बाद मार्क्सवादी भावनाओ को आग्रहपूर्वक हिन्दी मे ग्रहीत करने का आन्दोलन आरम्भ हुआ और हिन्दी मे दो प्रकार के उपन्यास लिखे गए—रोमाण्टिक यथार्थवादी जिनके पात्र तो कम्यूनिष्ट होते हैं, जिनमे समाजवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी होता है पर जिनमे यौन-वृत्ति ही अधिक उभर कर आई है ; दूसरे, वे जिनमे सचमुच समाज और लोक-जीवन से रस ग्रहण किया गया है । प्रथम के प्रतिनिधि हैं यशपाल, तो दूसरे के नागार्जुन । मराठी में यशपाल के समीप माडखोळकर को रखा जा सकता है, तो नागार्जुन के समीप हडप को । यशपाल के उपन्यासो को पढकर ऐसा लगता है जैसे बिना प्रेम किये साम्यवाद की निष्णातता प्राप्त नही हो सकती । वे मार्क्स के इस कथन को भूल गए हैं कि लेखक का दृष्टिकोण जितना ही प्रच्छन्न रहे, कलात्मक सौष्ठव के लिए उतना ही

---

१. 'प्रभात' पत्रिका-२६-१२-४८ ।

२. ग० त्र्य० माडखोलकर 'चंदनवाडी', पृष्ठ १५१-१५२ ।

श्रेयस्कर है। कम्यूनिष्ट पार्टी का समर्थन करने के लिए अन्य राजनैतिक दलों की निन्दा एव रूस की प्रशंसा वे आवश्यक मानते है। उनके राजनीतिक सिद्धान्तों की ज्वाला वासना की लहरो से बुझ जाती है। श्रीकृष्णदास के उपन्यासो मे भी यही दोष है।

मिथिला प्रान्त की शस्य श्यामला भूमि तथा शोषित, उत्पीडित स्त्री-पुरुषो को सहज रूप मे चित्रित करते हुए तथा उनके समाज की विषमता, स्वार्थपरता, शोषण, संघर्ष आदि का चित्र प्रस्तुत करते हुए नागार्जुन ने समाजवादी आन्दोलन का समर्थन तथा अभिनन्दन किया है। यदि उनकी रचनाओ मे कोई दोष है तो यही कि उन्होने भी कही-कही (जैसे 'वलचनमा' मे) राजनीतिक सिद्धान्तो को आग्रह के साथ आरोपित किया है। भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' मे उनका पार्टी-रूप मुखर हो गया है। रागेय राघव का 'विषाद मठ' राजनीतिक पूर्वग्रह एवं उन्मादक प्रणय-चित्रण दोनो दोषो से मुक्त होने के कारण अधिक सवेदनात्मक है।

साराश यह कि मराठी और हिन्दी दोनो के तथाकथित समाजवादी उपन्यास लगभग समान दोषो—अश्लीलता, प्रचारात्मकता, अन्य राजनीतिक दलो की अनावश्यक निन्दा, रूस की अनावश्यक प्रशसा आदि से आक्रान्त है। लम्बे-लम्बे व्याख्यान, शुष्क उपदेश अथवा नारो की चिल्लाहट ने उनकी कला को आघात पहुँचाया है। इन उपन्यासो मे परिस्थिति और परिपार्श्व का चित्रण प्रधान हो जाने से पात्र निर्जीव, यन्त्र-चालित कठपुतली मात्र रह गए हैं और नये वादो का केवल बौद्धिक आकलन करने के कारण, अनुभूति के अभाव मे उपन्यास की सबसे आवश्यक वस्तु सवेदनीयता हल्की पड गई है। उनमे रसलीनता और एकात्मकता का अभाव है। राजनीतिक समाधान की दृष्टि से भी वे उपादेय नही, क्योकि इन उपन्यासो मे जो कुछ कहा गया है वह भारत की सामयिक स्थिति और समस्याओ का अध्ययन करके उनके समाधान रूप मे नही कहा गया, अपितु मार्क्स, लेनिन और स्टालिन के अधानुकरण पर मार्ग-दर्शन करने की चेष्टा की गई है। इसी का विरोध करते हुए 'चदनवाडी' का अवधूत कहता है, "परन्तु अपनी राजनीति और राष्ट्रीय आन्दोलन के रूस से आने वाले अथवा कम्यूनिष्ट दल से मिलने वाले आदेशो के अनुसार चलाना हमारे स्वाभिमान को आघात लगाने वाली तथा अत्यन्त खतरे की बात है।"[१] फलत समाजवादी रचनाएँ जन-मन को छू सकने मे असमर्थ रही है।

मिल-मजदूरो के जीवन-चित्रण की प्रवृत्ति—नये यन्त्रो के आविष्कार ने पश्चिम मे औद्योगीकरण को प्रोत्साहन दिया और पश्चिमी शक्तियो के भारत मे आगमन के साथ यहाँ भी देश मे औद्योगीकरण का श्रीगणेश हुआ। प्रारम्भ मे सबने इसका स्वागत किया, पर जैसे-जैसे इसके दोषों की अवगति होती गई, वैसे-वैसे इसका विरोध हुआ। प्रथम युद्ध से पूर्व महाराष्ट्र मे मजदूरों मे वर्ग-जागृति लगभग बिल्कुल न थी, पर उसके बाद आर्थिक कारणो से मजदूर-आन्दोलन को बल मिला।

---

[१] ग०त्र्य० माडखोलकर 'चंदनवाडी' पृष्ठ १५१।

१९०८ ई० मे बम्बई मे मिल-मजदूरो ने तीन दिन तक हड़ताल अवश्य की थी, पर उसका कारण तिलक को मिलने वाला कारावास-दण्ड था, वर्ग-चेतना और अधिकारों की माँग न थी। वैसी हड़ताल तो १९१८ ई० मे हुई। उसके बाद की सब हड़तालो का निश्चित माँगो, संगठन-शक्ति, संघर्ष-वृत्ति आदि के कारण महत्व है। इसकी चेतना भी शीघ्र ही मिल-मालिको को हो गई जैसा कि मिल ओनर्स एसोसिएशन' के अध्यक्ष सर दिनशा वाच्छना के १९१८ ई० के अप्रैल मे दिये भाषण से प्रकट होता है, "मिल-मालिक व मजदूरो के मध्य होने वाली व निश्चयपूर्वक लड़ी जाने वाली हड़ताल आगे अवश्य होगी। १९वीं शताब्दी के मजदूरो से बिल्कुल भिन्न प्रकार का मिल-मजदूर वर्ग व उनका आन्दोलन अस्तित्व मे आयेगा।···मजदूर-वर्ग अपने काम व श्रम का स्वामी बनने एवं स्वतन्त्रता का अधिकार मागेगा।" युद्धकालीन आर्थिक तेजी से पूजीपतियो को अत्यधिक लाभ हुआ, पर शीघ्र ही आर्थिक मदी व जापान से प्रतिस्पर्धा के कारण उन्होने वेतन-कटौती एव काम के घण्टे अधिक बढ़ाने इत्यादि उपायो का आश्रय लिया। इस पर समाजवादी नेताओ 'बापटिस्ट काका' आदि के भाषण सुनने वाले मजदूर बिगड़ उठे। डागे के समाचार पत्र 'सोशिअलिस्ट' ने इस दिशा मे उन्हे और अधिक भड़काया, जिसका परिणाम थी १९२५ ई० की बम्बई मिल-मजदूरो की प्रथम महत्वपूर्ण सार्वजनिक हड़ताल । वस्तुत. वास्तविक सघर्ष का कारण साम्यवादी विचारधारा ही थी, जिसने वर्ग-संघर्ष की चेतना एव मिल-मालिक-मजदूर विरोध पर बल दिया।

मिल-मजदूरो की गरीबी उनका पशुवत नारकीय जीवन, उनकी गन्दी बस्तियो और गरीबी से उत्पन्न चारित्रिक दोषो ने लेखको का ध्यान आकृष्ट किया और उन्होने पहले आदर्शवादी समाधान—मिल-मालिको की उदारता—को ही पर्याप्त समझा। ना० वि० कुलकर्णी ने, जो 'गरीबो के उपन्यासकार' कहे जाते है, पूंजीपतियो को उदार चित्रित किया है। मिल-मालिक की लडकी से संतुराम नामक मजदूर का विवाह कराकर लेखक ने दोनो वर्गो मे सद्भाव बढते हुए दिखाया है। परन्तु लेखक द्वारा प्रस्तुत समाधान न तो स्वाभाविक ही है, और न सब मजदूरो की समस्या को हल करने वाला ही।

उनके उपरान्त अन्य उपन्यासकारो—केतकर, वरेरकर, खाडेकर, माडखोळकर और विभावरी शिरुरकर आदि ने मजदूरो के जीवन और उनकी कठिनाइयों का यथार्थवादी चित्रण किया। केतकर की दृष्टि उनके आर्थिक जीवन से अधिक लैंगिक सम्बन्धो पर गई। 'ब्राह्मणकन्या' मे स्त्री-मजदूरो के नैतिक-पतन, मजदूर-नेताओ के उच्छृंखल लैंगिक सम्बन्धो का वर्णन ही अधिक है। रामराज के कारण मिल-मजदूरों, मिल-मालिको या मजदूर-नेताओ का जो कुछ चित्रण हुआ है, वह विषय से असम्बद्ध है। इसी प्रकार 'विचक्षणा' मे वाळत्रा के व्याख्यानो और जीवन से मजदूरो के सुधार का कार्यक्रम प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल किन-किन दिशाओ मे उनके सुधार की आवश्यकता है, यह प्रकट होता है। मिल-मजदूरो की बस्ती, उनके रहन-सहन, उनके मिल

मे काम करते समय की परिस्थितियो, काम के वाद सायकाल को उनकी शारीरिक एव मानसिक अवस्था, उनके दैन्य एवं दोषो का चित्रण वरेरकर, खाडेकर और माडखोळकर ने वडी सजीव एव मार्मिक शैली मे किया है। वरेरकर ने जहाँ एक ओर मलावार हिल पर रहने वाले मिल-मालिको के विलास का चटकीला वर्णन किया है, वहाँ दूसरी ओर मजदूर-वस्ती की गन्दगी का घिनौना रूप प्रस्तुत किया है "धूल, धुँआ और कचरे का साम्राज्य सर्वत्र फैला हुआ था···काच की चिमनी न होने के कारण मिट्टी के तेल की टीन की डिबिया प्रत्येक कोठरी में धुएँ के गुब्बार उगल रही थी।"[1] इसी घिनौने रूप के कारण उस चाल मे कत्ल नही हुआ था, किसी ने किसी का सिर नही फोड़ा था—तो भी उस जीने की सीढी पर पैर रखते ही कान्होवा का शरीर रोमाचित हो उठा।"[2] इसी यथार्थवादी शैली के कारण माडखोळकर ने उनके विषय मे लिखा है "मजदूरो के जीवन का चित्रण इतनी सहृदयता और विस्तार से करने वाला यह मराठी का प्रथम उपन्यास है।"[3] खाडेकर के 'रिकामा देव्हारा', 'उल्का' व 'दोन ध्रुव' मे भी मजदूरो की दीनता एव असहाय अवस्था के मार्मिक चित्र हैं।" "जन्म लेना और किसी अन्य के लिए अपना रक्त दे मर जाना, यही मजदूरों के जीवन का सार है।" यह स्थिति एक मजदूर की नही अपितु सभी श्रमजीवियो की है, यह वताते हुए चन्द्रकान्त उल्का से कहता है "उल्का, एक सगुण को देखकर तू रोती है। परन्तु सारी परळ वस्ती—और परळ ही क्यो, वम्बई और हिन्दुस्तान भी ऐसे सगुणो से भरा पड़ा है। आँखो मे समुद्र होता, तो वह भी रोते-रोते सूख जाता।"[4]

मिल मे काम करते समय मजदूरो की दुरवस्था का चित्र माडखोळकर ने यदि 'चन्दनवाडी' मे वडी सुन्दरता से अकित किया है[5], तो काम करने के वाद उनकी दयनीय दरिद्र मूर्ति का स्वरूप विभावरी शिरुरकर के 'वळी' में देखिये, "मिल से निकलने वाले मजदूर घर कहलाने वाली अव्यवस्थित अडवड जमीन की ओर भाग रहे थे। ताडी पी नशे मे चूर स्त्री-पुरुष जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। मन का सारा द्वेष और घृणा, अमगल शब्दो द्वारा व्यक्त हो रही थी। सारे दिन अकेलेपन के कारण पिल्लो की तरह पे-पे करने वाले वच्चे माँ-वाप के आगमन की खुशी मे और भी असहाय होकर रो रहे थे तथा परिश्रम से चूर माँओ की ममताधारा सूख जाने के कारण उन वेचारो को प्यार की जगह पीठ पर मुक्के और थप्पड ही मिल रहे थे।"[6] मिल-मालिको की निरंकुशता, मजदूरो पर उनके अत्याचारो आदि का प्रातिनिधिक चित्र बोकील के 'कुवेर की रक' मे देखा जा सकता है। उनकी निरकुशता के विषय मे लेखक कहता

---

[1] भा० वि० वरेरकर 'धावता धोटा', पृष्ठ ११।

[2] वही, पृष्ठ १०।

[3] ग० त्र्यं माडखोलकर 'वाङ्मय विलास', पृष्ठ ५४।

[4] वि० स० खाडेकर 'उल्का', चौथी आवृत्ति, पृष्ठ १७६।

[5] ग० त्र्यं माडखोलकर 'चंदनवाडी', पृष्ठ ४५।

[6] विभावरी शिरुरकर 'वली', पृष्ठ ५७।

है। "मजदूरो को कितने घण्टे काम करना है, इस सम्बन्ध मे उनके नित्य नये कानून बनते है। जहाँ कही खड़े होकर, जो कुछ कह दे वही कायदा है, और वही वायदा है। और इतने पर भी किसी भी छोटी-मोटी बात पर उस मनुष्य को मजदूरी का भी पैसा न दे धक्के मार कर निकाल देना उनका कौशल है। बेचारा गरीब मजदूर दो-डेढ रुपये के लिए भला कचहरी मे क्या जावेगा? अतः चुपचाप उसे अपनी हानि सह दूसरी जगह काम पर जाना स्वीकार करना पड़ता है। और गणपतराव अपनी चतुराई पर प्रसन्न होते है।"[1] यदि वे उन्हे मरने नही देते, तो भी अपने स्वार्थ के लिए और इसलिए उतना अन्न देते रहते है जिससे वे मरें नही।

इन लेखको ने मजदूर-जीवन के मार्मिक शब्द-चित्र प्रस्तुत करने के साथ उनके नेताओ की अच्छी-बुरी मनोवृत्तियो पर भी प्रकाश डाला है। जहाँ एक ओर 'ब्राह्मण कन्या' मे यूनियन का रुपया खाने वाले, अपने स्वार्थ के लिए मजदूरो के हित की बलि करने वाले, पर ऊपर से यह दिखाने वाले कि धनवान होते हुए भी केवल मजदूरो के प्रति सहानुभूति होने के कारण उन्होने उस आन्दोलन मे भाग लिया है, नेता चित्रित किये गए हैं, वहाँ वरेरकर के 'धावता धोटा' मे बाबा शिगवण जैसे सच्चे मजदूर नेता का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है, जो १०००० रुपये की रिश्वत पर लात मार देता है, जिसे सारी मजदूर बस्ती के व्यवहारो, मानवी सम्बन्धो व लडाई-झगडो का ज्ञान है, जिसके अनुमान सदा सत्य होते है, जो वहाँ की मनुष्यता और मधुर सम्बन्धो का सरक्षक है और जिसका सिद्धान्त वाक्य है, "जिसे मैंने एक बार अपना कह दिया, वह मेरा हो गया।" मजदूरो की संगठन-शक्ति, उनके सघर्ष, मजदूरो की हडताल, मिल-मालिको के हडताल समाप्त करने के परम्परागत प्रयत्नो, मजदूर-नेताओ के नेतृत्व और जेल जाने, पुलिस द्वारा गोलाबारी आदि का सजीव अकन 'धावता धोटा' के अतिरिक्त 'गुलाबी विधवा', 'चदनवाडी' और खाडेकर के 'हिरवा चाफा', 'दोन ध्रुव' व 'उल्का' तथा वोकील के 'कुवेर की रक' मे हुआ है।

ना० वि० कुलकर्णी के विपरीत इन लेखको, ने साम्यवादी विचारधारा से प्राभावित हो इस सवध मे क्रातिकारी विचार रखे। 'धावता धोटा' मे जहाँ बाबा शिगवण अपनी ओजस्वी वाणी मे मजदूरो को उनके दोष बताकर उन्हे दूर करने का उद्बोधन देते है, वहाँ पहली बार वह मजदूरो को मिल का स्वामित्व माँगने का सुझाव देते है, "कम घटे मत माँगो, अधिक मजदूरी मत माँगो, कम काम की माँग मत करो, अधिक आदमियो की भी माँग मत करो। अगर माँगना है तो मिल माँगो। माँगना है तो स्वामित्व मागो। उस पर तुम्हारा अधिकार है, उसके निर्माण मे तुम्हारा रक्त वहा है, तुम्हारे बाल-बच्चो के प्राण गए हैं।"[2] इसी प्रकार के साम्यवादी विचार खांडेकर ने मुकुद से कहलाये है, "और अधिक कारखाने बनने दो, और अधिक माल उत्पन्न होने दो, पर जिसके श्रम पर उसका निर्माण होता है, उसी का स्वामित्व भी

---

[1] वि० वि० वोकाल 'कुवेर की रक', पृष्ठ १८५।

[2] भा० वि० वरेरकर 'धावता धोटा' : १९३३ संस्करण, पृष्ठ १२१।

उस पर होने दो ।" इन लेखको ने धन के विषम विभाजन को समाज का महान दोष मान, उसके सम-विभाजन पर बल दिया और उसके हेतु क्रान्ति करने के लिए मजदूरो को उद्बुद्ध करने की चेष्टा की ।

कुछ उपन्यासो मे मजदूरो की समस्या को केवल पार्श्वभूमि के रूप मे अपनाकर लेखको ने प्रणय-कथाएँ लिखी । ऐसे उपन्यासकारो मे फडके सर्वप्रमुख है । 'उन्माद' मे श्रीनिवास मजदूरो का नेता बना है, हडताल आदि कराकर उनमे जाग्रति उत्पन्न करता है, पर अन्ततः उसे मजदूर-आन्दोलन की पार्श्वभूमि पर लिखी प्रेमकथा से अधिक मान नही दिया जा सकता । खाडेकर के कुछ उपन्यासो मे भी बीच-बीच मे यही प्रवृत्ति आगई है ।

हिन्दी मे वर्गवाद १९२८ ई० के बाद आया । यहाँ १९३६ ई० तक पूजीपति-मजदूर सघर्ष की साहित्यिक भूमि तैयार नही हो पाई थी । प्रेमचन्द ने 'गोदान' और 'रगभूमि' मे औद्योगीकरण की समस्या को उठाया अवश्य है, पर वे औद्योगीकरण के विरोधी न थे, वे तो पूजीवादी औद्योगिक प्रवृत्ति के कट्टर विरोधी थे, जिसके कारण न केवल मजदूरो का, अपितु किसानो का भी शोषण होता है । 'रगभूमि' मे उन्होने पूजीपति जानसेवक के प्रति क्रोध उत्पन्न कर औद्योगीकरण के विरुद्ध अपना स्पष्ट मत दिया है । मजदूरो के प्रश्न को उन्होने 'गोदान' मे उठाया । मेहता कहते है "आपके मजदूर बिलो मे रहते है—गदे, बदबूदार बिलो मे जहाँ आप एक मिनिट भी रह जायँ, तो आपको कै आजाये । कपडे जो वह पहनते है, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे । जो खाना वह खाते है, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा ।"[1] साथ ही खन्ना की मिल की हडताल को लेकर उन्होने पूजीपति-मजदूर सघर्ष को आवाज उठाकर उसमे मजदूर-पक्ष का समर्थन किया है । उनके बाद साम्यवादी उपन्यासकारो—यशपाल अचल, मुल्कराज आनद आदि ने इस सघर्ष का चित्रण और समाधान साम्यवादी विचारधारा के अनुसार किया । 'अचल' के 'चढती धूप' मे मजदूर-जीवन के चित्र यथार्थ के बहुत निकट है । यही बात श्रीकृष्णदास के 'अग्निपथ' के विषय मे कही जा सकती है, पर इन दोनो उपन्यासो मे प्रचार ने कला को व्याघात पहुँचाया है । साम्यवादी दल की राजनीतिक गतिविधि का ब्यौरा विशेष रूप से अशोभनीय हो गया है । यशपाल के 'दादा कामरेड' मे मजदूरो की हडताल का ब्यौरा भी इसी प्रकार का है । मुल्कराज आनन्द के 'कुली' मे मजदूरो के जीवन का जैसा सहज, करुण, हृदय-द्रावक और मर्मस्पर्शी वर्णन है, वैसा अन्यत्र कम मिलेगा । उनके साहस, परिश्रम तथा बढती हुई चेतना का भी इसमे दिग्दर्शन है, साथ ही साम्यवाद का बीजारोपण भी ।

साराश यह कि मजदूर-जीवन सबधी हिन्दी उपन्यासो मे मराठी उपन्यासो के समान साम्यवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है । मराठी उपन्यासो की तरह हिन्दी रचनाओ मे भी प्रणय-चित्र तथा प्रचारात्मकता है । डा० केतकर की समाजशास्त्रीय दृष्टि हिन्दी उपन्यासो मे नही है । हिन्दी मे उनके उपन्यासो के समान

---

[1] प्रेमचन्द 'गोदान', पृष्ठ ३९०, तेरहवाँ सस्करण ।

मज़दूरो की लैगिक समस्याओ का चित्रण करने वाला अभी तक कोई उपन्यास नही लिखा गया है।

क्रांतिकारी आन्दोलन के चित्रण की प्रवृत्ति—बग-भंग, रौलेट एक्ट तथा अन्य राजनीतिक विक्षोभकारी घटनाओ ने भारतीय जन-मन को, विशेष रूप से नवयुवको को, बहुत अधिक प्रक्षुब्ध कर दिया। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पाश से मुक्त होने के लिए आतुर हो उठे। अन्य देशो की सशस्त्र राजनीतिक क्रान्ति के उदाहरण उनके सामने थे। यहाँ अस्त्र-शस्त्र रखने पर प्रतिबन्ध था। अतः गुप्त रूप से शस्त्र एकत्र करने, लुके-छिपे ब्रिटिश अधिकारियो की हत्या करने, एव शस्त्रो के लिए आवश्यक धन के लिए डाका डालने के षड्यन्त्र इन क्रान्तिकारी गुटो द्वारा होते रहे। ये षड्यन्त्र न तो देशव्यापी थे और न उनका उद्देश्य ही स्वतन्त्रा-प्राप्ति था। वे लोग जानते थे कि इस प्रकार की दो-चार हत्याओं या डाको से ब्रिटिश सिंहासन डाँवाडोल नही हो सकता। उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को केवल यह बताना था कि भारतीय जनता उनके शासन-प्रबन्ध एव नीति से असन्तुष्ट है, तथा भारतीयो मे न तो राजनीतिक चेतना ही लुप्त हुई है और न उनमे साहस का ही अभाव है। अवसर मिलने पर वे अपनो मातृभूमि को दासता के पाश से अवश्य मुक्त करा लेगे। भारतीय उपन्यासकारों का ध्यान इन सनसनीपूर्ण घटनाओं और क्रान्तिकारियो की ओर गया।

वामन मल्हार जोशी के 'नलिनी' मे १६०६-१६०६ ई० के समय के राजनीतिक वातावरण का उपयोग करते हुए तीन नवयुवको विनायकराव, बसतराव व रगराव को क्रातिकारी विचारो से ओतप्रोत दिखाया गया है, परन्तु कुल मिलाकर भावुक तरुणो के इस आन्दोलन का चित्र अस्पष्ट, असन्तोषजनक एव अपूर्ण ही है, क्योकि लेखक का पूर्ण तादात्म्य इस विचारधारा एवं आन्दोलन से नही हो सका है। 'सुशीला चा देव' मे भी उन्होने क्रान्तिवादी व्यक्तियो की मनोवृत्ति का वर्णन करने की चेष्टा की है, जिसे देखकर माडखोळकर ने लिखा था, "महाराष्ट्र के क्रान्तिवादियो के विफल जीवन की भीनी हृदयस्पर्शी छटा उनके (वामन मल्हार जोशी) अतिरिक्त अन्य किसी भी मराठी उपन्यासकार ने नही चित्रित की है। उस छटा का रग भले ही सौम्य हो, पर प्रत्यक्षानुभूति के कारण उसमे मन को स्पर्श करने की विशेष शक्ति है।"[१] डा० केतकर ने क्रांतिकारियो के विचारो मे होने वाले सघर्ष व गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न किया, पर जो व्यक्ति यह मानता था कि नि.शस्त्र जनता का आन्दोलन भी नि शस्त्र एव अहिंसात्मक होना चाहिये, उससे क्रातिकारियो की मनोवृत्ति के सफल विश्लेषण करने की आशा दुराशा-मात्र ही है। गीता साने के दो उपन्यासो 'आविष्कार' व 'दीपस्तम्भ' मे क्रान्तिकारी पक्ष को विषय बनाया गया है, पर प्रथम मे क्रान्तिकारी नायक को समाजवाद की ओर घसीटने का प्रयत्न किया गया है, तो दूसरे मे क्रातिवादी मध्यवर्ग की चिन्ताओ और परेशानियो का चित्रण है। जिस प्रकार समाजवादी गीता साने ने 'आविष्कार' मे नायक को समाजवाद की ओर घसीटा है, उसी प्रकार प्रेमाकंटक ने 'काम आणि कामिनी' मे नायक को क्रातिवाद की असफलता से

---

[१] गं० त्र्यं० माडखोळकर 'माझे आवडते लेखक', पृष्ठ १४०।

क्षुब्ध व निराश दिखाकर शातिवाद एव अहिंसा का समर्थन करते दिखाया है। स्पष्ट है कि इन लेखिकाओ का उद्देश्य क्रातिवाद का चित्रण और समर्थन न होकर, उसकी विफलता दिखाकर क्रमशः समाजवाद और गाधीवाद का समर्थन करना था।

ना० सी० फडके के क्रातिकारी नायको वाले उपन्यास भी उन्ही दोषो से आक्रान्त है, जिन दोषो से उनके अन्य राजनीतिक उपन्यास। उनके नायक क्राति सम्बन्धी कार्य करने की अपेक्षा प्रणयोन्माद के नशे की खोज मे अधिक रहते है। क्रातिकारी घटनाओ का उपयोग कथा को अधिक आकर्षक बनाने एव कुतूहल-वृद्धि के लिए किया गया है। 'आशा' मे व्हाइटफील्ड की क्रातिकारी शरच्चन्द्र द्वारा हत्या अथवा 'समरभूमि' मे सुरेन्द्र का भूमिगत हो वेष बदलकर घूमना, विदेशी मित्रो की सहायता पाना, हत्या का आरोप इत्यादि रोमाचकारी घटनाओ ने एक ओर कथा मे कुतूहल बढ़ाया है, तो दूसरी ओर सघर्ष निर्माण कर प्रणय-कथा को और अधिक आकर्षक एव उदात्त बना दिया है। माडखोळकर के उपन्यास उपर्युक्त दोषो से तो आक्रान्त हैं ही, साथ ही अस्वाभाविकताओ एव विसंगतियो ने भी उनके सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। 'मुक्तात्मा' मे सोलह वर्ष की आयु वाले केशव का स्त्री-सौन्दर्य के मर्म पर पाडित्यपूर्ण प्रवचन और अग्रेजी कवि कीट्स के जगह-जगह पर अवतरण उद्धृत करना अस्वाभाविक है। माडखोळकर के क्रातिकारी नायक ध्येयच्युत, कामुक और शृगारप्रिय ही नही, लापरवाह एवं मूर्ख भी है। 'मुक्तात्मा' का चन्द्रशेखर पत्र की चोरी होने पर भी पिस्तौल को सावधानी से नही रखता, अपितु उसे मेज़ पर यूँही अरक्षित छोड़ देता है। इन उपन्यासो से क्रातिकारी सघटन का अतरग परिचय तो दूर रहा, ऊपरी जानकारी भी होना कठिन है, क्योकि उनमे आन्दोलन की प्रत्यक्ष घटनाओ, क्रान्तिकारियो के विविध अनुभवो एवं मार्ग मे आने वाली अड़चनो का साक्षात्कार नही होता। वाद-विवाद कथानक से एकजीव न होने के कारण ऊपर से चिपकाये गए प्रतीत होते है। इसीलिए वळिंबे ने कहा है, "मराठी साहित्यकारो को अभी सीखना है कि उपन्यास के साँचे मे राजनीतिक मतो का प्रचार कला, शिल्प या प्रभाव की दृष्टि से कैसे सफल बनाया जा सकता है।"[1] माडखोळकर के उपन्यासो मे अतिरंजित भावनाप्रधानता एव प्रणयाधिक्य के परिणामस्वरूप क्रातिकारिता प्रारभ से ही दुर्बल एवं क्षीण होगई है, जिसे देख कुसुमावती जी ने कहा है "फडके जिस प्रकार अपने कथानक मे एकाध रहस्यमय घटना की योजना करते है, उसी प्रकार माडखोळकर क्रातिकारियो की योजना…"[2]

यही खेदपूर्ण स्थिति हिन्दी के क्रातिवादी उपन्यासो की है। प्रेमचन्द प्रारम्भ मे पूर्णत. गाधीवादी थे, तथापि 'गोदान' के बाद उनकी आस्था गाधीवादी अहिंसा और हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्तो से उठ गई प्रतीत होती है। 'मगलसूत्र' मे उनका स्वर तीव्र हो उठा है और वे सशस्त्र क्रान्ति के पक्षपाती जान पडते हैं 'दरिन्दो से

---

१. रा० शं० वळिंवे 'मुक्तात्म्या पालन प्रमद्वरे येत', पृष्ठ ६३।

२. कुसुमावती देशपाडे 'मराठी कादंबरी', दूसरा भाग, पृष्ठ ६८।

लड़ने के लिए हथियार बांधना पडेगा।" उनके बाद जैनेन्द्र के उपन्यासो मे कुछ पात्रो को क्रान्तिकारी दल के सदस्य के रूप मे चित्रित किया गया है जैसे, 'सुनीता' का हरिप्रसन्न, 'सुखदा' की सुखदा और मिस्टर लाल और 'विवर्त' का जितेन। जैनेन्द्र प्रधानरूप से मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार है। उन्होने क्रान्तिकारी पात्रो को अपने उपन्यासो मे स्थान दिया है तो इसलिए नही कि उनका उद्देश्य क्रान्तिकारी जीवन और विचारधारा का सम्यक् दिग्दर्शन कराना था, अपितु इसलिए कि वह व्यक्तिवादी उपन्यासकार थे और क्रान्तिकारी दल मे कठोर अनुशासन होते हुए भी वैयक्तिकता के उत्थान एव विकास के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। उनका ध्येय यह दिखाना भी था कि प्रेमजन्य निराशा एव कुठाओ की ठोकर खाकर मनुष्य की सुप्त कार्य-शक्ति जाग्रत हो जाती है और वह कुछ करने के लिए व्यग्र हो उठता है। कुछ स्थलो पर क्रान्तिकारियो का रहस्यमय, पुलिस के आतक से त्रस्त जीवन और पार्टी-सगठन का चित्रण बडी सजीवता के साथ हुआ है, परन्तु उनके क्रान्तिकारी पात्रो का आचरण एव व्यवहार उस दल को शोभा नही देता। मराठी उपन्यासो के क्रान्तिकारी नायको के समान वे भी कामुक, कुण्ठाग्रस्त या अकर्मण्य चित्रित किये गए हैं। यशपाल यद्यपि स्वय क्रान्तिकारी दल के सदस्य रह चुके है और उन्होने अपने उपन्यासो मे क्रान्तिकारी दल की कहानियो का सहारा भी लिया है, तथापि उनके उपन्यासो का प्रधान स्वर स्त्री-जाति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना तथा स्त्री-सम्बन्धी परम्पराओ की निस्सारता प्रकट करना प्रतीत होता है। 'दादा-कामरेड' मे क्रान्तिकारियो के हिंसात्मक आन्दोलन, उनके अनुशासन सम्बन्धी कड़े नियमो (सदिग्ध व्यक्ति को गोली से उडा देना, आदि), मजदूरो की हडताल आदि का बडा सजीव चित्र अकित किया गया है, तथापि राजनीतिक की अपेक्षा उसका समाज-विद्रोही स्वरूप ही अधिक उभर कर आया है। 'पार्टीकामरेड' का नायक भी उपन्यास के अत मे शहीद होता है, पर यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि "वह शहादत प्रेम की है अथवा सिद्धान्त और आदर्श की।"[1]

सन् १९४२ के बाद देश मे एक ऐसा दल सक्रिय रहा आया जो सेना तथा विदेशी सहायता के बल पर देश को मुक्त करने के प्रयत्न मे लगा रहा। 'बलिदान' का शेखर ऐसे ही दल का नेता चित्रित किया गया है। वह आगामी क्राति का नक्शा तैयार करता है, स्वयं सेनापति का ड्राइवर बनता है, पर अन्त में असफल हो सन्यासी हो जाता है। यद्यपि वह कल्पित पात्र है, पर उसमे यशपाल और जैनेन्द्र के क्रान्तिकारी नायको की दुर्वलताये नही हैं और उसमे हमे रासविहारी बोस और अरविन्द घोष के समान ऐतिहासिक क्रान्तिकारियो का प्रतिविम्ब मिलता है।

इस प्रकार मराठी के समान हिन्दी के क्रान्तिवादी उपन्यास भी शुद्ध राजनीतिक उपन्यास कहलाने के अधिकारी नही। घटनाओ की सगति तथा स्वाभाविकता के निर्वाह का अभाव, पात्रो का दुर्वल व्यक्तित्व, उनकी कामुकता, अश्लील शृंगार-पूर्ण

---

[1] १. मोतीसिंह—आलोचना, उपन्यास अक, पृष्ठ २८६।

चित्र, क्रान्तिकारी घटनाओ का केवल कुतूहल-वृद्धि के लिए उपयोग, क्रान्तिकारी पात्रो के त्यागमय, कष्टपूर्ण जीवन चित्रण की कमी, ऊपर से थोपे गए वाद-विवाद, लेखको मे सच्ची अनुभूति का अभाव, आदि दोष दोनो भाषाओ के क्रान्तिवादी उपन्यासो मे मिलते है, जिसके कारण पाठक क्रान्तिकारी दल की अन्तरग कार्य-व्यवस्था से अपरिचित ही रह जाते है ।

१९४२ के आन्दोलन के चित्रण की प्रवृत्ति—१९४२ ई० की अगस्त-क्रान्ति भारत के राजनीतिक जीवन मे एक ऐसी प्रक्षोभकारी घटना थी, जिसने देश के बच्चे-बच्चे को नवचेतना प्रदान की और जिसके प्रभाव से राष्ट्र का कोई भाग अछूता न रह सका । अत' १९४२ ई० की क्रान्ति के बाद मराठी उपन्यासकारों को अपनी रचनाओ के लिए एक अभिनव रोमाँचकारी विषय मिल गया । यद्यपि उस क्रातिकारी आन्दोलन का विवेक-दृष्टि से यथार्थ चित्रण होना अभी भी शेष है, तथापि उसने अनेक सुप्त प्रतिभाओ को जागरण की स्फूर्ति प्रदान की । उदाहरणार्थ, श० बा० शास्त्री ने, जो अभी तक बँगला व हिन्दी उपन्यासो के अनुवादो से ही सतुष्ट थे, 'अमावस्या' नामक मौलिक उपन्यास लिखा । यद्यपि यह रचना पत्रकार-पद्धति पर लिखी गई है, तथापि उसमें अगस्त १९४२ ई० मे नागपुर तथा उसके आसपास छाये हुए राजनीतिक प्रक्षोभ एव असन्तोष की काली छाया का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है । माडखोळकर के 'प्रमद्वरा' मे सन् १९४२ के पुलिस द्वारा लाठी-चार्ज, गोला-बारी, अग्निकाड आदि अत्याचारो के रोमहर्षक प्रसग तो चिचित्र किये ही गए हैं, साथ ही गाधीवाद मे आस्था रखने वाली पत्नी और कम्यूनिष्ट विचारधारा वाले पति के बीच सघर्ष और अंत मे पति के द्वारा पत्नी के मार्ग को स्वीकार कर लेने का चित्र प्रस्तुत किया गया है । लेखक का ध्येय इस आन्दोलन की असफलता एव जनता के रक्तपात का उत्तरदायित्व गाधीजी एव अन्य राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ के कन्धो पर डालना है । "इस आन्दोलन के पीछे किसी प्रकार की योजना या सघठन नही था—गत वर्ष बापू लगातार जनता के हृदय मे विक्षोभ उत्पन्न करते रहे पर इस लोक-विक्षोभ का किस प्रकार उपयोग किया जायगा, इसका स्वय उन्होने भी अन्तिम क्षण तक निश्चय नही किया था ।" लेखक सदा से गांधीवादी एव काग्रेसी आन्दोलनो का विरोधी रहा है । अत: उसकी लेखनी प्रस्तुत उपन्यास की घटनाओ से समरस नही हो पाई है, जिसके परिणामस्वरूप कथा विशृखल व निर्जीव हो उठी है ।

ना० सी० फडके ने इस आन्दोलन से सम्बन्धित दो उपन्याम लिखे । 'शाकुतल' मे यदि उन्होने १९४२ ई० मे सतारा वालो के भूमिगत होकर किये गए राजनीतिक कार्यों को पृष्ठभूमि के रूप मे प्रयुक्त किया, तो 'झझावात' मे उस आन्दोलन को चित्रित करने के साथ-साथ, जो आन्दोलन के समय भूमिगत हो गए थे और बाद मे जिनके प्रति काग्रेस-सरकार ने उदासीनता का व्यवहार किया था, ऐसे कार्यकर्त्ताओ की मन.स्थिति एव भावनाओ का चित्रण करने का प्रयत्न किया । अन्नाभाऊ साठे के 'वारणेच्या खोर्यात' मे इस आन्दोलन पर एक अन्य दृष्टिकोण से

विचार किया गया। हिंदुराव सरीखे देशभक्तो के ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध संघर्ष करने पर नागोजी सरीखे देशद्रोहियो ने अपने व्यक्तिगत ईर्ष्याद्वेष की पूर्ति के लिए किस प्रकार पुलिस व गुडो की सहायता से उन्हे पकड़वा दिया तथा जनता को कैसी-कैसी यातना दिलवाई, इसका यथार्थ चित्रण किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास का विषय देशद्रोहियो के कार्यो की निन्दा करना अधिक है, आन्दोलन का चित्रण कम।

लीला देशमुख का 'भारती' इस आन्दोलन मे भाग लेने वाली महिलाओ के कार्यो से स्फूर्ति ग्रहण कर लिखा जाने वाला उपन्यास है। उसमे यदि आन्दोलन के समय भारतीय तरुणी के अभिनव एव उदात्त व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराया गया है, तो गिरवाडकर के 'वैष्णव' मे एक ऐसे भोले-भाले शिक्षक के जीवन मे होने वाले परिवर्तन का चित्रण है, जो १९४२ ई० की क्रान्ति से प्रभावित हो अपनी पुरातन कायरता, दुर्वलता एव सकोचशीलता को त्याग राष्ट्र-सग्राम मे कूद पडा और पिछडी हुई जगली जातियो की सहायता ले, जिसने उस विद्रोह की ज्वाला को और अधिक प्रज्वलित किया। ठोकळ के 'गाँवगुड' मे भील, मॉग, गारुड़ी आदि जातियो को नागरिको के साथ-साथ क्राति मे भाग लेते दिखाया गया है। अन्य राजनीतिक उपन्यासो के समान १९४२ ई० की क्राति पर लिखे गए कुछ उपन्यासो मे राजनीति तथा प्रणयोन्माद एव स्वैराचार के मिश्रण का दोष आ गया है। नारायण हरि आप्टे का 'पाँच ते पाँच' और भा० द० खेर का 'क्रान्तीच्या वाटेवर' इसी कोटि के उपन्यास हैं। कुछ उपन्यासो—'विजू', पूर्वेचा वारा', 'सुखाचा लपडाव', 'जागृति' इत्यादि का सन् १९४२ की क्रान्ति से केवल अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस प्रकार १९४२ ई० की क्राति पर विभिन्न दृष्टिकोणो से उपन्यास लिखे गए है। इनमे से कुछ अपनी उग्र-विचारधारा के कारण शासनसत्ता के क्रोध के पात्र हुए और ज़ब्त कर लिए गए जैसे, 'शाकुन्तल', 'प्रमद्वरा' और 'अमावस्या'। खेद का विषय है कि हिन्दी मे १९४२ ई० की क्रान्ति पर बहुत कम लेखकों ने लेखनी उठाई है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालीस' को छोडकर अन्य उपन्यासो जैसे, 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आदि मे उसकी केवल प्रासगिक चर्चा हुई है।

मन के भावों का विश्लेषण एवं उसके अन्तर्रहस्यों को खोलने की प्रवृत्ति— मनोविज्ञान और कथा-साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यंत घनिष्ट है। न केवल उपन्यास और कहानी लेखको ने ही मनोविज्ञान के सिद्धान्तो एव नियमो को अपनी रचनाओ मे प्रयुक्त किया है, अपितु मनोवैज्ञानिक चिकित्सको ने भी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिए उपन्यासो के अध्ययन को हितकर वताया है। १९३४ ई० मे एडवर्ड ग्लोवर ने जो पाठ्य-क्रम मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिए बनाया, उसमे कुछ उपन्यास भी सम्मिलित थे। हैलेन ड्यूट ने भी अपनी पुस्तक 'दी साइकालोजी आफ विमेन' मे अपने सिद्धान्तो की व्याख्या के लिए रूसी उपन्यासो की विस्तृत

मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अवलम्ब ग्रहण किया था ।[1] वस्तुत मनोविज्ञान की शक्ति अपार है। विश्वव्यापी युद्ध से लेकर पारिवारिक सघर्ष तक—सभी समस्याओ का समाधान उसके पास है । इसीलिए कहा गया है "बीसवी शताब्दी के ज्ञानवृक्ष की सबसे तरुण, नवजवान, स्फूर्त, कोमल तथा लचीली शाखा मनोविज्ञान की है और वह नवयौवन की उमग से सारे विश्व पर छा जाना चाहती है ।"[2]

प्रारभिक युग के बाद एक ओर लेखको ने चरित्र-चित्रण का मूल्य समझा और मानव-चरित्र का उद्घाटन करने की ओर उनका ध्यान गया, दूसरी ओर उपन्यास-पाठको की माँग का प्रतिमान अधिक ऊँचा हो गया । अब वे यह चाहने लगे कि उपन्यासकार इस बात की भी चर्चा करे कि परिस्थिति विशेष के बीच पात्रो के हृदय मे कैसे-कैसे भाव आये और गए, किन मनोवृत्तियो ने उस परिस्थिति को सभव बनाया, विभिन्न सुखद या दुखद घटनाओ की पात्र पर कैसी प्रतिक्रिया हुई, उसके मानसिक सघर्ष का रूप कैसा रहा, इत्यादि । लेखको ने यह अनुभव किया कि ऐसी स्थिति मे घटनाओ को अतिरजना द्वारा रोमाचकारी बनाने से काम न चलेगा । अत मनोविश्लेषण उनके लिए मौन-प्रार्थनाओ के वरदान के रूप मे अवतीर्ण हुआ । यो तो मनोविज्ञान का आश्रय हिन्दी मे प्रेमचन्द तथा मराठी मे हरिभाऊ ने ही लेना प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु उसका रूप इन लेखको की कृतियो मे अत्यन्त स्थूल था । उनमे पात्रो की भावनाओ के विश्लेषण के स्थान पर वर्णन से ही काम चलता था । वे मानव जगत के बाह्य सघर्षो से इतने प्रभावित थे और उनके विवेचन मे इतने उलझे रहते थे कि अन्त.सघर्षो की ओर ध्यान देने का उन्हे अवकाश ही न था। केवल कही-कही पात्रो की आत्मा मे पैठने, उनके अनुभाव-आवेग, विचार-विकारो के सघर्षो को पकडने का प्रयास किया गया है । 'सेवासदन' मे रिश्वत लेने से पूर्व दरोगा कृष्ण-चन्द्र के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया गया है, तो 'रगभूमि' का भैरो हीनता-ग्रथि से ग्रस्त दिखाया गया है, "मुझे मलाल तो यह है कि अभागिन गई भी तो चमार के साथ गई···।" कुल मिलाकर ये लेखक सामूहिक मनोविज्ञान को ही छू पाये थे, उनके समय मे चरित्रो के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम तो आरम्भ हो गया था, पर मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास अपने सच्चे अर्थ मे बाद मे ही आये । प्रेमचन्द-युगीन उपन्यास के इस अभाव की ओर आचार्य शुक्ल का भी ध्यान गया, "मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखायी पड़ा है, जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियो मे मनुष्य अपने शील स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है।'[3]

मराठी मे हरिभाऊ की अपेक्षा वामन मल्हार जोशी ने मनोविश्लेषण पद्धति का प्रयोग अधिक कलात्मक रूप मे किया । प्रो० निरन्तर ने उनके विषय मे कहा है,

---

१. साइकलौजी आफ विमेन—वोल्यूम एक, अध्याय १०, दी इन्फलूएन्स आफ एनवायरनमेंट, पृष्ठ २८२-२९६ ।

२. डा० देवराज 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ २ ।

३. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५३९ : सम्वत् २००७ सस्करण ।

'युवक-युवतियो के अंत.करण के वैचारिक आन्दोलनो का इतना मूलग्राही और स्पष्ट चित्रण अन्यत्र नही मिलता ।" 'रागिणी' मे भय्यासाहब, उत्तरा व आनदराव तथा 'सुशीला चा देव' मे सुशीला के हृदय के सघर्ष-चित्र इसके प्रमाण है। इस प्रकार १९३० ई० से पूर्व के उपन्यासो मे मानव-मन का चित्रण तो हुआ, पर लेखको ने उस समय तक न तो मनोविज्ञान का अध्ययन विज्ञान के रूप मे ही किया था और न उनके सामने फ्राइड, एडलर आदि के मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त ही आ पाये थे ।

मनोविज्ञान के विज्ञान रूप मे जन्म लेते ही कथा-साहित्य मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। घटनाओ के स्थान पर घटनाओ के पीछे रहने वाले मानव-मन के सूक्ष्म सघर्षो का चित्रण करने की प्रवृत्ति लेखको मे आई। कुछ समय तक उन्होने मनोविश्लेषण का प्रयोग केवल साधन रूप मे किया, जिससे उनकी कृतियो मे मनोविश्लेषण का प्रयोग न तो कथा मे थेगली की तरह हुआ और न उसका स्वरूप ही कलाहीन बना। फडके ने मनोविज्ञान के प्रोफेसर होने के हेतु पात्रो के मन की सूक्ष्म-से सूक्ष्म हलचलो के बडे सजीव वर्णन, अप्रत्यक्ष घटनाओ, सूचक सवादो और रेखा-चित्रो के सहारे दिये। मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान का प्रयोग न करने से ही उनकी मनोवैज्ञानिकता अतिवाद तक नही पहुँची है। माडखोळकर ने द्वन्द्व के सामान्य और विशिष्ट दोनो अर्थों मे उसका सफल प्रयोग किया। 'नवें संसार' में मुक्ता के हृदय का सघर्ष निम्न शब्दो मे देखिये' "विद्याधर का मुझ पर प्रेम है, यह अब सिद्ध ही होगया है, परन्तु उस प्रेम की अभिलाषा के कारण मैं मीरा का जीवन दुखी क्यो बनाऊ ? उसके ससार को भस्मीभूत क्यो करूँ ? एक स्त्री दूसरी के जीवन को क्या धूल मे मिला दे ?...फिर शिक्षा और सस्कृति का लाभ ही क्या ?" इसी प्रकार विभावरी शिरुरकर के 'हिंदोळ्यावर' मे अन्तर्मुखी दृष्टि से अचला के मन पर होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है। सतान-लालसा के कारण विराग के प्रति आकर्षण और समाज-भय के बीच सदेह के झूले पर झूलती हुई अचला की मन स्थिति का चित्र देखिये' "स्त्री का पुरुष से सहानुभूति की आशा करना अग्नि से खेलने के समान है" उसे याद आया "यह मेरी चूक है। इससे आगे मन की भावनाओ की अधिक पर्वाह करना ठीक नही। मन की चंचलता समय पर ही पहचान लेनी चाहिये।" उसने विराग से दूर रहने का निश्चय कर लिया। परन्तु फिर क्या ? वही पुराना जीवन..."[1] "ऐसे ही चित्रो के कारण कहा गया है, "इसमे कथानक का चमत्कार तनिक भी नही। चमत्कार है हृदय-निरीक्षण का और विचारो के आन्दोलन का—लेखिका ने अचला के मन का जितना गभीर व व्यापक विचार किया दिखता है, उतना उन परिस्थितियो का नही जिनमे यह प्रसग निर्माण हुआ है।"[2] 'हिंदोळ्यावर' की अचला के समान गीता साने की 'लतिका' की राधा भी पति

---

१. विभावरी शिरुरकर 'हिंदोलयावर', पृष्ठ ६६ ।

२. 'प्रतिभा'६ -जुलाई १९३४ ।

और प्रेमी के बीच हिलकोरे खाती रहती है।

पु० य० देशपाडे ने मन के गूढ ससार को जानने का प्रयत्न किया। 'सुकलेले फूल' मे पारस्परिक साहचर्य से कृष्णा व दिवाकर के मन मे उठने वाली विचार-तरगो और मन परिवर्तन का सजीव् चित्रण उनके कौशल का परिचायक है। खाडेकर ने "जिसमे मनोविश्लेषण को थोडा अधिक अवसर मिले, वाह्य घटनाओ की वजाय मनुष्य के मन की उथल-पुथल जिसमे सूक्ष्मता से चित्रित हो, ऐसी एक कथा-कल्पना"[1] 'दोन मने' के रूप मे प्रस्तुत की। तदनन्तर वह अपनी रचनाओ मे मनोविश्लेषण पर वल देते रहे। वह लिखते हैं "उन दो तीन वर्षों मे (१९३६-७) मनुष्य के मन और उसके अतर्मन, उसके आचार-विचार मे विचित्र विरोध, समाज-नियत्रण के कारण उसकी सुसस्कृत प्रतीत होने वाली वृत्ति और उसकी गूढ एवं प्रवृत्ति, उसकी वहिर्मुखता इत्यादि का विचार करने मे मेरा मन लिप्त था।" पर मन, अन्तर्मन इत्यादि शब्दो का वार-वार प्रयोग करके भी उनके चित्रो मे गहराई न आकर वचपना व ऊब आ गई है। 'हिरवा चाँफा' की सुलभा के अन्तर्मन का चित्रण इसीलिए हास्यास्पद हो गया है। मुकुद के साथ गिरगाँव जाते समय के उसके विचार कृत्रिम व विदूषको जैसे लगते हैं। इसी प्रकार का प्रसग उस समय उपस्थित होता है, जव सुलभा और उसके पिता के वीच मुकुद को लेकर वार्तालाप होता है।

साराश यह कि मर्ढेकर के पूर्व तक मराठी उपन्यास-साहित्य मे प्रयुक्त मनोविश्लेषण पद्धति ने कथा-सौन्दर्य को तो वहुत अशो मे वढाया पर यह मनोविश्लेषण अधिकतर तर्क पर आधारित था। उसका जन्म इस विचार से हुआ था कि मनुष्य के व्यवहार व उसके मनोव्यापारो मे एक प्रकार की तार्किक सुसम्वद्धता है। इस पद्धति ने मराठी साहित्य को कुछ मधुर व्यक्तिचित्र तो अवश्य दिये, परन्तु उसमे परस्पर विसगत एव परस्पर विरोधी मनोवृत्तियो से निर्मित मन का दर्शन बहुत कम कराया गया। कहीं-कही तो इस तर्कनिष्ठ मनोदर्शन के कारण अतिरजना, भड़कीलापन व नाटकीयता का समावेश हो गया है, क्योकि कथा मे मनोविश्लेषणात्मकता आ जाने पर भी मानवी व्यवहारो मे चमत्कार ढूढ़ने की लेखको की प्रवृत्ति अक्षुण्ण वनी हुई थी।

हिन्दी मे मनोविश्लेषण पद्धति का वास्तविक प्रारम्भ जैनेन्द्र से हुआ। उनका 'परख' मानसिक द्वन्द्वों और संघर्षों का सूक्ष्म अवलोकन कर व्यक्तित्व की रेखाएँ निर्धारित करता है। इसमे लेखक ने पात्रो के मनोजगत मे उठने वाली भावनाओ के अविराम सघर्ष का कुशल पैठ के साथ चित्रण किया है। लेखक स्वय पात्रो के अन्तस् मे वैठकर हृदय और बुद्धि की क्रिया-प्रतिक्रियाओ को परखता है। नीति-विधान के वैधव्य और मनोविधान के सुहाग के झूले में कट्टो के मानसिक स्तरो का दोलन कलाकार की निपुणता का परिचायक है। मानव-हृदय की रागात्मक प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर उनके विकास और दमन की क्रिया-प्रतिक्रियाओ का वडा सजीव और

---

[1] वि० स० खाडेकर 'दोन मनें'. तीसरी आवृत्ति, पृष्ठ १७।

प्रभावात्मक चित्रण उन्होने किया है। मानव की अन्तरात्मा मे प्रवेश कर अन्तर्रहस्यो के उद्घाटन के लिए जिस सूक्ष्म, तलस्पर्शी और मर्मभेदी दृष्टि तथा विश्लेषण शक्ति की अपेक्षा रहती है, वह उनके पास है। जयन्त द्वारा अपनी मनःस्थिति का आत्म-विश्लेषण,[1] हरिप्रसन्न का मनोव्यवच्छेद,[2] श्रीकान्त और हरिप्रसन्न को लेकर सुनीता के मन मे उत्पन्न होने वाली उलझन इसके ज्वलत प्रमाण है। इलाचन्द्र जोशी भी मानव मनोवृत्तियो के चित्रण मे पारगत है। यदि एक ओर 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ के अन्तर्द्वन्द्वो और मानसिक उथल-पुथल का बडा सजीव वर्णन हुआ है, तो दूसरी ओर 'निर्वासित' मे नीलिमा के चेतन और अवचेतन मन के अन्तर्द्वन्द्वो का सफल चित्रण है। वह महीप की ओर आकृष्ट है, उसके रूप और गुणो के कारण, पर धन की, ख्याति की और प्रतिष्ठा की भूख उसे ठाकुर साहब का शिकार बना देती है। सघर्ष तो सियारामशरणजी के पात्रो मे भी मिलता है, पर वह केवल भावनाओ के बीच होता है, भाव और बुद्धि या विकार और विचार के बीच मे नही।

फ्राइड आदि के सिद्धान्तों के आधार पर मन के अन्तर्रहस्यों को खोलने की प्रवृत्ति—नीत्से जैसे घोर व्यक्तिवादी तथा फ्राइड जैसे मनोवैज्ञानिक के प्रभाव स्वरूप समाज के सगठित अधिकार और शक्ति को छिन्न-भिन्न करने तथा व्यक्ति की समस्याओ को उसके अपने आन्तरिक सघर्षों के प्रकाश मे परखने की जो भावना यूरोप मे पनपी, उससे वहाँ का उपन्यास-साहित्य प्रभावित हुआ। हिन्दी एव मराठी उपन्यासकार भी इस प्रभाव से न बच सके। फ्राइड, एडलर, जुग इत्यादि विचारको का मत है कि मानव सभ्यता और सस्कारो ने नीचे पशुवृत्तियो को दबाने का बराबर प्रयत्न करता है, परन्तु उनका अस्तित्व मिट नही पाता। जब वह उन प्रवृत्तियो को दबाने का प्रयत्न करता है, तभी वे और भी जागरूक हो उठती है और मानव-स्वभाव मे एक ऐसी विचलन उत्पन्न कर देती है, जिससे उसका जीवन अस्थिर हो उठता है। फ्राइड ने चेतना का प्राणाधार काम-प्रवृत्ति (लिबिडो) को माना है, जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अवियुक्त भाव से नये-नये रूप धारण कर जीवन मे विद्यमान रहती है और उसकी गति को सचालित करती रहती है। काम-प्रवृत्ति का उदात्तीकरण साहित्य-सभ्यता-सस्कृति के रूप मे व्यक्त होता है, किन्तु यह प्रवृत्ति बलपूर्वक दबाई जाने पर ग्रथि (काम्प्लेक्स) बनकर जीवन की स्वस्थता को निषेधात्मक ढंग से प्रभावित करती है। चेतना की धारा को सहज गति नही मिलती, तो मन के भीतर सघर्ष उत्पन्न होते है। प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति के लिए बेचैन रहती है, लेकिन अनेक प्रकार से इन पर पहरा लगा रहता है। यह पहरा समाज के नियमो, विधि-विधानों के रूप मे रहता है जिनके कारण प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्ति का मार्ग न पाकर अन्तर्मुखी हो जाती है और अवसर मिलते ही शतगुणित वेग से विषम पन्थ ग्रहण कर बाहर फूट निकलती है।

---

[1] जैनेन्द्र कुमार, 'व्यतीत', पृष्ठ ८।

[2] ,, 'सुनीता', पृष्ठ ११५-१६।

फ्राइड की मान्यताओ ने मानव की गतिविधियो के अध्ययन के लिए नई प्रणाली प्रस्तुत कर दी। इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलीनता आदि किसी-न-किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते है। ये कुण्ठाएँ व्यक्ति के अचेतन मन मे अव्यक्त रूप से छिपी रहती है। जब कोई कुण्ठा-ग्रस्त (न्यूरेटिक) चरित्र अपनी कुण्ठाओ का रहस्योद्घाटन कर लेता है, तब वह रोगोन्मुक्त हो जाता है।

एडलर की आस्था फ्राइड द्वारा प्रतिपादित अचेतन दमन तथा व्यक्ति के काम-भाव के विकास के इतिहास पर नही थी। उसने सबसे अधिक विरोध 'लिबिडो' को मूल शक्ति मानने वाले सिद्धान्त का किया और मनुष्य की मूल वासना को काम-वासना न मानकर विजय की वासना माना। उसके अनुसार बालक पहले तो सबको अपनी शक्ति से प्रभाव मे लाने की चेष्टा करता है, पर बाद मे सफलता न मिलने पर अन्य उपायो—रुदन, (बालाना रोदन बल) हास्य एव क्रीडाओ तथा कभी-कभी रुग्ण होकर—से अपनी सत्ता जमाये रखने की चेष्टा करता है। आधुनिक युग मे सर्वाधिकर प्रचलित, सर्व जिह्वाग्रवर्ती हीनता-ग्रन्थि (इन्फीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स) शब्द का जन्मदाता भी एडलर ही था।

जुग की 'एनेलिटिक ऑफ साइकालोजी' फ्राइड के मनोविज्ञान की ही उपशाखा कही जा सकती है। उन्होने फ्राइड के अचेतन, दमन, प्रतीकात्मक स्वप्न इत्यादि की चर्चा तो की है, पर कुछ परिवर्तित अर्थ मे। उदाहरण के लिए, जुग फ्राइड के अचेतन को तो स्वीकार करते है, पर कहते है कि इस स्तर के नीचे भी एक और स्तर है। जुग का सबसे प्रमुख सिद्धान्त वह है जिसके द्वारा उन्होने मनुष्य को दो प्रकारो मे विभाजित किया है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। एक अन्य यूरोपीय मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त जिसकी प्रतिछाया भारतीय उपन्यास-साहित्य पर दृष्टिगत होती है, जेस्टाल्ट सिद्धान्त है। उसकी मान्यता है कि ससार की प्रत्येक वस्तु मे सपूर्णता नामक भाव की अवस्थिति रहती है। मनोविज्ञान मे भी इसी तरह मानव-चेतना या व्यक्तित्व की सपूर्णता ही प्रमुख है—सावेदनिक या वैयक्तिक सपूर्णता नही। इसके अनुसार कोई वस्तु निरपेक्ष नही होती, कोई घटना-मात्र नही है, वह कुछ और है। कोई विचार या भाव खडित नही है, सब जगह पूर्णता है। वाटसन के आचरणवादी मनोविज्ञान तथा पावलव के विचारो ने भी उपन्यासकारो को प्रभावित किया। वाटसन ने कहा कि बालको के भावात्मक आचरण के तीन ही मूल रूप होते है—भय, क्रोध और प्रेम। उसने यह भी बताया कि मनुष्य के विकास मे वातावरण का ही सर्वाधिक महत्त्व है और अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर उसे वाछित रूप मे मोडा जा सकता है।

फ्राइफ, एडलर, जुग और वाटसन ने मनोविश्लेषण के सबध मे जिन धारणाओ को मान्यता प्रदान की, उनको लेकर जेम्स जॉयस, डी० एच० लारेन्स, वर्जीनिया वूल्फ, कोनर्ड तथा सामर सेट माम ने मन की चेतना-धारा को अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन का आधार बनाया और वासनाओ के व्यक्तिगत विश्लेषण द्वारा वर्जनाओं

की यथार्थता पाठको के सामने रख दी। फ्राइड, एडलर और जुग के सिद्धान्तो, क्राफ्ट, एबिंग और हेवेलिक ऐलिस की धारणाओ और डी० एच० लारेन्स के साहित्य ने हिन्दी और मराठी उपन्यास को नया क्षितिज प्रदान किया। अवचेतन मन की धारा स्वप्नवाद, एडीपियस काम्पलेक्स आदि के अध्ययन ने इन भाषाओ के उपन्यासकार को मानव-मन की गति शोधने के नये साधन प्रदान किये और चरित्र-चित्रण को नया अर्थ दिया। हिन्दी मे अज्ञेय यदि फ्राइड की धारणाओ से अधिक प्रभावित है, तो इलाचन्द्र जोशी जुग से। यदि अज्ञेय उद्धत अह के चित्रण मे सफल है, तो इलाचद आहत अह के।` 'प्रेत और छाया' की भूमिका से उद्धृत निम्न शब्द उनके ऊपर यूरोपीय विचारको के प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है "इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर अनश्वर मूल-पशु प्रवृत्तियाँ और उनके सस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक मे दबे और मरे पडे हैं। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी सस्कारो के लेप से अपने सचेत मन मे अवश्य सफेदपोशी कर ली है। पर जिस पर्दे पर वह सफेदपोशी की गई है, वह इतना झीना है कि जरा-जरा-सी बात से वह फट जाता है, और उसमे तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उनके नीचे दबी पडी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती हैं। इन मूल पशु-प्रवृत्तियो को जितने ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है, उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर को उछाल मारने लगती है।"[1] इन विचारो तथा फ्राइड के विचारो मे कितना सादृश्य है? फ्राइड ने यौन-इच्छाओ को स्वाभाविक माना था। उसके विचारो—सेक्स (काम भावना) समस्त मानव-प्रवृत्तियो एव प्रेरणाओ का केन्द्र-स्थल है और अवचेतन मन मे दबी इच्छाओ का स्पष्टीकरण सच्चा मनोविश्लेषण है—पर उपन्यास-लेखको द्वारा अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। उन्हे यह पता लग गया कि "मनुष्य गुणावगुणों के पुज से अधिक नदी की धारा के समान है।"[2]

आज अचेतन और अर्ध-चेतन की एक विशाल दुनिया के रहस्यो से हमारे उपन्यासकार परिचित है। उनकी रचनाओ मे क्षति-परिपूर्ति की बाते होने लगी हैं, दमित इच्छाओ के शिकार स्वरत्यात्मक, आत्म-पीडक और पर-पीडक पात्र घूमने लगे हैं। कोई पात्र हीनता के भाव से ग्रस्त है, किसी ने अपनी इच्छाओ का उदात्तीकरण कर लिया है, कोई इडिपियस-ग्रथि का मारा पिता को प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे देखता है और माँ को प्रेम की चितवन से। हमारे उपन्यासो मे बच्चे भी काम-भावनाओ से प्रेरित दिखाये जाने लगे है।

फ्राइड के अनुसार वर्जना (इनहिबिशन) जन्य कुठाएँ ही मनुष्य के समस्त दुखो का कारण है। वर्जना के कई कारण हो सकते है—धर्मगत, समाजगत राजनीतिक और अर्थगत। परन्तु फ्राइड कामगत वर्जना को ही सर्वोपरि मानता है। उसके अनुसार विकृत काम-चेष्टाएँ इसी वर्जना का परिणाम होती है और कभी-कभी मन के

---

[1] इलाचन्द जोशी-'विवेचना', पृष्ठ १६५।

[2] सी० ई० एम० जोड, 'गाइड टू माडर्न थौट', पृष्ठ २२२।

अवचेतन मे निवास करने वाली काम भावनाएँ स्वप्न के माध्यम से व्यक्त होती है। मराठी उपन्यास-साहित्य मे फ्राइड के इस स्वप्न-सिद्धान्त का उपयोग माडखोळकर ने अपने उपन्यास 'शाप' मे किया है। उपन्यास का नायक निशिकान्त अपनी वासनाओ का धर्यपूर्वक निरोध करता है। उसे कुछ-कुछ सफलता भी मिलती है, पर सुहास के प्रति प्रेमोन्माद मे अनेक दिनो तक विहार करने के कारण उसके अन्तर्मन मे सुहास के के प्रति समस्त कोमल प्रणय भावनाएँ पूरी तरह जाग्रत रहती है और अभिव्यक्ति के लिए अवसर की प्रतीक्षा करती रहती हैं। वह अवसर उन्हे तब मिलता है, जब नीद की स्थिति मे वह सुहास के कमरे मे आकर अपनाहृदय खोल बैठता है। इसीलिए वळिंबे ने कहा है, "वासनाओ का निरोध (रिप्रैशन) करने के कारण उत्पन्न होने वाली विकृति (एबनौरमैलिटी) ही उसका कारण प्रतीत होती है।···दिन मे जिस बात को वह उससे छिपाता था, उसी को नीद मे उसे बता देता है और अपने दुर्बल मन को प्रकट कर देता है।"[1] रा० अत्रे ने भी अपनी कृति 'ब्रन्डीच्या बाटली' मे बगाराम के स्वप्न-प्रसग मे इसी मोवैज्ञानिक तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन किया है। हिन्दी मे जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी एवं अज्ञेय के कितने ही पात्रो मे कुण्ठा, मनोविकृति तथा काम-भाव के दमन से उत्पन्न अनेक विवशताएँ है। जैनेन्द्र की कल्याणी के अचेतन-मन मे अपने पति के विरुद्ध इतना द्वेष और जुगुप्सा उत्पन्न हो चुकी है कि उनकी चेतना को हैल्यूसिनेशन जकड़ लेता है। वह देखने लगती है कि उसके घर मे किसी स्त्री की अपने पति द्वारा हत्या की जा रही है। वस्तुत. हत्या की शिकार वह गर्भवती स्त्री और कोई नही है, स्वय कल्याणी है। किन्तु कल्याणी की सस्कार-ग्रस्त नैतिक भावना इतनी प्रबुद्ध है कि वह अपने पति पर इस प्रकार का आरोप नही लगा सकती, उसका चेतन मन यह विश्वास करना चाहता है कि वह पुरुष देवलालीकर है, जो स्त्री की हत्या करता है। कुंठित प्रेम के कारण ही जैनेन्द्र के पात्र पु०य० देशपाडे की 'काली राणी' के प्रकाश के समान राजनीति मे भाग लेते हैं और उनके मन मे सदा नारी की गोद मे लेटने की कामना बनी रहती है। इसी को देखते हुए प्रकाश कहता है, "कितनी भयकर होती है पुरुष के मन की वासनामय लुका-छिपी।"[2]

फ्राइड के 'मातृसंभोगेच्छा' नामक सिद्धान्त का उपयोग प्रेमा कटक के 'काम आणि कामिनी' मे किया गया है। उपन्यास का नायक विवाह का प्रश्न उठने पर कहता है, "माँ! आज तक मै जिस दृष्टि से तुझे देखता हूँ, उसी दृष्टि से समस्त स्त्री-जाति को मैंने देखा है। विवाह का विचार कभी मुझे सूझा ही नही···पत्नी की ओर विकार-दृष्टि से देखना मेरे लिए कठिन है। उसको भी मैं तेरे समान मानलूँ तो?" कामविकार से हीन इस पुरुष के चित्रण द्वारा लेखिका ने एक असामान्य (एबनारमल) व्यक्ति के स्वभाव का मनोविश्लेषण करने की चेष्टा है। मनुष्यता का यह विचित्र नमूना अपनी पत्नी वृन्दा की एक प्रकार से नैतिक व आत्मिक हत्या करता

---

[1] रा० श० वळिंबे, 'मुक्तात्म्यापालन प्रमद्वरेपर्यन्त'. पृष्ठ ६८।

[2] पु० य० देशपाडे, 'काली राणी' पृष्ठ २६१।

है, क्योकि अपनी सनक को पूरा करने के लिए किसी की वलि देना किसी प्रकार उचित नही। अपने ब्रह्मचर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पत्नी को अपने मित्र चन्द्रशेखर के हाथो मे सौप देना विकृत स्वभाव का ही परिचायक है। हिन्दी मे जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'सुनीता' मे भी ऐसा ही कार्य श्रीकान्त द्वारा कराया है, परन्तु वहाँ पति अपने ब्रह्मचर्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ऐसा नही करता, अपितु अपने मित्र हरिप्रसन्न को सही मार्ग पर लाने के लिए पत्नी को मित्र के पास जाने के लिए प्रोत्साहित करता है। यद्यपि श्रीकान्त का यह कार्य भी मुकुन्द के कार्य के सदृश ही असामान्य है, और इस प्रकार दोनो मे कुछ-न-कुछ समानता दिखाई पडती है, तथापि श्रीकान्त का कृत्य मुकुन्द की अपेक्षा कम निंदनीय है। प्रथम तो श्रीकान्त विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रतिज्ञा नही करता जैसा कि मुकुन्द करता है, दूसरे प्रथम का उद्देश्य मित्र की कल्याण-भावना तथा तीसरे पक्ष को लाकर अपने दामपत्य जीवन मे तीव्रता लाना है, जबकि दूसरे के कार्य के पीछे ऐसा कोई सदुद्देश्य नही, केवल सनक है।

असामान्य पुरुष-चरित्र का उदाहरण हमे पु० य० देशपाडे के 'सदाफुली' के नायक अशोक मे भी मिलता है। उसके हाव-भावो और चलने बैठने मे ही स्त्रैणता नही है, अपितु उसकी मनोरचना भी स्त्रैण है। आधुनिक लिंग-शास्त्र की परिभाषा मे वह 'शी मैन' का दृष्टान्त है। ऐसा पुरुष स्त्री को मुग्ध तो कर सकता है, पर उसके हृदय पर प्रभुत्व स्थापित नही कर सकता, उसके मन मे अपने प्रति अनुकम्पा तो जाग्रत कर सकता है, पर आदर नही।

हिन्दी मे यौन-वर्जनाओ से पीडित पात्रो का चित्रण इलाचद्र जोशी ने सफलतापूर्वक किया है। 'सन्यासी' का नन्दकिशोर और 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ यौनवर्जनाओ के रोगी है। जयन्ती के प्रति कुण्ठित आकर्षण ही नन्दकिशोर के जीवन मे विषाद और पीडा लाता है। उसकी मानसिक विकृति, बौद्धिक यन्त्रणा, उसके सशय और सन्देह, ईर्ष्या, कटुता, विक्षिप्तता, मति-भ्रम, पर-पीडन अथवा आत्म-पीडन की तत्परता, परिताप अथवा करुणा—इस समूची स्थिति का प्रधान एव प्राथमिक कारण जयन्ती के प्रति उनकी भग्न-कामना ही है। इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ का मन माता की पतित कहानी सुनकर एक विचित्र ग्रंथि से आक्रान्त हो जाता है। 'पर्दे की रानी' की निरंजना भी एक कुंठा-ग्रस्त (न्यूरेटिक) पात्र है। इन सवकी गाठें खुलने पर ही उन्हे अपेक्षित मार्ग मिल पाता है।

इन पात्रो की मनोवृत्ति अनेक जटिल एव अतर्कीय विचित्रताओ से पूर्ण होती है। 'सन्यासी' का नन्दकिशोर जयन्ती के गर्व को चूर करने के लिए, प्रतिहिंसा-भाव से प्रेरित हो विवाह करता है। "मेरे मनोभावो की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिये कि जयन्ती से मैं विवाह करने जा रहा था, इसलिए नही कि मै अपने एकागी जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ वल्कि इसलिए कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव मे एक शान्त और सयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया

था, उसे अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना मेरे मन मे समा गई है।[1] 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ को विवाहित स्त्री को भगाने मे ही सुख मिलता है' एक विवाहित नारी को भगाने मे जो सुख है, वह किसी अविवाहित स्त्री के साथ भागने मे कदापि नही। किसी गुणवती व शीलवती सुन्दरी स्त्री का पतिव्रत खण्डित करने से हम नरक के कीडो की सबसे बडी महत्त्वकाक्षा की पूर्ति होती है।"[2] इस प्रकार मजरी के गर्भ से उत्पन्न नवजात शिशु को असहाय अवस्था मे छोडकर भाग जाना मानो उस शिशु से प्रतिशोध लेकर अपने अवचेतन मन की दहकती ज्वाला को शान्त करने का प्रयास-मात्र है। पारसनाथ के पिता ने उसको उसकी माँ के व्यभिचार के विषय मे बताकर उसको आघात पहुँचाया था, उसी प्रकार वह अपने बच्चे को अनाथ छोड़कर अपने पिता के कृत्य का बदला लेता है। पारसनाथ की यह क्रिया अवचेतन मन की क्रिया है, चेतन मन की नही। साराश यह है कि हीन-भावना से आक्रान्त दुर्बल मनुष्य की भावनाओ का, अवचेतन मन की क्रियाओ का विश्लेषण इलाचन्द जोशी ने बडी कुशलता से किया है।

जैनेन्द्र के पात्रो मे भी काम-विकृतियाँ पाई जाती हैं। सुनीता का हरिप्रसन्न ऐसा व्यक्ति है जिसकी काम-तृप्ति अपनी चरितार्थता के लिए नारी शरीर को सम्पूर्ण रूप से माँगने की अदम्य व्याकुलता से पीडित है। उसका मित्र श्रीकान्त स्वय उसके विषय मे कहता है, "हरी की आत्मा मे कही गाँठ पडी है।" यशपाल के 'दादा कामरेड' का हरीश हरिप्रसन्न का ही प्रतिरूप है। उनकी काम-अभुक्ति (फ्रस्ट्रेशन) ही एक ग्रन्थि बन गई है, जो उन्हे हिंसा, क्रान्ति और विध्वस के मार्ग पर प्रवृत्त करती है। उनका अवचेतन मन उनकी इस प्रवृत्ति को एक ओट दे देता है कि वे नारी को रणदेवी, चण्डी या माया कहकर पुकारे। अपनी काम-वासना की पूर्ति के के लिए वे तर्क और युक्ति द्वारा अपने इस विचार को देश के नाम पर पुष्ट और समृद्ध बनाते है। मराठी के माडखोळकर के राजनीतिक उपन्यासो मे भी क्रान्तिकारी नायक इसी प्रकार काम-अभुक्ति से पीडित है।

प्रेम की वास्तविक उलझन अह-भावना मे पाई जाती है। यह भावना सभी अवस्थाओ मे काम करती है। इसी अह-वृत्ति मे व्यक्ति की क्षमता और दुर्बलता दोनो वर्तमान रहती है। इसअह-भाव का चित्रण मराठी तथा हिन्दी दोनो भाषाओ के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे मिलता है। खाडेकर के 'पहिले प्रेम' का नायक अपनी व्याकुलता का कारण बताते हुए कहता है "मेरे मन की व्याकुलता का कारण केवल अतृप्त प्रेम न था। उसका कारण यह भी था कि मेरे अहकार को ठेस लगी थी।"[3] पु० य० देशपाडे के 'नवे जग' मे विना व तरुलता का अह ही उनके बीच सघर्ष उत्पन्न करता है, जिससे पारस्परिक प्रेम होते हुए भी वे दोनो नही झुकते और एक

---

[1] इलाचन्द्र जोशी 'सन्यासी', पृष्ठ ३५२ : पाँचवा संस्करण।
[2] इलाचन्द्र जोशी 'प्रेत और छाया', : दूसरा सस्करण, पृष्ठ २६७।
[3] वि० स० खाडेकर 'पहिले प्रेम', पृष्ठ १८।

दूसरे का पराभव करने की सोचते रहते है। 'अभिमान्य शून्य जीवन। उसकी अपेक्षा तो अत्यधिक दुष्टता, कत्ल करने को प्रवृत्त करने वाली दुष्टता भी क्या बुरी है ?''[1] अह-जन्य दुख की तीव्रता का अनुभव 'काली राणी' का प्रकाश भी करता है ''उक्त सब दुखो की अपेक्षा अहभाव के विनाश का दुख कितने भिन्न प्रकार का, कितने अधिक तीव्र स्वरूप का होता है।''[2]

आत्म-रति और अह-भाव के विषय को लेकर हिन्दी मे तीन दृष्टिकोण उपस्थित किये गए हैं। एक के प्रतिनिधि है 'अज्ञेय', जो व्यक्ति के अह-भाव के चरम विकास को वाछनीय मानते है तथा दूसरे के प्रतिनिधि है इलाचन्द्र जोशी, जिनके अनुसार व्यक्ति की अहभावना की विकास-साधना केवल समाजघाती ही नही आत्म-घाती भी है। प्रभाकर माचवे ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''यदि अज्ञेय उद्धत अह के चित्रण मे सफल है, तो इलाचन्द्र आहत अहशून्यता के।''[3] तीसरा दृष्टिकोण जैनेन्द्र का है, जो अह के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करते है।

अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे शेखर के विकास मे उसका अत्यन्त जटिल, सर्वग्राही, तीव्र और ध्वसात्मक अहभाव ही प्रधान है। लेखक व्यक्ति के अहभाव के चरम विकास को ही अपना ध्येय मानता है। उसके मतानुसार व्यक्ति के समक्ष समाज का कोई अस्तित्व नही। इलाचन्द जोशी अह के मनोविश्लेषण की सूक्ष्मता को 'अज्ञेय' से कम महत्व नही देते, किन्तु उसके एकागी चरम विकास के वे विरोधी हैं। वह लिखते हैं, ''मेरे सभी उपन्यासो का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहभाव की एकान्तिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है··· 'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित' इन पाँचो उपन्यासो मे मैने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यो-ज्यो बढती चली जा रही है, त्यो-त्यो उसका अहभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे, जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के ससार के विनाश की योजना मे जुट जाता है।''[4] 'संन्यासी' का नन्दकिशोर अपनी अहम्मन्यता एव आत्म-रति के कारण न स्वय सुख पाता और न अपने सम्पर्क मे आने वाली स्त्रियो—जयन्ती, शान्ति इत्यादि को ही सुख दे पाता है। 'पर्दे की रानी' की निरजना और इन्द्रमोहन दोनो अह-वृत्ति से पीडित है। निरजना यदि अहभाव की तृप्ति के लिए इन्द्रमोहन से खिलवाड करती है, तो इन्द्रमोहन अह-भाव की पूर्ति के लिए अपनी पत्नी शीला और निरंजना को ही दुख नही देता, अपितु

---

[1] पु० य० देशपाडे 'नवें जग', पृष्ठ २० ।

[2] पु० य० देशपाडे 'काली राणी, पृष्ठ १२५ ।

[3] प्रभाकर माचवे 'संतुलन', पृष्ठ १७५ ।

[4] इलाचन्द्र जोशी 'विवेचना', पृष्ठ १२२-२३ ।

आत्म-विनाश करने मे भी नही चूकता । इस सबध मे निरजना के गुरु के निम्न शब्द द्रष्टव्य है, "जिन दुर्घटनाओ का तुमने उल्लेख किया है, उसके मूल मे है वर्तमान अहवादी युग की कूट मनोवृत्ति···आधुनिक बुद्धिवादी युग मे मनुष्य ने अपने अहभाव का विकास आवश्यकता से अधिक कर लिया है कि उसके फलस्वरूप पौराणिक भस्मासुर की तरह विनाश के पथ की ओर बढ़ता चला जाता है ।"[1]

जैनेन्द्र गाधीवादी है, अह को गलाना या घुलाना ही उनका ध्येय है । इसके लिए वह आत्म-पीडन को एकमात्र साधन मानते है । ऊपरी दृष्टि से देखने पर 'सुखदा' की समस्या पिष्टपेषित समस्या जान पडती है—नारी का घर की सीमा का अतिक्रमण करके सार्वजनिक होना कहाँ तक समीचीन है ? परन्तु गहरे जाने पर ज्ञात होगा यह प्रश्न तो रूपक या आवरण-मात्र है, मूल प्रश्न है—क्या अह को विलीन न करना श्रेय है, अपेक्षित है ? क्या अह का जागरूक और प्रबुद्ध होना सुख और कल्याण की दृष्टि से अवाछित है ? सुखदा मे असतोष के कारण विसवादिता का भाव उत्पन्न होकर अहभाव सजग हुआ और समाज तथा देश के प्रति दायित्व की भावना सचेत होने लगी । उसके साथ ही अह की अभिव्यक्ति के लिए मार्ग मिला, स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना मुखरित होने लगी । छोटी सी घटनाएँ भी उसके अह को चोट पहुँचाने लगी । वह अपने अहं को मिटाने के प्रयास मे दुर्दान्त आत्म-पीड़ा सहती है, पर अन्त तक अह को घुला नही पाती, तभी तो पत्र का उत्तर सीधे पति को न देकर माँ को देती है । इसी प्रकार 'विवर्त' का जितेन प्रबुद्ध अह का व्यक्ति है, जो अपने और मोहिनी के बीच के वर्ग-भेद को नही भुला सकता । वस्तुत जैनेन्द्रजी के लगभग सभी उपन्यासो के पात्र अहभाव से पीडित है और लेखक ने उनको आत्म-पीडन द्वारा सुधारने की चेष्टा की है ।

आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रदायो मे जर्मनी के जेस्टाल्ट सम्प्रदाय की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी है । इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि ससार के प्रत्येक वस्तु-जात मे सपूर्णता नामक भाव की अवस्थिति होती है । जिस प्रकार प्राणिशास्त्र की दृष्टि से 'सैल' की बजाय जीव ही इकाई है, उसी प्रकार मनोविज्ञान मे मानवचेतना या व्यक्तित्व की सम्पूर्णता ही प्रमुख है, सावेदनिक या वैयक्तिक सम्पूर्णता नहीं । इस सम्प्रदाय के अनुसार कोई वस्तु निरपेक्ष नही होती, कोई घटना मात्र नही है, वह कुछ और है । कोई विचार या भाव खण्डित नही है, सब जगह पूर्णता है । ससार तथा ससार के सारे वस्तु-जात अपनी पूर्ण साकारता मे ही सत्य है, खण्डाशो के योगफल के रूप मे नही । इसी बात को वुडवर्थ ने अपनी पुस्तक 'कान्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकालौजी' मे समझाते हुए लिखा है, "खण्ड-खण्ड करके सोचने की प्रवृत्ति से बचो, क्योकि वह भ्रामक है । स्थिति के ढाँचे पर ध्यान केन्द्रित करो, उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करो, और उसमे निहित शून्यता को, जो समस्या का निर्माण करती है, खोज निकालो । व्यौरो का परीक्षण करते समय खड-सत्य के स्थान पर रचनात्मक पैटर्न,

---

[1] इलाचन्द्र जोशी 'पर्दे की रानी' : दूसरा सस्करण, पृष्ठ २१७ ।

सयुक्त ढाँचे को देखो और यह जानने की चेष्टा करो कि प्रत्येक ब्यौरा सम्पूर्ण स्थिति की बनावट मे क्या सहायता देता है। व्यक्तित्व को समझने के लिए परिवेश मे व्यक्ति का अध्ययन करना चाहिये। जेस्टाल्ट की विचार-भूमि ऐसी है जहाँ भारतीय संस्कृति और विचारधारा यूरोपियन विचारधारा से मेल खाती है। अत: जैनेन्द्र की प्रतिभा ने सहज भाव से इस जेस्टाल्टवादी सिद्धान्त को अपने कथा-साहित्य मे अपना लिया। 'कल्याणी' के १६वे परिच्छेद मे प्रकट किये गए विचारो से स्पष्ट हो जाता है कि कल्याणी जेस्टाल्ट की सम्पूर्णता और व्यापकता के प्रति आस्थावान है। वह अपने विचारो तथा व्यवहारो द्वारा सिद्ध कर देती है कि दुनिया पर तर्क-दृष्टि डालना एव विश्व को टुकडे-टुकड़े करके देखना गलत है। अन्यत्र भी इस उपन्यास मे जीवन को समग्र रूप मे, व्यापक रूप मे ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति झलकती है। 'त्याग पत्र' की मृणाल सब जगह सब कुछ पा लेती है। वह कहती है, "मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि इन लोगो मे, जिन्हे दुर्जन कहा जाता है, कई तह पार कर वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध-सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। इससे यह प्रतीति मेरे लिए उतनी कठिन नही रह गई है कि सबके अभ्यन्तर मे परमात्मा है। वह सर्वान्तिर्यामी है, सर्वव्यापी है।"[1] स्पष्ट है कि जिस प्रकार जेस्टाल्टवादी स्थिर रेखाओ के बीच मे, विशिष्ट परिस्थितियो के अन्दर, गतिमान चित्रो को देख लेता है, उसी तरह मृणाल हर जगह सब कुछ देख लेती है। 'सुनीता' मे हरिप्रसन्न अपने आप मे अधूरा था तथा सुनीता का घर उसके बिना अपूर्ण। उसके वहाँ आ जाने से मानो दोनो पूर्ण हो गए। जैनेन्द्र के उपन्यासो का यह दृष्टिकोण वही है, जो अवयव को अवयवी से, पूर्णता को खण्ड से, घर को बाहर से अलग नही देखता, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक जेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक वस्तु को आकार से भिन्न नही देखता, तीन या चार बिन्दुओ को देखते ही एक त्रिकोण या चतुष्कोण देख लेता है। साराश यह कि जैनेन्द्र के उपन्यासो की कथावस्तु में तो नही, पर कथा के प्रवाह मे आये पात्रो के हृदयोद्गारो तथा उनकी विचारोक्तियो से उनका सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण प्रतिलक्षित होता है। उनके पात्रो के व्यक्तित्व की भी केवल एक-एक विशेषता (trait) की ही विवेचना की गई है, अतः वहाँ भी जेस्टाल्ट नही है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जैनेन्द्र ने चेष्टापूर्वक जेस्टाल्टवाद (जो थोड़ा बहुत है) को अपने उपन्यासो का उपजीव्य बनाया है? उन्होने शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित जेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का प्रदर्शन नही किया है और न उनके उपन्यासो मे जेस्टाल्टवादियो की प्रयोगशालाओ मे होने वाले प्रयोगो का स्थूल रूप ही आया है। वस्तुत. उनका सम्पूर्णतावाद मनोवैज्ञानिक न होकर दार्शनिक है, उनके जीवन-दर्शन का परिणाम है। इसका कारण यह भी है कि भारत मे मनोविज्ञान की कोई विशिष्ट परम्परा अभी इस रूप मे नहीबन पाई है कि वह हमारे मानस की रहस्यमयी सृजनात्मक प्रतिभा को स्पर्श कर सके।

---

[1] जैनेन्द्र त्यागपत्र', पूर्वोच्च प्रकाशन, पृष्ठ ६२-६३।

पु० य० देशपाडे के 'काली राणी' मे जैनेन्द्र की 'सुनीता' के हरिप्रकाश की तरह प्रकाश रजनी के सपूर्ण व्यक्तित्व का समर्पण चाहता है और उसके न मिलने पर दुख पाता है। पर एक-मात्र इस उदाहरण के आधार पर यह कहना कि जैनेन्द्र के समान देशपाडे की रचनाओ मे जेस्टाल्टवाद है, अनुचित होगा।

वाल-मनोविज्ञान—फ्राइड से पूर्व वर्डस्वर्थ ने 'चाइल्ड इज़ दी फादर ऑफ मैन' अर्थात् वचपन मनुष्य का निर्माता है, कहकर तथा भारतीय धार्मिक ग्रन्थो ने गर्भ-शिशु की ग्रहणशील प्रवृत्तियो पर विचार कर शिशु-मानस के महत्व को स्वीकार किया था, पर यह ज्ञान निर्विकल्पक था सविकल्पक नहीं। फ्राइड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेपण ने हमारा ध्यान शिशु-मानस की ओर आकृष्ट किया और वडे ही सवल प्रमाणो के आधार पर वतलाया कि मनुष्य के प्रौढ जीवन के अनेक विकृतियो, असाधारणताओ तथा असगतियो का मूल उसके जीवन के प्रथम दो-चार वर्षो के संघर्ष तथा मानसिक दमित भावनाओ मे है। वचपन मे विकास-गति को स्वाभाविक और उचित प्रवाह न मिलने पर वालक का मानसिक सघर्ष वढ जाता है, उसकी भावनाये दमित होकर अचेतन स्तर मे चली जाती हैं और वहाँ ग्रन्थियाँ वन जाती है। ये ही ग्रन्थियाँ भविष्य के जीवन-सूत्र को सचालित एव नियन्त्रित करती है।

आज का मनोवैज्ञानिक वर्डस्वर्थ की इस उक्ति मे विश्वास नही करता कि 'हैविन लाईज राउण्ड एवाउट अस इन अवर इन्फैन्सी' अर्थात् वचपन मे स्वर्ग हमारे चारो ओर विखरा रहता है। वह उसे भोला-भाला, निरीह और निर्द्वन्द्व नही समझता, अपितु संघर्पमय, स्वार्थी, ईर्ष्यालु और कामी मानता है। वालक को वह पोलीमोरफेस परवर्स (पुरुरूप विकृत) समझता है। शिशु-सम्वन्धी इसी ज्ञान को प्राप्त कर आधुनिक उपन्यासकारो ने वाल-मन के वड़े सुन्दर चित्र उपस्थित किये है। मराठी मे यद्यपि हरिभाऊ आप्टे ने 'यशवतराव खरे' मे और नारायण हरि आप्टे ने 'अर्वाचीन रामराज्य' मे वाल-मन का विश्लेषण फ्राइड के आविर्भाव से पूर्व किया था, तथापि उनके विश्लेषण मे मनोवैज्ञानिकता एव विस्तृत विवरणात्मकता कम थी। साने गुरुजी ने भी बच्चो के मन का वहुत ही सतोषजनक विवेचन किया है। इन लेखको ने साधारण वालक को साधारण परिस्थितियो मे रखते हुए मानसिक प्रतिक्रियाओ का चित्रण किया था। असाधारण परिस्थितियो से घिरे असाधारण या साधारण वालक के मन मे उठने वाले भावो एव विचारो का चित्रण वहाँ नही है। अस्वाभाविक वातावरण से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओ का एव उनके द्वारा भावी जीवन मे होने वाली कुठाओ एव विकृतियो का अकन उनके उपन्यासो मे नही मिलता। इस दिशा मे सर्वाधिक यशस्वी एव सफल कलाकार है विष्णु विनायक वोकील। अपने उपन्यास 'फोल आशा' मे उन्होने वाल-मन के विश्लेषण का एक नया मार्ग अपनाया है। उनकी रचना मे विवरण की अधिकता के साथ-साथ मनोविज्ञान का पुट है। उन्होने वताया है कि कौटुम्विक सवधो की कटुता, कठोर माँ व नासमझ पिता के कारण वालक का

मन कुंठित हो जाता है। माता-पिता तथा बालक के बीच होने वाला संघर्ष बालक के मन को एक विशिष्ट दिशा मे उन्मुख कर देता है, उसका दृष्टिकोण एक विशिष्ट रग मे रंग जाता है, उसका मानसिक विकास रुक जाता है और उसका भावी जीवन भी बचपन की कुंठाओ और अस्वाभाविक परिस्थितियो के कारण कटु एव विशृंखल हो जाता है। शालेय जीवन के विभिन्न प्रसगो से बच्चे के मन पर होने वाले आघातो और प्रत्याघातो का चित्रण उनके 'ठिगळ' मे मिलता है। इस प्रकार उनके उपन्यासो मे शिशु-मन के अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एव कलापूर्ण चित्र प्रस्तुत किये गए है।

हिन्दी मे अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' जो रोमारोला के 'जा क्रिस्ताफ' से बहुत प्रभावित है, बालक की विकसित होने वाली मनोवृत्तियो का अत्यन्त सफल चित्र उपस्थित करता है। शेखर के शिशुकालीन व्यवहारो एव क्रियाओ मे हमे फ्राइड की मान्यताओ के स्पष्ट दर्शन होते है। कट्टर फ्राइडवादी मिसेज मेलेमिआ क्लीन द्वारा निरीक्षत फ्रिट्ज नामक बालक के मानस-व्यापार से शेखर के मानसिक व्यापारो मे अद्भुत समानता पाई जाती है। बच्चे कहाँ से आते है ? क्या ईश्वर सचमुच है ? आदि जिज्ञासाएँ, दोनो में उत्पन्न हो उन्हे परेशान करती है।

'शेखर' का प्रथम भाग शिशु-मानस के विश्लेषण से पूर्ण है। बच्चे के अन्दर एक सशक्त कुतूहल होता है। वह किसी वस्तु को देखकर या उसके विषय मे सुनकर ही सन्तोष नही कर लेता, बल्कि उसके मूल मे क्या है, यह जानने के लिए उत्सुक रहता है। जब तक उसने माँ और पिता को दोपहरी के समय एक चारपाई पर सटे देख नही लिया, तब तक 'बच्चे कहाँ से आते है ?' की जिज्ञासा उसे पागल बनाये रही। समाचार-पत्र मे सैनिको के मरने की बात सुनकर वह स्वयं डूबकर देखना चाहता है कि 'मरते कैसे है ?' परिवार के लोगो से ईश्वर के सबध मे सुनकर विभिन्न प्रश्न उसे घेर लेते हैं 'यदि ईश्वर है तो मुझ पर प्रगट क्यो नही होता ?' या मैं ही अयोग्य हूँ, या कही ऐसा तो नही कि ईश्वर नही है क्योकि मूर्ख और लडाई कराने वाला कौनसा ईश्वर हो सकता है, जो इतनी सुन्दरता बना सके, और यदि वह ईश्वर ने नही बनाई, तो शेष ससार ही क्यो उसकी कृति है ?"

जिस किसी वस्तु के लिए बच्चे को निषेध किया जाता है, उसके लिए वह और भी उत्सुक हो उठता है। शेखर को 'गीत-गोविन्द' जैसी पुस्तक पढने के लिए जब मना किया जाता है, तो वह अवसर मिलते ही उन सब पुस्तको को छिपाकर पढ़ डालता है।

शेखर मे आगे चलकर जो विद्रोह की भावना एव उद्धत अहभाव के दर्शन होते है, उनका मूल कारण भी उसकी बचपन की ही परिस्थितियाँ थी। माँ ने उसके प्रति अविश्वास प्रकट किया, पिता ने छोटे-मोटे अपराधो के लिए पीटा और सबने उसमे छिपाने का, झूठ बोलने का एव ईमानदारी से व्यवहार न करने का प्रयास किया। उसके प्रति अधिकतर इसी मनोवृत्ति से काम लिया गया था 'अरे बालक है— क्या समझेगा।' इसी का परिणाम था कि शेखर चोरी करने लगा, स्कूल मे उद्दंड

होने लगा, अपने मास्टर के साथ अविनयी बना।

बालक मे स्पर्धा की भावना पर्याप्त मात्रा में होती है। महाकवि सूर की निम्न पंक्तियाँ बाल-कृष्ण की स्पर्धा-भावना का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने के कारण ही अमर हो गई है :

"मैया कबहि बढ़ैगी चोटी
तू जो कहति बल की बैनी ज्यो ह्वैहै लाम्बी मोटी"

शेखर इसी भावना के कारण तैरना न जानते हुए भी पानी मे कूद पडता है और डूबने लगता है। भय की भावना भी बच्चे मे समायी होती है और समुचित उपाय करने पर दूर हो जाती है। भुस-भरे बाघ को छूने और उसे किसी प्रकार की हानि करने मे अशक्त देखकर ही शेखर का भय दूर होता है। वह आरम्भ से ही भावुक एवं प्रेम का भूखा है। बहिन सरस्वती से उसका स्नेह निश्चल एवं निस्वार्थ है, पर वह उस पर पूर्ण अधिकार चाहता है और जब वह विवाह के बाद उसे छोडकर जाने लगती है, तो उसको ज्वर आ जाता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वह अपने अधिकार को छिनता देख क्षुब्ध हो जाता है। अनुकरण की भावना बालको का स्वाभाविक गुण है, जो शेखर मे भी वर्तमान है। भय हट जाने पर, वह अपने भाई-बहिन को पढते सुनकर उनका पाठ जबानी सुना देता है और सम्मान-प्रिय तो इतना है कि लेखक बनने के लिए एक पुस्तक तैयार कर लेता है। यह सब देख ऐसा प्रतीत होता कि चित्त-विश्लेषणवादी बाल-मनोविज्ञान को कथात्मक और सृजनात्मक रूप देने के प्रयत्न ही मे 'शेखर' का निर्माण हुआ है। इस प्रकार अज्ञेय का 'शेखर' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमे शिशु-मानस के स्वप्नो, कुतूहल-भाव, जिज्ञासा, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार से उत्पन्न दमन, मानसिक-ग्रंथि, तथा उनके जीवन-व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र मे लाने का प्रयास किया गया है।

मराठी तथा हिन्दी दोनो मे बाल-मन का मनोविश्लेषण करने वाले उपन्यास अंगुलियो पर गिने जा सकते है। उनमे भी कुछ त्रुटियाँ है। वोकील के 'फोल आशा' मे माता-पिता का चित्रण अस्वाभाविक है, तो शेखर एक असाधारण बालक के रूप मे चित्रित किया गया है, जिसके कारण पाठक उसके कुछ चित्रों को अस्वाभाविक समझता है।

चेतना प्रवाह—जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वूल्फ तथा फिलिप टायन्बी ने पाश्चात्य साहित्य मे एक पद्धति प्रचलित की है, जिसमे कथाकार का ध्यान न तो कथावस्तु पर केन्द्रित रहता है और न चरित्र-चित्रण पर। इन दोनो के स्थान पर वह चेतना के प्रवाह (स्ट्रीम आफ कॉन्शसनैस) को चित्रित करने का प्रयास करता है। चेतन और अर्धचेतन मन मे उठने वाली सवेदनाओ और सहस्मृतियो (एसोसिएशन्स) का चित्रण ही इन उपन्यासो का विषय है। उपन्यासकारो को इस प्रकार के उपन्यास लिखने की मूल प्रेरणा विलियम जेम्स नामक तत्वज्ञ से मिली, जिसने

प्रथम बार १८८४ ई० मे चेतनाप्रवाह शब्द का प्रयोग किया और अपनी मनोविज्ञान सम्बन्धी पुस्तक मे उसका विस्तृत विवरण दिया। उसके अनुसार प्रत्येक विचार के मूल मे एक अगोचर पर मूर्त ज्ञान की प्रतिमा होती है और उसका महत्त्व तर्कशुद्ध विचारधारा की अभिव्यक्ति से अधिक होता है। प्रसग, घटना, क्रिया, परिस्थिति इत्यादि बातें ऊपरी होती हैं। मनोव्यापारो मे चमकने वाली प्रतिमा ही वास्तविक प्रेरक शक्ति होती है। अत पात्र का स्वभाव-विश्लेषण मन के गहरे व्यापारो मे से निरन्तर उद्भूत होकर विलीन होने वाली प्रतिक्रियाओ की प्रतिमा की सगति होता है। उसी को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना कलाकार का उद्देश्य होना चाहिये। उनके मतानुसार हृदय की क्रिया के समान ही मस्तिष्क भी अनवरत गति से कुछ न कुछ कार्य करता रहता है और प्रत्येक क्रिया के मूल मे मस्तिष्क की प्रतिक्रिया रहती है। इस मस्तिष्क की चेतना-धारा को मनोविज्ञान के अनुसार ग्रहण कर लेखक को उसे इस प्रकार शब्दो मे अभिव्यक्त करना चाहिये कि पाठक को सब बाते तर्क द्वारा नही अपितु मन की सवेदना द्वारा अनुभूत हो जाएँ, क्योकि तर्क-सम्मत शब्दो द्वारा निर्माण होने वाली विचार-परम्परा से पूर्व ही सवेदनाओ से मन पटल पर एक विचार-परम्परा निर्माण हो जाया करती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो चेतना-प्रवाह की सगति फोटोग्राफी के निगेटिव फिल्म के समान और उसका कलात्मक दर्शन उसके पोजिटिव फोटो के समान होता है। परन्तु निगेटिव सच्चा एव यथार्थ होना चाहिये, क्योकि उसी का प्रतिबिम्ब फोटो मे जैसा का तैसा उतरेगा। इसलिए आज का लेखक बाह्य परिस्थितियो के पीछे सुप्त सवेदना-शक्ति का वर्णन करने की चेष्टा करता है। आज का उपन्यासकार मनुष्य के सुप्त-मन के चेतना-प्रवाह को व्यक्त कर उसकी यथार्थता हमारे सम्मुख रखता है। वह सास्कृतिक मूल्यो के उस आवरण को फाड डालता है, जो समाज ने डाल रखा है तथा जो कृत्रिम, अनैसर्गिक व अस्वाभाविक है।

पाश्चात्य उपन्यासकारो की देखा-देखी मराठी उपन्यास-साहित्य मे मनोविज्ञान के इस सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी बन गये और उन्होने अपने अनुभव एवं पाश्चात्य साहित्य के अधकचरे ज्ञान का आश्रय ले उपन्यास लिखे। अनभ्यस्त होने के कारण उनके ये प्रयत्न असफल ही रहे। मर्ढेकर की अपनी रचना 'रात्री चा दिवस' में, जिसमे एक सहसम्पादक दिवाकर के चेतन, अर्धचेतन मन मे एक विशिष्ट कालखड मे उठनेवाली सवेदनाओ और सहस्मृतियो का चित्रण किया गया है, कुछ सफलता अवश्य मिली है। पुस्तक के उत्तरार्ध मे दो स्वप्नो मे, जो सुप्त चेतना-प्रवाह का चित्रण है, वह वस्तुत अत्यन्त कलात्मक है। दिवाकर के सुप्त-मन का यह चित्रण निश्चय ही अत्यंत अर्थपूर्ण है क्योकि उसमे उसकी मनोरचना का सूक्ष्म, सरल ज्ञान पाठक को हो जाता है। परन्तु कुछ तो यांत्रिकता एव कृत्रिमता के कारण तथा कुछ उसके पीछे कोई निश्चित उद्देश्य न होने के कारण वह केवल प्रयोग के लिए प्रयोग-मात्र रह गया है। यह पाश्चात्य उपन्यासो के समान न तो मौलिक ही है और न गंभीर ही। चेतना-प्रवाह के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनकी कल्पना मूलग्राही प्रतीत नहीं

होती। पाश्चात्य लेखको ने इस पद्धति का प्रयोग मानवी मन की कतिपय विशेषताओ का उद्‌घाटन करने के लिए किया था, मर्ढेकर मे यह बात नही मिलती। यदि उनके 'पाणी' मे लाइफ बेल्ट की सहायता से समुद्र की तरंगो पर तैरने वाले विठू की मन-स्थिति का वर्णन चेतना-प्रवाह पद्धत्ति पर किया गया है, तो 'तावडी माती' मे अनपेक्षित जीवन-प्रसगो के स्मरण से होने वाली शिवा की मनःस्थिति का चित्रण है। 'रणागण' भी इसी प्रकार का उपन्यास है। नायक या उसके आसपास के पात्रो को जो-जो अनुभव हुए, उनके मन में जो-जो विचार उठे, तथा जिस क्रम मे वे उनके मस्तिष्क पर अंकित हुए, उसी क्रम से उसने उन्हे प्रस्तुत किया है। उनको किसी विशिष्ट उद्देश्य से छाँटने या व्यवस्थित क्रम देने की चेष्टा नही की गई है और न उनमे से कुछ को छिपाने का ही प्रयत्न किया गया है। 'रात्री चा दिवस' के दस-बारह वर्ष बाद वसत कानेटकर का 'घर' इसी पद्धत्ति पर लिखा एक अन्य उपन्यास है। जेम्स ज्वायस या वर्जीनिया वूल्फ की-सी सूक्ष्मता तो इसमे भी नही है, फिर भी अबोध मन की उथल-पुथल का सजीव एवं मार्मिक विश्लेषण इसका विशिष्ट आकर्पण है। उसमे जेम्स ज्वायस के समान गूढता एव क्लिष्टता नही। काव्यात्मकता को जो सतत धारा इसमे प्रवाहित होती है, वह उसे और भी मधुर बना देती है। विवल्कर का 'शुभा' भी इसी प्रकार की रचना है। १६ घटो की अवधि मे शुभा के मन मे उठने वाली विचार-तरगो, स्मृति-चित्रो व अबोध स्वप्नो के चित्रण द्वारा आधुनिक समाज के मानसिक महारोग की ओर संकेत किया गया है। यद्यपि कृत्रिमता के दोष से यह उपन्यास भी मुक्त नही है, तथापि 'रात्री चा दिवस' की अपेक्षा इसका चेतना-प्रवाह सम्बन्धी प्रयोग अधिक विवेकपूर्ण एव सफल है।

साराश यह कि मराठी मे चेतना-प्रवाह-पद्धति को अपनाकर लिखे जाने वाले उपन्यास बहुत कम है और वे कृत्रिमता के दोप से आक्रान्त है। इसीलिए वि० बा० आबेकर ने लिखा है, "विश्वविद्यालय से निकलते ही अपने को मनोविश्लेषणशास्त्र मे पारगत मानकर चेतना-प्रवाह पद्धति का प्रसाद बाँटने के उच्छृ खल कार्य मे प्रवत्त होना बीभत्सता की पराकष्ठा है।"[1] यद्यपि सम्पूर्ण रूप से चेतना-प्रवाह-पद्धति पर लिखे गये उपन्यास कम है, तथापि इस पद्धति के प्रभाव के कारण अबोध मानवी प्रवृत्तियो का उद्‌घाटन अधिकाधिक होने लगा है। विभावरी शिरूरकर, पु० य० देशपाडे आदि के उपन्यासो मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है।

हिन्दी मे चेतना-प्रवाह का प्रयोग मराठी से भी कम हुआ है। अज्ञेय का उपन्यास 'नदी के द्वीप' चेतना के प्रवाह का गत्याकन करने वाला प्रथम उपन्यास है। यद्यपि उनके 'शेखर' मे भी कुछ अश इस पद्धति पर लिखे गये थे। अज्ञेय के बाद चेतना-प्रवाह को दिखलाने की चेष्टा प्रभाकर माचवे ने अपने 'परन्तु' मे की है।

१६०० ई० से १६५० ई० तक (जो हमारा विवेच्य काल है) के मनोवैज्ञानिक

---

[1] वि० बा० आम्बेकर 'मराठी कादबरी' प्रदक्षिणा : दूसरा संस्करण : पृ०ठ १८६।

उपन्यासो का अनुशीलन करने पर हम इलाचंद्र जोशी के मत से कुछ अशो मे सहमत हो जाते है, "हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है और भारत की अन्य सभी भाषाओ के उपन्यास-साहित्य को इस क्षेत्र मे वहुत पीछे छोड़कर आगे निकल गया है।……आज हिन्दी का उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे जीवन के स्वतंत्र अवयवो के स्वतत्र सत्यो को विश्व-साहित्य के प्रांगण मे आत्म-विश्वास के साथ रखने का दावा करता है।" कुछ अशो मे सहमत होने की वात मैंने इसलिए कही है कि प्रथम तो सपूर्ण भारतीय भाषाओ के उपन्यास-साहित्य का गहन अध्ययन करने का मै दावा नही कर सकता और दूसरे, मराठी से भी हिन्दी का मनोवैज्ञानिक उपन्यास-साहित्य सभी दिशाओ मे श्रेष्ट नही कहा जा सकता। जहा हिन्दी मे दमित कुठाओ तथा फ्राइड, एडलर, जुंग, गैस्टाल्ट के सिद्धान्तों को लेकर मराठी से अधिक उपन्यास लिखे गये है, वहाँ मराठी मे चेतना-प्रवाह-पद्धति पर लिखे गये उपन्यास हिन्दी उपन्यासो से सख्या मे ही अधिक नही, अपितु कलात्मकता मे भी अधिक श्रेष्ट है। अतः जोशी जी के कथन का यही भाग कि "हिन्दी उपन्यास आश्चर्यजनक रूप से उन्नति कर रहा है", सत्य है।

मराठी तथा हिन्दी दोनो के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे कुछ त्रुटियाँ एव दोष है। मनोविज्ञान के फेर मे पड़कर उपन्यासकार कलातत्त्व से उदासीन हो गये है। मराठी के 'विशाल जीवन', 'काली राणी' और 'नवें जग' एक ऐसी दुरूह, मन के अवचेतन को व्यक्त करने वाली दार्शनिक शब्दावली मे लिखे गये है कि उनमे औपन्यासिक तत्त्व निश्शेष हो गया है। पु० य० देशपाडे के उपन्यासो मे एल्डुअस हक्सले की-सी नकारात्मक वृत्ति आती जारही है। हो सकता है उनके उपन्यास रहस्यवाद मे खोकर अपनी सारी कलात्मकता खो वैठे। जव कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोडकर, एकान्तिक मनोवैज्ञानिक ऊहापोह मे लग जाते है, तव न तो सच्चे अर्थ मे नया चरित्र निर्माण हो पाता है और न उपन्यासो की सामाजिक उपादेयता ही रह जाती है। जो पात्र और परिस्थितियाँ इन उपन्यासो में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्वलता को ही अकित करती है। जैनेन्द्र ने अपने कुछ उपन्यासो मे मनोविज्ञान के साथ दर्शन का पुट देकर अपनी रचनाओ के प्रभाव और उत्कर्ष को कम वना दिया है। कुछ उपन्यासो को पढकर ऐसा लगता है कि मनोविज्ञान की पुस्तको को सामने रखकर साहित्य-रचना की गई है तथा मनोविज्ञान के नाम पर हीन एवं रुग्ण भावनाओ का चित्रण किया गया है। इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' का नन्दकिशोर अपनी ऊब, थकान, उदारता और आदर्शवाद के पीछे यौन वर्जनाओ का एक रोगी ही तो है। ऐसे उपन्यासो में सिद्धान्त-निरूपण का मोह इतना प्रवल है कि उपन्यास-कला गौण हो उठी है। उदाहरणार्थ, जोशी के 'प्रेत और छाया' मे पात्रो मे अवचेतन मन की स्थापना परिस्थितिवश स्वय ही नही हो गई है, वल्कि अवचेतन मन के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत-निरूपण के लिए ही पात्र चुने गये है। उपन्यास की कथा,

परिस्थितियाँ, वार्तालाप, सब सिद्धान्त-निरूपण के अनुकूल छाँट कर रखे गये हैं। कला विज्ञान की दासी बन गई है। इस प्रकार के उपन्यासो मे मनोविज्ञान के सिद्धान्त के उदाहरण तो उपस्थित कर दिये जाते है, किन्तु कहीं-कही तो रीतिकालीन कविता के समान उदाहरण उदाहरण के लिए ही होते है।

दूसरा दोष इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे अश्लीलता का मिलता है। माडखोळकर के उपन्यास इस दृष्टि से बदनाम है। उन पर आक्षेप है कि वे नग्न चित्रण करते है। ह्रासोन्मुख समाज-व्यवस्था मे सेक्स को लेकर जो कुछ वितडावाद निर्मित होते है, जो उसके प्रति अस्वस्थ आकर्षण नायक-नायिकाओ मे रहता है, वह 'शाप' से 'डाक बंगला' तक के उनके सभी उपन्यासो मे स्पष्ट है। हिन्दी मे भी मनोविश्लेषण के नाम पर नीति की अवहेलना करने वाले अनेक उपन्यासकार है, जिनमे इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तम नागर, एव अज्ञेय के साथ द्वारिकाप्रसाद का नाम भी लिया जा सकता है। 'प्रेत और छाया' मे कही-कही पतन के चित्र अधिक वासना-मय हो गये है। 'मैं भूखा हूँ, तुम भी भूखी होगी' की व्यजना विशेष परिस्थितियो के कारण स्पष्ट से भी अधिक स्पष्ट है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' मे निरावरण होने वाला दृश्य ऐसा ही है। द्वारिकाप्रसाद का 'घेरे के बाहर' तो उपन्यास न रहकर अनेक स्थानो पर कामशास्त्र ही बन गया है। वर्जनाओ के घेरे मे घिरे सम्बन्धो को उद्घाटित करके रख देने को मनोविश्लेषण भले ही कहा जाय, पर अन्त पुर की स्वच्छन्दता और एकान्त को रसस्निग्धता से वर्णित करने को मनोविश्लेषण का नाम देना सचमुच विडम्बना है।

इन उपन्यासो का एक दोष यह भी है कि इनके पढने से हमारे मन मे ऐसी उल्लासपूर्ण, स्वस्थ एव विकासोन्मुख भावनाएँ उत्पन्न नही होती, जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासो को पढकर होती है। एक निष्क्रियता, उद्देश्यहीनता एव हल्के विषाद की काली छाया ही इन्हे पढकर हृदय को घेर लेती है।

कलात्मक दृष्टि से भी मनोविज्ञान ने उपन्यास को ठेस पहुँचायी है। अवचेतन की भरपूर और तिल-तिल खोजबीन कर देने से ही उपन्यास नही बन जाता। रोचक कथा, सौन्दर्यात्मक निखार, एकता, समुचित वातावरण, कुतूहल उत्पन्न करने की शक्ति आदि सफल उपन्यास के लिए आवश्यक तत्व है, जिनकी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार प्राय उपेक्षा करते है। उनके साथ अनर्गलता का भी विशेष भय है।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो के अन्दर औसत व्यक्तियो का चित्रण नही होता। उपन्यासकार असाधारण व्यक्तियो को लेकर उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करता है। इस प्रकार के उपन्यासो के अन्दर समाज मे पाए जाने वाले सब व्यक्तियो का चित्रण नही हो पाता। अत' इनमे एक भी ऐसा चित्र नही, जिसे मानव का प्रतिनिधि चित्र कहा जा सके। ये उपन्यासकार समाज की व्यापक स्थितियो के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे हैं, जैसे हिन्दी मे इलाचन्द्र एव अज्ञेय तथा मराठी मे मर्ढेकर। इस सम्बन्ध मे वा० ल० कुलकर्णी का मत

देखिये..... "इसके द्वारा कुछ मधुर, परम्परागत, उल्लेखनीय व्यक्ति-चित्रो का निर्माण भले ही हुआ हो, पर परस्पर विसगत और विरोधी नाना प्रकार के मनोविकारो और उनको छिपाए मानव-मनो का विराट दर्शन वहुत कम होता है। साराश यह कि व्यक्ति-चित्रणात्मक स्वभाव-चित्रण सम्बन्धी, व मनोविश्लेषणात्मक कथा-साहित्य निर्माण करते हुए भी वस्तुत मानवी मन के सत्य स्वरूप को देखने एव अकित करने की इच्छा लेखको मे वहुत कम पाई जाती है। इसके विपरीत कभी-कभी इस तर्कनिष्ठ मनोविज्ञान मे अतिरजन, भडकीलेपन, नाटकीयता व कोमलता की अत्यत उग्र वास आने लगती है......ये मनोविश्लेषण को योजनावद्ध, मधुर व प्रभावशाली वनाने का मन पूर्वक यत्न करते है।"[1]

वस्तुत हिन्दी तथा मराठी मे फ्राइड, एडलर, जुग इत्यादि के सिद्धान्तो पर पुस्तको के न होने से इनका ज्ञान हमारे लेखको को पूरी तरह नही हो सका है। ये हमारी सर्जनात्मक प्रतिभा को जाग्रत नही कर सके है। यदि इन सिद्धान्तो का पूर्ण परिचय होता, तो सभव है कि मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयो की प्रयोगशालाओ से रोगियो के जो इतिहास प्राप्त हुए है, उनके आधार पर कुछ उपन्यास लिखे जाते, परन्तु आज इस प्रकार के उपन्यास हमारे यहाँ लगभग नही है। जो कुछ है भी, उनमे अस्पष्टता अधिक है। आज इस वात की आवश्यकता है कि जो लेखक ऐसे गहन विषयो के पूर्ण ज्ञाता न हो, वे कथा-साहित्य मे इनका प्रयोग न करे।

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की मूल प्रेरणाएँ—अपने पूर्वजो के जीवन, उनकी आशा-आकाक्षाओ, उनके जीवन-सघर्षो आदि के विषय मे कुतूहल होना और उस कुतूहल की तृप्ति करना मानव का जन्मजात स्वभाव है। इसी जिज्ञासा-तृप्ति की सहज भावना मे ऐतिहासिक शोध व ऐतिहासिक उपन्यास के वीज निहित है। वर्तमान से असन्तुष्ट होकर पलायन की भावना, अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण समझ उसके पुनर्सस्थापन की आकाक्षा, कतिपय ऐतिहासिक पात्रो या घटनाओ के प्रति न्याय की भावना, इतिहास-रस मे लिप्त रहने की सहज भावना, जातीय-गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापन, वीर-पूजा और जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना भी कथाकार को ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर प्रेरित करती है।

भारतीय साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासो का प्रणयन राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समानान्तर हुआ। फलत उनमे पलायन की भावना तो नही है, पर अतीत की गौरव-गाथा, राष्ट्र-प्रेम, वीर-पूजा और नवीन सिद्धान्तो की पुष्टि की भावना वर्तमान है। उदाहरण के लिए, वकिम चन्द्र के वँगला, हरिभाऊ आप्टे के मराठी, के० एम० मुन्शी के गुजराती, वृन्दावनलाल वर्मा के हिन्दी, तथा लक्ष्मी नरसिहम् के कन्नड ऐतिहासिक उपन्यासो मे भारतीय सास्कृतिक गौरव और जातीय शौर्य की प्रतिष्ठा के साथ-साथ राष्ट्रीयता और आत्म-वलिदान की भावना जाग्रत करने

---

[1] वा० ल० कुलकर्णी, मराठी कथात्मक वाङ्मय आणि मनोविश्लेषण सत्यकथा, जून १९४६।

का स्तुत्य प्रयास किया गया है। हरिभाऊ आप्टे के सम्बन्ध मे वेणूबाई पासे का मंतव्य देखिये, "उन्होने वैभव-सपन्न महाराष्ट्र का चित्र अंकित कर व स्वतन्त्र, तेजस्वी एवं कर्मठ स्त्री-पुरुषो के चित्र खीचकर हमारे समाज मे स्वातंत्र्येच्छा और देशाभिमान जागृत किया।"[1] विदेशी इतिहासकारो ने भारतीय इतिहास को, ऊपर से तटस्थता का भाव प्रदर्शित करते हुए भी, पर्याप्त रूप में विकृत करके प्रस्तुत किया था जिससे भारतीय शौर्य, सभ्यता और संस्कृति हीन सिद्ध हो सके। कुछ मनस्वी उपन्यासकारो के मन में यह बात चुभ गई और उन्होने उसका सशक्त प्रतिवाद अपनी रचनाओ द्वारा किया। ग्रट डफ सरीखे पाश्चात्य इतिहासकारो एवं मुसलमान इतिहास-लेखको के असत्य तथ्यो की पोल खोलने के लिए मराठी मे हरिभाऊ के 'सूर्योदय' तथा गुंजीकर के 'मोचनगड' उपन्यास तथा हिन्दी मे 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' इसी प्रकार के उपन्यास है। आदर्श स्थापना के लिये लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यासो मे मराठी मे शिवाजी के जीवन से संबंधित हरिभाऊ आप्टे के उपन्यास और हिन्दी से वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' तथा 'मृगनयनी' के नाम लिए जा सकते है। वर्तमान विचारधारा को प्रस्तुत करने की सबल प्रेरणा के परिणामस्वरूप लिखे जाने वाले उपन्यासो मे यशपाल और राहुल के उन ऐतिहासिक उपन्यासो को लिया जा सकता है जिनमे साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन एव समर्थन करने के लिए अतीत का आश्रय लिया गया है। इसी श्रेणी मे वि० वा० हडप के मराठी उपन्यास आते हैं, जिनमे कथानक अतीत काल से सबधित होते हुए भी लेखक ने पात्रो के मुख से अपने समय के विचारो एव भावनाओ को अभिव्यक्ति प्रदान की है। साराश यह कि विभिन्न लेखको ने विभिन्न भावनाओ से अनुप्रेरित होकर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे है।

शिव-काल पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति—१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मराठी लेखको मे भविष्य मे कुछ कर दिखाने की आकाक्षा थी, जो पूर्व-परम्परा एवं गौरव के अनुकूल हो। शिवाजी महाराज का कृतित्व, उनकी स्वाभिमान भावना, स्वातन्त्र्य-प्रेम, जाति-निष्ठा आदि गुण ऐसे थे, जिन पर महाराष्ट्र को ही नही सम्पूर्ण भारत को गर्व है। अत. उनके सम्बन्ध मे उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति सहज ही समझी जा सकती है। रा० भि० गुंजीकर का 'मोचनगड' (१८७१ ई०) इसी मनोवृत्ति से अनुप्रेरित होकर लिखा गया उपन्यास है। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन, सार्वजनिक सभा पुणे, मुबई वक्तृत्वोत्तेजक सभा, प्रार्थना समाज इत्यादि सस्थाओ, 'निबधमाला', 'काव्येतिहाससग्रह' इत्यादि पत्रो तथा इतिहास सबधी शोध-कार्य ने मराठी लेखको के हृदय मे ऐतिहासिक पुरुषो के विषय मे आदर उत्पन्न किया एव उनको ऐतिहासिक ग्रथो के अध्ययन और ऐतिहासक उपन्यास लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। गुंजीकर अपने विस्तृत अध्ययन व शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि के कारण शिवाजी के उदयकाल के मराठा-जीवन से समरस हो सके थे। अतः पात्रो, प्रसगो व स्थानो के काल्पनिक होते हुए भी वह उस काल-विशिष्ट का सजीव वातावरण

---

[1] वेणूबाई पासे 'हरिभाऊ आप्टे', पृष्ठ २३१।

चित्रित करने मे पूर्ण सफल हुए । उनका चरित्र-चित्रण आकर्षक नही है, (उस समय के लेखको से उसकी आशा करना भी अनुपयुक्त है) तथापि कथानक मे पर्याप्त कुतूहल तथा सजीव वातावरण के परिणामस्वरूप यह त्रुटि खखरती नही । दुर्भाग्यवश गुंजीकर के 'मोचनगड' की परम्परा को उस काल के अन्य लेखक न निभा सके । ना० वि० वापट के 'छत्रपति सभाजी' आदि (१८८८ ई०) रचनाओ मे ऐतिहासिक उपन्यास सवधी स्पष्ट कल्पना का अभाव और ऐतिहासिक सत्य के प्रति उपेक्षा का भाव खटकते हैं ।

सच्चे अर्थों मे मराठी ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना करने तथा उनकी परम्परा डालने का श्रेय हरिभाऊ आप्टे को है । इसके लिए उन्हे उचित वातावरण एव अनुकूल परिस्थितियाँ भी मिली । १८८४ ई० मे आर० पी० करकेरिया नामक पारसी विद्वान ने वम्बई में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सामने एक निवन्ध प्रतापगढ के किले के इतिहास के सवध मे पढा । उस निवन्ध मे अफजल खा के वध का विषय आजाना स्वाभाविक ही था । उस समय तक स्काट वेयरिंग को छोड अधिकाश इतिहासकारो का मत था कि शिवाजी ने अफजल खाँ को छल से मारा था । करकेरिया ने प्रथम वार प्रमाणित किया कि वस्तुत. अफजल खा ने छल से शिवाजी को मारना चाहा था और शिवाजी ने, तव केवल आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित हो, उसकी हत्या की थी । उसके वाद लगभग १४ वर्षो तक इतिहासकारो ने इस सवध मे गवेषणा की और सामग्री एकत्र की । हरिभाऊ आप्टे ने उस सव सामग्री का अध्ययन किया और 'सूर्यग्रहण' उपन्यास लिखा । उन्ही के जीवन-काल मे शिवाजी के स्मारक के सवध मे आन्दोलन चला । १८९६ ई० 'रायगढ' के किले पर शिवजयंती का समारोह वडी धूमधाम से मनाया गया । उससे एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८९५ ई० के अप्रैल मास से 'केसरी' पत्र मे शिवाजी-स्मारक पर लेख आने प्रारम्भ हो गये थे । पूना मे, जहाँ हरिभाऊ रहते थे, अनेक भाषण शिवाजी की वीरता एव कृतित्व पर होते थे, जिन्हे उन्होने अवश्य सुना होगा । इस सवका प्रभाव उनके कलावादी मन पर पड़ा और उन्होने शिवाजी सवधी उपन्यास लिखने प्रारभ किये । परिणामस्वरूप शिवाजी का जो स्मारक जनता के आन्दोलन एवं तिलक के प्रयत्नो से न वन सका, हरिभाऊ ने उसे अपने ढग से पूरा किया । कुसुमावती देशपाडे के शब्दो मे, "रायगढ की समाधि पर छत्री नही वनी, परन्तु हरिनारायण ने महाराष्ट्र की कल्पना मे स्पष्ट रूप से अंकित रहने वाली शिवाजी की प्रतिमा निर्मित की व उसे चिरस्मरणीय वना दिया । जनसमुदाय के क्षणिक उत्साह को कलावंत ने चिरकाल के लिए मूर्तिमान कर दिया ।"[1]

सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार ज्ञात घटनाओं की सहायता से अज्ञात घटनाओ का अनुमान एवं कल्पना शक्ति के आधार पर उनका इस प्रकार वर्णन करता है कि वह चित्र सुसगत एवं पूर्ण वन जाता है । दो प्रकार के सत्य होते हैं—आँखों देखा सत्य

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादंवरी'' प्रथम भाग, पृष्ठ १०१ ।

और सम्भावित सत्य । सम्भावित सत्य को भी ऐतिहासिक यथार्थ के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, यदि वह तर्क एव सम्भावना से परे की वस्तु न हो । यदि साहित्यकार के पास इतिहास का गभीर ज्ञान व तीक्ष्ण, मर्मग्राही कल्पना-शक्ति है, तो वह सभाव्य सत्य को भी प्रत्यक्ष सत्य के समान बना देता है । हरिभाऊ आप्टे मे ये गुण विद्यमान थे । साथ ही वह उपन्यास लिखने से पूर्व उस काल से संबंधित सामग्री का पर्याप्त अध्ययन कर लेते थे । 'वज्राघात' लिखने से पूर्व उन्होने स्वैल का 'ए फौरगौटिन एम्पायर' और सूर्यनारायण का 'ए नेवर टु बी फॉरगॉटिन एम्पायर' पढ लिए थे । इसी प्रकार शिवकालीन उपन्यासो के प्रणयन से पूर्व उन्होने इलियट और डासन के 'पर्शियन बखरी' के अनुवाद, 'काव्येतिहास-सग्रह' तथा 'पोवाडे' इत्यादि का परिशीलन कर लिया था । सरकार, सरदेसाई व राजवाडे के द्वारा सशोधित ऐतिहासिक ज्ञान-भंडार का भी उन्होने उपयोग किया था । स्वामी रामदास ने सम्पूर्ण महाराष्ट्र मे कितने ही मठ स्थापित किये थे, जो गुप्तचर विभाग का कार्य करते थे । इन मठो मे बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पडी थी । शकर श्रीकृष्ण दवे ने उस सामग्री का सकलन किया था । यह संभव है कि हरिभाऊ ने उस सकलित सामग्री का अध्ययन कर उसका उपयोग अपने उपन्यासो मे किया हो ।

ऐतिहासिक उपन्यासो मे लेखक को ऐसा समाज और ऐसे व्यक्तियो का चित्रण करना पडता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका होता है किन्तु जिसके कुछ पद-चिह्न पीछे रह जाते है । इन पद-चिह्नो के साथ लेखक मनमानी नही कर सकता । ऐतिहासिक वातावरण, घटनाओ एव पात्रो का चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक सगति का ध्यान रखते हुए करने से ही कोई कृति सफल ऐतिहासिक उपन्यास हो सकती है । हरिभाऊ आप्टे के सबध मे वि० वा० आम्बेकर लिखते हैं, "वातावरण से समरस होने का गुण हरिभाऊ की प्रतिभा ने सफलतापूर्वक आत्मसात कर लिया था ।"[1]

उनके उपन्यासो मे कथात्मक भाग और चरित्र-चित्रण से भी अधिक ऐतिहासिकता वातावरण-निर्माण मे मिलती है । गुप्त सुरगो, मावलो की गुप्त सभाओ, भवानी के मन्दिर तथा उसकी उपासना, गो ब्राह्मण पालन की प्रवृत्ति, बीजापुर के दरबार मे मुसलमानो का आचरण व व्यवहार, हिन्दू स्त्रियो की दयनीय स्थिति, मार्ग मे यवनो के आक्रमण इत्यादि के चित्रण द्वारा उस समय का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है । मराठो की शत्रु को त्रास देने वाली युद्ध-पद्धति, उनकी बरछी, ढाल, तलवार इत्यादि हथियारो, मुसलमानी ढंग की पोशाक, फारसी-मिश्रित भाषा, विभिन्न किलो से संबंधित सुरंगो, औरगजेब की छावनी, बीजापुर के बादशाह के महल एवं वहाँ की बेगमो के षड्यन्त्र और विलास इत्यादि का वर्णन पढकर पाठक शिवकालीन महाराष्ट्र के वातावरण मे विचरण करने लगता है । 'उष काल' मे नाना साहेब के कुटुम्ब के चित्रण मे तत्कालीन हिन्दू कुटुम्बो का प्रतिबिंब है । कुलीन मराठी कुटुम्बो की दुर्दशा सनकी और अशिष्ट मुसलमानो द्वारा किस प्रकार की जाती थी, इसका अनुमान

---

[1] वि० वा० आम्बेकर 'परामर्ष', पृष्ठ १२ ।

देशमुख परिवार की अवस्था का वर्णन पढ़कर सहज ही लगाया जा सकता है। शिवाजी से पूर्व और उनके समय मे मराठे सरदारो की 'स्वामिभक्ति' का स्पष्ट रूप यदि एक ओर हमे बीजापुर के बादशाह को लिखे शहाजी के पत्र मे मिलता है, "···किसी हिन्दू तीर्थ-स्थान मे रहकर भगवान का भजन करते हुए हजरत साहेब को दुआ देता रहूगा। हमारे सबंधियो को आप अपनी सेवा मे रख ले।"[1] तो दूसरी ओर इस भावना से अनुप्रेरित हो वे किस प्रकार अपने तन, मन, धन और परिवार की आहुति देकर भी स्वामिभक्त बने रहना चाहते थे—यह 'उष काल' के रगराव अप्पा के दृष्टात से सहज ही समझ मे आ सकता है। इसी प्रकार उनके 'केवळ स्वराज्यासाठी' मे राजाराम, जिनके तन्जौर मे जिन्जी-गढ'की यवनो से रक्षा के पराक्रम का उल्लेख फ्राँसीसी पुस्तको एव अभिलेखों तक मे मिलता है, के निकट एकत्र होने वाले मराठे सरदारो, उनके साहस और नवजीवन का चित्रण इतनी तन्मयता से किया गया है कि तत्कालीन महाराष्ट्र का सजीव चित्र नेत्रो के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस संबध मे कुसुमावती देशपाडे का मत देखिये, "मन चाहा वेश बदलकर स्वराज्य कार्य करने वाले दूत, विगत अन्याय को भूलकर मराठी राज्य के गिरते हुए मन्दिर की रक्षा को उत्सुक वीर, परम्परागत पर्दे की प्रथा की चिन्ता न कर निष्ठावत मराठो के साथ-साथ बालराजा को बचाने के कार्य मे भाग लेने वाली स्त्रियाँ—इन सबसे निर्मित महाराष्ट्र का दर्शन हरिनारायण के इस उपन्यास (केवल स्वराज्यासाठी) मे मिलता है।"[2]

उन्होने सजीव वातावरण प्रस्तुत करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है और पात्रो की जिस विचारधारा को प्रस्तुत किया है, उसके विषय मे बड़ी सावधानी बरती है। 'तल्लाची चाकरी', 'नँचा पिणे', 'मनाँत मोठा लाचार झाला, 'ए सैतान, तुझी ही अब नाद', 'जुते पैजार' इत्यादि शब्दो का प्रयोग कर उन्होने उस काल की प्रतिमा ही नेत्रो के सम्मुख निर्माण कर दी है। ऐतिहासिक स्थलो के विषय मे भी विशेष गलती नही की गई है। उनके किलो व शहरो के वर्णन निर्दोष है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियो के रूप, वय व स्वभाव आदि के वर्णन यथार्थ हैं। साराश यह है कि अपने वर्णन काल के सामाजिक जीवन के अन्तस्तल मे प्रवेश कर तथा उससे पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर हरिभाऊ ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे और यही उनकी सफलता व लोकप्रियता का रहस्य था। इसी समरसता के फलस्वरूप उन्होने ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में, कल्पना-शक्ति की सहायता से, जिन प्रसगों की उद्भावना की, वे आज ऐतिहासिक शोध के अनन्तर भी सत्य सिद्ध हुए है। उदाहरण के लिए, 'उष काल' ने मारुति के मन्दिर के नीचे सुरग एव तहखाने के प्रसग का वर्णन उनकी कल्पना पर ही आधारित है, पर आज यह सिद्ध हो चुका है कि शिवाजी द्वारा स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के आरभ होते ही भगवान शकर के मन्दिर मे १०००-१२०० मावलो ने एकत्र होकर शपथ ली थी कि वे देश को स्वतन्त्र कराकर ही दम लेगे। शिवाजी की

---

[1] शिवाजी सेमिनार : मराठी विभाग, पृष्ठ ११६।

[2] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी : प्रथम भाग, पृष्ठ १०६।

सहायता करने वालो का घर-बार किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट किया जाता था, इसका चित्रण भी हरिभाऊ ने वडी कुशलता से कल्पना के आधार पर किया है, पर आज उसकी भी सत्यता दादा जी नरसू नायक नामक एक शिवकालीन व्यक्ति के जीवन-चरित्र से प्रमाणित हो जाती है ।

अनावश्यक विस्तार और विश्रृंखलता ऐतिहासिक उपन्यासो की कला को आघात पहुचाती है । इस दोष से हरिभाऊ आप्टे भी नही वच सके हैं । चाहे उस अनावश्यक विस्तार का कारण कुसुमावती देशपाडे के अनुसार 'करमणूक' पत्र मे प्रति सप्ताह लिखने का दायित्व हो, जो उनके जीवन-चरित्र को पढकर अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है और चाहे 'भिगारे' के मतानुसार उनकी घटना और पात्र के विश्लेषण की प्रवृत्ति, परन्तु इस दोष के कारण उपन्यास के अनेक स्थल नीरस व ऊब उत्पन्न करने वाले हो गये है । अत क्षुद्र से क्षुद्र घटना को भी इतना विस्तार दिया गया है कि वह नीरस हो गई है । 'सूर्योदय' मे जावली के राना का वर्णन, 'केवल स्वराज्यासाठी' का अन्तिम ऐतिहासिक विवरण आवश्यकता से अधिक विस्तारपूर्ण हो गये है । अनावश्यक विस्तार एवं विश्रृखलता के कारण ही पात्रो के नाम तक मे गड़बड हो गई है । 'उप काल' मे पहले श्रीधर स्वामी को नरहर स्वामी कहा गया है, पर आगे चलकर नरहर स्वामी का नाम लुप्त हो जाता है । कथानक मे पात्रो के नाम गुप्त रखने की लालसा ने भी हरिभाऊ के उपन्यासों की कला और चरित्र-चित्रण दोनो को आघात पहुचाया है। उसी के कारण नाट्यपूर्ण प्रसग चित्रित नही हो सके है । उपन्यास के पूर्वार्ध मे कथा की गति आवश्यकता से अधिक शिथिल व मंद होती है, उत्तरार्ध मे वह तीव्र हो जाती है । जहां कथा की गति चरमबिन्दु पर पहुची होती है और पाठक का कुतूहल चरमसीमा पर होता है, वहां भी लेखक उद्देश्यहीन निरर्थक पूर्व-इतिहास प्रस्तुत करने का मोह संवरण नही कर पाता । 'उप: काल' मे सुल्तानगढ की अन्तिम हलचल के समय लेखक रभावती व उसके पति के सम्वध मे 'थोड्या पूर्वीच्या हकीकती' नाम से दो प्रकरण लिखकर पाठक के कुतूहल को शिथिल कर रचना को रसहीन वना देता है । यद्यपि तारतम्य के सम्वन्ध मे उनका स्वयं का मत था "चित्रकार को जिस प्रकार दर्शनतारतम्य (पर्सपैक्टिव) तथा प्रकाश और छाया के उपयुक्त अनुपात का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार शब्द-चित्रकार के लिए अपने विषय का दर्शन-तारतम्य व छाया प्रकाश-परिणाम का ज्ञान होना चाहिये ।"[1] परन्तु उन्होने इसका ध्यान कभी नही रखा ।

प्राचीन के प्रति गौरव का भाव जाग्रत करने के उद्देश्य से ये उपन्यास लिखे गये थे । अतः उनके चरित्र-नायको का महान, गौरवशाली एवं उदात्त चित्र अंकित होना स्वाभाविक था । हरिभाऊ आप्टे के विषय मे कहा जाता है "हरिनारायण के ऐतिहासिक उपन्यासो ने महाराष्ट्र को सवसे मूल्यवान वस्तु यदि कोई दी, तो वह

---

[1] ह० ना० आप्टे, 'विदग्ध वाङ्मय', पा० २२ ।

शिवाजी महाराज के व्यक्तित्व व चरित्र की सजीव कल्पना थी।"[1] यद्यपि शिवाजी के चरित्र को गंभीर व उदात्त बनाने के लिए लेखक ने कुछ दैवी घटनाओं का भी उपयोग किया है, जैसे देवी से साक्षात्कार, समर्थ गुरु से एकान्त मे भेंट, देवी के सामने समाधि, परन्तु साथ ही 'समर्थ' के दर्शनों को जाते समय गरीब ब्राह्मण की सहायता के लिए त्वरातं होते हुए भी नदी पार करना, उस समय की उनकी मन स्थिति, श्रीधर स्वामी के सम्मुख उनकी मूकता, सुल्तान गढ़ पर आक्रमण की योजना तथा आक्रमण के समय उनके धीरोदात्त आचरण इत्यादि ने भी उनको एक आदर्श पुरुष के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'उष.काल' में सांवळया एवं रंगराव अप्पा के चरित्र भी अत्यन्त स्पष्ट व प्रभावशाली बन पड़े हैं। उन्होने अपने पात्रों के कुशल चित्रण के लिए विरोध की कला को भी यत्र-तत्र अपनाया है। 'उष काल' मे नाना साहब व शिवाजी के स्वभाव मे विरोध दिखाकर उन्होंने एक ही पीढ़ी के दो युवकों का स्पष्ट चित्रांकन किया है। उनके चरित्र-चित्रण की एक विशेषता यह भी है कि उपन्यास पढते समय पाठक को उनके चरित्रो की स्पष्ट कल्पना नही होती। घटनाओं के बवंडर, नये-नये पात्रो के आने तथा उनके पूर्व-वृत्तो की सूचना देने के कारण व्यक्ति की पहचान नही होती, परन्तु कथानक के पूर्ण होने पर, जब पाठक उपन्यास का सिंहावलोकन करने लगता है, तो उसके मुख्य पात्र पूर्ण स्पष्टता के साथ मन. चक्षुओं के सामने उपस्थित हो जाते हैं। पात्रो की योग्यता, वय और स्वभाव के अनुरूप विचार व भाषा का प्रयोग कराया गया है। शिवाजी, तानाजी, श्रीधर स्वामी, राजाराम इत्यादि के भाषण स्वदेश-प्रेम से पूर्ण और विचार प्रौढ, गंभीर व उदात्त हैं, तो औरंगजेब और अफजल खा की दर्पोक्तिया स्वाभाविक है और जिजाबाई इत्यादि स्त्री-पात्रो के भाषणो से उनके मन का नैसर्गिक सौंदर्य, गांभीर्य, विनय एवं उदारता प्रकट होती है। पात्रो का चित्रण करते समय न तो उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यो का ही तिरस्कार किया है और न सम्प्रदायिक भावो के कारण किसी चरित्र के साथ अन्याय ही किया है। शिवाजी व औरंगजेब के चरित्र इस तथ्य के साक्षी हैं। शिवाजी की धर्मनिष्ठा, गो-ब्राह्मण का प्रतिपालन, स्वातंत्र्य-प्रेम, समर्थ रामदास के प्रति श्रद्धा, शत्रु-स्त्रियो के प्रति उदारता, मातृभक्ति, साहस व कार्य-तत्परता, असाधारण बुद्धि, उदात्त चरित्र आदि सभी बाते ऐतिहासिक हैं। औरंगजेब के चरित्र-चित्रण मे भी उन्होंने निष्पक्षता से काम लिया है। वह दुष्ट, कपटी, संशयशील, सनकी और धर्मान्ध अवश्य था, पर हरिभाऊ ने उसे पुत्री पर अगाध प्रेम करते दिखाया है एवं उसकी धर्मान्धता पर उदार हृदय से विचार किया है। उनके काल्पनिक पात्र भी ऐतिहासिक तथ्यो को सजीव बना देते हैं, उनमें प्राण डाल देते हैं—और यह चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक महान सफलता है, जो हिन्दी में वर्मा जी के उपन्यासों मे मिलती है।

कभी-कभी ऐतिहासिक उपन्यासकार का उद्देश्य ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत

---

[1] कुसुमावती देशपांडे, 'मराठी कादंबरी': प्रथम भाग, पृष्ठ १०७।

करने से अधिक पाठको का मनोरंजन होता है। ऐसी स्थिति मे वह कभी अद्भुत एवं रहस्यपूर्ण घटनाओ की योजना करता है, तो कभी प्रणय के मादक चित्रो द्वारा पाठक के चित्त को मुग्ध करने का प्रयास करता है। मनोरजन-प्रधान होने के कारण उनमे ऐतिहासिक तत्त्व गौण हो जाता है। यद्यपि सुरगो और तहखानो का कथा मे समावेश कर हरिभाऊ आप्टे ने भी रहस्यमय एव अद्भुत प्रसगो की योजना की थी, तथापि उनका ध्येय मनोरजन-मात्र न होकर उदात्त आकाक्षाओ एव यथार्थ दुख के सघर्ष मे उत्पन्न होने वाले स्फूर्तिदायक अद्भुत रस की सृष्टि करना था। उनके उपरान्त बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पूर्वजो के पराक्रम के प्रति जिज्ञासा का भाव, उनके प्रति अभिमान की भावना व कुतूहल धीरे-धीरे लुप्त होने लगा। यद्यपि इतिहास-सशोधन का कार्य चलता रहा, परन्तु कोई प्रतिभा-सपन्न लेखक महाराष्ट्र को उपलब्ध न हो सका जो हरिभाऊ की परम्परा को स्थायी बनाये रखता। केवल उनकी विचार-धारा व तत्र-रचना का अधानुकरण होता रहा। अधानुकरण कभी सजीव कला को जन्म नही दे सकता, अत उनके बाद के ऐतिहासिक उपन्यासो मे केवल बाह्य साज-सज्जा और मिथ्याडम्बर-मात्र रह गया है। नाथ माधव ने हरिभाऊ के बाद हुए ऐतिहासिक शोध-जन्य ज्ञान का उपयोग अपनी 'स्वराज्य माला' मे अवश्य किया था, परन्तु आवश्यकता से अधिक अद्भुत एव काल्पनिक प्रसगो का प्रयोग करने के कारण ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित नही हो सका है। साथ ही इन्होने इन कल्पित, अद्भुत और सस्ते रोमाँचकारी प्रणय-प्रधान कथानको को प्रासगिक महत्त्व न देकर केन्द्र मे रखा है। "कल्पित प्रसग को मुख्य एव प्रधान ऐतिहासिक प्रसग को सुविधानुसार कभी गौण स्थान देना और कभी जबरदस्ती हटा देना—यह शिल्प उनके अन्य उपन्यासो के समान 'सावळया ताडेल' मे भी मिलता है।"[1] 'स्वराज्याचा श्रीगणेश' मे शिवाजी जैसे उदात्त एवं कर्मठ व्यक्ति को भी आधुनिक चित्रपट के नायक के समान सुमित्रा के प्रेमपाश मे आबद्ध हो प्रणय-सलाप एव प्रेम पर सैद्धान्तिक भाषण करते दिखाना नितान्त असगत है। उनकी रचनाएँ अनेक अद्भुत चमत्कारो—शिवाजी के हाथ से गुफा का द्वार खुलना आदि और अनूठे विश्वासो—मूर्ति पर चढाए हुए जल के लाल हो जाने से अमगल तथा सफेद होने से मगल का सकेत—से पूर्ण है। साराश यह है कि इन प्रसगो एव तत्कालीन दोषपूर्ण समाज-चित्रो के कारण इन उपन्यासो के ऐतिहासिक तत्त्व को आघात पहुचा है। इसीलिए उनके उपन्यासो के सम्बन्ध मे कहा गया है, "इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास केवल शृगारपूर्ण व अद्भुत कथा पढने की इच्छापूर्ति के प्रच्छन्न मार्ग है।"[2]

सच्चा ऐतिहासिक उपन्यासकार, जिस काल-खड को अपनी रचना का विषय बनाता है, उसके इतिहास का अनेक साधनो से अध्ययन कर उसके सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण करता है। उसमे पाठको को ऐतिहासिक तथ्यो का परिचय-मात्र कराने

---

[1] अ० ना० देशपाडे 'आधुनिक मराठा वाड्मयाचा इतिहास' प्रथम भाग . पृ० २०१।

[2] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' : प्रथम भाग पृष्ठ ६०।

के लिऐ ऐतिहासिक ज्ञान नीरस ढग से ठूंसा नही जाता, और न जमा किये हुए विवरणो को व्यर्थ मे भरा ही जाता है। सौमरसैट माम ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'दैन एण्ड नाउ' की रचना से पूर्व-मैकिआवली के समय के फ्लोरेस का चित्र प्रस्तुत करने के लिए अजस्र अध्ययन किया और अनेक वर्षो तक टिप्पणिया लिखी, परन्तु उस उपन्यास मे इन टिप्पणियो का चिह्न तक नही है। हमारे सामने उस समय के फ्लोरेस का सजीव-चित्र-मात्र उपस्थित होता है। इसके विपरीत मराठी तथा हिन्दी के अधिकाश लेखको की कृतियो मे या तो कल्पना के स्वच्छद विलास ने ऐतिहासिकता को दबा लिया है अथवा लेखक का इतिहासकार—रूप इतना उभर आया है कि उससे उपन्यास-कला को बडा आघात पहुचा है और कथानक सुसबद्ध एव सुगठित नही बन पाया है। उदाहरणार्थ, नाथमाधव ने अपनी 'स्वराज्यमाला' के लिए 'बखरी'-साहित्य' और अन्य ऐतिहासिक लेखो तथा ग्रथो का अध्ययन किया था, परन्तु इतिहास व ऐतिहासिक उपन्यास के परस्पर सम्बन्धो की स्पष्ट कल्पना न होने से वह उस सामग्री एव ऐतिहासिक ज्ञान को सुचारु एव कलात्मक ढग से कथा मे नियोजित नही कर पाए। उन्होने अनेक आवश्यक-अनावश्यक उद्धरण पाद-टिप्पणियो के रूप मे दिए है। बीच-बीच मे वह स्वय पाठको को घटना व प्रसग का तात्पर्य समझाने लगते है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके उपन्यासो मे ऐतिहासिक ज्ञान के प्रमाण तो प्रस्तुत किये गये है, पर ऐतिहासिक उपन्यास के लिए नितान्त आवश्यक सजीव वातावरण का अभाव ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मुख्य उद्देश्य इतिहास-कथन था, उपन्यास केवल एक माध्यम। इसीलिए उनके सम्बन्ध मे कहा गया है, "कथा-साहित्य लिखने के लिए प्रसगो का चुनाव करने की जो कला अपनानी चाहिये, उसमें वह असफल रहे हैं। रसोत्कट प्रसगो मे रस का अभाव हो गया है और अनावश्यक प्रसगो का व्यर्थ मे जमाव हो गया है।"[1] फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कथा-प्रसगों द्वारा उन्होने ऐतिहासिक लेखो व ऐतिहासिक-पत्रो मे सन्निविष्ट ज्ञान-सामग्री से पाठको को परिचित कराया है।

सहकारी कृष्ण के 'शापित महाराष्ट्र' मे ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है, उनकी प्रशसा न० चि० केळकर ने भी की है, परन्तु ऐतिहासिक ज्ञान व काल्पनिक घटनाओ का समन्वय करने एव उनमें सुसबद्धता लाने मे लेखक असफल रहा है। सभाजी व राजाराम के समय की परिस्थितियो का चित्रण करने का प्रयत्न भी किया गया है, परन्तु वे सजीव नही बन सकी है। कही-कही तो अनावश्यक ऐतिहासिक ज्ञान बड़े भद्दे ढग से ठूंसा गया है, जो उपन्यास को नीरस और कलाहीन बना देता है। इसी दुष्प्रवृत्ति के कारण वह पात्रो के साथ न्याय नही कर सके है। येसूबाई, सभाजी व राजकुंवर के चरित्र बीच-बीच मे आकर्षक होते हुए भी कुल मिलाकर विश्वसनीय, यथार्थ एव सुन्दर नही बन सके है।

---

[1] अ० ना० देशपांडे, 'आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास' : प्रथम भाग, पृष्ठ २११।

लेखक की मत-प्रतिपादन की लालसा के कारण भी चरित्र-चित्रण में विसंगति आजाती है। नाथमाधव के पात्र इसी कारण उपन्यास मे चित्रित काल की पोशाक पहने होकर भी विचारो एव स्वभाव के कारण लेखक के समसामयिक प्रतीत होते है। एक पात्र के निम्न शब्द देखिए "हा महाराज! पहले लोकमत जाग्रत करना चाहिये और तदुपरान्त इस जाग्रति को वड़ी सावधानी से बनाए रखना चाहिये।" लोकमत जाग्रत करने की वात स्पष्टत. शिवकाल की न होकर, नाथमाधव के समय की है। ऐसे अन्य अनेक उद्धरण "परमेश्वर धनिको का है, गरीबों का नही। वस्तुतः राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति किसान ही हैं", अथवा, 'यह शिवाजी प्रजा का दास है, व मातृभूमि के स्वातंत्र्य के लिए युद्ध कर रहा है।' उनकी रचनाओ मे मिलते हैं, जो कालविपर्यय के स्पष्ट दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार सहकारी कृष्ण के 'शापित महाराष्ट्र' का महाराष्ट्र रानडे-तिलक के समय का महाराष्ट्र जान पड़ता है। इन लेखको ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे प्रौढ-प्रेम, राष्ट्र-निष्ठा, स्वदेश-भक्ति, देश-सेवा आदि के भाव स्थान-स्थान पर अपने पात्रो के मुख से कहलाए हैं, जबकि उस समय इन भावो का जन्म भी न हुआ था और मराठे वीर यदि लडते थे, तो धर्म-रक्षा या स्वामि-निष्ठा के कारण लड़ते थे। "मराठो का स्वराज्य गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन व धर्मरक्षण के ध्येय पर स्थापित हुआ था। उस समय के समाज की मनोभूमि को ध्यान मे रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्वातत्र्य, स्वराज्य स्थापना, हिंदुपदपातशाही आदि की कल्पना किसी को नही थी।"[1]

उपर्युक्त तीन प्रसिद्ध उपन्यासकारो के अतिरिक्त शिवाजी महाराज और उनके काल पर अन्य लेखको ने भी लेखनी चलाई, जैसे भिडे ने छत्रपति के उदयकाल की महाराष्ट्रीय स्थिति का चित्रण करने के लिए पाँच उपन्यास लिखे। उनके अतिरिक्त इस काल पर लिखे गये अन्य उपन्यासो मे 'मुक्तग्रहण', 'अस्तोदय', 'पितृवंधमोचन', 'श्री शिवप्रताप', 'शुद्धीकरण' आदि उल्लेखनीय है, पर इन सवका अध्ययन करने के उपरान्त यह स्वीकार करना पड़ता है कि ऐतिहासिक उपन्यास की कला के जिस स्तर तक हरिभाऊ पहुँच सके, उस तक किसी भी अन्य मराठी उपन्यासकार की गति संभव न हुई। हडप की 'कादवरीमय शिवशाही' माला उच्चकोटि की है तथा एक नवीन दृष्टिकोण से लिखी गई है, परन्तु आलोच्य-काल के वाद की होने के कारण वह हमारे विषय से वाहर है।

पेशवा-काल के चित्रण की प्रवृत्ति—इतिहास का दूसरा काल-खंड, जिस पर मराठी लेखको की दृष्टि पडी, पेशावाओ का शासन-काल था क्योकि महाराष्ट्र के इतिहास मे वह अत्यन्त समृद्धि, शक्ति एवं वैभव का युग था। साथ ही पेशवा-शासन के विषय मे ग्रांट डफ आदि पाश्चात्य इतिहासकारो ने जो भ्रम उत्पन्न कर दिया था, उसका निवारण करना भी महाराष्ट्रीय साहित्यकारो ने आवश्यक समझा। इसीलिए 'थोरले माधव राव पेशवे' नामक प्रथम ऐतिहासिक नाटक व अन्य उपन्यास

---

१. प्रभाकर पाध्ये—आजकाल चा महाराष्ट्र, पृष्ठ २७।

लिखे गये । 'दक्षिणा प्राइज़ कमेटी' ने बाजीराव साहब पर चरित्रपरक पुस्तके मागी, जिसके परिणामस्वरूप ना० वि० बापट ने बाजीराव व पानीपत के युद्ध पर उपन्यास लिखे । इन रचनाओ मे ऐतिहासिक परिस्थितियो से अधिक काल्पनिक प्रसगो का विद्रूप है । चि० वि० वैद्य, जो स्वय अच्छे इतिहासज्ञ भी थे, का 'दुर्दैवी रगू' अवश्य इनसे भिन्न कोटि की रचना है । पेशवा-दरबार का ऐश्वर्य, पेशवा के घरेलू सम्बन्ध, रीति-रिवाज, उसकी सेना की छावनी, पानीपत की युद्ध-भूमि पर फलित-ज्योतिष का प्रभाव—इन सबके वर्णन व चित्रण बड़े सरस, गभीर व सच्चे उतरे है । साथ ही यह उपन्यास पेशवा-युग की अन्य बहुत-सी बातो से पाठक को परिचित कराता है । पूना मे रंगपचमी और नवरात्र के त्यौहार किस प्रकार मनाए जाते थे, उस समय सती-प्रथा, दत्तक-नियम, मत्रविद्या, ज्योतिष, रमल इत्यादि का समाज मे क्या प्रभाव था, इत्यादि का परिचय हमे इस उपन्यास को पढकर मिल जाता है । अन्य भले-बुरे धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो और आचार-व्यवहार से अवगत कराने मे भी यह सहायक होता है । इसीलिए उसके विषय मे कहा गया है, "ऐतिहासिक पार्श्वभूमि का प्रत्यक्षकारी चित्र, जिन थोड़े से उपन्यासो मे हुआ है, उनमे 'दुर्दैवी रगू' प्रमुख है ।'[1] केवल पाद-टिप्पणियो के कारण ऐसा लगने लगता है मानो उपन्यास न पढकर ऐतिहासिक निबन्ध पढ रहे हो । कुछ लोगो का कथन है कि इस उपन्यास मे बाल-विवाह और बाल-वैधव्य के प्रति जो सहानुभूति दिखाई गई है, वह पेशवा-काल मे नही थी । अत समाजसुधार की भावना ही इस काल-विपर्यय दोष के लिए उत्तरदायी है । परन्तु यह मत ठीक नही, क्योकि आए-दिन युद्ध होने के कारण महाराष्ट्र मे विधवाओ की सख्या और अल्प-वय मे उनकी दुर्दशा तत्कालीन समाज मे उनके प्रति सहानुभूति एवं अनुकम्पा जाग्रत कर रही थी और यदि उसका प्रदर्शन उपन्यासकार ने किया है, तो वह काल-विपर्यय दोष नही माना जा सकता । पेशवा-युग के वातावरण का सजीव चित्र प्रस्तुत करने वाले उपन्यासो मे चि० ग० भानू का 'अगेरीची लक्ष्मी' भी अच्छी रचना है । इसका कथानक नाना फडनवीस के काल से सम्बन्धित है और लेखक ने नाना की गरिमा, उनका वैभव, तत्कालीन धार्मिकता, ग्राम-निवासियो का महत्त्व, विजयादशमी के जुलूस का ठाठ इत्यादि के चित्र देकर उपन्यास की पार्श्वभूमि को सुन्दर व पुष्ट बना दिया है ।

पेशवा-काल पर ऐतिहासिक उपन्यासो की एक माला प्रस्तुत करने के लिए वि० वा० हडप प्रसिद्ध है । इन्होने 'कादम्बरीमय पेशवाई' मे यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियो एव घटनाओ को ही अपनी रचनाओ का आधार बनाया है, परन्तु केन्द्रवर्ती घटना के चारो ओर जिन घटनाओ को आयोजित किया गया है, उनमे से अधिकाश अद्भुत है । उन्होने अपने उपन्यासो को 'ऐतिहासिक नवलकथा' कहा है । "कण भर इतिहास पर पर्वत सदृश अद्भुत का निर्माण करने की उनकी पद्धति है । ऐसी घटना-प्रधान कथा बहुधा रोमहर्षक होती है ।" यह कथन हडप के सम्बन्ध मे उचित ही है । घटना-प्रधान एव रोमाचकारी कथानको की प्रधानता के कारण मुख्य

---

[1] १. कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' : प्रथम भाग, पृष्ठ ५४-५५ ।

पात्रो का चरित्र अस्पष्ट रह गया है । उदाहरण के लिए, यद्यपि उनके उपन्यासो मे मुख्य भूमिका बाळाजी विश्वनाथ व बाजीराव की है, तथापि उन दोनो के चरित्र तक की सुस्पष्ट कल्पना इन रचनाओ को पढ़कर नही होती । ऐतिहासिक ज्ञान व सामग्री के लिए अथक परिश्रम करने पर भी हडप बाजीराव की मानसिक-वृत्तियो, अन्त-संघर्ष और मस्तानी के आकर्षक व्यक्तित्व का सफल अंकन नही कर पाये हैं । इसीलिए कहा गया है, "कुछ ऐतिहासिक ग्रथो की दो-चार पक्तियों के वर्णन मे भी उसका (मस्तानी का) जो रोमाचकारी दर्शन हो जाता है, उतना भी हडप के उपन्यासो मे नही मिलता ।"[1] बहुत-सा ऐतिहासिक ज्ञान ज्यो-का-त्यो देने की प्रवृत्ति के कारण कथानक-रचना भी दोषपूर्ण हो गई है । उपन्यास का आरम्भ तो आकर्षक व नाट्यपूर्ण होता है, पर जैसे-जैसे वह आगे बढता चलता है, वह वर्णन-प्रधान होता जाता है और अन्त मे लेखक को ज्यो-त्यो करके कथा के सूत्र गुम्फित करने पड़ते हैं, जिससे उनके उपन्यासो का अन्त कभी प्रभावशाली नही होता । यह दोष दुखान्त उपन्यासो मे और अधिक खटकता है । 'पेशवाईचा ध्रुवढळला' व 'पेशवाईवरील गडातर' मे बाळाजी विश्वनाथ व बाजीराव के मृत्यु-प्रसग अत्यन्त निराशाजनक है। उनसे नायक के गौरव की प्रतीति नही होती । नाथमाधव के समान हडप की रचनाओ मे भी काल-विपर्यय एवं लेखक के स्वमत-प्रतिपादन का दोष पाया जाता है । 'पेशवाईचें पुण्याहवाचन' मे सदानन्द का उदात्त प्रेम, "किसी के पास भी तू सुख से रहे, यही मेरी इच्छा है", मराठा सरदारो का देश-प्रेम, गांधीवादी विचारधारा "स्नेह-सम्बन्ध व्यक्तियो तक सीमित होते हैं, राजा से कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता ।" 'पेशवाईचा ध्रुवढळला मे विक्रमसिंह का यूरोपियन इतिहास का ज्ञाता होना, इत्यादि इसके उदाहरण है ।

पेशवा-काल पर उपर्युक्त रचनाओ के अतिरिक्त गोविन्द मजूमदार का 'पौर्णिमा' उल्लेखनीय है । इसमे थोरले माधवराव के समय की मराठशाही के वैभव के आह्लादपूर्ण वर्णन के साथ-साथ उस काल के पूना तथा वहां के निवासियो का, उनके समाज व मनोरंजन-पद्धतियो का, उनके चातुर्य एवं स्वराज्य की अभिवृद्धि के लिए किये गये प्रयत्नो का बड़ा ही सजीव, सुन्दर व अभिमान जाग्रत करने वाला चित्रण किया गया है । इस प्रकार पेशवा-काल पर लिखे गये उपन्यासो मे भी लगभग वे ही गुण-दोष पाये जाते हैं, जो शिवशाही पर लिखी रचनाओ मे हैं ।

राजपूत काल के चित्रण की प्रवृत्ति—तीसरा ऐतिहासिक कालखंड, जिस पर न केवल मराठी अपितु सम्पूर्ण भारतीय भाषाओ मे उपन्यास लिखे गये, राजपूत-काल था, क्योकि उनके शौर्य, साहस व बलिदान की गाथाएँ सम्पूर्ण देश मे कही-सुनी जाती थी । भारतीय इतिहास का मध्यकाल इन वीरगाथाओ से भरा पड़ा है । अतः प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाने वाले इन वीरो के ऊपर ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना होना स्वाभाविक था । खेद है तो यही कि उपन्यासकारो ने यहां भी अद्भुत,

---

[1] कुसुमावती देशपांडे, 'मराठी कादंबरी', प्रथम भाग, पृष्ठ ६५ ।

काल्पनिक शृगार, एव विलास-चित्रण के मोह मे पडकर इतिहास की उपेक्षा की है। नारायण हरि के उपन्यासो के नायक राजपूत वीर होने के कारण यद्यपि देश, धर्म सस्कृति और पवित्रता के प्रति उत्कट प्रेम-भाव रखने वाले, उसके वैभव के पुनरोद्धार एव रक्षण के लिए प्राण तक त्यागने वाले आदर्श पुरुष चित्रित किये गये है, तथापि उनकी वीरता उत्कट शृगार के आगे फीकी पड गई है। 'अजिक्य तारा' मे ऐतिहासिकता के आवरण मे धीरसिंह और पद्मावती का पारस्परिक आकर्षण ही कथा का केन्द्र बन गया है। कही-कही स्वच्छद कल्पना-विलास के कारण कथानक मे असगत, इतिहास-विरुद्ध एव हास्यास्पद वाते आगई है, जैसे राणा प्रताप की मृत्यु के समय अमरसिंह को अत्यन्त अल्पायु एव अपरिपक्व बुद्धि का चित्रित किया गया है। नारायण हरि आप्टे ने राजपूत इतिहास पर चार उपन्यास लिखे, पर चारो का शिल्प एकसा है—उदात्त नायक, दो प्रकार के चरित्र वाली स्त्रियाँ—नि स्वार्थ, सासारिकता से अलिप्त, सुन्दर, कोमल-मना, वीर नायिका, तथा स्वार्थी, कपटी, महत्वाकाक्षी और विलासी प्रति-नायिका, नायक का विश्वासपात्र वीर सेवक, सारे दुर्गुणो का भण्डार खलनायक। केवल 'सधिकाल' मे पात्रो के अन्त.सघर्ष एव सहज परिवर्तन द्वारा चरित्र-चित्रण की कला मे स्वाभाविकता आगई है। मानसिंह एक ओर हसीना से प्रेम करता है, विलासप्रिय एव सुखलोलुप होने के कारण सुख तथा ऐश्वर्य मे डूबा रहता है, तो दूसरी ओर ईश्वरसिंह की प्रेरणा से देशभक्ति एव राजपूत निष्ठा की भावना उसके हृदय में उदय होती है। इन विरोधी भावनाओ के कारण उसके हृदय मे जिस अन्त.सघर्ष का जन्म होता है, उसका बडा कुशल चित्रण लेखक ने किया है। मानसिंह के स्वभाव मे हुए परिवर्तन का वर्णन भी बडी सूक्ष्मता, स्वाभाविकता एवं विश्वसनीय ढंग से किया गया है। इस चरित्र-परिवर्तन मे न तो अस्वाभाविकता ही है और न आकस्मिकता ही। लेखक को इस बात का ध्यान है कि जिस व्यक्ति का पूर्व जीवन दासता व विलास में बीता हो तथा जो शरीर व मन से कोमल हो, वह एकाएक पूर्ण आदर्शवादी नही बन सकता। इसीलिए मानसिंह के सम्मुख ईश्वरसिंह द्वारा शौर्य, आदर्श एवं तेज का आदर्श रखने पर भी उसका पूर्व स्वभाव उभर-उभर आता है। विरोध का उपयोग करके भी उन्होने अपने पात्रो के चरित्र कलापूर्ण बनाए हैं जैसे गुलबहार और पद्मिनी के चरित्र। इस काल पर लिखी लगभग सभी मराठी उपन्यासकारो की रचनाएँ कालविसगति दोष से दूषित है। नारायण हरि के 'सधिकाल' मे राणा प्रताप जयचन्द से जो कुछ कहते है "व्यक्ति के सुख के लिए मेवाड के सुख व स्वात्रतन्त्र्य का बलिदान न हो, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।" आदि, वह राणा प्रताप के समय की अपेक्षा बीसवी शताब्दी की विचारधारा के अधिक अनुकूल है।

हरिभाऊ आप्टे के शिवकालीन उपन्यासो की शुद्धता एव कलात्मकता उनके राजपूतकालीन उपन्यास 'रूपनगरची राजकन्या' मे दृष्टिगत नही होती। इस रचना

मे स्थल, काल, इतिहास और ऐतिहासिक व्यक्ति सम्बन्धी भूलो को देखकर आश्चर्य होता है कि क्या शिवकालीन उपन्यासो को लिखने वाली लेखनी यही है ? उदयपुर का राणा राजसिह दुर्गादास के समय मे वृद्ध था, जबकि हरिभाऊ ने उसे पच्चीस वर्ष का तरुण चित्रित किया है। इसी प्रकार दिल्ली और आबू के बीच की यात्रा पात्र इतनी थोड़ी देर मे पूरी कर लेते है कि ऐसा भ्रम होने लगता है कि इन दो नगरो के बीच की दूरी बहुत कम है।

ना० सी० फडके के 'अल्ला हो अकबर' मे भी अन्तपुरो के षड्यन्त्रो और रहस्यो तथा अकबर और सलीम के प्रेम-सम्बन्धों के चारो ओर कथा के सूत्र गुम्फित किये गये है। राजपूत एव मुगलो से सम्बन्धित वैसे तो कितने ही उपन्यास मराठी मे लिखे गये, परन्तु वे सब शृगारिकता, असत्य कल्पना, कालविसगति, अद्भुत तत्त्व आदि दोषो से आक्रान्त हैं। 'रक्ताचे गालबोट', 'छत्रसाल', 'केवळ स्वदेशासाठी' 'वीरागना पद्मनी', 'नूरजहाँ आणि जहाँगीर', 'अमरसिंह चा आत्मत्याग', 'चित्तौड़ चा चद्र', 'विजयी तलवार', 'सती पद्मनी', 'पटरानी पद्मावती', 'तरुण रजपूत सर्दार', 'लाल गुलाब' और 'जहाँगीर' आदि कितने ही उपन्यास राजपूतो से सम्बन्धित है, पर वे सब किसी न किसी दोष के कारण अपना प्रभाव खो बैठे है। उदाहरणार्थ, 'रक्ताचे गालबोट' मे तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण तो निर्माण हो ही नही पाया है, साथ ही महाराणा के सम्पूर्ण उद्योग को देश-सेवा की भावना से प्रेरित दिखाकर लेखक ने कालविसगति भी उत्पन्न कर दी है, क्योकि उनके सब प्रयत्न धर्म-सरक्षण एव हिन्दुत्व की भावना से अनुप्रेरित थे। इसके विपरीत 'केवळ स्वदेशासाठी' जैसे उत्कृष्ट ग्रथ भी लिखे गये। इसमे न केवल यवनो की सत्ता को निर्मूल कर राजस्थान मे स्वातन्त्र्य-वैभव स्थापित करने के प्रयत्नो का ही ओजस्वी वर्णन है, अपितु ऐतिहासिक वातावरण भी यथार्थ है। शृगारिकता का अभाव उसकी एक अन्य विशेषता है। इतना होते हुए भी हमे यह कहना पड़ता है कि राजपूत जाति के शौर्य एव साहस को देखते हुए राजपूत-काल पर लिखे उपन्यासो की सख्या मराठी मे प्रथम तो कम है। दूसरे, उनमे कला का वह सौष्ठव तथा इतिहास का वह सम्यक् दिग्दर्शन नही कराया गया है, जिसके लिए हरिनारायण आप्टे के शिवाकालीन उपन्यास प्रसिद्ध है।

हिन्दी मे राजपूत-काल पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाने के तीन प्रधान कारण थे—प्रथम तो राजपूतो के शौर्य के प्रति सम्मान और अभिमान भावना उनके द्वारा व्यक्त की जा सकती थी। दूसरे, इनमे प्रणय-चित्रण के लिए लेखको को पर्याप्त अवसर मिल सकता था क्योकि इस काल मे नूरजहाँ, रज़िया जैसी रमणिया हुई और तीसरे, इनके द्वारा वे हिन्दुओ पर मुसलमानो के अत्याचार दिखा सकते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने सर्वप्रथम राजपूत इतिहास पर उपन्यास लिखे। उनके सम्मुख आदर्श रूप मे बँगला के ऐतिहासिक उपन्यास थे। उनका उद्देश्य भी पाठको को इतिहास से परिचित कराना था "पढने वाले उपन्यास के साथ ही साथ कुछ-कुछ इतिहास का भी

आनन्द ले, जिसमे लोगो की रुचि केवल उपन्यास पर न रह कर इतिहास की ओर भी झुके···।"[1] उन्होने ऐतिहासिक उपन्यासो के आरम्भ मे इतिहास भी दिया है जैसे, 'रजिया' के उपोद्घात मे पाँच पृष्ठो मे रजिया के सिंहासनासीन होने तक का इतिहास है और 'तारा' के 'परिचय' मे भी ६ पृष्ठो मे शाहजहाँ एव अमरसिह से सम्बन्धित इतिहास लिखा है। जिन इतिहासकारो—फिच, सर टौमसरी, बर्नियर, म्यानिसी आदि से सहायता ली गई है, उनके नाम भी दिये गये है। उनके उपन्यासो मे इतिहास दो रूपो मे प्राप्त होता है—(क) इतिहास के उद्धरणों के रूप मे जैसे 'रजिया' के सातवे परिच्छेद मे डा० म्यानसी के 'भ्रमण-वृत्तान्त' से अथवा 'तारा' के तीसरे भाग के चौथे परिच्छेद मे 'टाड' से उद्धरण दिये गये है और (ख) इतिहास का वर्णन तिथि-सवतो समेत। 'रजिया' के दूसरे भाग के तीसरे परिच्छेद मे कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर रज़िया तक का इतिहास सवत् एव स्थानो के साथ दिया गया है। फिर भी उनके अधिकाश ऐतिहासिक उपन्यासो मे दो-चार ऐतिहासिक पात्रो के नामो और घटनाओ के अतिरिक्त कुछ भी ऐतिहासिक नही है। उनके प्रेम-व्यापारो, नायिका-भेद के ढग के नख-शिख वर्णनो, विरह की तड़पन, षड्यन्त्रो और दावपेचो मे रेनाल्ड्स के 'लण्डन-रहस्य' तथा रीतिकालीन प्रेम-चित्रण की छाप है। वे कुतूहल-वृत्ति प्रधान है। प्रेम की गुत्थियाँ सुलझाते रहने के कारण ही वे इतिहास की ओर अधिक ध्यान नही दे सके है। अपनी कल्पना का चमत्कार इन उपन्यासो मे उन्होने जी-भरकर दिखाया और दाराशिकोह जैसे चरित्र पर भी काली स्याही पोत दी है। उनका यह दोप और भी बढ जाता है, जब हम उन्हे यह सब जान-बूझकर करते देखते है। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'तारा' की भूमिका में वे स्पष्टत. लिखते है, "हमने अपने बनाये उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कही-कही तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार कर लिया है।" उन्होने अपने उपन्यासो के लिए मुगल शासन-काल के अन्तिम दिनो को विशेष रूप से चुना है, पर उसका चित्रण कल्पना के आधार पर होने से अनेक विसगतियाँ आ गई है, जैसे, अकबर के सामने पेचवानी रखी गई है जबकि तम्बाकू की खोज भी नही हुई थी। रजिया के समय 'गीत गोविन्द' का पाठ एवं कीर्तन कराया गया है और शाहजहाँ के काल मे रोशनारा 'फिरट' शब्द बोलती है। तत्कालीन सामाजिक समस्याओ का चित्रण करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप भी उनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे विसगतियाँ आगई है। उन्होने भाषा सबधी प्रयोग भी किये है। कही संस्कृत-निष्ठ, समास-बहुला भाषा है, तो कही लोकोक्तियो, मुहावरो से सजी-सँवरी बोलचाल की भाषा और कही अरबी-फारसी से भरी उर्दू-ए-मुअल्ला।

हिन्दी मे राजपूत-काल पर लिखने वाले अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों—बलदेव मिश्र, गंगाप्रसाद गुप्त, बलभद्रसिंह आदि की रचनाओ मे भी बहुधा वे ही दोष पाये जाते है, जो मराठी के इस काल पर लिखे गये उपन्यासो मे, अर्थात्—अद्भुत

---

[1] किशोरीलाल गोस्वामी, 'रजिया'—उपोद्घात, पृष्ठ ३।

प्रसगो और शृगारपूर्ण चित्रो की प्रचुरता, नाम-मात्र की ऐतिहासिकता, काल-विपर्यय तथा शिथिल भाषा-शैली आदि ।

गण-राज्यों पर लिखने की प्रवृत्ति—हिन्दी मे मराठो से सबन्धित तो एक-दो ऐतिहासिक उपन्यास ही लिखे गये जैसे, बलदेव मिश्र का 'पानीपत', गगाप्रसाद गुप्त का 'पूना मे हलचल' आदि । इनमे भी इस काल के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासो के समान ही प्रणय-चित्रो एव कल्पना की प्रधानता है, इतिहास गौण है । उदाहरण के लिए, 'पूना मे हलचल' मे रामभोली का अनन्य प्रणय दिखाया गया है और उसका वातावरण अस्वाभाविकताओ से पूर्ण है । अत. हिन्दी मे मराठी उपन्यासो के समान शिव-काल एव पेशवा-काल के चित्रण की प्रवृत्ति तो नही मिलती, परन्तु दो अन्य प्रवृत्तियाँ स्पष्टत दृष्टिगत होती है । प्रथम तो आधुनिक उपन्यासकारो ने प्राचीन काल के विविध गणतत्रो को लेकर उपन्यास लिखे है और दूसरे, वृन्दावनलाल वर्मा ने एक विशिष्ट प्रदेश—बुदेलखड के इतिहास को अपनी रचनाओ का विषय बनाया है । गणतत्र-विषयक उपन्यास लिखने की प्रेरणा लेखको को अन्य स्रोतो के साथ-साथ राहुल साकृत्यायन आदि के उद्बोधन से भी मिली, जिन्होने भारतीयो को उस ओर ध्यान देने के लिए आग्रह किया, "जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारत के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक काल का एक महान् शक्तिशाली गणतन्त्र था । क्या यह अच्छा न होगा कि मुजफ्फरपुर वाले उसकी स्मृति मे प्रति वर्ष एक लिच्छवि गणतत्र-सप्ताह मनाएँ, जिसमे और बातो के साथ योग्य विद्वानो के गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान कराये जाएँ ? लिच्छवि-गणतत्र भारतीयो के जनसत्तात्मक मनोभावना का एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्यों के इस कथन का खडन करता है कि भारतीय हमेशा एकाधिपत्य के नीचे रहनेवाले रहे है । लिच्छवि गणतत्र पर सारे भारत का अभिमान होना स्वाभाविक है ।"[1]

विगत दिनो के अभिमान एव पाश्चात्यो की भारतीय सम्बन्धी भ्रममूलक धारणा का निवारण करने के लिए ही राहुल, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल आदि ने गणतन्त्र सम्बन्धी उपन्यास लिखे और गणतत्र-काल के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किये । 'वैशाली की नगरवधू' मे—नगरवधू बनाने और नियोग की प्रथा, उत्तरपूर्व भारत और गाधार की सामाजिक अवस्था की तुलना, जनपद और साम्राज्य की व्यवस्था, वाणिज्य-व्यापार का वर्णन, जल, स्थल, आटविक सेना तथा युद्धवर्णन, जैन और बौद्ध धर्म की स्थिति, वर्षकार, यौगन्धारायण जैसे कूटनीतिज्ञ महात्माओ का अकन, विष-कन्या, पर-शरीर-प्रवेश, वैशम्पायन इत्यादि का सामाजिक मर्यादा-स्थापन—सब मिलाकर ईसा पूर्व ५००-६०० वर्ष का युग सजीव और सप्राण होकर हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है । उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियो के चित्रो को अति स्पष्ट रूप मे उभार कर रखने का प्रयत्न किया है । उसमे बताया गया है कि नगरो से गाँव अधिक थे, देश मे मुख्यत. दो शासन-प्रणालियाँ

---

[1] राहुल साकृत्यायन, 'पुरातत्त्व निबन्धावली' : प्रकाशित १९३७ ई० , पृष्ठ १३ ।

—राजतन्त्रात्मक एव गणतंत्रात्मक वर्तमान थी, क्षत्रियो का दर्जा ब्राह्मणो से कुछ ऊपर था, इन दोनो वर्गो मे स्पर्धा के भाव थे, जिससे देश का वातावरण क्षुब्ध हो उठा था। आर्यो की विलास-प्रवृत्ति के कारण एक शक्तिशाली वर्णसंकर जाति बनती जा रही थी जो उत्तराधिकार न पाने के कारण आर्यो से खार खाये बैठी थी। मतदान शलाको द्वारा अथवा 'हाँ', 'ना' द्वारा होता था। न्याय की समुचित व्यवस्था थी। जो व्यक्ति जन्म से गण-राज्यो का नागरिक होता था, उसे ही राजकीय कार्यो मे भाग लेने का अधिकार होता था। गण अत्यत दुर्बल थे और राज्यो का सारा धन थोडे से सेठो के हाथो मे जमा हो गया था। सभी गणो तथा राज्यो मे कुशल गुप्तचर-विभाग होते थे, जिनमे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सफल मानी जाती थी। ब्राह्मणो ने यज्ञो को प्रधानता दे रखी थी, जिसकी आड़ मे नाना प्रकार के अनाचारों की वृद्धि हो रही थी। कादम्ब और कामिनी का व्यापक प्रयोग होता था। प्रायः सभी लोग मास खाते थे। दास-प्रथा जोरो पर थी। पर-स्त्री-गमन असामाजिक कार्य नही समझा जाता था। इन विवरणो द्वारा ऐतिहासिक वातावरण निर्माण कर उपयुक्त भाषा, सफल सवाद, पात्रो की वेशभूपा और घटनाओ के चित्रण द्वारा लेखक ने प्राचीन युग की साकार प्रतिमा उपस्थित की है।

यशपाल के 'दिव्या' की कहानी का निर्माण कल्पना के बल पर हुआ है और उसमे यत्र-तत्र मार्क्सवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने की भी चेष्टा की गई है, तथापि बौद्धकालीन भारत के गणराज्यो की सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक परिस्थितियो का सफल विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उस समय शोपण का एकमात्र आधार उस समय की वर्ण-व्यवस्था थी ; नियुक्तियाँ योग्यता के अनुसार होकर भी एक निश्चित समाज तक सीमित थी, न्याय-व्यवस्था का पालन बडी कठोरता के साथ होता था। उस समय कला को विशेष महत्त्व दिया जाता था, अतः गण के अन्दर राजनर्तकी को उतना ही सम्मान मिलता था, जितना गणपति को। वर्ण-व्यवस्था के बन्धन अत्यन्त कडे थे, देश के अन्दर बौद्धो के मठ स्थापित थे, जिन पर शासन का किसी भी प्रकार का नियत्रण नही था। समाज मे यौन-पवित्रता को अधिक महत्त्व नही दिया जाता था, कामिनी और कादम्ब का व्यापक प्रयोग था, दास-प्रथा प्रचलित थी तथा दासो के प्रति अमानुषिक व्यवहार होता था। भूधर के घर से पुरोहित चक्रधर के घर जाने पर दिव्या की जो दुर्दशा हुई, वह मानवता के इसी पाप की करुण कहानी है। उपन्यासकार ने तत्कालीन वेशभूपा आदि के चित्रण मे भी बडी सतर्कता बरती है। चित्रण की कलात्मक प्रतिभा इतनी प्रौढ है कि हम आज से शताब्दियो पूर्व के भारत मे विचरण करने लगते है। यशपाल जी को इतिहासकार का विवेक उपलब्ध है, जिससे ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने मे उनकी कला का चमत्कार अत्यन्त रमणीय हो उठा है। वर्णनो, सवादो एवं घटनाओ के द्वारा उपन्यासकार ने यथार्थता लाने का प्रयत्न किया है। यहा तक कि उपन्यास के अन्दर उस समय प्रयोग मे आने वाले शब्दो का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है।

यशपाल और राहुल जी के उपन्यासो मे तत्कालीन समाज का सुन्दर, सजीव और प्रभावशाली चित्राकन तो हुआ है, पर उन्होने मार्क्सवादी सिद्धान्तो के प्रतिपादन की झोक मे बहुत सी ऐतिहासिक विसंगतियाँ भी उत्पन्न कर दी है।

इसी बात को लक्ष्य कर रांगेय राघव ने अपने 'मुर्दो का टीला' की भूमिका मे ऐतिहासिक परिप्रेक्षण, तटस्थता और वैज्ञानिकता का पक्ष लेते हुए हिन्दी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारो पर तीव्र कटाक्ष किया है, "आजकल हिन्दी मे ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं, जिनमे अद्भुत बाते साबित कर दी जाती हैं''मै समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बनाकर किये-कराये पर पानी फेर देना।"[1] रागेय राघव का प्रहार राहुल के 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न' और यशपाल के 'दिव्या' जैसे उपन्यासो पर है। इन दोनो लेखको ने आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को अपने उपन्यासो मे समाहित किया है। यशपाल की 'दिव्या' का मारिश, राहुल के 'मधुर स्वप्न' के अन्दर्जगर और दिहगबान लेखक की व्यक्तिगत धारणाओ के ही प्रतिबिम्ब है, जिससे वे विगतकालीन पात्र न होकर वर्तमानकाल के कम्यूनिस्ट प्रतीत होते हैं। 'जय यौधेय' के इन शब्दो 'यदि हम अपनी खेती, बाग-बगीचे, शिल्प-व्यापार को साझे मे करते तो धनी गरीब का भेद होने नही पाता।"[2] मे आधुनिक सहकारिता के दर्शन होते है, तो 'दिव्या' मे यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि शोषित वर्ग अपनी दयनीय स्थिति के कारण क्षुब्ध था। परन्तु हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि उस समय लोगो मे न आजकी सी वर्गचेतना थी और न वर्गसघर्ष की तीव्रता। जिस भोगवाद एव भौतिकवाद का समर्थन मारिश करता है, उसकी उस काल मे गध भी न थी। उस समय के तो सभी दार्शनिक सिद्धान्त मोक्ष को प्रधानता देते थे।

आधुनिक युद्ध की समस्याओं पर प्रकारान्तर से अपना मत प्रकट करने तथा इस प्रश्न का समाधान देने के लिए ही आचार्य चतुरसेन ने आचार्य शाम्बव्य काश्यप और सोमप्रभ के बीच कथोपकथन की योजना की हे। काश्यप का उत्तर देखिये, "इन काँच-कूप्यको के रसायन को छूकर, खाकर, देखकर मनुष्य और जनपद अन्धा, बहरा, उन्मत्त, नपुसक, मूर्छित और मृतक हो जाता है। यह भी वही है वत्स, उसमे (धर्म-युद्ध मे) शौर्य चाहिये, इसमे (रासायनिक युद्ध मे) बुद्धिकौशल। राजतन्त्र की धवल अट्टालिकाएँ और राजमहलो के मोहक वैभव ऐसे ही कदर्य कार्यो से प्राप्त होते हैं।" वैशाली के महायुद्ध-वर्णन से आधुनिक रासायनिक एव कृमियुद्ध (कैमिकल-जर्म वारफेअर) एव रथ-मुशल महाशिलांण्टक जैसे रथो, अस्त्रो द्वारा विविध प्रकार के टैको का आभास उत्पन्न किया गया है। प्राचीन वैद्यक-शास्त्र और भगवती-सूत्र का प्रमाण देकर लेखक अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नही हो सकता। लेखक ने जिस वस्तु को अपने कृतित्व और कला-कौशल का एक प्रमुख स्थल बनाना चाहा है, वह

---

[1] १. रागेय राघव 'मुर्दो का टीला', भूमिका, पृष्ठ झ।

[2] २. राहुल साकृत्यायन 'जय यौधेय'. दूसरा संस्करण, पृष्ठ १६०।

कृत्रिमता-मात्र बनकर रह गया है। इस प्रकार के दोष मराठी तथा हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासो मे ही नही अग्रेजी उपन्यासो तक मे पाए जाते है। ट्रिव्हेलियन नामक प्रसिद्ध आलोचक किग्जले और किपलिंग के विषय मे लिखता है, "इन दोनो मे एक न्यूनता है। उनके पात्र, उद्देश्य व विचारधारा अत्यन्त आधुनिक प्रतीत होते हैं। किग्जले के सेक्सन व ट्यूडर वीर विक्टोरिया-युग के से सद्गृहस्थ लगते हैं, तो किपलिग के रोमन व नार्मन लोग हैरो व सैंडहर्स्ट से साम्राज्य-रक्षण के लिए निकले 'सब-आल्टर्न' जैसे प्रतीत होते हैं।"

चतुरसेन शास्त्री ने पात्रो की काल-परिधि की भी उपेक्षा की है। देशकाल मे अन्तर डालने वाली सीमाओ का विलय करके लेखक ने बहुत से ऐतिहासिक पात्रो को एक-साथ ला जुटाया है, जबकि वे समकालीन भी नही थे। परकाय प्रवेश जैसी घटनाओ को उपन्यास मे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक तथ्यो मे पाई जाने वाली नीरसता को दूर करने के लिए ही लेखक ने कुछ चमत्कार उत्पन्न करने वाली घटनाओ की कल्पना की है। छाया-पुरुष का प्रवेश तथा महाराज उदयन का आकाशमार्ग से आकर अम्बपाली के सामने वीणा बजाना और पुन उसी प्रकार चला जाना अत्यन्त अस्वाभाविक और अयथार्थ है। राक्षसो के नगर का वर्णन और कुण्डनी द्वारा सरलता से उनका विनाश कर देना अत्यन्त ही अयथार्थ है। नगर मे प्रवेश कराने का ढग तथा राजकुमार विदूड्भ का बन्दीगृह तिलस्मी तहखानो का स्मरण दिलाते हैं। सोमप्रभ द्वारा बन्दी का पता लगाना तथा शत्रु से मिलकर युद्ध करने की कला का ज्ञान प्राप्त करना घटनाप्रधान ऐयारी उपन्यासो के समान है। बीच-बीच मे आने वाले प्रेम-प्रसग मानो ऊबे हुए पाठक को विश्राम देने के लिए रखे गये है। सम्राट बिम्बसार का युद्ध के क्षुब्ध वातावरण मे सबकी आँख बचाकर अम्बपाली के महल मे चला जाना न तो मर्यादा के अनुकूल है और न उनका वहा सुरक्षित पहुच जाना सभव ही प्रतीत होता है। साथ ही अम्बपाली का अधेड अवस्था के उदयन से प्रेम करने लगना भी अस्वाभाविक है। उनका चरित्र-चित्रण भी इन रहस्यपूर्ण एव आश्चर्योत्पादक घटनाओ की योजना के कारण त्रुटिपूर्ण हो गया है। सोमप्रभ के अतिरिक्त शेष सभी पात्रो का चरित्र-चित्रण असफल है। वर्षकार एव चाणक्य, के० एम० मुन्शी के महामात्यो की कोटि के नही बन पाये है। इसी प्रकार बिम्बसार और अम्बपाली के कुछ कार्य उनकी मर्यादा व पद के अनुकूल प्रतीत नही होते।

ऐतिहासिक ज्ञान ठूँसने की प्रवृत्ति अथवा उसका कलापूर्ण प्रयोग न कर सकने के कारण भी इन उपन्यासो की कला को आघात पहुचा है। उदाहरण के लिए, राहुल जी का 'जय यौधेय' इस प्रवृत्ति के कारण यदि लेखक के ऐतिहासिक ज्ञान, यात्रा-विवरणो और निजी धारणाओं का समुच्चय-मात्र बनकर रह गया है, तो आचार्य चतुरसेन के 'वैशाली की नगरवधू' की सुश्रृंखलता विनष्ट होगई है। उपयुक्त भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी इन उपन्यासो मे कही-कही त्रुटियाँ पाई जाती है। प्राचीन भाषाओ के विद्वान होते हुए भी राहुल जी यह गलती कर बैठे है। जहा प्राचीनता का

आभास लाने के लिए उन्होने 'सखी' के लिए 'सही' शब्द का प्रयोग कराया है, वही जब हम कथानायक को 'राष्ट्र-पाल का पार्ट मुझे लेना पडा' कहते हुए पाते है, तो अत्यन्त क्षोभ होता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्षण का यह अभाव ऐतिहासिक उपन्यास को प्रभावहीन बना देता है।

इन सबके विपरीत रागेय राघव ने बिना किसी पूर्वाग्रह के मोहनजोदड़ो की सभ्यता को अपेक्षाकृत तटस्थ-भाव से देखने का प्रयत्न 'मुर्दो का टीला' मे किया है। वह आधुनिक जीवन-दर्शन, तर्क-शैली तथा विचार-प्रवाह से मुक्त है। कही भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक जीवन की समस्याओ को आरोपित करने की चेष्टा नही की है। इस उपन्यास मे उन्होने मोहनजोदड़ो की प्रागैतिहासिक सस्कृति का इतना सजीव चित्र खीचा है कि पुस्तक को पढने के पश्चात् इतिहासकारो के लिए भी अज्ञात इस युग का यथार्थ और स्पष्ट चित्र नेत्रो के सामने मूर्तिमान हो उठता है।

बुन्देलखंड के इतिहास पर लिखने की प्रवृत्ति—बुन्देलखड के गौरवपूर्ण इतिहास को उपन्यास के माध्यम से सजीव एव सप्राण करने का श्रेय वृन्दावनलाल वर्मा को है। उन्होने अपने अधिकाश उपन्यास इसी भू-प्रदेश की त्यागपूर्ण और वीरता भरी घटनाओ पर लिखे है। यद्यपि उनके अतिरिक्त अन्य हिन्दी उपन्यासकारो ने अभी इस भूमि को स्पर्श नही किया है और बुन्देलखण्डी इतिहास के चित्रण को हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासो की प्रवृत्ति मानने मे कुछ सकोच हो सकता है, तथापि ये कृतियां इतनी कलापूर्ण है कि उनका विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा। वर्मा जी के उपन्यासो मे इतिहास और कल्पना का सुन्दर मेल है। उनकी आधिकारिक कथा कोई सबल रोमास होती है, जिसके आधार पर तत्कालीन युग का चित्रण किया जाता है। जिस प्रकार आर्य-सस्कृति और गुजरात का वैभव के० एम० मुन्शी का प्रिय विषय रहा है, उसी प्रकार बुन्देलखड का मध्ययुगीन वीरतापूर्ण वातावरण वर्मा जी का। वह इस बात को जानते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास को यथार्थता प्रदान करने के लिए अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है। 'झासी की रानी' मे इसीलिए रानी के जीवन के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओ और मर्यादाओ का वर्णन किया गया है। उस समय मे चलनेवाले साम्प्रदायिक झगडो का सकेत लेखक ने जनेऊ के प्रसग द्वारा दिया है तथा बताया है कि उस समय समाज मे वर्ण-व्यवस्था के नियमो का पालन कडाई के साथ किया जाता था और राजा स्वय वर्णाश्रम धर्म का सच्चा अनुयायी था। अन्य सामाजिक रस्म-रिवाजो, महाराष्ट्र के हरदी-कूकू इत्यादि त्यौहारो और उत्सवो, तथा स्त्री-पुरुषो के वस्त्राभूषणो का चित्रण कर उन्होने तत्कालीन बुन्देलखंड के समाज का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का चित्रण भी यथार्थ है। जनरल रोज की मक्कारी और अग्रेजो की दुर्नीति का सफल अकन हुआ है।

ग्वालियर नरेश मानसिह के समय की आपाधापी और सुरक्षा की भावना के अभाव का परिचय पाठक को 'मृगनयनी' पढ़कर सहज ही हो जाता है। 'झासी

की रानी' के समान ही इस उपन्यास के अन्दर भी बुन्देलखड का समाज अपने स्वाभाविक रीति-रिवाजो और रस्मो के साथ सजीव हो उठा है। होली आदि त्यौहारो को कितना महत्व दिया जाता था और उनको मनाने की क्या विधि थी, इसका सजीव वर्णन इसमे मिलता है । पन्द्रहवी शताब्दी के सामाजिक आचार-विचारो, विवाह सबंधी नियमो इत्यादि की सूचना अटल और लाखी के प्रणय और विवाह के सबध मे वैष्णव पडित बोधन के विचारो द्वारा दी गई है। शैवो और वैष्णवों के पारस्परिक द्वेष तथा मुसलमानो द्वारा मन्दिरों और मूर्तियो के भजन के दृश्य भी तत्कालीन युग को समझने मे सहायता देते है। 'गढकुण्डार' चौदहवी शती के बुन्देलखड की राजनीतिक उथल-पुथल का हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वर्मा जी के शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो मे देश-काल का सजीव चित्रण उपन्यासो को सफल बनाने मे पर्याप्त सहायक रहा है। केवल कुछ स्थलो पर अपने युग की समस्याओ से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण लेखक काल-विपर्यय दोष कर बैठा है। इस सम्बन्ध मे उनका अपना स्पष्ट आदर्श है "यदि ऐतिहासिक उपन्यासो मे सामाजिक समस्याओ का भी समावेश हो—यह संभव है और किया भी गया है, तो वह समाज-सृजन के लिए खास सम्बल है। इस सच्ची बात के चौखटे मे उस सच्ची बात के वातावरण को ज्यो-का-त्यो प्रस्तुत करते हुए यदि वर्तमान की कुछ समस्याओ को प्रविष्ट किया जाय तो ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक का उद्देश्य निरर्थक नही जाता।"[1] आधुनिक युग मे पर्दे की प्रथा समस्या से अनुप्रेरित हो उन्होने 'मृगनयनी' मे निन्नी के माध्यम से पर्दे की प्रथा के विरुद्ध विचार अभिव्यक्त किये है, जो मध्यकालीन सस्कृति और विचारधारा के अनुरूप नही।

कही-कही उनका इतिहासकार का रूप उपन्यासकार की अपेक्षा प्रधान हो गया है। 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' मे उनका मन ऐतिहासिक विवरण देने मे इतना अधिक रम गया है कि उपन्यास बीच-बीच मे नीरस हो गया है। "जहा वह (लेखक) ऐतिहासिक पत्रो तथा कम्पनी आदि द्वारा भेजे गये आदेशो को उद्धृत करने बैठ गया है वहाँ वह इसे भूल ही गया है कि वह उपन्यास लिख रहा है।" 'मृगनयनी' मे भी कुछ स्थलो पर यह प्रवृत्ति उभर आई है। ऐतिहासिक तथ्यो के प्रति आग्रह तथा मृगनयनी को आदर्श नायिका के रूप मे चित्रित करने के मोह के कारण ही यह उपन्यास अपनी स्वाभाविक गति से आगे न बढ़कर, लेखक की इच्छा के अनुसार मुडता चला गया है और इसी कारण बीच-बीच मे पाठक थकान और ऊब अनुभव करने लगता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास के नायको की महानता की चकाचौंध मे भ्रमित नही होता, बल्कि छोटे-छोटे पात्रो को भी नवीन गरिमा और सौन्दर्य से विभूषित करता और उन्हे अपनी कला के पारसमय स्पर्श से गौरवान्वित करता है। वर्मा जी के उपन्यासो मे इन छोटे-छोटे पात्रो के चित्रण मे लेखक ने पूर्ण

---

[1] 'सगम' पत्र मे वर्मा जी का लेख - २६ जनवरी, १९५० ई०।

सावधानी एव कलात्मकता का प्रयोग किया है। लाखी, अटल, कचनार ऐसे ही पात्र हैं। ऐतिहासिक वीरो के भी उन पक्षो पर प्रकाश डाला गया है, जो इतिहासकार के लिए उपेक्षा के विषय होते हे। झाँसी की रानी की वीर मूर्ति से तो आज का बच्चा-बच्चा परिचित है, परन्तु उनके मानवी रूप का—नारी सुलभ कोमल हृदय का, सहृदय शासिका का, जो चित्रण वर्मा जी ने किया है, वह इतिहास को नवीन दृष्टि प्रदान करता है।

दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक उपन्यासो को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि लेखको ने अधिकाश रचनाओ मे वर्णित काल का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है, तथापि लेखको की व्यक्तिगत धारणाओ, उनके पूर्वाग्रहो, अद्भुत या शृगार-रस का समावेश कर उन्हे मनोरंजक बनाने की कामना, यान्त्रिक अनुकरण तथा कल्पनातिरेक आदि के कारण कुछ ऐतिहासिक उपन्यास विकृत एव दोषपूर्ण हो गये है। कही ऐतिहासिकता अधिक उभर कर उपन्यास-कला को आघात पहुचाती है, तो कही कल्पना के स्वच्छद विलास और अद्भुत एव शृगार रस की योजना के कारण उसका तिरस्कार किया गया है। मराठी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हरिभाऊ आप्टे और हिन्दी के यशपाल, राहुल एव आचार्य चतुरसेन शास्त्री तक इन दोषो से मुक्त नही है। देश-काल का चित्रण विकृत और अयथार्थ तब कहलाने लगता है, जब उसमे तत्कालीन समाज के चित्रण मे आधुनिक दृष्टि को ही एकमात्र पैमाना बना लिया जाय और पुराने पात्रो के मुख से आधुनिक लेखक बोलने लगे। मराठी के सहकारी कृष्ण, नाथमाधव, हडप और चि० ना० मजूमदार ने इतिहास से एक विशिष्ट शिक्षा देने के लिए अपने उपन्यास लिखे थे। अत बहुधा विभिन्न घटनाओ या व्यक्तियो के विचारो मे, जो तत्व उन्होने प्रतिबिबित करने का प्रयास किया है, वे न तो स्वाभाविक ही हे और न तत्कालीन परिस्थितियो के अनुरूप ही। कुसुमावती देशपाडे इन लेखकों के विषय मे लिखती है, "उनके चरित्र-चित्रण मे सुसगति नही ; सभाषणो मे अमुक वाक्य और अमुक विचार अमुक व्यक्ति का ही हो, ऐसी अपरिहार्यता नही..... अत. उस समय जो विचार सभव नही थे, जो दृष्टिकोण अस्तित्व मे भी न था, जो भाषा बोली नही जाती थी, वह उन्होने अपने पात्रो के मुख मे रखी है। भाषा व विचारधारा का ऐसा काल-विपर्यय उनके उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होता है। इसका प्रधान कारण यह था कि ये लेखक ..... अपने चुने हुए इतिहास-काल से एकरस हो कथानिर्मिति नही करते थे, अपितु अपने समय की राजकीय प्रवृत्ति, जनता के व्यवहार मे दिखने वाले दोष, उनको सुधारने की आवश्यकता, उन सुधारो के उपाय आदि के कारण कुछ उपदेशप्रधान प्रवृत्ति से प्रेरित होते थे। एक प्रकार का प्रच्छन्न उपदेश करने की उनकी इच्छा होती थी। अपने को जो कहना होता था, उसका एक साधन मानकर वे ऐतिहासिक व्यक्तियों का उपयोग करते थे। अत' अग्रेजी राज्य के आगमन के बाद की विचारधारा, राष्ट्र-प्रेम, लोकसत्ता आदि पारिभाषिक शब्द, व्यक्ति विरुद्ध समाज ऐसी आधुनिक कल्पना

उनकी रचनाओ मे बहुधा पाई जाती है ।"[१]

यही बात हिन्दी उपन्यासकारो—यशपाल, राहुल एव चतुरसेन शास्त्री के विषय मे कही जाती है । यद्यपि अधिकाश आलोचको ने इसे काल-विपर्यय कहकर दोषपूर्ण बताया है, पर इस सम्बन्ध मे दो-तीन बाते ध्यान रखनी आवश्यक है । प्रथम तो जिस देश-भक्ति, राष्ट्र-प्रेम आदि भावो को काल-विसगति के उदाहरण के रूप मे रखा गया है, उनके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे उस काल मे नही थे । दूसरे, कलाकार का सत्य वैज्ञानिक एव इतिहासकार के सत्य से भिन्न होता है । सभाव्य सत्य भी उसके लिए इतना ही महत्वपूर्ण होता है, जितना वस्तुगत सत्य और इतनी स्वतत्रता पाने का उसे अधिकार भी है । हाँ, जहाँ वह सभावना की सीमाओ का अतिक्रमण करे, वहाँ अवश्य आलोचना का पात्र है । तीसरे, उपन्यासकार कुछ विचारो एव भावनाओ से अनुप्रेरित हो ऐतिहासिक उपन्यास रचता है, जिसके परिणामस्वरूप इन रचनाओ मे लेखक के समय की विचारधारा का आना स्वाभाविक ही है । यदि यह विचारधारा सभावना से परे की वस्तु हो, तो अवश्य त्याज्य एव तिरस्करणीय है, पर यदि वह कालविशेष की सगति मे खप जाती है, तो उसे एकदम से निरर्थक एव कालविसंगत कहना उचित प्रतीत नही होता।

दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक उपन्यासो मे कुछ चरित्र अत्यत स्पष्ट, हृदयस्पर्शी, प्रभावशाली व आकर्षक बन पडे है, तो कुछ अस्पष्ट, साचे मे ढले से, कृत्रिम, हृदय को प्रभावित करने मे असमर्थ तथा पूर्ण असफल है । इस असफलता के कारण भी लगभग समान है—घटनाओ का जमाव, कलाकार की चरित्र के प्रति उपेक्षा, आदर्श चरित्र प्रस्तुत करने की लालसा, इत्यादि । परन्तु इतना मानना पडेगा कि इतिहास के इन पात्रो की दुर्बलता को देखकर पाठको ने उन्हे अपने ही समान मानवीय भावनाओ से ओतप्रोत मानव के रूप मे देखा और फिर उनके देशप्रेम, शौर्य, वीर्य और त्याग को देख उनसे स्वतत्रता की प्रेरणा ग्रहण की ।

मराठी तथा हिन्दी के उपन्यासकारो ने अपने उपन्यासो के लिए भारतीय इतिहास के कुछ विशिष्ट कालो एव ऐतिहासिक महान व्यक्तियो को चुना है । प्राचीन भारत, और राजपूत काल तो दोनो भाषाओ के उपन्यासो के विषय रहे है, यद्यपि हिन्दी मे प्राचीन भारत, विशेषकर गणराज्यो पर मराठी से कही अधिक रचनाएँ प्रस्तुत हो चुकी है । मुगल काल से सबधित उपन्यास भी दोनो भाषाओ मे पाये जाते है । परन्तु मराठी लेखको को शिवाजी तथा पेशवाओ ने सर्वाधिक मुग्ध किया । यह स्वाभाविक भी था, क्योकि जहाँ शिवाजी महाराष्ट्र मे उत्पन्न होने के कारण अपने शौर्य-गाभीर्य, त्याग, सहिष्णुता और उदारता के द्वारा मराठी लेखको तथा पाठको की वीर-पूजा की भावना को सहज ही सतुष्ट कर सकते थे, वहाँ पेशवाओ का युग महाराष्ट्र के इतिहास मे वैभव और सम्पन्नता का युग था, जिसके ऊपर उन्हे आज तक गर्व है । उधर हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास लेखक वृन्दावनलाल

---

[१] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादबरी' · प्रथम भाग, पृष्ठ ५८-५९ ।

वर्मा ने अपनी जन्म-भूमि बुन्देलखंड के मध्यकालीन गरिमामय इतिहास को अपनी लेखनी के पारसमय स्पर्श से स्वर्णिम एव उज्जवल बना दिया है। अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियो व कालखडो पर भी कुछ फुटकर उपन्यास लिखे गये जैसे, विजयनगर राज्य पर हरिभाऊ का 'वज्राघात' या चि० ना० मजूमदार के 'गुजरायचा समशेरबहाद्दर' या 'राणा हमीर' और हिन्दी मे चतुरसेन शास्त्री का 'सोमनाथ'। परन्तु अभी भी भारत के विभिन्न प्रदेशो के इतिहास और ऐतिहासिक व्यक्तियो पर, जो अभी तक हिन्दी तथा मराठी उपन्यासो के लिए अछूते है, उपन्यास लिखने की आवश्यकता बनी हुई है।

ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यासो को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—शुद्ध ऐतिहासिक, ऐतिहासिक रोमास एव केवल ऐतिहासिक वातावरण वाले उपन्यास। वृन्दावनलाल वर्मा के 'झासी की रानी', 'गढकुडार' और 'अहिल्याबाई', मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के शिवकालीन उपन्यास तथा चि० वि० वैद्य का 'दुदवी रगू' शुद्ध ऐतिहासिक कोटि के अन्तर्गत आते हैं, तो वर्मा जी के 'कचनार' और 'मृगनयनी', मराठी मे हडप, नारायण हरि आप्टे इत्यादि के अधिकाश उपन्यास इतिहास और रोमास की मिश्रित उत्पत्ति हैं। ऐतिहासिक वातावरण-मात्र की पृष्ठभूमि पर लिखे हुए उपन्यासो मे वर्मा जी का 'विराटा की पद्मिनी', भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा', रामरतन भटनागर का 'अम्बपाली' और मराठी मे दिघे का 'गानलुब्धा मृगनयना' उल्लेखनीय है।

मराठी तथा हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासो की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनो भाषाओ के ऐतिहासिक उपन्यासकारो ने समान भावनाओ—राष्ट्रीय गौरव, वीरपूजा, विशिष्ट विचारो एव सिद्धातो के प्रतिपादन, विदेशी इतिहासकारो के अशुद्ध मतो का विरोध करने, आदि की भावनाओ से अनुप्रेरित होकर उपन्यास लिखे हैं। अपनी रचनाओ के लिए उन्होने लगभग एक ही प्रकार की सामग्री—ऐतिहासिक ग्रन्थ, अभिलेख, दतकथा, लोक-कथा—आदि का उपयोग किया है। ऐतिहासिक सत्याभास उत्पन्न करने के लिए दोनो ने काल्पनिक प्रसगो, घटनाओ, पात्रो और स्थलो का समावेश अपनी कृतियो मे किया है। विशिष्ट काल-खण्ड का वातावरण-अकन, चरित्र-चित्रण, भाषा-प्रयोग, कथानक-गठन, आदि की दृष्टि से भी दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे लगभग समान गुण-दोष पाये जाते हैं।

इन समानताओ के होते हुए भी एक बात जो स्पष्ट दृष्टिगत होती है, वह यह कि प्रथम तो मराठी मे हिन्दी से पूर्व ही सच्चे, शुद्ध तथा उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखने प्रारभ हो गये थे। दूसरे, हिन्दी की अपेक्षा मराठी को ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार दोनो ही अधिक सख्या मे प्राप्त हुए है। इसका कारण महाराष्ट्र के राजनीतिक वातावरण एव ऐतिहासिक शोध संबधी कार्य मे निहित है। परतत्र देश मे ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना के लिए राजनीतिक चेतना का होना अपरिहार्य है। जब तक राजनीतिक परतत्रता की शृखलाओ मे

जकड़ी हुई जनता मे जागरूकता, अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति असतोष, पूर्वजो के प्रति अभिमान, विगत सस्कृति की पुनर्स्थापना की अदम्य कामना आदि भाव जाग्रत नही होते, तब तक वहाँ ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए उपयुक्त वातावरण एव मनोरुचि उत्पन्न नही हो पाती। किसी प्रदेश मे थोडी-सी भी राजनीतिक चेतना जाग्रत होने पर वहाँ का लेखक वर्ग उसे उत्तेजित और अभिवृद्ध करने के लिए ऐतिहासिक उपन्यासो का आश्रय ही लेता है। वह उनके द्वारा पददलित, निराश जनता के सुप्त हृदय मे पूर्वजो के कीर्तिमय चरित्र और पुरातन सभ्यता की स्वर्णिम झाँकी प्रस्तुत कर आशा की ज्योति प्रज्ज्वलित करता है, सोये हुए आत्म-गौरव के भाव पुनर्जाग्रत करता है, और तत्कालीन व्यामोह से मुक्त हो अपना उच्च पद पाने का सदेश देता है। महाराष्ट्र मे न्यायमूर्ति रानडे, गोखले, लोकमान्य तिलक आदि नेताओ के कारण राजनीतिक चेतना अधिक पहले जाग्रत हो गई थी। अत. उसे और अधिक उत्तेजित करने के लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए। दूसरे, आत्म-गौरव, आत्म-प्रतिष्ठा, त्याग, बलिदान और देशप्रेम की भावना उत्पन्न कर सकने वाले शिवाजी तथा माधवराव पेशवा सरीखे वीरों को महाराष्ट्र से विदा हुए अधिक समय नही हुआ था। उनके कृतित्व पर उपन्यास लिखकर पाठकों मे चेतना जाग्रत करना सहज सुलभ था। इसके विपरीत हिन्दी-भाषी प्रदेश मे गाधीजी के पूर्व न तो कोई ऐसा सार्वदेशिक नेता ही उत्पन्न हुआ, जो वहाँ की जनता मे राजनीतिक चेतना जाग्रत कर सकता और न उस प्रदेश विशेष मे ही कोई तिलक सरीखा नेता उत्पन्न हुआ, अत. महाराष्ट्र की अपेक्षा वहा राजनीतिक चेतना का उदय अपेक्षाकृत देर से हुआ। हिन्दी-भाषी प्रदेश चिरकाल से दासता की शृखलाओ मे जकडा हुआ था और वहा शिवाजी या माधवराव पेशवा जैसे व्यक्तित्व भी निकट भूत मे उत्पन्न नही हुए थे, जिनका स्मरण अभिमानपूर्वक किया जा सकता तथा जिनकी वीर गाथाएँ उत्साह के साथ लेखनी-बद्ध की जा सकती।

शिवाजी और रायगढ के किले को लेकर जो आन्दोलन महाराष्ट्र मे प्रारम्भ हुआ, उसने भी ऐतिहासिक विभूतियो के प्रति जनता एव विद्वानों की चेतना जाग्रत की और उन्हे उस ओर ध्यान देने की प्रेरणा दी। इस प्रकार का कोई आन्दोलन हिन्दी-भाषी प्रदेश मे नही हुआ, जिससे हिन्दी लेखको का ध्यान इतिहास के वीर पुरुषो की कृतियो की ओर आकृष्ट होता। ऐतिहासिक शोध का कार्य भी इन आन्दोलनो के कारण महाराष्ट्र मे तेजी से होने लगा था, जिसके फलस्वरूप उस शोध के निष्कर्षों को लेकर अधिकाधिक उपन्यास लिखे गये। विभिन्न संस्थाओ—वक्तृत्वोत्तेजक सभा मुंबई, सार्वजनिक सभा पुणे, आदि द्वारा भी इस कार्य मे सहायता मिली। इसके विपरीत यद्यपि हिन्दी-भाषी क्षेत्र महाराष्ट्र से भी अधिक राजनीतिक हलचलो एव उथल-पुथल का केन्द्र रहा है, तथापि ऐतिहासिक शोध-कार्य के अभाव और किसी ऐसे आन्दोलन की अनुपस्थिति के कारण, जो जनता और विद्वान लेखको का ध्यान विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियो की ओर आकृष्ट कर सके, यहाँ उच्च कोटि के

ऐतिहासिक उपन्यास १९२९ ई० से पूर्व नही लिखे जा सके। यशपाल और राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रतिभा-सपन्न लेखको से इस दिशा मे कुछ ठोस कार्य की आशा की जाती थी, परन्तु उन्होने अपनी प्रतिभा का उपयोग एक विशिष्ट विचारधारा और राजनीतिक मत के समर्थन मे लगाने का मानो निश्चय कर लिया है और हिन्दी उपन्यास के इस उपेक्षित क्षेत्र की उन्होंने भी एक प्रकार से उपेक्षा ही की है।

मराठी तथा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो के उपर्युक्त विवेचन से एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप मे दृष्टिगत होती है और वह यह कि आधुनिक काल मे इस क्षेत्र मे हमारे उपन्यासो की प्रगति सतोपजनक नहीं है। इसका कारण भी ऐतिहासिक उपन्यासो के सम्बन्ध मे ऊपर बताए गये सिद्धान्त—ऐतिहासिक उपन्यासो का जन्म प्रधानत' राजनीतिक चेतना जाग्रत करने के लिए ही होता है—मे सन्निहित है। मराठी मे १९२५-३० ई० तक ऐतिहासिक उपन्यास प्रचुर मात्रा मे निकलते रहे, पर उसके बाद उनकी गति धीमी हो गई। उधर भारत के राजनीतिक इतिहास का अनुशीलन करने पर यह बात सहज ही लक्ष्य मे आजाती है कि १९३० ई० तक यहाँ राजनीतिक चेतना पर्याप्त मात्रा मे जाग्रत हो चुकी थी। अत. यह कहना असगत न होगा कि राजनीतिक चेतना जाग्रत करने का कार्य समाप्त हो जाने पर ऐतिहासिक उपन्यास लेखको ने भी अपने कर्त्तव्य को पूरा होते देख अपनी लेखनी को विश्राम देना प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद भी यद्यपि हडप की 'कादम्बरीमय आग्लशाही' प्रकाशित हुई पर उसमे वह ओज, प्राचीन गौरव की प्रतिष्ठा-भावना, उत्कट देशप्रेम, त्याग एव बलिदान का सदेश नही, जो उससे पूर्व के उपन्यासो मे है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के अधिकाँश उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास तो १९३० ई० के बाद ही प्रकाशित हुए है, जबकि राजनीतिक चेतना जाग्रत हो चुकी थी। बात बिल्कुल सच है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके है ऐतिहासिक उपन्यासो का राजनीतिक चेतना जाग्रत करने का उद्देश्य प्रधान होता है, पर एकमात्र नही। अपनी मातृभूमि के विगत इतिहास को गौरवान्वित करने के लिये भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो के पीछे यही उद्देश्य है। इतिहासकारो के किसी अन्यायपूर्ण कथन की अशुद्धता प्रतिपादित करने के लिए भी उपन्यासकार लेखनी उठाता है। गणतन्त्रो पर लिखे गये हिन्दी उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत आएँगे। इसके अतिरिक्त साहित्य-भडार के किसी एक कक्ष को रिक्त देखकर भी साहित्य-सेवी उसे भरने की चेष्टा करते है। कुछ हिन्दी उपन्यासकारों ने इसी उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे है। यह सब होते हुए भी हिन्दी मे ऐतिहासिक उपन्यासो की कमी देखकर हम उसका कारण यही मानते है कि आज राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की आवश्यकता के अभाव मे ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की गति मे शिथिलता है। फिर भी निराश होने या उसमे गत्यावरोध मानने का कोई कारण नही है।"····ऐतिहासिक उपन्यास यदि आज पिछड़ा हुआ लगता है, उसकी उत्पत्ति

यदि रुकी प्रतीत होती है, मराठो का पराक्रम, पेशवा-युग का कृतित्व, मुगल व राजपूत इतिहास की खान समाप्त होने पर ऐतिसासिक उपन्यास के लिये आवश्यक सामग्री यदि शेष नही रही, ऐसा लगता है तो भी यह स्थिति केवल क्षणिक है ।"[1] क्योकि विगतकाल के प्रति आत्मीयता, काव्यदृष्टि व तत्त्वदर्शन जो ऐतिहासिक उपन्यास के लिए आवश्यक उपकरण है, वे अभी भी वर्तमान है । अत नवीन क्षेत्र एव आत्मीयता को स्थान मिलने पर और प्राचीन वैभव के नवीन दर्शन से नये-नये ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते रहेगे । भारत जैसे विशाल देश ने अपने २५०० वर्षो के दीर्घ इतिहास मे अगणित उलट-फेर देखे है और उनका इतिहास भी बहुत कुछ शुद्ध रूप मे प्रस्तुत हो चुका है या हो रहा है । हिन्दी के दुर्भाग्य से उसके अधिकाँश उपन्यासकारो ने इस ऐतिहासिक सामग्री को अपनी रचनाओ का आधार बनाने का प्रयास नही किया । इधर की ओर इतिहास की गहन समस्याओ मे उन्होने भले ही प्रवेश न किया हो, अपने उत्तरदायित्व को पर्याप्त मात्रा मे समझा है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है ।

निष्कर्ष यह है कि दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे एक-सी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियो के फलस्वरूप अनेक समान प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती है । विधवा, वेश्या, विवाह-सबध, धार्मिक अनाचार, शैक्षणिक समस्या, गाधीवादी, समाजवादी और क्रान्तिवादी आन्दोलन, हिन्दू-मुस्लिम समस्या, किसान और श्रमिक-वर्ग के प्रश्न, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो पर दोनो भाषाओ के उपन्यासकारो ने लिखा है, यद्यपि कही-कही उनका दृष्टिकोण, समस्या का विश्लेषण तथा समाधान एक दूसरे से भिन्न भी रहा है ।

उदाहरण के लिए, विधवा और वेश्या जीवन के चित्रण मे दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे दृष्टिकोण का समान विकास दृष्टिगत होता है । पहले लेखको ने आदर्शवादी समाधान—आश्रम-स्थापना, सयमपूर्ण जीवन, आदि का सुझाव दिया है और बाद मे उनके विवाह का समर्थन किया है । परन्तु कुछ बातो मे भेद भी है । मराठी मे कानून की दृष्टि से विधवा की स्थिति अथवा कुकुम के प्रश्न को लेकर जिस प्रकार उपन्यास लिखे गये है, वैसे हिन्दी मे नही । इसी प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टि से डा० केतकर के समान हिन्दी मे वेश्या-जीवन का विवेचन करने की कोई प्रवृत्ति दिखाई नही देती । वैवाहिक समस्याओ से सम्बन्धित उपन्यासो मे विवाह मे आने वाली बाधाओ, उनके कारण होने वाले अनमेल विवाह, पति एव उसके सम्बन्धियो द्वारा पत्नी का उत्पीड़न, उसकी आर्थिक परावलबता एव मानसिक दुर्वलता के कारण होने वाले कष्टो का चित्रण और उनका आदर्शवादी समाधान तो दोनो भाषाओ मे एकसा है, परन्तु प्रौढ-कुमारी का प्रश्न केवल मराठी उपन्यासो मे उठाया गया । क्योकि यह वही की समस्या है । स्त्री का कार्यक्षेत्र घर के भीतर हो या बाहर, इस पर दोनो मे उपन्यास लिखे गये है । परन्तु जहाँ मराठी मे उसे यथार्थ

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादबरी' • प्रथम भाग, पृष्ठ १६ ।

सामाजिक स्वरूप प्रदान किया गया है, वहाँ हिन्दी मे जैनेन्द्र ने केवल उसका मनोवैज्ञानिक रूप ही चित्रित किया है। स्वच्छद प्रेम के सम्वन्ध मे मराठी के समान उग्र एव क्रान्तिकारी विचार भी हिन्दी उपन्यासो मे नही मिलते, क्योकि जितनी स्वच्छदता महाराष्ट्र मे स्त्रियो को प्राप्त है, उतनी हिन्दी-भाषी प्रदेश मे नही।

राजनीतिक उपन्यासो मे भी जहाँ एक ओर दोनो मे कुछ समानताएँ है, वहाँ दूसरी ओर कुछ विभेद भी है। गाधीवादी, समाजवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनो एव विचारधारा का चित्रण दोनो मे प्राप्त होता है। दोनो मे लगभग समान दोष—प्रणय-चित्रों की प्रधानता, जो कहीं-कही अश्लीलता को स्पर्श करती है, प्रचारात्मकता, अनावश्यक पर-निन्दा, लम्बे-लम्बे व्याख्यान, निर्जीव पात्र, समस्या का केवल बौद्धिक आकलन, अनुभूति का अभाव, आन्दोलन एव आन्दोलनकर्त्ताओ की अस्पष्ट झलक, आदि भी मिलते है। परन्तु जहाँ अधिकाश मराठी लेखको ने समाजवाद का समर्थन किया है और उग्र विचार प्रकट किये है, वहाँ हिन्दी लेखको पर गाँधीवादी प्रभाव अधिक है और उन्होने समन्वय तथा आदर्श का मार्ग अपनाने पर ही बल दिया है। कुछ अपवाद दोनो भाषाओ मे है।

दोनो के मानोवैज्ञानिक उपन्यासो मे फ्राइड आदि मनोविदो के स्वप्न-सिद्धान्त, कुठा, अहभाव सम्बन्धी सिद्धान्तो का निरूपण करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। बाल-मनोविज्ञान से सम्वन्धित उपन्यास भी दोनो मे है और दोनो के उपन्यास समान त्रुटियो एव दोषो—अस्वाभाविकता, कृत्रिमता, कलातत्त्व की उपेक्षा, सिद्धान्त निरूपण के लिए सिद्धान्त-प्रतिष्ठा, अश्लीलता आदि से आक्रान्त है।

ऐतिहासिक उपन्यास तो दोनो भाषाओ मे लिखे गये है, परन्तु जहाँ मराठी मे शिव-काल एव पेशवा-काल के चित्र अधिक हैं, वहाँ हिन्दी मे गण-राज्यो एव बुन्देलखड के इतिहास का अकन अधिक मिलता है।

प्रकरण : ५

मराठी-हिन्दी उपन्यासों का कथानक-शिल्प

कथानक-शिल्प—अन्य कला-कृतियो के समान उपन्यास मे भी निर्माण-सौष्ठव की अपेक्षा होती है। उपन्यासकार का कौशल इसी मे है कि वह कथा के विभिन्न प्रसंगो की केवल कालानुक्रम से योजना ही न करे, उनको कार्यकारण भाव से परस्पर सुसम्बद्ध एव सुगठित भी करे। कथा व कथानक के इसी भेद की ओर सकेत करते हुए एडमड फार्स्टर ने कहा था, "दी किन्ग डाइड एण्ड देन दी क्वीन डाइड इज ए स्टोरी; दो किंग डाइड एण्ड देन दी क्वीन डाइड ऑफ ग्रीफ इज ए प्लाट।"[1] अर्थात् "राजा मर गया और उसके बाद रानी का मृत्यु हो गई—यह कहानी है, राजा मर गया और फिर उस दुख से रानी मर गई—यह कथानक है।"

कथानक में कुतूहल-निर्माण के साधन—कथानक को आकर्षक बनाने के लिए लेखको ने दो गुणो को आवश्यक समझा है—कुतूहल-निर्मिति तथा कार्यकारण मीमांसा। उत्कठा निर्माण का सबसे सरल साधन है—किसी विषय मे कुछ अस्पष्ट से सकेत देकर पाठक को तर्क-वितर्क करने के लिए छोड देना। खाडेकर के 'दोन ध्रुव' मे रमाकात और सुरगा के मोटर मे बैठकर जुहू-तट की ओर जाते समय ड्राइवर सहज ही 'कामापूर' का उल्लेख करता है, जिसे सुन सुरगा के नेत्र डबडबा आते हैं। यह देख पाठक के मन मे सुरगा के पूर्वेतिहास व कामापूर से उसके विगत सम्बन्धो के विषय मे नाना प्रकार की कल्पनाएँ उत्पन्न होती है और अगले प्रसगो के विषय मे उसकी उत्कठा बढ़ जाती है। यही बात फडके के 'दौलत' मे मथुरा को लेकर उत्पन्न की गई है। अविनाश के व्यवहार व वचनो से एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मथुरा से घनिष्ट रूप मे परिचित है, दूसरी ओर वह निर्मला के प्रति प्रेम करता दिखाई देता है। अत एक ओर तो पाठक के हृदय मे मथुरा-अविनाश के सम्बन्ध जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है और दूसरी ओर यह आशंका होने लगती है कि कही अविनाश निर्मला के साथ छल तो नही करेगा।

कभी प्रकरण के अत मे कतिपय सकेत-वाक्य देकर अगले प्रकरण के विषय मे पाठको की उत्सुकता जाग्रत करने का प्रयास किया जाता है, जैसे मो० वा० जोशी

---

[1] एडमंड फार्स्टर : आस्पैक्ट्स आफ दी नाविल : सातवीं आवृत्ति, पृष्ठ ११६।

के 'पावनतीर्थ' और किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा', 'रजिया' आदि मे, तो कभी लेखक की शैली ही सकेतात्मक होती है जिससे घटना या स्थिति की स्पष्ट कल्पना न होने के कारण पाठक का कुतूहल अन्त तक बना रहता है। हिन्दी मे जैनेन्द्र तथा मराठी मे पु० य० देशपाडे ने इस सकेत-शैली को अपनाकर न केवल व्यर्थ के विस्तार से ही अपनी रचनाओ को बचाया है, अपितु पाठको की कुतूहलवृद्धि करने मे भी सफलता प्राप्त की है। 'त्याग पत्र' मे मृणाल और शीला के भाई तथा 'मुकलेले फूल' के नायक-नायिका के पारस्परिक प्रेम-सबंध की कही स्पष्ट स्वीकारोक्ति नही मिलती, केवल कुछ वाक्यो के द्वारा लेखक उस सम्बन्ध मे अस्पष्ट से सकेत देता हैं। पाठक को उसका आभास तो अवश्य होता है, परन्तु निश्चित रूप से न जानने के कारण उसकी उत्कंठा उस रहस्य को जानने के लिए पर्याप्त समय तक बनी रहती है।

कथानक के आरंभ मे ही रहस्य-निर्माण कर, उस रहस्य का उद्‌घाटन या तो विल्कुल रचना के अत मे अथवा अनेक परिच्छेदो के उपरान्त कर, पाठको मे कुतूहल उत्पन्न करने की कला हरिभाऊ आप्टे से लेकर आधुनिक उपन्यामकारो तक मे पाई जाती है। 'उप.काल' मे रामदेवराव और रभा तथा 'वज्राघात' मे रणमस्तखाँ के सम्बन्ध मे जो रहस्य निर्माण किया गया है, उसका उद्‌घाटन इन उपन्यासो के अत मे ही होता है। हरिभाऊ और वामन मल्हार जोशी दोनो ने यद्यपि रहस्य-योजना से पाठक की उत्कंठा वढ़ाने का प्रयास किया है, तथापि एक रहस्य से दूसरे रहस्य का निर्माण कर अंत तक पाठक को अनिश्चय मे रखने की कला मे वामनराव अधिक निपुण प्रतीत नही होते। उनके 'रागिणी' मे भय्यासाहब की मृत्यु का रहस्य शीघ्र ही उन्हे काशी मे सन्यासी-वेश मे घूमते देखकर प्रकट हो जाता है जिससे कुतूहल बीच ही में समाप्त हो जाता है। आगे चलकर ना० सी० फडके ने इस कला मे अधिक निपुणता प्राप्त की। उन्होने 'अटकेपार' मे रहस्य-योजना जान-बूझकर की है, पर 'दौलत' तथा 'जादूगार' की रहस्य-योजना साभिप्राय न होने पर भी अत्यन्त कलापूर्ण व सुन्दर है। 'जादूगार' मे ताई का पूर्वेतिहास व 'दौलत' मे मधुरा का जीवन-रहस्य पाठको के हृदय में तीव्र उत्कठा उत्पन्न करता है। उनकी रहस्य-योजना की इसी सफलता को देखकर कहा गया है, "...इन रहस्यो के अत तक एक से दूसरे के उद्‌भूत होने के कारण, सम्पूर्ण उपन्यास मे पाठको की उत्कठा बनी रहती है।"[१] वि० पा० दाडेकर के 'प्रतारणा' मे उपन्यास के आरभ मे हिमाशु और शशाक के विषय मे आकृति-साम्य के कारण उत्पन्न होने वाला औत्सुक्य पुस्तक के अन्त मे ही शमित होता है, जिससे पाठक अन्त तक कथा मे उलझा रहता है।

हिन्दी मे जासूसी उपन्यासकारो से लेकर मनोवैज्ञानिक उपन्यास-लेखको तक ने औत्सुक्य-वर्धन के इस उपाय को बडी कलात्मकता से अपनाया है। जासूसी उपन्यास का तो शिल्प ही यह है कि अपराधी को घटनावलियो की तह मे छिपाया जाता है,

---

[१] द० सी० पंगु, 'आस्वाद' : प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १४३।

घटनाओ पर घटनाएँ घटित होती है, जो घटना मे आता है उसी पर अपराधी होने का पूरा सदेह किया जाता है, फिर आगे चलकर वह निरपराध सिद्ध होता है और असली अपराधी के पता लगने पर पाठको की उत्कठा का शमन होता है। सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक उपन्यासो को भी आकर्षक एव रोचक बनाने के लिए हिन्दी लेखको ने रहस्यपूर्ण प्रसगो की योजना की है। 'तितली' मे पुजारी की हत्या के पश्चात् मधुवन का जीवन एक रहस्य एव जिज्ञासा का प्रादुर्भाव करता है। जैनेन्द्र के 'कल्याणी' मे कथा पर रहस्य का आवरण चढाकर जिज्ञासा एव कुतूहल उत्पन्न किया गया है। कल्याणी के भूतपूर्व जीवन के सबध की बाते धीरे-धीरे कथा के उत्तरार्ध मे खुलती है। यह अन्त मे ही पता लगता है कि विदेश मे बैरिस्टर-प्रीमियर मित्र को निराश करने के कारण ही आज उसे अवसाद और अतृप्ति है। यह घटनागत नाटकीयता जैनेन्द्र मे कही-कही इतनी अधिक हो गई है कि कई स्थलो पर ऐसा लगता है मानो लेखक पाठक को झकझोर देना चाहता है।

पाठको के हृदय मे उत्कठा जागृत करने की एक अन्य प्रणाली, जिसका प्रयोग मराठी उपन्यासकारो ने किया है, यह है कि उपन्यास के आरंभ मे केवल यह बताया जाता है कि एक व्यक्ति अमुक-अमुक कार्य कर रहा है, उसकी विचारधारा अमुक दिशा मे प्रवाहित हो रही है, इतने मे उसे अमुक दृश्य दिखलाई पड़ता है। इतना विवरण पढकर पाठक को उस व्यक्ति के नाम तथा अन्य सबध जानने की उत्सुकता जागृत होती है। परन्तु लेखक बहुत देर तक उस व्यक्ति का नाम न बताकर पाठक का कुतूहल बनाए रखता है। इस प्रणाली का प्रयोग मराठी मे विशेष रूप से हरिभाऊ आप्टे व डॉ० केतकर ने किया है। 'उष.काल' मे नाना साहब व रामदेवराव का नाम बहुत देर तक पाठको को नही बताया जाता। इसी प्रकार से डा० केतकर के 'प्रियंवदा' एव 'आशावादी' का प्रारंभ किया गया है। कुतूहल-उत्पत्ति की यह पद्धति कुछ अच्छी दृष्टि से नही देखी जाती। वा० ल० कुलकर्णी ने इसे बचकना एव हास्यास्पद कहा है और कदाचित् इसी बात को समझने के उपरान्त डा० केतकर ने इस पद्धति का उपयोग अपने अगले उपन्यासो मे त्याग दिया था।

हिन्दी मे तिलस्मी उपन्यासों के अतिरिक्त वृन्दावनलाल वर्मा ने भी इस पद्धति का उपयोग किया है। 'गढकुंडार' के दूसरे परिच्छेद मे लेखक बताता है कि "दो सवार नाले से निकले।" लेखक उनका परिचय एकदम नही देता। वह यही बतलाता है कि दोनो सवारो का आकार कैसा है, वेशभूषा क्या है? वह कुमार, श्याम-काय सवार, कुअर सम्बोधित युवक, इत्यादि शब्दो से पाठक का कुतूहल जगाता है। परिच्छेद आरंभ करने के चार पृष्ठ बाद पहले तथा छ: पृष्ठ बाद दूसरे सवार के विषय मे ज्ञात होता है।

कुछ उपन्यासो मे पात्रों का प्रवेश ही इस ढग से कराया जाता है कि पाठक उनके विषय में कुतूहल अनुभव करने लगते है। हरिभाऊ आप्टे आदि के उपन्यासो मे पुरुषवेश मे स्त्रियो के आविर्भाव या स्वय पुरुषो द्वारा वेशातर करने के कारण कुतूहल

मे वृद्धि होती है। 'उष.काल' मे चन्द्रावाई का पुरुषवेश, यमाजी व येसाजी का चमार-चमारिन का वेशांतर रहस्यमयता वढाकर उपन्यास को अधिक रोचक वना देते है। वरेरकर के 'धावता धोटा' मे कान्होवा के वेशातर के कारण प्रारम्भ से ही एक प्रकार की रहस्यमयता व उत्सुकता उत्पन्न हो गई है। इसके विपरीत रघुनाथ कवठेकर ने 'अपुरे डाव' के प्रथम प्रकरण मे एक ओर मीना को कक्षा मे प्रथम आने वाली लडकी और दूसरी ओर उसके पढने मे ध्यान न देने की वात कह, ऐसी परिस्थिति मे नायिका का प्रवेश कराया है कि पाठक उस जटिल समस्या का मूल कारण जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। हिन्दी में जयशकर प्रसाद पात्रो को आरम्भ मे इस ढग से चित्रित करते हैं कि उनके विषय मे पाठक जिज्ञासु हो उठता है। 'ककाल' मे घटी के प्रवेश के वाद भी अगले कई परिच्छेदो तक उसके सम्वन्ध मे उत्सुकता वनी रहती है। यही वात 'तितली' की शैला के सम्वन्ध मे है। शैला इन्द्रदेव के साथ विदेश से आती है। उसके सम्वन्ध मे लेखक पाठक को सव कुछ एकदम नही वता डालता, अपितु, उसके विषय मे विभिन्न प्रश्नो का उत्तर धीरे-धीरे प्राप्त होता है, जिससे पाठक का कुतूहल पर्याप्त समय तक वना रहता है। चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगरवधू' मे सर्पदश कराने वाली कुण्डनी कौन है? यह कुतूहल आरम्भ से जग जाता है। फिर सोमप्रभ का इस मायाविनी के साथ क्या सम्वन्ध है? यह जानने की उत्सुकता भी पाठक मे उपन्यासात तक वनी रहती है। शेर के आक्रमण से वन मे भटकी हुई अम्वपाली को मिलने वाले विचित्र पुरुष का नाम-पता न वताकर उसके सम्वन्ध मे भी पाठक का कुतूहल जगाया गया है।

कुतूहल एव जिज्ञासा उत्पन्न करने की एक अन्य कलात्मक पद्धति है—अनुकूल एव प्रतिकूल प्रसगो की योजना कर पाठक को आशा-निराशा के झूले पर झुलाते रहना। इसीलिए कहा गया है, "ए गुड स्टोरी इज ए कान्सपिरेसी अगेन्स्ट दी रीडर" अर्थात् एक अच्छी कथा पाठक के विरुद्ध षड्यन्त्र होती है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रतिभा साधन' मे लेखक एव पाठक की तुलना क्रमश. मार्गदर्शक एव यात्री से करते हुए ना० सी० फडके कहते हैं, "जिस प्रकार हर वार यात्री मोड समाप्त होने पर सृष्टि के अद्भुत सौन्दर्य का साक्षात्कार कर चकित व आनन्दित होता है, उसी प्रकार लेखक को चाहिये कि वह पाठक को प्रत्येक कथा के मोड़ द्वारा आश्चर्यचकित व प्रमुदित करे।'[1] हरिभाऊ के 'गड आला पण सिंह गेला' मे कमलकुमारी की सती होने की अपूर्ण इच्छा का पूर्ण होना तथा शिवाजी को कोडण का किला मिलना ये दो फल है। इनकी प्राप्ति मे अनुकूल व प्रतिकूल प्रसगों की कुशल योजना द्वारा लेखक ने पाठको की जिज्ञासा को जागरूक रखा है। उदयभानु द्वारा कमलकुमारी के अपहरण से लेकर कथात तक पाठक की जिज्ञासा अतृप्त व अभिवृद्ध करने के उद्देश्य से ही समस्त प्रसगो की योजना की गई है। इसी प्रकार फडके के 'प्रवासी' मे अनुकूल व प्रतिकूल प्रसंगो की वडी मार्मिक योजना है। पिकेटिंग करते समय मार पडने के कारण अर्ध-चेतनाशून्य अवस्था

---

[1] ना० सी० फडके, 'प्रतिभा साधन', पृष्ठ १४१।

मे, जब राजाभाऊ उमा के नेत्रो का चुम्बन लेता है तब वह अपने हृदय की भावनाओं को 'तुम्ही मेरे स्वामी हो' कहकर अभिव्यक्त करना चाहती है, पर शारीरिक दुर्बलता उसे यह नही करने देती । वह दूसरे दिन अपना प्रेम-निवेदन करने का निश्चय कर लेती है, पर भाग्य उसके विरुद्ध है, राजाभाऊ बन्दी बनाकर कारागृह मे डाल दिया जाता है। उधर राजाभाऊ भी जेल से मुक्त हो उमा पर अपना प्रेम प्रकट करने का निश्चय करता है, परन्तु उन दोनो की भेंट नही हो पाती । उमा महेश्वर के पास पहले ही चली जाती है । ये दोनो प्रतिकूल प्रसग कथानक को मोड देते है, उसमे मरोड पैदा करते है, जिससे प्रसगो की उत्कटता बढ़ जाती है । माडखोळकर के 'भगलेले देऊळ' मे भी इसी प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल प्रसगो की योजना है । कालेज मे प्रथम भेंट मे ही अनु अनिरुद्ध की ओर आकृष्ट होती है, पर तभी अरुण आजाता है और वह उससे वार्तालाप करती हुई अनिरुद्ध को भूल जाती है । आगे भी अरुण के जाने के तुरन्त बाद कालिन्दी का आगमन और अरुण के पत्र के साथ ही कालिन्दी के पत्र की प्राप्ति आदि कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल प्रसगो का सुन्दर गुम्फन इस रचना मे मिलता है, जिनके कारण पाठक आशा-निराशा के झूले पर झूलता हुआ सतत् जिज्ञासा मे पडा रहता है । हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा व इलाचन्द्र जोशी इस कला मे अत्यन्त निपुण है, यद्यपि अन्य उपन्यासकारो ने भी इसका प्रयोग किया है, क्योकि बिना इसके कोई भी उपन्यास कुतूहलवर्धक एव रोचक नही हो सकता ।

संघर्ष कथानक की आत्मा है । बिना इस सघर्ष के नायक-नायिका का जीवन तो पाठक के लिए नीरस हो ही जाता है, उनका चरित्र भी पाठक को अनाकर्षक एव रसहीन लगता है । अत प्राचीन काल से ही कहानी मे नायक-नायिका के जीवन मे किसी न किसी प्रकार का सघर्ष-निर्माण करने की पद्धति अपनाई जाती रही है । प्रारंभिक उपन्यासो मे प्राय उपदेश की दृष्टि से कथा की योजना की जाती थी और 'यतो धर्मस्ततो जय' के अनुसार दो पक्षो—सद्गुणी-धर्मशील तथा दुर्गुणी-पापमय की कल्पना कर, उनका द्वन्द्व चित्रित कर अन्त मे धर्मपक्ष की विजय दिखाई जाती थी । इन रचनाओ मे सघर्ष मे भाग लेने वाले पक्ष अत्यन्त स्थूल होते थे । मराठी के 'मुक्तामाला', 'मंजुघोषा' इत्यादि अद्भुतरम्य उपन्यासो और हिन्दी के तिलस्मी तथा सौ अजान एक सुजान' आदि उपदेशात्मक उपन्यासो मे इसी स्थूल सघर्ष का उपयोग किया गया है । परन्तु धीरे-धीरे यह तर्क उठाए जाने पर कि ससार मे सदा धर्म की ही जय नही होती, उपन्यासकारो ने अपनी रचनाओ मे धर्म और अधर्म का सघर्ष चित्रित करना कम कर दिया और खलनायक के स्थान पर विरोधी परिस्थिति द्वारा सघर्ष उत्पन्न किया जाने लगा । ऐसे उपन्यासो मे ऊपर से देखने पर तो ऐसा लगता है कि सघर्ष दो व्यक्तियो मे है, पर वस्तुत वे नायक-नायिका के मार्ग मे बाधा डालने वाले व्यक्ति, व्यक्ति न होकर परिस्थिति का ही प्रतिनिधित्व करते है । उदाहरणार्थ, हरिभाऊ आप्टे के सामाजिक उपन्यासो मे खलनायक समझे जाने वाले कितने ही पुरुष तत्कालीन समाज-रचना या रूढ मत-प्रणाली के प्रतिनिधि है । यही बात वरेरकर के 'विधवाकुमारी'

और 'धावता धोटा' के संबध मे लागू होती है। यदि कान्होबा और बाबा शिगवण मजदूरो की परिस्थितियो का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो कान्होबा के पिता तथा अन्य शोषक-वर्ग पूँजीवादी समाजरचना मे शोषण एवं अत्याचारपूर्ण परिस्थितियो का। प्रेमचन्द के 'रगभूमि' की तो मूलवृत्ति ही राजनीतिक, सामाजिक एव पारिवारिक सघर्ष है। उपन्यास का समस्त आकर्षण उसकी व्यापक सघर्ष-योजना मे है, विनय-सोफिया की प्रेमकथा मे नही।

स्वामिभक्ति संबंधी कल्पना, भिन्न-भिन्न सास्कृतिक कल्पना या अन्य सैद्धातिक मतभेद के कारण भी दो पात्रो मे सघर्ष हो सकता है। 'उष.काल' मे रंगराव अप्पा व नानासाहेब, 'अटकेपार' मे शभूराव व सुधीर, इस के दृष्टान्त हैं। कभी-कभी दोनो विरोधी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से सत्यानुयायी एव धर्मशील होने पर भी नियति के कारण एक दूसरे से टकराते है और पाठक की सहानुभूति कभी एक पक्ष तो कभी दूसरे पक्ष की ओर उन्मुख होती है और उस सघर्ष के विषय मे पाठक की उत्सुकता बढती जाती है। प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' मे समरकान्त और अमरकान्त नामक पिता-पुत्र का सैद्धान्तिक विरोध, सुखदा और अमर का प्रकृति-वैषम्य-जन्य विरोध दिखाकर लेखक ने उस विरोध का फल जानने के लिए पाठक को अत्यन्त उत्सुक बना दिया है। इसी प्रकार 'कायाकल्प' मे मुंशी वज्रधर और चक्रधर का विचार-वैषम्य वस्तुगत सघर्ष को जन्म देता है, बाद मे प्रेम और कर्त्तव्य के सघर्ष तथा आर्थिक और सैद्धान्तिक सघर्ष की भी योजना की गई है।

उपर्युक्त सघर्षो को बाह्य सघर्ष कहा जा सकता है, क्योकि वे व्यक्ति-व्यक्ति अथवा व्यक्ति और परिस्थिति के बीच होते हैं, परन्तु कभी-कभी स्वय नायक या नायिका के हृदय मे ही विरोधी भावनाओ के कारण उत्कट सघर्ष की उत्पत्ति होती है, जो अपनी सूक्ष्मता एव हृदय को अधिक प्रभावित करने की शक्ति के परिणामस्वरूप अधिक प्रभावशाली, कुतूहलवर्धक एव चित्ताकर्षक होता है। मनोविज्ञान एव मनोविश्लेषण-शास्त्र के आविर्भाव के उपरान्त लेखक इसी अन्तर्द्वन्द्व की योजना अधिक करने लगे है। मराठी मे वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' मे भैयासाहब के अन्त सघर्ष का चित्रण अत्यन्त सुन्दर हुआ है। उनके बाद के उपन्यासकारो ने तो इस सघर्ष-चित्रण की कला मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है। 'हिन्दोळयावर' मे सन्तान-लालसा के कारण तथा 'लतिका' मे प्रेमी और पति के कारण होने वाला अन्त सघर्ष बडी उत्कटता एव मार्मिकता से चित्रित किया गया है। यह अन्त सघर्ष निरन्तर पाठक की जिज्ञासा बनाए रखता है, जब तक कि रचना के अन्त मे वह स्वय ही समाप्त नही हो जाता। पु० य० देशपाडे की कृतियो मे भी इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही सम्पूर्ण उपन्यास रोचक बना रहता है, अन्यथा उनकी रचनाओ मे कथा-भाग अत्यन्त अल्प एव घटनाएँ विरल होती है। यही बात हिन्दी के जैनेन्द्र एव इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो के विषय मे कही जा सकती है। प्रेमी और पति, घर और बाहर, कर्त्तव्य और भावना, आदर्श और

प्रवृत्ति मानसिक ग्रथि आदि के कारण उत्पन्न होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व ही कथानक मे कुतूहल वृद्धि करते रहते हैं।

कुशल लेखक अपनी कथा कहने की पद्धति द्वारा भी पाठको मे उत्कठा जाग्रत करने एव उसे अन्त तक बनाए रखने मे सफल होते हैं। कुछ लेखक कथानक के विभिन्न सूत्रो को गूँथकर, उनमे उलट-पुलट कर, एक प्रसग से दुसरे प्रसग की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करते हैं। पहले कथा का एक सूत्र पकड़ते है, उसे कुछ दूर तक लेजाने के उपरात, बिना उसका अन्त किये ही, दूसरे सूत्र को ग्रहण कर लेते हैं और इस प्रकार प्रथम सूत्र के विषय मे पाठक की उत्कठा को अतृप्त छोडकर उसका ध्यान दूसरे सूत्र की ओर उन्मुख करते है और पुन: दूसरे सूत्र को भी अधूरा छोड़ या तो पहले सूत्र को आगे बढाते हैं अथवा किसी नवीन सूत्र का आविर्भाव करते हैं। मराठी मे हरिभाऊ आप्टे और हिन्दी मे प्रेमचन्द ने इस पद्धति को अपनाया है, जो उन्नीसवी शताब्दी के रूसी या अग्रेज़ी लेखको की शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उनके प्रत्येक उपन्यास मे कई पृथक कथाएँ एक साथ चलती हैं और पाठको का ध्यान इस या उस कहानी के छुटे हुए सूत्र को पकडने के प्रयत्न मे अन्त तक उलझाकर रखा गया है। ना० सी० फडके के उपन्यासो मे भी कथानक के सूत्रो का कुशल गुम्फन होने के कारण पाठक की उत्कठा अन्त तक बनी रहती है। प्रकरण के अन्त मे पाठक के सम्मुख एकाध पेचीली परिस्थिति प्रस्तुत कर उसके समाधान के सबध मे उत्सुकता जाग्रत करने की पद्धति को भी हरिभाऊ आप्टे आदि उपयासकारो ने अपनाया है।

कथा-उपस्थापन की विभिन्न नवीन पद्धतियो द्वारा कुतूहल उत्पन्न करने की कला से यद्यपि हिन्दी के उपन्यासकार थोडे समय पूर्व तक अनभिज्ञ थे, परन्तु मराठी उपन्यासकारो के विषय मे यह नही कहा जा सकता। जहाँ प्रेमचन्द जी स्वीकार करते हैं, "मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाये जाता हूँ। कथा के बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमे ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिये मुश्किल है।"[1] वहा हरिभाऊ आप्टे ने 'वज्राघात' मे कहानी सिलसिलेवार न कह कर बीच मे से उठाई है। वह बीच-बीच मे प्राचीन घटी हुई घटनाओ का वर्णन कर पहले पाठक का कुतूहल जाग्रत करते है और बाद मे उनके विपय मे रहस्य का उद्घाटन कर उसका शमन कर देते है। मेहरजान एवं रामराजा के प्रेम तथा मेहर के भागकर लाहौर जाने तथा वहा से बीजापुर आने की कथा क्रमिक न होकर अन्यान्य घटनाओ के बीच बताई गई है। आधुनिक युग मे तो काल-विपर्यय, पूर्वदीप्ति आदि कथा-निवेदन की विभिन्न शैलियो के प्रयोग द्वारा मराठी और हिन्दी दोनो के उपन्यासकार सिलसिलेवार कथानक के स्थान पर कथानक को तोड-मरोड कर उसे ऐसा रूप प्रदान करने लगे है, जिससे पाठक का कुतूहल सहज ही पूर्व घटनाओ की जानकारी के विपय में जाग्रत हो उठता है। उदाहरण के लिए, फडके का 'पतग' लीजिए। इसमे उपन्यास के आरभ मे ही कथा का अन्त अर्थात् विनोद बाबू की शराब मे विप देने से मृत्यु और

---

[1] 'हंस'—प्रेमचन्द स्मृति अंक, पृष्ठ ७८१।

उसका उत्तरदायित्व उनकी पत्नी पर होने की बात कही गई है। तदुपरान्त पूर्व घटनाओ का विवरण दिया गया है। इस प्रकार प्रारभ मे ही हृदय को थर्रा देने वाली घटना के विषय मे पढकर उसके रहस्य को जानने की प्रबल उत्कठा पाठक के हृदय मे जाग्रत हो जाती है और यही उपन्यासकार की सफलता है। हिन्दी मे उग्र के 'शराबी' से लेकर, जिसमे घटनाक्रम सिलसिलेवार न होकर पहले प्रथम दो परिच्छेदो मे जवाहर और हीरा की वर्तमान स्थिति बताकर, तदुपरान्त उनका पूर्व-इतिहास निवेदन किया गया है, जैनेन्द्र के 'कल्याणी' और 'सुखदा' तथा अज्ञेय के 'शेखर. एक जीवनी' तक मे इन नवीन पद्धतियो का प्रयोग किया गया है। 'कल्याणी' की कहानी सरल और स्पष्ट नही है। कथा-विन्यास मे अद्भुत कौशल है। उसे अस्पष्ट नही कहा जा सकता, क्योकि अधिकाश तथ्य क्रमश. स्पष्ट हो जाते है। पर कथा एक सिलसिले मे नही चलती। काल-विपर्यय की पद्धति का आशिक प्रयोग किया गया है। कल्याणी के भूतपूर्व जीवन के सबंध की सब बाते धीरे-धीरे करके आगे-पीछे कथा के उत्तरार्ध मे खुलती है और अन्त तक कुतूहल बना रहता है। 'शेखर: एक जीवनी' के, विशेपकर उसके प्रथम भाग के अनेक प्रसंग ऊब पैदा करने वाले है, क्योकि वहाँ घटनाएँ या प्रसग न होकर केवल सस्मरण है और वे भी विविध विचारो एव भावनाओ मे लिपटे हुए, तथापि पुस्तक का पहला शब्द 'फाँसी' एवं नायक की अपने सस्मरण लिखने के समय की स्थिति ही इतनी सशक्त है कि पाठक शीघ्र से शीघ्र उस रोमाँचकारी घटना (फाँसी) के मूल रहस्य को जानने के लिए व्यग्र हो उठता है। साराश यह है कि आधुनिक लेखक न केवल रहस्यपूर्ण घटनाओ, विविध प्रकार के सघर्षो, अनुकूल व प्रतिकूल प्रसगो की योजना के द्वारा ही, अपितु कथा-उपस्थापन की पद्धति द्वारा भी कुतूहल निर्माण करने का प्रयास करता है।

कलात्मक रहस्य-योजना द्वारा पाठक के औत्सुक्य और उत्कठा को अभिवृद्ध करना यदि उचित और न्यायसगत है, तो अस्वाभाविक, चमत्कारपूर्ण, रोमॉचकारी प्रसगो की अवतारणा द्वारा कथा को रोचक बनाना कला की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है। खेद का विषय है कि दोनो भाषाओ के बडे से बडे उपन्यासकार भी इस मोह से अपने को मुक्त नही कर सके है। हरिभाऊ आप्टे का 'कालकूट' हिमालय के कापालिको के मठ व उनके अघोर बीभत्स कृत्यो के कारण उपन्यास को अद्भुतरम्य रचनाओ की कोटि मे रख देता है। हा, उनके ऐतिहासिक उपन्यासो मे प्रयुक्त अद्भुत प्रसग विस्मयकारी होते हुए भी सुसगत प्रतीत होते है. क्योकि वे देश-काल के अनुकूल और वातावरण-निर्मिति मे सहायक है। 'उष काल' मे मूर्ति के सरकने, नानासाहब के तहखाने मे बदी बनाए जाने तथा रभावती के प्रासाद मे साईं बाबा के प्रवेश के प्रसग इसी कोटि के है। 'रागिणी' मे अगूठी, सर्पदश, उत्तरा के कपडो मे आग लगना, भूत, तथा आश्रमखड आदि के प्रसग 'सहस्ररजनी चरित्र' की कहानियो की तरह रोमहर्षक तो है, पर यथार्थवादी उपन्यासो को शोभा नही देते। खाडेकर के 'हृदयाची हाक' मे नाट्यगृह मे आत्म-हत्या, कुमुद का समुद्र मे कूदना, राजासाहब को विष देने का षडयत्र

आदि इसी प्रकार के प्रसग है, जिनको पढकर देशपाडे ने कहा है, "जिन ऊट-पटाग प्रसगो की भीड इस उपन्यास मे दिखती है, वह चमत्कार के राज्य मे ही शोभा पाने वाले है।"[1] फडके ने भी अपने प्रारभिक उपन्यासो मे हत्या, धर-पकड, मोटर-दुर्घटना, मूर्छा, वेश-परिवर्तन आदि का बहुत उपयोग किया था, परन्तु उनके बाद के उपन्यास इन दोषो से अपेक्षाकृत मुक्त है। यदि 'दौलत' मे हत्या या कन्या-अपहरण आदि अद्भुत घटनाओ का उपयोग भी किया गया है, तो केवल प्रासगिक रूप मे।

हिन्दी उपन्यासकार भी उत्कठा-वर्धन एव कथा को रोचक बनाने के लिए उपन्यास मे कतिपय अलौकिक एव आकस्मिक घटनाओ का समावेश करने के प्रलोभन से नही बच पाये हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुण्डलीचक्र' मे अजित को सोने की मुहरो से भरा घडा मिलना और प्रेत-बाधा तथा 'कचनार' मे कापालिको के अघोर एवं भयावह कृत्यो का वर्णन इसी प्रकार के चिन्त्य प्रसग है। 'वैशाली की नगरवधू' मे छाया-पुरुप का प्रवेश, उदयन का आकाशमार्ग से आकर अम्बपाली के सामने वीणा बजाना, कुण्डनी द्वारा राक्षसो के नगर का विनाश आदि तथा यशपाल के 'देशद्रोही' मे चमत्कारपूर्ण घटनाओ की योजना कुतूहल-वृद्धि अवश्य करती है, पर उनके द्वारा जीवन के स्वाभाविक चित्रण मे बड़ा व्यतिक्रम पडा है। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे आत्म-हत्या की अनेक घटनाएँ न केवल पात्रो के स्वभाव मे विसगति उत्पन्न कर देती है, अपितु कला को भी आघात पहुचाती है।

कभी-कभी लेखक अपने नवीन विचार, सैद्धान्तिक तथ्य एव दार्शनिक मत प्रकट करने के लिए इतना व्यग्र हो उठता है कि वह उपन्यास मे कुतूहल-तत्त्व की बिल्कुल उपेक्षा कर देता है। इन मतो एव सैद्धान्तिक वाद-विवादो का कथानक से कोई सबध नही होता और साधारण पाठक उन अशो को छोडता चलता है। डा० केतकर के उपन्यास इस दुष्प्रवृत्ति के लिए अधिक बदनाम है, यद्यपि वामन मल्हार जोशी की रचनाएँ भी इस दोष से मुक्त नही है। 'प्रियवदा' मे कौमार्य, वैधव्य, स्त्री-दाक्षिण्य, इत्यादि की चर्चा का कथानक से कोई भी सबध प्रतीत नही होता। इन प्रसगो के कारण कथानक के सूत्र बार-बार टूटते है और पाठक की उत्कठा को बार-बार आघात पहुँचता है। हिन्दी मे जैनेन्द्र जहा दार्शनिक बन बैठे है, राहुल व्याख्याकार और यशपाल साम्यवाद के प्रचारक, वहा यही दोष आगया है।

उत्कठा-वर्धन एव कुतूहल की तीव्रता बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि उपन्यास मे एक मुख्य कथानक हो और शेष उपकथानक उस मुख्य कथा के पोषक एव उसे उठाव देने वाले हो। इसके विपरीत यदि उपन्यास के सब कथानक समान महत्व के होते है, तो उत्कठा का विभाजन हो जाता है और उसकी तीव्रता नष्ट हो जाती है। डा० केतकर के उपन्यासो मे, 'ब्राह्मण कन्या' और 'गावसासू' को छोडकर, यह दोष बहुधा पाया जाता है। 'पियवदा' मे चार, 'परागंदा' मे तीन और 'विचक्षणा' मे छ कथाएँ प्रधान होने से उत्कठा की तीव्रता बहुत कम हो गई है। डा० केतकर

---

[1] मा० का० देशपाडे, 'खाडेकर चरित्र आणि वाडमय' - १९४१ की आवृत्ति, पृ० १२७।

उपन्यासकार से अधिक समाजशास्त्र के पण्डित थे। उनका लक्ष्य कथा प्रस्तुत करने से अधिक अपने समाजशास्त्रीय मत उपस्थित करना था। अत. उनकी रचनाओ मे समान महत्त्व वाली अनेक कथाएँ गुम्फित पाई जाती है। हिन्दी मे समाजशास्त्रीय दृष्टि को लेकर उपन्यास रचे ही नही गए, अत यहा यह दोष प्राय. नही ही है।

सफल वस्तु-योजना और उसके बाधक तत्व—सफल वस्तु-योजना के लिए दो बाते आवश्यक है—प्रथम तो उसका प्रवाह स्वाभाविक हो और दूसरे उसके विकास मे जो भी उपाय काम मे लाए जाएँ, वे परिस्थितियो के अनुरूप एव विश्वासजनक हो। प्रीस्ट्ले कहता है, "उपन्यास-लेखन का कोई उद्देश्य क्यों न हो, उपन्यास की कथा की प्रथम आवश्यकता है उसका सुसगत होना।" जिस प्रकार जहा वर्षा होनी होती है उस ओर वायु के झोकों से प्रताडित मेघ-खड धीरे-धीरे अग्रसर होते जाते है, उसी प्रकार उपन्यास के सम्पूर्ण प्रसंगो को धीरे-धीरे कथा-फल की ओर बढना चाहिये जैसे, 'गड आला पण सिंह गेला' मे कमलकुमारी के सती होने मे बाधा, उदयभानु की कोडण के किले पर नियुक्ति, तानाजी की प्रतिज्ञा, तानाजी व जगतसिंह की भेंट आदि सारी घटनाएँ धीरे-धीरे अन्तिम फल की ओर कथा को ले जाने वाली हैं। कथानक के सुचारु एवं सुस्पष्ट विकास के लिए ना० सी० फडके के उपन्यास और भी अधिक विख्यात है। चतुराई से कथा कहने की कला मे उनकी बराबरी करने वाला कोई अन्य उपन्यासकार नही। उनके 'प्रवासी' को ही लीजिए। इसका कथानक पहले धीरे-धीरे प्रारभ होता है पर विकास होते ही उसमे ओज आजाता है। कुछ समय बाद भावना व विकार मे सघर्ष उत्पन्न होता है, जिससे उपन्यास मे एक अपूर्व आकर्षण आजाता है और अन्त मे उसका उदात्त पर्यवसान होता है। उनकी रचनाओ मे न विशृंखलता है और न अनावश्यक विस्तार।

हिन्दी मे सरल, स्वाभाविक प्रवाह वाले उपन्यास लिखने के लिए विश्वभरनाथ कौशिक प्रसिद्ध है। उनके 'मा' और 'भिखारिणी' दोनो की कथावस्तु सीधी-सादी और सुलझी हुई है। उसमे जटिलता या दुरूहता नाम-मात्र को भी नही है। जीवन का सम्पूर्ण चित्र खीचने का प्रयास न होने के कारण कथा-प्रवाह स्वाभाविक गति से आगे बढता है। प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले लबे-चौड़े वर्णनो या दार्शनिक विवादो का यहा अभाव है। घटनाओ की शाखा-प्रशाखाएँ न होने से एक ही मूल मे अकुरित घटना सीधे विकसित होती चली जाती है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'गबन' को छोडकर, जिनमे कथा की एक अखड अविरल धारा प्रवाहित होती है, अन्य उपन्यासो मे गति की यह प्रवहमानता नही मिलती और पाठक विस्तृत विवेचन या लबे-चौडे वर्णनो से ऊबने लगता है। प्रसाद जी के उपन्यासो मे निरर्थक भरती की प्रवृत्ति कम होने से कथानक का उत्थान, विकास और समाप्ति बडे क्रमिक तथा कलात्मक ढग से होती है। यही बात वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा' की पद्मिनी' के विषय मे कही जा सकती है। इसके कथानक की गति पहाडी नदी के समान क्षिप्र है। 'विराटा की पद्मिनी' मे घटनाएँ तीव्रता से घटती जाती है और विभिन्न परिणामो को जन्म देती

रहती है। घटनाओ की भागदौड, सघर्षो और युद्धो के वातावरण तथा प्रेम के भव्य चित्रण मे उपन्यास की कथा का अनुपम विकास हुआ है। जैनेन्द्र के उपन्यासो मे आनुषगिक कथा के अभाव व घटनाओ की विरलता के कारण प्रखरता और तीव्रता स्वत आगई है। इस दृष्टि से उनका 'त्यागपत्र' सर्वोत्कृष्ट है। इसमे कथा अपने लक्ष्य की ओर अविराम और अचूक गति से प्रवाहित होती है।

जहां एक ओर लेखक का गहन अध्ययन एवं विस्तृत ज्ञान उसके दृष्टि-क्षितिज को व्यापक बनाता है, वहां दूसरी ओर उस अध्ययन के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले ज्ञान को अपनी रचना मे उड़ेल देने की आकांक्षा उसकी कथा के प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। हिन्दी और मराठी के प्रारभिक उपन्यासकारो ने सस्कृत, फारसी और अग्रेज़ी के नीतिपूर्ण अथवा काव्यात्मक उद्धरणों की भरमार कर प्राय. अपने उपन्यासो की गति को प्रवाहहीन एव शिथिल बना दिया है। लबे-लबे उपदेश देने की प्रवृत्ति के कारण भी अनेक उपन्यासों की गति मे व्याघात उत्पन्न हुआ है। प्रसाद जी के 'ककाल' मे गोस्वामी कृष्णशरण और 'तितली' मे बाबा रामनाथ के द्वारा सस्कृति-प्रतिपादन एव धर्म-विषयक लम्बे-लम्बे उपदेश[1] इसी प्रकार के है। इसी प्रकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' के प्रथम भाग के सवा तीन सौ पृष्ठो मे स्वगत-कथन, भाषण तथा धर्म, समाज, जाति, विधवा-विवाह आदि पर अनेक उद्गारो के कारण मुख्य कथानक आगे नही बढ़ पाता तथा "पुस्तक एक थीसिस-सी जान पडती है जिसको कहानी का आवरण पहना दिया गया है।"[2] कतिपय नीरस एव अनावश्यक घटनाओ को विस्तार और महत्व देने के कारण भी कथानक की गति मे अवरोध तथा उपन्यास मे शुष्कता आजाती है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुण्डली चक्र' मे शिवलाल से सम्बन्धित घटनाएँ कथानक मे उलझन ही डालती हैं। इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारे' मे, रेटी थिएटर के सम्बन्ध मे जो एक अध्याय लिखा गया है, वह उपन्यास का प्रकरण न लगकर स्वतत्र रूप से नाटक पर लिखा गया निबन्ध प्रतीत होता है और कथा के प्रवाह मे स्पष्ट ही बाधक है। भगवतीचरण वर्मा के 'टेढे मेढे रास्ते' मे कलकत्ते के क्रान्तिकारियो का प्रसग, हिल्डा-प्रसग, परमानन्द सुकुल-मन्नु दुबे प्रसग, आदि कितने ही अनावश्यक प्रसग कथानक को नीरस, शिथिल एव बोझीला बना देते हैं।

मराठी मे अनावश्यक उलझन भरे प्रसगो एव असम्बद्ध चर्चा के कारण कथा मे शिथिलता वामन मल्हार जोशी से लेकर डा० केलकर और खाडेकर तक की रचनाओ मे पाई जाती है। 'रागिणी' मे 'मोटारची होस फिटली' सरीखी बीच मे ठूँसी हुई कहानी अनावश्यक तो है ही, साथ ही आवश्यकता से अधिक विस्तार दिये जाने के कारण कथाप्रवाह मे बाधक है। सर्वत्र मद गति से प्रवाहित होने वाला कथा-प्रवाह अन्यत्र भी कितनी ही जगह स्थिर-सा हो गया है। प्रकरण के आरम्भ मे नियोजित स्वगत-भाषण प्राचीन नाटको के 'प्रवेश', तथा प्रकरणो की प्रस्तावना निबन्ध सरीखी

---

[1] जयशकर प्रसाद 'तितली', पृष्ठ ९६-९८. छठा सस्करण।

[2] शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास. स० २००२ का सस्करण, पृष्ठ २०५।

लगती है। इसी त्रुटि के कारण कुसुमावती जी ने लिखा है, " 'रागिणी' के अद्भुत प्रसंग एव अस्वाभाविक वर्णन अब जगत प्रसिद्ध हो गए हैं।"[१] डा० केतकर के उपन्यासो के कथानक घटना-बहुलता के अभाव तथा सैद्धान्तिक वाद-विवाद एव समाज-मीमांसा के कारण अत्यन्त शिथिल एव स्थिर प्रवाह वाले बन गए है। 'प्रियवदा' की घटना केवल इतनी है कि रामभाऊ परीक्षा मे असफल हो बैरिस्टर बनने के लिए इग्लैण्ड जाता है और लौट आता है। इस घटना-विरलता के कारण ही उपन्यास की गति स्थिर हो गई है। अन्य उपन्यासो मे भी 'तर्कट नीति', 'वैजनाथ स्मृति', 'लोढे नीति' आदि प्रसगो के कारण, जिनमे विस्तृत सैद्धान्तिक एव समाजशास्त्रीय चर्चा है, कथानक स्थिर, गतिहीन एव अनाकर्षक बन गए है। ग० त्र्य माडखोळकर ने उनके विषय मे कहा है, "उनके बहुत से सवाद कथानक मे ऊपर से चिपकाए हुए लगते हैं तथा उन सवादो के एक के उपरान्त दूसरे प्रकरणो मे आने से कथानक का प्रवाह भंग हो जाता है—ये पूर्ववृत्त बहुधा अतिशय मनोरजक और समाज-जीवन पर तीव्र प्रकाश डालने वाले होते हैं, यह सच है, पर उनका विस्तार कथानक की प्रगति और रसोत्कर्ष मे बाधक होता है, यह विस्मृत नही किया जा सकता।"[२]

प्रसंगो के अनुरूप समाज, राजनीति एव धर्म सम्बन्धी विचारो के बोझ के कारण खाडेकर के प्रारम्भिक उपन्यास भी बडी मद गति से आगे बढते है। इसके अतिरिक्त लम्बे-लम्बे पत्रो, हस्तलिखित प्रलेख (डॉक्यूमेन्ट्स) इत्यादि के द्वारा भी कथा की गति मे बाधा पहुँची है। 'उल्का' मे चन्द्रकान्त या 'क्रौंचवध' मे दिलीप के पत्र और 'हिरवा चाफा' मे मुकुद या 'क्रौंचवध' मे सुलोचना के हस्तलिखित प्रलेख इसी कोटि मे आते है। कुछ रचनाओ मे कथानक के थोडा-सा गति पकड़ते ही, पात्र विगत जीवन की स्मृतियो मे उलझ, उनका वर्णन करने लगता है, और पुनः कथानक के थोडा-सा आगे बढ़ते ही उसे अन्य प्रसगो का स्मरण हो उठता है और वह उनके विषय मे बताने लगता है, जिसके कारण कथानक की गति रुक-सी जाती है। पत्रो, डायरी के पन्नो, प्रलेखो, विगत सस्मरणो द्वारा उत्पन्न कथा-प्रवाह मे बाधा उन पाठको को खटकती है, जो उपन्यास को क्षिप्र घटनाओ की मालिका मानते है तथा जो अपनी कुतूहल-वृत्ति के तनाव एव उसके क्रमिक शमन के लिए उपन्यास पढते है, अन्यथा इनकी योजना से पाठक को पात्र के अन्तर्मन के रहस्यो, उसके चरित्र के विविध आयामो का परिचय होता है और उससे परिष्कृत रुचि के पाठक को रस-प्राप्ति होती है। कभी-कभी तो ये कुतूहल जाग्रत करने मे भी सहायक होते है। अतः स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही ये दोष प्रतीत हो, वस्तुत. उनके द्वारा उपन्यास कलापूर्ण बन जाता है। उपमा, दृष्टान्तो की भरमार, कृत्रिम और श्लेषप्रधान सवाद भी कथा की गति को अवरुद्ध करने वाले है। इसीलिए कहा गया है, "उनके (खाडेकर) उपन्यासों मे कथानक अनवरुद्ध गति से प्रवाहित न होकर छोटे-मोटे कंकड़ो के बीच सत्रह जगह

---

१. कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादंबरी', प्रथम भाग, पृष्ठ १५१।

१. ग० त्र्यं० माडखोलकर, 'वाङ्मय विलास', पृष्ठ १३५।

रुक-रुक कर चलने वाला तथा टेढे-मेढे घुमाव लेने वाले प्रवाह के समान प्रतीत होता है ।"[1] हिन्दी मे यह दोष प्रतापनारायण श्रीवास्तव एव राधिकारमण सिह की रचनाओं मे पाया जाता है ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार का ध्येय अनुभूति के आत्म-निष्ठ और विषयीगत रूप का प्रदर्शन होता है । उसकी रचनाओ मे कथाएँ छोटी और घटनाएँ विरल होती है । उनका उपयोग केवल पात्रो की मानसिकता, उनके मन की प्रवहमानता को प्रस्फुटित करने मे होता है । वे झाकी भर देने के लिए प्रस्तुत की जाती है । इसीलिये मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की कथा की गति स्थिर और मद होती है । वह बहुत रुक-रुककर चलती है, क्योकि उसके सिर पर मनोवैज्ञानिकता का बोझा होता है । परन्तु यह मथर गति और स्थिरता इन उपन्यासो के लिए दोष नही, क्योकि उनका उद्देश्य ही प्रेमचन्द तथा हरिभाऊ आप्टे के घटनाप्रधान उपन्यासो से भिन्न होता है । जैनेन्द्र की तरह लगभग सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो का उद्देश्य कथा कहना न होकर विशिष्ट परिस्थिति एव मन स्थिति मे मानव-हृदय का आन्दोलन चित्रित करना होता है । इस आन्दोलन के चित्रण मे कथा का विराम ले-लेकर चलना स्वाभाविक ही है और अपने निजी शिल्प के कारण उसे दोषपूर्ण नही माना जा सकता । नवीन रचनाओ को प्राचीन मानदण्डो से परखने के कारण ही कुछ आलोचक उनकी मद गति को दोषपूर्ण मानते है ।

कथानक-योजना का एक अन्य आवश्यक गुण, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है, यह है कि उसके विकास मे जो भी उपाय काम मे लाए जाएँ, वे परिस्थितियो के अनुरूप एव विश्वासजनक हो । पात्र घटनाओ को और घटनाएँ पात्रो को जन्म दें । परन्तु अनेक उपन्यासकार इस नियम का पालन नही कर पाये है और उन्होने उद्देश्य विशेष की पूर्ति, कथानक को सुखात बनाने, कथा मे रोचकता उत्पन्न करने आदि के लिए घटनाओ को या तो जबर्दस्ती अस्वाभाविक मोड़ दे दिया है अथवा उनका अन्त ही कर दिया है । कभी-कभी कथानक को आगे बढ़ाने मे अपने आपको असहाय पाकर भी लेखको ने योगायोग आदि कृत्रिम उपायो का सहारा लिया है । मराठी के प्रारंभिक अद्भुतरम्य उपन्यासो मे तो इन कृत्रिम साधनो का खुलकर प्रयोग हुआ ही था, पर आधुनिक उपन्यासकारो—फडके, खाडेकर, वि० वा० बोकील—ने भी इनका आश्रय ग्रहण किया है । फडके के 'दौलत' मे भय्यासाहब जैसे अहमन्य, द्रव्यलालसा एव कीर्ति से भूखे व्यक्ति को बिना किसी उपयुक्त कारण के निर्मला के विवाह के सम्बन्ध मे विचार बदलते दिखाना अथवा पिता के रुष्ट होने के बाद निर्मला को घर मे अनमनापन अनुभव न हो, अत उसकी मौसी का लोनावाला से अगले ही दिन वहा आकर उसे लिवा जाना, अत्यन्त अस्वाभाविक एव लेखक की हठवादिता के प्रमाण हैं । वे कथानक को कृत्रिम बना देते है । अन्त को सुखमय बनाने के लिए वे अनेक आकस्मिक घटनाओ और योगायोग का उपयोग करते है । 'जादूगार' मे इन्दुमती के पिता डा० श्रीधर पत से आनन्दराव का बीमारी के कारण परिचय व इन्दुमती की मा की आखो के इलाज

---

[1] मा० का० देशपाडे, 'खाडेकर : चरित्र आणि वाङ्मय', पृष्ठ २३१ ।

के लिये आनन्दराव द्वारा श्रीधर पंत का नाम सुझाना, 'दौलत' में अविनाश के अधीन काम करने वाले बिजली के फिटर का ठीक समय पर उस कोठरी के निकट पहुँचना, जिसमे मधुरा को वन्दी वना कर रखा गया था आदि, इसी प्रकार के प्रसंग है। असभवनीय व अविश्वसनीय घटनाओ का प्रयोग भी उनकी रचनाओ मे प्रचुर मात्रा मे हुआ है। ऊँची खिडकी पर से गिरने पर भी जानकी का जख्मी न होना (जादूगार) और 'दौलत' में मुसलमान गुंडे द्वारा निशाना वाधकर लम्वे फलक का चाकू मारने पर भी अविनाश का वच निकलना, ऐसे ही उदाहरण है। नायक या नायिका के पिता का वीमार पड़ना, अचानक तार या पत्र आना, नायक का अचानक यात्रा या नौकरी पर जाना, इत्यादि युक्तियो से उन्होने नायक-नायिका का विरह और इसी प्रकार के कृत्रिम उपायो से उनकी भेट करायी है। इन सव कृत्रिम साधनो को फडके के उपन्यासो मे देखकर ही विमल वर्वे ने लिखा है, "इन व्यक्तियो के जीवन की घटनाएँ स्वत न घट कर घटाई गई है। उपन्यासों मे इन घटाए गए योगायोगों की सख्या वहुत अधिक है।"[1]

हिन्दी मे प्रेमचन्द तथा प्रसाद से लेकर इलाचन्द्र जोशी तक संयोग का प्रयोग कर कथा को मनमाना मोड़ देते है। 'रगभूमि' मे सोफी माता-पिता से नाराज होकर घर से वाहर चली जाती है और सयोग देखिए कि जिस कोठी मे पहुचती है, वह उसकी सहपाठिनी इन्दु की निकलती है। 'कंकाल' मे किशोरी को जो महात्मा मिलता है, वह उसका वालसहचर ही है। श्रीनार्थसिह के 'जागरण' मे भी सदैव लेखक को इच्छानुसार दैवी सहायता अथवा हवाई जहाज़ वड़ी आसानी से उपलब्ध हो जाते है। वैसे तो प्रत्यक्ष जीवन मे भी सयोग एव विचित्र घटनाएँ घटती है, जिसके कारण कहा गया है "हिस्ट्री इज स्ट्रेन्जर दन फिक्शन' अर्थात् इतिहास कथा से भी अधिक विचित्र होता है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि मानव जीवन मे जो संयोग होते हैं, उन पर हमारा कोई अधिकार नही होता, जवकि उपन्यास का निर्माण मानव स्वयं करता है। अतः जिन सयोगो का वह प्रयोग करे, वे वास्तविक जीवन से उद्भूत होते दृष्टिगत होने चाहियें। ऐसा प्रतीत न हो कि इनकी योजना जान बूझकर जीवन की विपदाओ से जान वचाने के लिए की गई है।

कुछ लेखको ने कथा को मनोनुकूल मोड देने अथवा पात्रों की आगामी व्यवस्था मे अपने को असमर्थ पाने के कारण दुर्घटना, हत्या या आत्म-हत्या आदि अस्वाभाविक साधनो से काम लिया है। जीवन मे आकस्मिक घटनाएँ और दुर्घटनाएँ हो जाया करती है और वे कभी-कभी मानव की स्थिति मे क्रातिकारी परिवर्तन भी समुपस्थित कर देती है। यदि उपन्यासकार कही एकाध सभावित दुर्घटना का प्रयोग करे तो कोई विशेष दोष नही, परन्तु जहां दुर्घटनाओ का प्रयोग वहुत हो अथवा कहानी को निश्चित मोड़ देने के समय अन्य उपायों के अभाव में प्रयुक्त किया गया हो, वहां वह अवश्य कला की दृष्टि से विघातक प्रतीत होता है। हिन्दी मे प्रेमचन्द और इलाचन्द्र

---

[1] विमल वर्वे, "प्रो० ना० सी० फडके यान्च्या कादंबर्या",छंद : मे-जून १९५७ ई०,पृ० १७८।

जोशी तथा मराठी मे ना० सी० फडके इस दोष के लिए बदनाम है। यद्यपि 'सेवा-सदन' मे परिस्थिति-योजना द्वारा घटनाओ को आगे बढाया गया है और ये परिस्थितिया बडे स्वाभाविक ढग से पात्रो के कार्यव्यापारो द्वारा उत्पन्न होती है, जैसे अपने पति की सदेहशीलता और प्रतारणा तथा वकील साहब द्वारा निष्कासित होने पर ही सुमन वेश्या बनती है, तथापि अन्यत्र प्रेमचन्द जब अपने किसी पात्र के भावी जीवन की व्यवस्था नही कर पाते, तो वह उन्हे विश्व-नाटक के रगमच से ही हटा देते है। 'प्रेमाश्रम' मे विद्यावती, रानी गायत्री, ज्ञानशकर तथा सबसे अधिक लाला प्रभाशंकर के लडको—पद्म और तेज—की बलि इसीलिये दी गई है। 'गबन' मे जौहरा की कोई व्यवस्था न कर सकने के कारण उसे नदी मे डुबाया गया है। इलाचन्द्र जोशी ने, मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार होते हुए भी, अपनी रचनाओ मे ऐसी घटनाओ को स्थान दिया है, जो मनोविज्ञान के अनुकूल न होकर आकस्मिक दैववशात् घटी हुई-सी लगती है। आत्म-हत्या की ओर उनकी भी विशेष रुचि है, इसीलिए व्यर्थ आत्म-हत्याएँ कराई गई है। 'पर्दे की रानी' मे शीला और इन्द्रमोहन की हत्या कथानक को मनचाहा मोड देने के लिए ही की गई है। फडके ने यदि दुर्घटना के द्वारा आशा व विलास या गुलाब तथा अमलकांत की भेंट कराई है, तो गुलाब के पिता की आत्म-हत्या कराकर उन्होने गुलाब को अमलकात पर निर्भर रहने के लिए परिस्थिति निर्माण की है। 'माझा धर्म' की गुलशन, 'उजाडले पण सूर्य कुठे आहे' के जगन्नाथ एवं 'निरजन' मे निरजन की पत्नी की मृत्यु भी लेखक की उद्देश्यपूर्ति के साधन-मात्र हैं। ये सब कृत्रिम साधन हैं और केवल कथानक को इष्ट मोड़ देने के लिए प्रयुक्त होने के कारण सुसस्कृत पाठक के हृदय मे विरक्ति उत्पन्न करते हैं।

विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए कथानक को चाहे जहा और चाहे जैसा मोड़ देने का दोष दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे पाया जाता है। वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' तथा डा० केतकर के लगभग सभी उपन्यासो मे सिद्धात-चर्चा या लेखक के स्वमत प्रकटीकरण की उत्कट अभिलाषा ने अनावश्यक प्रसगो की योजना कराई है। 'ब्राह्मण कन्या' मे कालिन्दी को वेनेइस्रायल कुटुम्ब मे इसीलिए शरण लेते दिखाया गया है, ताकि लेखक उस समाज का वर्णन कर सके तथा हिन्दू-वेनेइस्रायल विवाह की इष्टता प्रतिपादित कर सके। इसी प्रकार 'विचक्षणा' में बाळोबा-कृपा का विवाह तथा पद्मनाभं श्रीरगाचार्य का आश्रम लेखक ने जान-बूझकर उपन्यास मे अपने विचार-प्रचार के लिए रखे है। हिन्दी मे प्रसाद जी को समाज के आडम्बर एव कुलीनता के मिथ्याभिमान का भडाफोड़ करना था। अत: उन्होने 'ककाल' की योजना उसी उद्देश्य को दृष्टि मे रख कर की। विजय देव-निरजन को अपमानित कर घर से निकालने मे पूर्ण समर्थ था, पर उसे तो 'कंकाल' होना था, अत लेखक ने किशोरी को काशी और विजय को घंटी के साथ मथुरा भेज दिया है। इस प्रकार यदि यशपाल जी ने 'देशद्रोही' मे उपन्यास-नायक खन्ना को रूस की प्रशसा कराने और साम्यवाद के प्रचार के लिए विभिन्न देशो मे तथा

विविध परिस्थितियों मे डाला है, तो इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' मे अवचेतन मन के मनोवैज्ञानिक सिद्धात-निरूपण के लिए कथा, परिस्थितियाँ, पात्र और उनके वार्तालाप तक चुने है। पारसनाथ को अपने अवचेतन मन की समस्याओ को सफलतापूर्वक निभाने के लिए बराबर अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती चली जाती है, जो साधारणत ससार मे सभव नही । कार्यकारण सबन्धो का स्वय सचालन न होकर, वे परसचालित से प्रतीत होते है। इन लेखको ने प्राचीन उपदेश-प्रधान कथाओ के समान अपने उपन्यासो का अन्त घटनाओ की स्वाभाविक परिणति के रूप मे न कराकर, अपने विशिष्ट सिद्धात या आदर्श के अनुरूप किया है। 'कर्मभूमि' के अन्त मे प्रेमचन्द ने नायक, उसकी पत्नी, मुस्लिम लडकी सकीना और भिखारिणी सभी को एक स्थान पर एकत्र कर तथा नायक को पिता के सम्मुख झुका कर, अमरकात और उसकी पत्नी का मेल कराया है तथा सकीना और अमरकात मे भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित करा कर न केवल कथा को सुखात बनाया है, अपितु तलाक को भी बचा दिया है क्योकि लेखक तलाक का विरोधी था। मराठी मे खाडेकर के 'हृदयाची हाक' मे अनेक पात्रो को विलायत भेजना इसी प्रकार कृत्रिम है।

कुछ उपन्यासो मे सुसगठितता, सुचारुता, सफाई तो अत्यत मोहक होती है, परन्तु पढने के उपरात ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक ने उपन्यास-रचना से पूर्व ही कथा का एक सुन्दर साँचा बना लिया था और लिखते समय कथा को उसी साचे मे ढाल दिया गया है। ऐसी रचना मे जीवन की उथल-पुथल या बेढगापन और उल्टे-सीधे मोड न होकर, उसे एक सरल गति एव निश्चित योजना के साथ प्रवाहित होता हुआ दिखाया जाता है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक ने कथा का आरभ, उसका विकास और अत सभी पहले से निश्चित करके लेखनी उठाई है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' इसी प्रकार की रचना है। मराठी मे फडके के उपन्यासो मे यह बात मिलती है । इन कथानको की सधी हुई कुशल पूर्व-योजना को देखकर पाठक मुग्ध तो होता है, परन्तु पढने के उपरात जब वह उस पर मनन करता है, तो उसके विश्वास को ठेस लगती है, क्योकि वास्तविक जीवन मे घटनाएँ इतनी क्रमबद्ध एवं सुचारु गति से नही घटती, जितनी इन उपन्यासो मे घटित होते दिखाई जाती है। ऐसे ही उपन्यासो को देखकर वर्जीनिया वूल्फ के निम्न शब्द याद आजाते है, "···वी सस्पेक्ट ए डाउट, ए स्पेज्म आफ रिवैलियन, एज़ दी पेजेज फिल दैमसैल्व्ज इन दी कस्टमरी वे, इज लाइफ लाइक दिस ? मस्ट नाविल्स बी लाइक दिस, लुक विदिन, एण्ड लाइफ, इट सीम्स, इज वेरी फार फ्राम लाइक दिस" अर्थात् जैसे-जैसे पन्ने रूढ पद्धति मे भरते चलते है, हमे सदेह होने लगता है तथा हमारा मन विद्रोह से ऐठने लगता है। क्या जीवन ऐसा ही है? क्या उपन्यास इसी प्रकार के होने चाहिये ? जरा गौर कीजिए, तो ज्ञात होगा कि जीवन इससे बहुत भिन्न है।

कथानक में गुम्फन-कौशल—एडविन म्योर के अनुसार शृखलाबद्ध घटनाएँ और वह आधार, जिसके द्वारा वे सम्मिलित की जाती है, कथानक है। सरल और

सुगम कथानक उन उपन्यासो मे पाया जाता है, जिनमे एक ही मुख्य पात्र के जीवन मे घटने वाली घटनाओ का क्रमवद्ध उल्लेख रहता है। उपन्यासो मे मुख्य पात्र के चारो ओर केन्द्रित घटना को प्रधान-कथा तथा मुख्य पात्र से सम्वद्ध घटना के आस-पास फिरने वाली अन्य पात्रो से सम्बद्ध घटनाओ को उपकथा या प्रासगिक कथा कहा जाता है। ऐसे उपन्यासो मे घटनाओ को शृखलावद्ध करने मे ही लेखक का कौशल निहित है। उपकथानक मुख्य-कथानक से एकरूप होना चाहिये। दोनो का कुशल गुम्फन आवश्यक तो है, पर यह गुम्फन कृत्रिम नही होना चाहिये, उसमे आतरिक एकता वनी रहनी चाहिये। सब उपकथानको का लक्ष्य एक होने तथा उन की एक दिशा मे प्रगति होने से ही उपन्यास मे आतरिक एकता सभव होती है। सब मिलकर कथानक एक ही इकाई हो। इसीलिए कहा गया है, "कथानक के मूल उद्देश्य के लिए जिन घटनाओ व प्रसगो का उपयोग न हो, उन्हे स्थान नही मिलना चाहिये।"[1]

कथानक-रचना की दृष्टि से उपन्यासो के दो भेद किये गए है—असम्बद्ध कथावस्तुयुक्त उपन्यास, तथा सम्वद्ध कथावस्तुयुक्त उपन्यास। सम्बद्ध कथावस्तुयुक्त उपन्यास मे आधिकारिक कथा के अतिरिक्त दो-चार उपकथाएँ होती है और लेखक का रचना-कौशल इस बात पर निर्भर होता है कि उसने उपकथानको को एक दूसरे से तथा उन सबको मुख्य कथानक से कितना और किस पटुता से शृखलावद्ध किया है। उपकथानक का महत्व समानता या विरोध दिखाकर मुख्य कथानक का रहस्य खोलने मे है। जव उपकथानक आधिकारिक कथा को उठाव देने या उसकी सहायता करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे सहायक-वस्तु कहा जाता है। यह सहायक-वस्तु आदि से अन्त तक मुख्य कथावस्तु से घनिष्ट सबध रखती है और मुख्य कथावस्तु की पूर्ति करती है। उसके तन्तु आधिकारिक कथा के तन्तुओ से लिपटते चलते है तथा उसके मर्म को स्पष्ट करने और उसके विकास मे सहायक होते है। उसकी समस्या मुख्य कथा की समस्या के निकट होती है। इनमे से कुछ मे उपकथानक ऐसा होता है, जिसका अपना निजी महत्व कुछ नही होता, वह केवल मुख्य कथा को उठाव देने के लिए ही नियोजित किया जाता है। उदाहरण के लिए, मराठी मे 'वधनाच्या पलीकडे' मे अरुणकुमार व शांति की प्रणय-कथा केवल प्रभाकर-मैना की मुख्य कथा को उठाव देने का ही साधन है। इसी प्रकार फडके के 'जादूगार' मे ननू-जानकीवाई तथा श्रीवरपत-ताई के दो उपकथानक आनदराव-इदुमती के मुख्य कथानक के सहायक हैं, क्योकि इन दोनो मे नायिका के पुरुषो के प्रति एक विशिष्ट दुराग्रह को ही कथा का आधार वनाया गया है, जो मुख्य कथा का भी विषय है। हिन्दी मे प्रेमचन्द के 'प्रतिज्ञा' मे पूर्णा की कहानी प्रधान कहानी की समस्या के अधिक निकट है, क्योकि दोनो मे समस्या का सवध विधवा से है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुण्डार' मे मुख्य कथा खगारो और बुन्देलो के पारस्परिक मानापमान के

---

[1] ऐलिजाबेथ नीत्से, 'दी क्रिटिसिज्म आफ लिटरेचर', पृष्ठ २३५।

कारण होने वाले युद्ध और खगारो के नाश से सबधित है, पर दो-तीन प्रासगिक कथाओ, तारा-दिवाकर, मानवती-अग्निदत्त, नागदेव-हेमवती की प्रेम-कथाओ ने कथावस्तु मे और भी अधिक आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। अग्निदत्त और मानवती का प्रेम, उनकी असफलता, अग्निदत्त का नाग के हाथो अपमान ही खगारो के नाश की पहिली भूमिका बाधता है, जो उपन्यास का मुख्य विषय है। इन उपकथाओ का विषय भी मुख्य वस्तु के सदृश है तथा वे उसका विकास भी करती हैं।

कुछ प्रासगिक कथाएँ मुख्य कथा के विकास मे एव उसे उठाव देने मे तो सहायक होती ही है, साथ ही उनका अपना निजी महत्त्व भी होता है। हरिभाऊ आप्टे के 'उष काल' मे नाना साहब और उसके पिता रगराव अप्पा, रणदुल्ला खा, प्रतापराव आदि से सम्बन्धित कथानक मुख्य कथानक (सुल्तानगढ विजय) को तो उठाव देते ही है, साथ ही उनके द्वारा पाठक को तत्कालीन, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो का पूर्ण ज्ञान भी हो जाता है। हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो की प्रासगिक प्रणय-कथाएँ जैसे 'झासी की रानी' मे जुही-तात्या टोपे, मोतीबाई-खुदाबख्श, रघुनाथसिह और मुन्दर, नारायण शास्त्री और छोटी भगिन, झलकारी-पूरन कोरी की कथा आदि प्राय. इसी प्रकार की है। वे बुन्देलखड की रीतिनीति, लोक-सस्कृति आदि पर प्रकाश डालती है और मुख्य कथा के विकास मे सहायक होती है। अपने स्वतत्र रूप मे रमणीय होते हुए भी वे मुख्य कथा से उखड़ी हुई प्रतीत नही होती, बल्कि कही-कही तो उनके बिना मुख्य कथा मे उभार आना भी कठिन है। प्रेमचंद के 'गबन' मे मुख्य कथा के विकास और पूर्णत्व के निमित तो रतन, जोहरा और देवीदीन की कहानियाँ नियोजित की ही गई है, साथ ही उनका अपना भी महत्व है। रतन की कथा युवती विधवा की आदर्श कथा है तो जोहरा की वेश्या-जीवन के उत्थान की। कुछ उपन्यासो मे प्रासगिक कथा मुख्य कथावस्तु से केवल कभी-कभी टकराती है और अपना स्वतत्र अस्तित्व रखती है, जैसे, 'मृगनयनी' मे माडू के सुल्तान गयासुद्दीन की कथा, और कुछ मे न तो वह मुख्य कथा से सम्पर्क मे ही आती है और न उससे मुख्य कथा को किसी प्रकार की सहायता ही मिलती है। 'मृगनयनी' मे नासिरुद्दीन प्रसग तथा माडखोळकर के 'मुखवटे' मे मोहन व रोज के विवाह-पूर्व के चोरी-चोरी प्रेम एव विवाहोत्तर पशुतुल्य कामुकता के प्रसग का मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नही है। केवल पाठको को रिझाने या अपनी वृत्ति को सन्तोष देने के लिए ही लेखक ने इन उपकथानको का समावेश किया प्रतीत होता है।

कभी-कभी उपन्यासकार किसी ऐसे कथासूत्र को प्रधानता अथवा अधिक आकर्षण प्रदान कर देता है, जिससे मुख्य वस्तु हतप्रभ हो जाती है। 'मृगनयनी' मे अटल और लाखी की कथा मे इतनी तीव्रता, आकर्षण व वेधकता है कि उसके सम्मुख मृगनयनी और मानसिह की कथा मद्धिम पड़ जाती है। रचना-कौशल की दृष्टि से यह एक दोष है।

अधिकारी वस्तु के विरुद्ध खडी होने वाली वस्तु, प्रतिवस्तु और उसकी सहायक वस्तु, सहायक प्रतिवस्तु कहलाती है। 'मृगनयनी' मे सिकन्दर लोदी की कहानी प्रतिवस्तु और राजसिंह-कला से सम्बन्धित उपकथानक सहायक प्रतिवस्तु है। मराठी के दिघे लिखित उपन्यास 'पाणकळा' को लें, तो रभाजी और उसके साथियो की कथा प्रतिवस्तु और सकर्या नामक डाकू और भीलो की कहानी सहायक प्रतिवस्तु मानी जावेगी। इनके अतिरिक्त नाटकीय पताका के समान कुछ छोटे-छोटे कथासूत्र भी होते है। "ये टूटने वाले तारों की भाँति चमककर अथवा रास्ते मे से होकर विना टकराए निकल जाते हैं।"[1] 'मृगनयनी' मे नट-कथा और बघर्रा-वृत्त तथा 'उप.काल' मे बाबा के वन्दी होने एव मुक्ति की कथा इसके उदाहरण हैं।

उपर्युक्त पक्तियो मे हमने बताया कि सम्बद्ध-कथावस्तु-युक्त उपन्यास मे किस किस प्रकार के प्रासगिक वृत्त हो सकते है और उनका आधिकारिक वस्तु से क्या और कैसा सम्बन्ध होता है। अब हमे देखना है कि मराठी तथा हिन्दी के उपन्यास-लेखको ने इन उपकथानको को आपस मे तथा मुख्य-कथानक के साथ किस कौशल और साधनो की सहायता से गुम्फित किया है। कुछ उपन्यास घटना-प्रधान होते है। उनकी कथावस्तु मे घटनाओ की बहुलता होती है, यद्यपि उनके कर्ता और भोक्ता किसी न किसी प्रकार, कभी न कभी एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। उनके उपकथानकों का एक दूसरे से सम्बन्ध घटना-चक्र द्वारा होता है। प्रसाद जी के 'कंकाल' को लीजिए, उसमे दो मुख्य कथाएँ हैं। देवनिरंजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की दूसरी। इसके भीतर तीन उपकथाएँ हैं—घटी-विजय, बाथम-लतिका, और गाला की।। लेखक ने दो मुख्य कथाओ को, उनका क्रमश. विकास करते हुए, अत्यंत सावधानी से एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है। जैसे एक कुशल चित्रकार दो रंगो को मिलाता है, वैसे ही ये दोनो कथाएँ मिलाई गई हैं। साथ ही तीनो उपकथाओ को भी एक दूसरे के साथ और दोनों मुख्य कथाओ के साथ इस प्रकार गुम्फित किया गया है कि वे एक शरीर के ही विभिन्न अग हो गई है। परन्तु पात्रों के रहस्यमय सम्बन्धो और कथानक के निश्चित मार्ग पर सीधे-सीधे न चलकर पगडंडियो पर उलझे रूप मे विकसित होने के परिणामस्वरूप सारी कथा एक कथानक का विकास नही जान पड़ती। प्रासगिक कथाए सख्या मे अधिक होने के साथ ही विस्तृत भी है। दूसरे, आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तुओ का निर्णय करना भी कुछ कठिन है। कई का परिचय पात्र के मुख से पूर्व-कथा के रूप मे पात्र के द्वारा ही प्राप्त होता है। अत इनका पारस्परिक सम्बन्ध घटना-चक्र से ही हुआ है। वृन्दावनलाल वर्मा के लगभग सभी उपन्यास घटना-प्रधान है। उनमे घटनाएँ इधर-उधर बिखरी रहती हैं, पर वे बड़े कौशल से उन्हे एक सूत्र मे पिरो लेते हैं, उनका तारतम्य कही शिथिल नहीं होने पाता, एक घटना मे से दूसरी घटना स्वय ही निकलती चली जाती है। मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के अनेक उपन्यासों मे घटनाओ के द्वारा एक कथानक को

---

[1] डा० सत्येन्द्र, 'मृगनयनी में कला और कृतित्व', पृष्ठ ३६।

दूसरे कथानक से सम्बद्ध किया गया है। 'उष काल' मे नाना साहेव, और प्रतापराव शिवाजी से इसी कारण नही मिलते कि वे दोनों मित्र थे, वे इसलिए भी मिलते हैं कि घटनाएँ उन्हे अपना-अपना राज्य त्याग कर शिवाजी से मिलने को वाध्य करती हैं। घटनाचक्र के कारण ही रणदुल्ला खा और नाना के उपकथानकों का सगुम्फन हुआ है।

कुछ रचनाओ मे कथानक का केन्द्र-विन्दु एक पात्र—नायक या नायिका—होता है। घटनाएँ उसी से सम्वन्ध रखती है और उसी सम्वन्ध के कारण विकसित होती हैं। आधिकारिक और प्रासगिक कथाओ को भी वही गुम्फित करता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' मे आधिकारिक कथा सुमन की है और प्रासगिक कथा शान्ता की। इन दोनो का सम्वन्ध-सूत्र सुमन ही है। शान्ता की कथा से सम्वन्वित घटनाओ की प्रगति सुमन से उसके सम्वन्ध पर ही निर्भर है। यदि सुमन वेश्या न होती और शाता उसकी वहन न होती, तो शान्ता एव सदन का विवाह हो जाता और कथानक मे सघर्ष-योजना न हो पाती। वे दोनो कथाएँ एक दूसरे की सहायक हैं और उन्हे एक दूसरे से विच्छिन्न नही किया जा सकता, क्योकि वस्तुविकास इनके सम्वन्ध की नित्यता पर निर्भर है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' मे ज्ञानशकर की मुख्य कथा का सम्वन्ध अन्य सहायक कथाओ से ज्ञानशकर द्वारा ही स्थापित होता है। वह प्रेमशकर का भाई है, कमलानन्द का दामाद, प्रभाशकर का भतीजा और लखनपुर का जमीदार। इन्ही सम्वन्धो के कारण उसकी कथा सहायक-कथाओ से प्रभावित व अनुस्यूत है तथा उनकी पृथक् प्रतीति नही होती। वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा की पद्मिनी' का सारा घटनाचक्र कुमुद को लेकर ही निर्मित हुआ है। कुमुद के आसपास ही घटनाएँ चक्कर काटती हैं और उसी के कारण उनका परस्पर सम्वन्ध जुडा रहता है।

मराठी मे इस प्रकार का कथा-शिल्प वामन मल्हार जोशी के 'इदुकाळे सरला भोळे', फडके के 'प्रवासी' आदि मे पाया जाता है। प्रथम उपन्यास मे कथानक के सूत्र विनायकराव के चारो ओर गुम्फित हैं, तो दूसरे मे राजाभाऊ के। विनायकराव के इदुकाळे, नारायणराव, चिंगी इत्यादि से सम्वन्वो के कारण ही इन पात्रो से सम्वद्ध उपकथानक मुख्य कथानक से जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार राजाभाऊ के कारण ही 'प्रवासी' की तीन उपकथाएँ, जिनका सम्वन्ध क्रमश: चचला, उमा एवं नीलाम्बरी नामक तीन स्त्रियो से है, मुख्य कथा से जुडी हुई है।

उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से उपर्युक्त उपन्यासो से नितान्त भिन्न होने पर भी कुछ उपन्यासो मे नायक या कोई अन्य पात्र उसकी विभिन्न कथाओ को एक सूत्र मे गुम्फित करता है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवा घोडा' शिल्प की दृष्टि से हिन्दी मे एक अभिनव प्रयोग है। इसका शिल्प 'सेवासदन' या 'प्रेमाश्रम' से नितान्त भिन्न है, क्योकि इसको लेखक ने छ कहानियों के रूप मे लिखा है, जो परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी वडे कौशल से एक दूसरे से जोड़ी गई है। उनको जोडने वाला व्यक्ति है माणिकमुल्ला जो सारी कहानियो मे अपने व्यक्तित्व द्वारा औपन्यासिक एकसूत्रत

और सम्बद्धता स्थापित करता है। अन्य पात्र भी एक से अधिक कहानियो मे बार-बार आकर उस सम्बन्ध सूत्र को दृढ करने मे सहायता पहुँचाते है। मराठी मे इसी प्रकार की रचना खाडेकर का 'पहिलें प्रेम' है। विभिन्न कथाओ के मोहक सूत्रो मे निर्मित इस उपन्यास की प्रत्येक कथा अपने मे स्वतत्र भी है और उपन्यास का एक प्रकरण भी। कुछ पात्रो के सतत सूत्रो द्वारा तथा कुछ के बीच-बीच मे झाकने वाले सूत्रो के द्वारा छोटी-छोटी कथाओ को एक शृखला मे बाधा गया है। अत. इन उपन्यासो मे यद्यपि कथा-निवेदन का शिल्प नितान्त अभिनव है, तथापि विभिन्न, स्वतत्र से लगने वाले कथानको को आपस मे बाधने का कार्य एक या अधिक पात्र ही करते है। 'सेवासदन', 'प्रवासी' आदि उपन्यासो से इनकी भिन्नता यह है कि उनमे एक प्रधान कथा के साथ दो-तीन उपकथानक होते थे, जबकि इन रचनाओ मे सभी कथानक स्वतन्त्र होते हैं। इनमे एक को मुख्य और अन्य को प्रासगिक नही कहा जा सकता।

यदि कुछ लेखक उपन्यास के कथानक को अनुस्यूत करने के लिए अस्वाभाविक और अद्भुत साधनो का आश्रय लेते है, तो कुछ स्वाभाविक और सरल ढग से घटनाओ मे तारतम्य स्थापित करते है। अस्वाभाविक घटना-क्रम से कथानक की प्रभावान्विति बहुत कम हो जाती है। कथाकार का कौशल इस बात मे है कि उपकथानको को जहाँ भी मुख्य कथानक से सम्बद्ध किया गया हो, वहाँ भद्दा जोड न मालूम पडे। वह प्रसगो को इस प्रकार प्रमुख कथा के साथ सूत्रबद्ध करे कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता का लोप हो जाय और कथा-विकास के स्वाभाविक क्रम के अन्तर्गत उनकी स्वाभाविक व समुचित योजना हो जाय। हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासो के कथानक अत्यन्त उलझे हुए एव विस्तारपूर्ण होते है, तथापि जिस कौशल से वे कथा की कडी से कडी मिलाते है, उसे देखकर आश्चर्य हुए बिना नही रहता। कथानक के सूत्रो को उलझाने के लिए जिस कौशल और कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है, उससे कही अधिक कौशल उन उलझे और फैले हुए सूत्रो को खोलने और समेटने के लिए अपेक्षित है। हरिभाऊ आप्टे का इस कौशल पर पूर्ण अधिकार था। भिगारे ने कहा है, "मूल कथानक से जोडने के लिए वह एक, दो और कभी-कभी तीन उपकथानक भी निर्माण करते है और मूल कथा से उनको इस कौशल से एकजीव एव सुशृखलित करते है कि उनकी रचना-निपुणता पर अत्यधिक आश्चर्य होता है।"[1] इस कला के प्रत्यक्ष दर्शन हमे उनके 'उष काल' मे होते है। हरिभाऊ के उपन्यासो मे विस्तार के कारण कही-कही रचना-शिल्प मे दोष आगया है, पर ना० सी० फडके की रचनाएँ विस्तार दोष से भी मुक्त है। उनके कथा-शिल्प मे इतनी सफाई, प्राजलता एव कौशल है कि सबने मुक्त-कण्ठ से उनकी कलात्मकता की प्रशसा की है। जिस प्रकार हार का डोरा नही दिखता, केवल सूत्रबद्ध मणि दिखाई पडते है, उसी प्रकार कथा के

---

[1] ल० म० भिगारे, 'हरिभाऊ आप्टें', पृष्ठ २२६।

विविध अवयव इस कौशल से आपस मे सूत्रवद्ध किये जाते है कि उनमे भद्दे जोड कही नही दिखते ।

इसी प्रकार का कौशल हमे दिघे मे मिलता है । उनके 'पाण कळा' नामक उपन्यास को लीजिए । उसमे मुख्य कथा है भुजवा व उसकी पुत्री सोनी की (१) ; एक सहायक कथा है गहिना, उसकी पत्नी पारु व उसके सम्वन्धी आनन्दराव की (२) ; रभाजी पाटिल और सकर्या डाकू की कथा प्रतिवस्तु कही जा सकती है (३) क्योकि रंभाजी और उसके साथी भुजवा, गहिना आदि के प्रारम्भ से ही शोषक एव शत्रु हो जाते हैं । इनके अतिरिक्त रभाजी के पुत्र राया और सोनी (४), राया और रैना (५) तथा शिवराम फौजदार (६) और राजमल साहूकार (७) की भी कथाएँ हैं। लेखक ने इन सातो कथाओ को एकसूत्र मे वडे कौशल से गुम्फित किया है । कथा नं० १ व २ साथ-साथ चलती है । न० २ कथा न० १ के नायक भुजवा के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करती है, क्योकि गहिना की पत्नी पारु को रभाजी पाटिल से वचाने का साहस एव आत्मिक वल पाठक के हृदय मे भुजवा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है । कथा नं० ३ ही प्रतिवस्तु को कथा न १ से जोडती है, क्योकि रंभाजी पाटिल की कुदृष्टि से पारु को वचाने के लिए ही भुजवा पर अनेक आपत्तियाँ आती है । सकर्या डाकू की कथा का सम्वन्ध भी रभाजी से उसके प्रारम्भ मे सहायक होने और वाद मे घोर शत्रु वन जाने के कारण, कथा नं १ से प्रारम्भ मे शत्रु पर वाद मे भुजवा की उदारता के कारण मित्र वन जाने के हेतु, तथा कथा न० ५ से इसलिए जुड गया है क्योंकि रैना उसकी पुत्री है और वह रैना के राया से पर-जाति के कारण विवाह का विरोधी है । रभाजी पाटिल की कथा भी न० १ व न० २ से शोषक और शोषित के सम्वन्धो के कारण, न० ४ और ५ से, क्योकि इन दोनो मे मुख्य पात्र उसका पुत्र है, सम्वद्ध है । कथा न० ६ और ७ पताका है । फिर भी नं० ६ का सम्वन्ध सोनी के कारण कथा न० ४ और कथा न० १ से हो जाता है । कथा न० ७ तो नं० १, न० २ व न० ५ से संवधित है ही क्योकि साहूकार की हत्या के झूठे अभियोग के कारण ही भुजवा, गहिना एव आनन्दराव पकडे जाते है तथा उसी के मुकदमे मे राया की साक्ष से वे लोग छूटते हैं । कथा न० ४ और न० ५ का भी पारस्परिक घनिष्ट सवध है क्योकि प्रथम तो राया दोनो मे मौजूद है और दूसरे राया और सोनी शिवराम की हत्या के वाद रैना की शरण मे जाते है और वहा सोनी के प्रति प्रारम्भिक असूया भाव धीरे-धीरे मित्रता मे परिणत हो जाता है । इस प्रकार लेखक ने इस उपन्यास की कथाओं को वडे कौशल से एक दूसरे के साथ गुम्फित किया है और कही भी न तो अस्वाभाविक अद्भुत घटनाओ का आश्रय लिया गया है और न कथानक मे भद्दे जोड़ ही पडे हैं ।

हिन्दी मे यह रचना-कौशल प्रेमचन्द जी के 'कर्मभूमि', प्रसाद के 'तितली', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' आदि मे देखा जा सकता है । इन उपन्यासो का सस्थान (स्ट्रक्चर) अत्यन्त सुगठित है । उनकी एक-एक कड़ी सुनिश्चित एव एक दूसरे

से सम्बद्ध है। 'कर्मभूमि' मे मुख्य कथा के पूर्णत्व के निमित्त नियोजित गौण कथाएँ तो उससे पूर्णरूपेण अनुस्यूत हैं ही, नगर और ग्राम की कथाएँ भी 'गोदान' के समान पृथक-पृथक न होकर अमरकान्त, सलीम, मुन्नी द्वारा एक दूसरे से यथेष्ट दृढता के साथ सम्बद्ध की गई है। इसी प्रकार 'तितली' मे तितली और मधुबन की कथा को ग्राम-सगठन मे सलग्न इन्द्रदेव-शैला की कहानी से इस दृढता से ग्रथित कर दिया है कि वे अलग-अलग प्रतीत नही होती। इसमे उपकथाएँ हैं ही नही, केवल शैला के माता-पिता जैन-स्मिथ की कथा है और वह समृति रूप मे उद्घाटित होने के कारण मुख्य कथा का ही अग बन गई है।

असम्बद्ध कथावस्तुयुक्त उपन्यासो मे कथा के सूत्र बिखरे होते है और उन्हे गुम्फित करने या एकसूत्र मे पिरोने का प्रयास लेखक नही करता। कभी-कभी न चाहते हुए भी, घटनाओ के घटाटोप के कारण कथानक मे विशृखलता और असम्बद्धता आजाती है। प्रेमचन्द के 'रगभूमि' मे अगणित घटनाओ की योजना की गई है, पर लेखक उन्हे नियत्रण मे नहीं रख पाया है, वे बिखर गई हैं, उनके भार से कथानक वोझिल हो गया है और आधिकारिक वस्तु प्रासगिक वस्तु के भार से दब गई है। परन्तु वस्तुत क्या ये दोष है? निस्सन्देह वे आलोचक, जिनके मानदड पुराने है और जो उसमे एक-कथा वाली रचनाओ की-सी संगठन-कुशलता को न देखकर नाक-भौं सिकोडते है, भ्रम मे है। वे लेखक के तात्पर्य को समझे विना ही उसकी रचना की आलोचना करने लग जाते है। 'रगभूमि' मे टालस्टाय के 'वार एण्ड पीस' के समान एक देश के समाज की सम्पूर्णता को गाथाबद्ध करने का प्रयास किया गया है। जिस उपन्यास का चित्र-फलक (कैनवस) इतना विशाल हो, उसमे अनेक कथासूत्रो का आजाना अनिवार्य है। ऐसी कृति मे लेखक कथासूत्रो को गुम्फित करने की अपेक्षा उद्देश्य-प्रतिष्ठा की ओर अधिक ध्यान देता है। इस दृष्टि से 'रगभूमि' को देखने पर हम उसे अकुशल रचना नही कह सकते। यदि 'वार एण्ड पीस' अपनी विशृखलता होते हुए भी संसार की महान कथा-कृतियो मे परिगणित हो सकता है, तो फिर 'रगभूमि' के विषय मे यह शका क्यो, जबकि लेखक ने वस्तु-विकास के तीन केन्द्रो—पाण्डेपुर, काशी और उदयपुर को विनय-सोफिया की कथा द्वारा सम्बद्ध भी करा दिया है।

'कायाकल्प' मे अवश्य छ कथा-सूत्रो के कारण कथासगठन उखडा-पुखडा-सा हो गया है। मुशी बज्रधर का सगीत-प्रेम, लौंगी द्वारा धूर्त ज्योतिषी की दुर्गति आदि अनावश्यक प्रसगो के कारण कथानक का सप्रसार अवश्य हुआ है, किन्तु वस्तु-सगठन शिथिल और विशृखलित हो गया है। इसमे समाज के विशद चित्रण का भी प्रयास नही है। अत वह दोषपूर्ण कथा सगठन के अभियोग से मुक्त नही हो सकता।

मराठी मे हरिभाऊ के उपन्यास घटना-प्रधान है। उनका विस्तार प्रेमचन्द के उपन्यासो के समान है और उनमे कथानक पर्याप्त उलझे हुए होते हैं। साथ ही उनका प्रकाशन पुस्तक रूप मे न होकर 'करमणूक' नामक पत्रिका मे धारावाहिक उपन्यास के

रूप मे प्रति सप्ताह होता था। उपन्यास की कोई पूर्व रूपरेखा वह नही खीचते थे। उपन्यास लिखने बैठने पर जैसे-जैसे पात्र उन्हे सूझते थे, वैसे-वैसे पात्रो को वे अपनी रचना मे स्थान देते चलते थे और 'करमणूक' पत्र के स्तम्भों को भरने के लिए जिस प्रकार भी कथानक बढ सकता था, वैसे कथानक-विस्तार करने की चेष्टा करते थे। इन सब कारणो से उनके उपन्यासो मे विशृखलता आजाना स्वाभाविक था। इसी को देखकर कुसुमावती जी ने लिखा है, "कथानक की विशृखलता, यह हरिनारायण का लोकविदित दोप है।"[1] विषयो की अधिकता के कारण ही माडखोळकर के 'मुक्तात्मा' में अव्यवस्थित कथानक का दोष आगया है। एक असफल प्रणय-कथा, महाराष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तो का ऊहापोह, लब्धप्रतिष्ठ नेताओ पर आक्षेप करने का प्रयत्न, स्त्री-शिक्षण, सह-शिक्षण आदि की चर्चा—इन सबका समावेश करने के प्रयत्न के परिणामस्वरूप उपन्यास मे केन्द्र-विन्दु का अभाव पद-पद पर खटकता है।

किसी विषय पर खुलकर और जमकर कहने की प्रवृत्ति भी उपन्यास मे विशृखलता उत्पन्न कर देती है। हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द और चतुरसेन शास्त्री तथा मराठी मे हरिभाऊ, वामन मल्हार जोशी और डा० केतकर मे यह प्रवृति वहुत अधिक मिलती है। किस वात को कितना विस्तार दिया जाय, इस पर दृष्टि न रहने से इनके उपन्यासो मे घटनाओ का तारतम्य अनेक स्थलो पर विशृखल हो उठा है। गौण प्रसग भी वर्णन के प्रवाह मे अपना एक विशिष्ट स्थान वना लेते हैं और मूल वस्तु वहुत पीछे रह जाती है।

कुछ असम्वद्ध कथायुक्त उपन्यासो मे, जिन्हे Panoramic novel कहा गया है, विशाल चित्रफलक चुनने के कारण लेखक दो या अधिक समानान्तर कथाओ को एक साथ चलाता है, पर उनके सम्बन्ध-सूत्र अत्यन्त क्षीण होते हैं। जो कुछ अन्विति होती है, वह किसी ऐसे पात्र के द्वारा, जिसका सम्बन्ध प्रत्येक कथा से थोडा वहुत होता है। 'गोदान' मे एव गाँव की कथा है और दूसरी नगर की। दोनो समानान्तर चलती है और उनकी सम्वन्ध-सुदृढता का प्रयत्न नही किया गया है, जिससे कथा मे प्रभाव की अन्विति नही हो पाई है। दोनो कथानको को सूत्रवद्ध करने की कड़ी रायसाहव है, परन्तु यह कडी वड़ी दुर्वल है। आपस मे कोई निसर्ग सबध न होने के कारण दोनो कहानियाँ स्पष्टत चिपकाकर रखी हुई-सी जान पडती है। इसलिए नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है, "गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बडे मकान के दो खडो मे रहने वाले दो परिवारो के समान हैं, जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से वहुत कम सम्पर्क है। वे कभी-कभी आते-जाते मिल लेते है, और कभी-कभी किसी वात पर झगडा भी कर लेते है; परन्तु न तो उनके मिलने मे और न झगडने मे ही कोई ऐसा सबध स्थापित होता है, जिसे स्थायी कहा जा

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' : प्रथम भाग, पृष्ठ ८२।

सके ।"[1] उनके अन्य उपन्यासो मे भी प्राय. दो या अधिक स्वतत्र कथानको की सृष्टि की गई है, जिसमे कही एक का आधार समाज और दूसरे का राजनीति है, तो कही विभिन्न कथाओ मे समाज के विभिन्न वर्ग, और उनमे कम से कम बाह्य दृष्टि से परस्पर कोई घनिष्ट सवध नही होता । वस्तुत जिन लेखको ने एक ही उपन्यास मे विभिन्न वर्गो का समावेश किया है, उन्होने इसी प्रणाली को अपनाया है । उदाहरण के लिए टालस्टाय, विक्टर ह्यूगो तथा गोर्की लिए जा सकते है। कुछ लोगो को हिन्दी के 'गोदान' और 'रगभूमि', मराठी के 'माझे रामायण', रूसी भाषा के 'वार एण्ड पीस' के वस्तु-सगठन मे भले ही शिथिलता दृष्टिगत हो, पर जीवन के बहुमुखी चित्रण की अपेक्षा करने वालो को यह कथा-शैली दोषपूर्ण नही प्रतीत होती ।

कुछ उपन्यास ऐसे है, जिनमे चित्रफलक विस्तीर्ण न होते हुए भी प्रभावान्विति का अभाव है, और यदि कुछ अन्विति है, तो केवल इसलिए कि सब घटनाएँ नायक से अनुस्यूत है । सियारामशरण का 'अन्तिम आकाक्षा', चतुरसेन शास्त्री का 'आत्मदाह', किशोरीलाल गोस्वामी के प्राय. सभी उपन्यास तथा मराठी मे डा० केतकर के उपन्यास इसी कोटि मे आते हैं । 'आशावादी' मे ब्रह्मगिरि नामक पात्र उपन्यास का सूत्र-सचालक है । उनके तत्वज्ञ होने एव विविध प्रदेशो की यात्रा करने के कारण, लेखक ने न केवल उनसे समाज-चर्चा एव ज्ञान की बाते ही कराई है, अपितु उपन्यास के अन्य भागो को भी उनके द्वारा सम्बद्ध कराया है । सालिसिटर खरे, बैरिस्टर मोरे व सुतारे, कपिला, लालनाथ-नदिका आदि पात्रो की कथाएँ ब्रह्मगिरि द्वारा ही थोड़ी बहुत अन्विति पाती है, क्योकि उनका सबध ब्रह्मगिरि से किसी न किसी प्रकार जोडा गया है । कोई उन्हे व्याख्यान देने, कोई अपने विचार सुनाने और कोई किसी समस्या को सुलझाने के लिए उन्हे बुलाता है और कथाओ के सूत्र नाम-भर को उनके द्वारा सूत्रबद्ध हो जाते हैं । इस पर भी बहुत से कथानक तो ब्रह्मगिरि के सूत्र द्वारा भी गुम्फित नही हो पाये है, जैसे परमानद-पद्मावती, अलकनदा, विश्वामित्र-विहगमा आदि की कथाएँ । इसी प्रकार का विश्रृखलित कथा-सगठन उनके 'भटक्या' का है, जिसको देखकर डा० गोखले ने लिखा है, "केन्द्रीय विषय से केतकर ने मनचाहे ज्ञान, कथाओ व पात्रो को चिपका दिया है । इस चिपकाने मे अन्योन्याश्रय या पूर्यपूरक भाव नही है ।"[2] भले ही जिस उद्देश्य को सामने रखकर ये उपन्यास लिखे गए थे, उसके कारण कुछ विद्वान उनके इस शिल्प-दोष को क्षम्य माने, परन्तु उपन्यास-कला की दृष्टि से वे इस दोष से मुक्त नही हो सकते ।

इससे कुछ भिन्न पद्धति द्वारा कथानको का गुम्फन उन उपन्यासो मे पाया जाता है, जिनमे अन्विति एक पात्र के स्थान पर कई पात्रो के द्वारा कराने की चेष्टा होती है । कथा-सूत्र परस्पर गुम्फित न होते हुए भी केवल एक कथा के पात्रो का दूसरे कथानक के पात्रो से मिलन ही दोनो कथानको के बीच सम्बन्ध स्थापित करता

---

[1] नददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ १४८ ।

[2] डा० द० न० गोखले, 'डा० केतकराच्चा कादंबर्या', पृ० ४४ ।

है। उदाहरणार्थ, हरिनारायण आप्टे के 'भयंकर दिव्य' मे प्रो० डडी व काकासाहेब की कथाएँ एक दूसरे से बिल्कुल असम्बद्ध है। उनमे यदि कोई सम्बन्ध है, तो इतना ही कि बीच-बीच मे एक कथा के पात्र दूसरी कथा के पात्रो से मिलते और सम्पर्क मे आते है। चतुरसेन शास्त्री के 'अमर अभिलाषा' मे उपन्यास की भिन्न-भिन्न कहानियो मे कोई नैसर्गिक सबध नही है, प्रत्येक कहानी स्वतन्त्र है। लेखक ने जो सबध स्थापित करने का प्रयत्न किया है, वह बडा क्षीण है। भगवती और नारायणी बहने हैं और कुमुद तथा मालती सखियाँ। इसी सम्बन्ध को लेकर उनकी कहानियाँ परस्पर सम्बधित कही जा सकती है। इसी प्रकार प्रकाश के एक ओर कुमुद के ममेरे भाई होने और दूसरी ओर सुशीला की कहानी के प्रमुख पात्र होने से, सुशीला और कुमुद की कहानियो मे सबध स्थापित किया गया है। स्पष्ट है कि सारे सबध बाह्य हैं, आन्तरिक नही। इसी से प्रभाव की पूर्णता नष्ट हो गई है। कुछ उपन्यासो मे तो इस क्षीण सम्बन्ध-सूत्र का भी अभाव मिलता है। वोकील का एक उपन्यास है 'चौदा एप्रिल'। उसमे विभिन्न व्यवसाय के व्यक्ति बम्बई मे विभिन्न कारणो से विभिन्न कार्यो के लिए आते है और एक ही स्थान पर उतरते है। उनमे से प्रत्येक तेरह अप्रैल को जाना चाहते हुए भी किसी न किसी कारण से नही जा पाता और अगले दिन विस्फोट से भवन का ध्वस होने पर सब का अत हो जाता है। यहाँ विभिन्न व्यक्तियो का जीवन एक दूसरे से अलिप्त व स्वतत्र है। केवल सयोग से सब एकत्र होते है और उनका एक साथ अत होता है—इतना ही उनमे सम्बन्ध है। अत कथानक मे आन्तरिक एकता का नितान्त अभाव है। वस्तुतः इस उपन्यास का उद्देश्य ही साधारण उपन्यासों से भिन्न है। उपन्यासकार ने चौदह अप्रैल को बम्बई मे होने वाले विस्फोट का दृश्य, तज्जन्य प्रभाव एव प्रतिक्रिया दिखाने के लिए ही इसकी रचना की है और इस लक्ष्य की सफल पूर्ति के लिए ही उसने इस शिल्प का आश्रय लिया है, जो लक्ष्य को देखते हुए अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का उपन्यास हिन्दी मे मेरे देखने मे नही आया।

कथानको मे एक अन्य प्रकार का बादरायण सम्बन्ध डा० केतकर के 'प्रियवदा' मे मिलता है। इसमे तीन कथाएँ है—(१) रामभाऊ-प्रियवदा, (२) बैजनाथ-शारदा, व (३) हरिभय्या-बिम्बा की। उनकी एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया लगभग नही के बराबर है। प्रियवदा का शारदाबाई को बैजनाथ को हस्तगत करने का उपदेश पहली और दूसरी कथा को, तथा बिम्बाबाई के साथ रत्नपूर देखने के लिए आने के कारण शारदाबाई की बैजनाथ से भेट, दूसरी तथा तीसरी कथा को परस्पर जोड़ते है। बडूनाना की चौथी कथा का तो इन तीनो कथाओ से इतना भी सम्बध नही है। बडूनाना अपनी स्थिति रामभाऊ को कभी-कभी पत्र द्वारा बता देता है—इतना ही इस कथा का रामभाऊ-प्रियवदा की कथा से सबध है और उसका बिंबा से भ्रातृत्व का नाता उसकी कथा को बिबा-हरिभय्या की कथा से जोडता है। शशिपाद-आयडा के उपकथानक का अन्य कथाओं से यदि कोई सम्बन्ध है, तो इतना कि उस

के विषय मे रामभाऊ अपने कुछ विचार प्रकट करता है। इस प्रकार 'प्रियवदा' मे कथा व उपकथा पूर्णरूप से एकजीव नही हुई है। इतनी विश्रृखलित कथावस्तु वाले उपन्यास हिन्दी मे नही हैं, क्योकि वहा डा० केतकर जैसे समाजशास्त्रीय दृष्टिवाले सैद्धान्तिक विवेचन, वाद-विवाद एव मतप्रचार पर बल देने वाले उपन्यासकार नही हुए हैं। यदि यशपाल जैसे उपन्यासकारो ने मतप्रचार को आश्रय भी दिया है, तो भी उनमे कथा-लेखक की प्रतिभा इतनी अधिक सच्ची है कि विश्रृखलता के दोष से उनकी रचनाएँ बच गई हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का कथा-शिल्प—बाह्य रूप (फार्म) और आंतरिक विषय (कण्टेण्ट) का यौगपत्य एवं सलग्नता एक सर्वविदित तथ्य है। मनोविज्ञान से सम्बधित उपन्यास मे अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूप का प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है। अत मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इस बात की चिन्ता नही करता कि कथा की कड़ी से कडी इतनी कुशलता से मिल जाय कि कही जोड मालूम ही न दे। सुसगठित कथावस्तु के प्रति वह बहुत अधिक चिन्तित नही होता, क्योकि उसमे प्रथम तो घटनाओ की सख्या ही बहुत कम होती है और दूसरे, उनका स्वतंत्र अस्तित्व न होकर वे केवल उपलक्षण मात्र होती है, जिनके माध्यम से पात्रो की भावानुभूतियो को प्रकट किया जा सके। इसीलिए जहा प्रेमचन्द या हरिभाऊ आप्टे के उपन्यासो मे कथावस्तु का विस्तार है, वहाँ जैनेन्द्र, अज्ञेय और पु० य० देशपाडे की रचनाओ मे मार्मिक विश्लेषणो की बहुलता पाई जाती है। फिर इन उपन्यासकारो का लक्ष्य जीवन के किसी विशिष्ट खड-मात्र को चित्रित करना होता है। अत· उनकी रचना मे कथानक (प्लाट) की योजना, कथा और उपकथाओ का गुम्फन भी नही होता। इन रचनाओ में वर्णनात्मकता से अधिक नाट्यत्मकता होने के फलस्वरूप घटनाओ का सयोजन इस प्रकार होता है कि उन्हे आगे बढाने के लिए लेखक की आवश्यकता नही पडती, वे स्वय अपने स्वरूप को स्पष्ट करती चलती है। उनमे घात-प्रतिघात की उतनी आयोजना नही होती, जितनी सहज जीवन-व्यापार के उद्घाटन की। लेखक प्रतिदिन और प्रतिक्षण की भावतरगो का आलेखन करना चाहता है, पर यह श्रृखला अनत नही हो सकती। फलत. लेखक को किसी विस्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। यह विस्फोट दो प्रकार का हो सकता है—कर्म-विस्फोट और भाव-विस्फोट। पर इस विस्फोट के पूर्वापर-सूत्र नही मिलते और पाठक उसे लेकर आश्चर्यचकित हो जाते है। यदि जैनेन्द्र का 'सुनीता' भाव-विस्फोट का उदाहरण है, तो 'सुखदा' कर्म-विस्फोट का। उपन्यास को आकर्षक, दिव्य तथा प्रभावपूर्ण बनाने का श्रेय घटनाओ को नही होता, अपितु उस मनोविश्लेषण को होता है, जिसे लेखक पात्र द्वारा किये गए किसी कृत्य के पहले, बाद मे या उसे करते समय प्रस्तुत करता है।

हिन्दी मे जैनेन्द्र के उपन्यासो मे प्रेमचन्द के उपन्यासो जैसा पूर्णरूपेण सगठित कथा-विकास, जिसकी कड़ियाँ बड़ी कुशलता से मिलाई गई हो, नही मिलेगा।

कथा-सौष्टव के प्रति वह पूर्णत उदासीन है। "पुस्तक मे मैंने कहानी कोई लम्बी चौडी नही कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नही है।"[१] यदि प्रेमचन्द के कथा-चित्रो की रेखाएँ पूर्ण है, तो जैनेन्द्र के कथा-चित्रो मे न तो रेखाएँ ही पूरी है, न रग ही गहरे और न उनके अग-प्रत्यग का सानुपातिक सौष्ठव ही यहाँ है। इसीलिए उनके विषय मे कहा गया है, "वास्तव मे हिन्दी के उपन्यासकारो मे यह केवल उन्ही की विशेषता है कि वे कथा के विकास के लिए घटनाओ पर बिल्कुल निर्भर नही करते, अपितु उनके बदले जीवन को नितात साधारण गतियो और सकेतो का आश्रय लेते है।"[२] उनके कथानक की कड़ियाँ टूटी होती है क्योकि उन्हें विश्वास है कि पाठक की मानसिक क्रिया उन रिक्तताओ को स्वत भर लेगी। उनकी रचना को पढ़ते समय पाठक को सचेत रहना पडता है और प्रत्येक पक्ति को पढने के लिए बाध्य होना पडता है। प्रेमचन्द के उपन्यासो के समान पैराग्राफ पर पैराग्राफ नही छोड़े जा सकते। कदाचित् उनके औपन्यासिक चित्रफलको की प्रतनुता का कारण यह है कि वे न तो किसी वृहत समाज या व्यक्ति के सम्पूर्ण आयामो का और न व्यक्ति और समाज के सघर्ष का चित्रण करते है। यदि इनमे सघर्ष है तो व्यक्ति का स्वयं अपने व्यक्तित्व से, अपनी सीमाओ और दुर्बलताओ से है। कोई अपने अह से सघर्ष करता है, तो कोई किसी ग्रथि को खोलने मे उलझा हुआ है। जीवन के किसी एक अश की विवेचना के द्वारा ही अपने वक्तव्य के उपस्थापन मे समर्थ होने के कारण उन्हें विविध प्रसग परिकलन की आवश्यकता ही नही पडती।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मनोवैज्ञानिक होते हुए भी कथानक-शिल्प की दृष्टि से प्रेमचन्द की रचनाओ के अति निकट है। चेतन और अवचेतन भावनाओ और उनसे उद्भूत समस्याओ का मनोविश्लेषणात्मक ढग से चित्रण करने पर भी उन्होने कथानक-योजना पर पर्याप्त ध्यान दिया है। परन्तु मानव के कार्य-व्यापारो मे दबी हुई सूक्ष्मतम प्रवृत्ति को अपनी पैनी दृष्टि से खोज निकालने एव उसका विवेचन-विश्लेषण तथा व्याख्या करने मे सलग्न हो जाने के परिणामस्वरूप, जहाँ उनके उपन्यासो की गति बहुधा मंथर हो गई है, वहा सिद्धात-निरूपण के मोह ने उपन्यास-कला को गौण बना दिया है। उदाहरण के लिए 'निर्वासित' में पुलिस द्वारा महीप के साथ पकडी जाकर, जब नीलिमा अपनी मा के पास पहुँचा दी जाती है, तो वह अपने प्रेमी महीप को भूल कर मा की सम्मति के अनुरूप ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाती है। इस मानसिक-क्राति की व्याख्या देने तथा बीच-बीच मे होते रहने वाले अप्रत्याशित व्यापारो को समझाने के लिए जोशी जी ने लम्बी-चौडी व्याख्या दी है। उनके उपन्यासो मे व्याख्यात्मकता का एक कारण यह भी है कि वे जिन अप्रत्याशित विडम्बनाओ को उपस्थित करते है, उनका जन्म एक साधारण-सी बात से कराते है। उन्हे शका होती है कि पाठक कही उन पर

---

१. जैनेन्द्र, 'सुनीता' प्रस्तावना · तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४।

२. डा० देवराज, 'जैनेन्द्र की उपन्यास कला', साहित्य चिन्ता, पृष्ठ १७७-७८।

अविश्वास न करने लगे । अत: कथाकार पद-पद पर इस बात का ध्यान रखता है कि पाठक को कोई भी बात अनहोनी प्रतीत न हो और उसके लिए वह प्रत्येक घटना की सफाई देता चलता है । 'प्रेत और छाया' मे पारसनाथ के पिता का व्यवहार प्रारंभ से ही उसके प्रति कटु दिखाया गया है, जो अस्वाभाविक लगता है । पर उस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए लेखक ने उनसे एक अति विस्तृत व्याख्या दिलाई है । इस सफाई मे बयालीसवे परिच्छेद का अधा और पूरा तेतालीसवा परिच्छेद समाप्त हो जाता है । अतः यद्यपि प्रेमचन्द और जोशी जी के कथा-शिल्प मे पर्याप्त साम्य है—दोनो के कथा-सयोजन मे सौष्ठव है, सगठन है, कथा मे किसी तरह की अनगढता नही है, अव्यवस्था का पूर्ण अभाव है, सारी घटनाएँ अगूठी के नगीने की तरह सतर्कता से बिठाई गई हैं—तथापि मनोवैज्ञानिकता के कारण जोशी जी की कथाएँ वर्णनात्मकता का रग-ढग छोड कर, व्याख्यात्मकता का रूप धारण किये है । उनमे वस्तु-व्यजना प्रधान न होकर गौण है, उसका स्थान मन के पर्दो को चीरकर देखने की प्रवृत्ति ने ले लिया है ।

मराठी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का सौष्ठवयुक्त एव कलापूर्ण कथा-संयोजन, व्यवस्था एव सुसगति नही मिलती । वे इलाचन्द्र की अपेक्षा जैनेन्द्र के कथानक-शिल्प के अधिक निकट है । वहा जब से मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे जाने प्रारभ हुए हैं, तब से लेखक कथा-प्रवाह को खडित कर मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने मे अधिक दत्तचित्त दिखाई पडते हैं । इसका परिणाम यह हुआ कि "कथानक का आकुचन कर अन्य अगो का विस्तार व व्यापकत्व बढाना आजकल कलात्मकता का चिह्न गिना जाने लगा प्रतीत होता है ।"[1] पु० य० देशपाडे के 'वधनाच्या पलीकडे' व 'सुकलेले फूल' मे कथानक अत्यल्प है । मनोवैज्ञानिक व्याख्या बहुधा कथानक के प्रवाह में बाधक हुई है । 'बधनाच्या पलीकडे' मे यद्यपि अरुण व उसकी बहन शाति का उपकथानक है, तथापि उसकी स्थिति नगण्य है । प्रेम सम्बन्धी तत्वज्ञान ने पर्याप्त स्थान घेर लिया है । 'सुकलेले फूल' मे भी तत्वचचा हैं और जैनेन्द्र के उपन्यासो के समान सकेत-शैली को अपनाकर सूचक संवादो तथा सीधी-सादी घटनाओ से काम निकाला गया है । उपन्यास का अधिकाश कलेवर कृष्णा के मनोभावो के विश्लेषण मे व्यय किया गया है । उसके कथानक व चरित्र-चित्रण दोनो—कृष्णा के भाव-ससार को स्पष्ट करने के लिए साधन-मात्र हैं । इस प्रकार पु० य० देशपाडे के उपन्यासो मे जैनेन्द्र के उपन्यासो के समान कथानक अत्यत अल्प होता है, उपकथानको का अभाव होने के कारण सुसगठन एवं गुम्फन की आवश्यकता नहीं होती और मनोविश्लेषण पर अधिक वल देने के परिणामस्वरूप वीच-वीच मे कथा का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार विभावरी शिरूरकर के 'हिंदोळयावर' व गीता साने के 'लतिका' मे कथानक एकरेखात्मक है । लेखिका का सम्पूर्ण ध्यान नायिका पर रहता है और उसकी

---

[1] 'हिंदोलयावर' : प्रतिमा—६ जुलाई १९३४ ।

समस्त शक्ति उसके मनोभावो के अन्तर्द्वन्द्व व उनके चित्रण पर। परन्तु उलझे हुए कथानक न होने पर भी इन उपन्यासो की कथा अत्यन्त कलापूर्ण, सौष्ठव-सयुक्त-प्रभावशाली एव सुगठित प्रतित होती है। उनमे बुनाई का गाढापन और प्रतिभा की सूक्ष्म दर्शिता पाई जाती है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के कथा-शिल्प मे एक विशिष्ट प्रकार की कलात्मकता लाने का श्रेय हिन्दी मे जैनेन्द्र तथा मराठी मे पु० य० देशपाडे को है। इन दोनो ने जहां-जहा कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी है, वहां पाठक को थोड़ा कूदना पडता है। फिर भी यह आयास हमे अखरता नही। विगत काल के लेखको के लिए पाठक की बुद्धि पर पूरा भरोसा न करने के कारण भले ही राई-रत्ती बताना आवश्यक रहा हो, पर आज का प्रबुद्ध पाठक इस प्रणाली को अपना अपमान समझ सकता है। इसके विपरीत जब वह आज के लेखक को पाठक की कल्पना-शक्ति पर विश्वास करते हुए, केवल उतना ही बताते देखता है, जितना कि नितात आवश्यक है, तो उसमे आत्म-विश्वास जाग्रत होता है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' की कहानी इस ढंग से कही गई है कि पाठक को पद-पद पर वस्तु के स्वरूप-निर्माण के लिए अपनी गाठ से कुछ न कुछ लगाना पड़ता है। यदि वह लेखक पर ही निर्भर करे, तो न तो वह कथा-रस की उपलब्धि ही कर पाएगा और न पात्रो को ही पहिचान सकेगा। उसके लिए उसे श्रम करना पड़ता है और श्रम के फल की प्राप्ति पर उल्लास अनुभव होना स्वाभाविक ही है। दान दिए हुए धन से स्व-अर्जित धन मे आनन्द प्रदान करने की शक्ति अधिक होती है। दो उद्धरण हमारी बात को स्पष्ट कर देंगे। प्रथम है जैनेन्द्र के 'कल्याणी' से और दूसरा भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढे रास्ते' से। दोनो उद्धरण इन उपन्यासों के प्रारभिक अश से लिए गए हैं। 'कल्याणी' का आरम्भ इस प्रकार है—

"जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो आता है। कोशिश तो करता हूं कि उधर जाऊं ही क्यो। लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूंदता चलू, तो फिर खुली रहने के लिये दिशा किधर और कौन शेष रह जायगी! यो सब रुक जायगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नही है। जिन्दगी नाम चलने का है।"[1] इसकी तुलना करने के लिए हमने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का प्रारम्भ चुना है, जो यो है :—

"दिन और तारीख याद नही और उन्हे याद रखने की कोई आवश्यकता नही। बात सन् १९३० के मई मास के तीसरे सप्ताह की है। गरमी ने एक भयानक रूप धारण कर लिया था और थर्मामीटर ने बतलाया था कि दिन का टेम्परेचर ११६ तक पहुँच गया है। लू के प्रचड झोके चल रहे थे और उन्नाव शहर की सड़को पर सन्नाटा छाया हुआ था। लोगो को घर से बाहर निकलने का साहस नही होता था। सूर्य के प्रखर प्रकाश से आँखे झुलसी जाती थी।"[2]

---

[1] जैनेन्द्र 'कल्याणी' : १९५९ का संस्करण, पृष्ठ ९।
[2] भगवतीचरण वर्मा 'टेढे-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १।

इन दोनो उद्धरणो की तुलना से स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम उद्धरण के पीछे एक इतिहास है, एक बीती हुई घटना की कहानी है। उद्धरण की पक्तियाँ तो कथा के वाह्य रूप को वता रही हैं, उस कथा का वृहद अश तो सतह के नीचे है। इसके विपरीत दूसरा उद्धरण अपने आप मे पूर्ण है। उसके पीछे तो कुछ है ही नही, आगे भी जो कुछ है, वह स्वय प्रकट हो जायगा। साराश यह कि प्रथम उद्धरण मे सकेत-शैली का प्रयोग किया गया है, जबकि दूसरे मे उसका अभाव है। प्रथम पाठक से कुछ अपेक्षा करता है, दूसरा नही। पहला उसकी कल्पना-शक्ति को प्रेरणा देता है, दूसरा उसे सब कुछ वता देता है। अतः उसमे पाठक को कल्पना दौड़ाने की आवश्यकता नही है। प्रथम मे कलात्मकता है, सकेतात्मकता है, तो दूसरे मे केवल वर्णनात्मकता। यही भेद मराठी के वर्णनात्मक उपन्यासो तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे मिलेगा।

साराश यह है कि आज उपन्यास की कथा के सूत्र लेखक के हाथ में नही रहते। वस्तु-संगठन तर्कमूलक बौद्धिक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया को अपनाने से रचना निष्प्राण हो सकती है। बहुधा इस प्रक्रिया को अपनाने पर घटनाएँ और चरित्र उपन्यासकार के सूत्रो से स्वतत्र हो जाते है और उपन्यास को परिसमाप्ति देने के लिए लेखक को अन्त मे उनके साथ बलात्कार करना पड़ता है। आधुनिक लेखक और आलोचक इसे अनाचार मानते है। उनका कहना है कि उपन्यास रूपरेखा को लेकर चले ही क्यो? जीवन की भाँति उसमे भी सब कुछ सम्भावनाओ पर ही क्यो न छोड़ दिया जाय। अत लेखक सूत्रधार न बने, बल्कि स्वय भी अपने को रचना मे डालकर, अकल्पित लक्ष्य की ओर बहने का आनन्द ले। इसमे सन्देह नही कि वस्तुसगठन कथा को आकर्षक और रोचक बना देता है, पर वस्तु-सगठन नाटक से उधार ली गई है चीज है और उसका जन्म रगमच की सीमाओ के कारण हुआ था। उपन्यासकार किसी भी रग-मच से बधा नही है। अत. वह जीवन की व्यापकता का आभास देने के लिए नाटक व काव्य के प्रतिवन्धो को ठुकरा देता है और कालक्रम और वस्तु-सगठन की उपेक्षा करने लगा है।

आजकल के उपन्यासो का सिद्धान्त-वाक्य वर्जीनिया वूल्फ के शब्दो मे यह है, "जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीपमालिका नही है। वह तो एक ज्योति-मडल है, जो हमारी चेतना को प्रतिक्षण अपने झीने और अर्ध-पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहती है। क्या उपन्यासकारो का यह कर्त्तव्य नही है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास को विशुद्ध रूप मे पकडे, यथा-सम्भव विना किसी विदेशी और वाहरी वस्तु के मिश्रण के, चाहे उसमे कितनी असंगतियो तथा जटिलताओ का समावेश क्यो न हो।"[1] उनका विश्वास है कि दिन का कोई भी क्षण मस्तिष्क पर असख्य सस्कारो की छाप छोड जाता है। मस्तिष्क के इसी चिर-लघु पर साथ ही चिरन्तन क्षण को अपनी कला व भाषा के द्वारा पकडकर, उसे उसकी सम्पूर्ण गतिशीलता के साथ चित्रित करना ही आज के अधिकाश उपन्यासकारो

---

१. वर्जीनिया वूल्फ, 'कामन रीडर' : पेलीकोन बुक्स १९३४ ई०, पृष्ठ १४९।

का लक्ष्य हो गया है। उसे सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध पर कथा की अवधि और उसकी तीव्र गति को सीमित करना पड़ता है, ताकि वास्तविक जीवन के विचारो और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति मे अधिकतम सामीप्य और अनुरूपता आ सके।

इसके लिए उपन्यास लेखको ने एक नई पद्धति को अपनाया है, जिसे चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ऑफ कॉनशसनेस) पद्धति कहा गया है। इस पद्धति को अपनाने वाले लेखक का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वह प्रत्येक घटना और प्रत्येक दृश्य के प्रत्येक क्षण के मन पर पड़ने वाले प्रत्येक प्रभाव को उपन्यास मे ज्यो-का-त्यो रखे, चाहे वह कितना ही विशृंखल और असम्बद्ध क्यो न हो। परिणामस्वरूप इस पद्धति मे लिखे गए उपन्यासो मे 'कथानक' का बन्धन नही होता और न वह कार्य-कारण शृंखला से ही नियन्त्रित होता है। आदि, मध्य और अवसान के नियम यहा लागू नही होते। इन रचनाओ मे कुछ विशिष्ट उद्दीप्त और उदात्त क्षणो और घटनाओ को ही स्थान प्राप्त होता है। डा० देवराज ने इस सम्बन्ध मे एक बड़ा सुन्दर रूपक बाधा है, "घटनाएँ कार्क के टुकड़े हैं, पात्रो के चेतना-प्रवाह नदी की लहरे है, जिनके वात्याचक्र पर डूबते-उतराते वे हमारा मनोरजन करते है। कार्क तो छोटा-सा नगण्य टुकडा-मात्र है पर नदी की लहरों की उन्मत्तता का सहारा पाकर स्वय नदी की उन्मत्तता बन जाता है।"[1] अत. इस पद्धति मे लिखे उपन्यासो मे घटनाओ का महत्व नगण्य हो गया है।

मराठी मे चेतना-प्रवाह पद्धति मे लिखे गए 'तांबड़ी माती', 'रात्री चा दिवस' तथा 'घर' मे अव्यक्त मनोव्यापारो का यथावत् चित्र पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और घटनाओ की अपेक्षा मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर लक्ष्य केन्द्रित होने के कारण कथावस्तु एवं उसके सगठन की ओर उपेक्षा भाव दिखाया गया है। इसमे कथानक को गति नही मिली है। 'रात्री चा दिवस' मे, 'भारत' नामक पत्र के सहसम्पादक के मन मे जो भावनाओ का आन्दोलन उत्पन्न हुआ है, उसी का चित्रण किया गया है। घटनाओ के चित्रण या कथानक-उपकथानक के गुम्फन का वहा अवसर ही नही है। "अन्तर्मन की कुछ घटो की इस क्रीडा को न तो कथा का और न पूर्वेतिहास का ही आधार मिला है।"[2] उसमे ज्ञान-विज्ञान, कला, राजनीति, विदेश के स्वच्छद जीवन की स्मृति है, पर उनमे कोई सुव्यवस्था नही, सपूर्ण प्रसार विकेन्द्रित है। इसी प्रकार 'तांबडी माती' में कथानक को आदि-अन्त के चौखटे मे नही कसा गया है। अपहृत सरजा, शिवा के कुटुम्ब आदि का अन्त मे क्या हुआ, इसका पता नही चलता। कथा के धागे गुम्फित करने के बजाय लटकते हुए ही छोड दिए गए है। हिन्दी मे इस पद्धति का प्रयोग अज्ञेय एव प्रभाकरमाचवे के क्रमश 'नदी के दीप' और 'परन्तु' मे किया गया है।

---

[1] डा० देवराज, 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान", पृष्ठ ३०।

[2] म० व० राजाध्यक्ष, 'कादंबरीकार मर्ढेकर', सत्यकथा—मई १९५६ ई०।

सारांश यह है कि यदि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे उपन्यासकार कथानक-शिल्प पर विशेष ध्यान देते थे और कथा की चूल से चूल मिलाने की चेष्टा करते थे, तो आज उसकी उपेक्षा की जाती है। अब यह कहा जाने लगा है कि प्रारम्भ, मध्य व अन्त की कुशल संगति लाने के प्रयत्न से उपन्यास कृत्रिम बन जाता है। वह जीवन का चित्र है, अत जीवन के समान स्वच्छंन्द गति से बहने वाले झरने की तरह उसकी भी गति मुक्त होनी चाहिये। यदि जोला ने उपन्यास को जीवन की सम्पूर्ण प्रतिकृति मानकर अति साधारण और अनावश्यक बातो का भी विस्तृत वर्णन किया था, तो जेम्स जॉयस ने अन्तर्मन की स्वच्छद क्रीड़ा का चित्रण करने के लिए उपन्यास-रचना सम्बन्धी प्राचीन नियमो को ठुकरा दिया। इन पाश्चात्य उपन्यासकारो से मराठी और हिन्दी के लेखक भी प्रभावित हुए। अन उनकी रचनाओ मे भी कथानक-शिल्प सम्बन्धी वे ही अभिनव रूप एव तत्व पाये जाने लगे हैं, जो पश्चिमी उपन्यासो मे पाये जाते है।

उपर्युक्त विवेचन से दो बाते स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तो समय, पाठको की रुचि और यूरोपीय उपन्यास-क्षेत्र मे होने वाली प्रगति के अनुरूप इन दोनो भाषाओं के उपन्यासो के कथानक-शिल्प मे परिवर्तन हुए है। यदि आरम्भिक युग मे उपन्यास को समय बिताने का साधन-मात्र समझने एवं मनोरजन की प्रवृति के कारण लेखक अपने कथानक को घटनासंकुल, उलझा हुआ एवं सुसम्बद्ध रखते थे, तो मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण को अधिक महत्त्व मिलने पर उनमे घटनाओ की विरलता होने लगी, प्रधान कथानक व प्रासंगिक कथानकों का भेद एवं उनका सुसंगठित होना अनावश्यक समझा जाने लगा और जीवन को ज्यों-का-त्यो विशृंखलित ढंग से चित्रित करने की पद्धति अपनाई गई। दूसरे, मराठी तथा हिन्दी उपन्यासकारो ने अपनी रचनाओ के कथानक-शिल्प मे प्रायः समान तत्त्वों का प्रयोग किया है, केवल कही-कही उनमे विभेद पाया जाता है। इस समानता का प्रधान कारण यह है कि दोनों भाषाओ का उपन्यास-साहित्य वस्तुत. पश्चिम के साहित्य के अध्ययन एवं अनुशीलन का परिणाम है। पहले पश्चिम के साहित्य मे कोई नवीन प्रवृति, कथानक-शिल्प की कोई नई विधा जन्म लेती है और कुछ समय उपरान्त भारत के उपन्यासकार कभी उनका अन्धानुकरण और कभी अपने यहाँ की परिस्थितियो, साहित्यिक परम्पराओ एवं मानदडो के अनुरूप उन्हे ढालकर उनका प्रयोग करने लगते हैं। विभिन्नता का कारण है उपन्यासकार की व्यक्तिगत रुचि, उसका साहित्य-रचना का उद्देश्य तथा उसकी शैली। उदाहरण के लिए डा० केतकर की दृष्टि समाजशास्त्रीय थी। उनका उद्देश्य मनोरजन न होकर अपने समय की ज्वलत समस्याओ पर प्रकाश डालना एवं अपने नव विचारो का प्रतिपादन करना तथा समाज को नये विचार-मार्ग पर अग्रसर करना था। अत. अपने उपन्यासो मे जो कथा-शिल्प उन्होंने अपनाया, वह न तो मराठी के अन्य उपन्यासकारो मे ही मिलता है और न हिन्दी के किसी उपन्यास लेखक की कृतियो मे।

सम्पूर्ण भारतीय उपन्यास-साहित्य एव उसमे प्रयुक्त कथानक-शिल्प का परिशीलन करने पर यह विदित होता है कि हिन्दी तथा मराठी के उपन्यासकारो ने कथा-शिल्प की जिन विविध परिपाटियो एव विधाओ को अपनाया है, वे अन्य उन्नत एवं समृद्ध भारतीय भाषाओ जैसे बँगला, गुजराती के उपन्यास-साहित्य मे अपनाए गए कथानक-शिल्प के रूपो से किसी भी प्रकार हीन एव भिन्न नही हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि लगभग सभी भारतीय भाषाओ ने उपन्यास का कथानक-शिल्प पश्चिम से ग्रहण किया है। अत. भारतीय भाषाएँ, इसके लिए एक दूसरो की ऋणी न होकर पश्चिमी साहित्य की ही ऋणी है।

प्रकरण : ६

कलातत्त्व तथा शिल्प

कला के विभिन्न तत्त्वो अथवा उपकरणो की योजना का वह विधान, जिससे कलाकार की अनुभूति अमूर्त से मूर्त हो जाय तथा एकान्त प्रभाव की पूर्ति के लिए उपन्यास-रचना मे प्रस्तुत की गई विधानात्मक-प्रक्रिया ही उसकी शिल्प-विधि है। चिंतनीय विषय यह है कि एक ही भाव, एक ही अनुभूति को विभिन्न उपन्यास-लेखक इतने विभिन्न रूप-विधानो मे क्यो सँवारते है ? एक तो, जिस दृष्टि-बिन्दु मे लेखक ससार को समेटना चाहता है, उसके अनुसार ही जीवनगत सत्य अपना आकार प्राप्त करता है। दूसरे, उसकी कला की अभिव्यजना इस प्रकार होती है कि वह अपने लिए एक अलग कोटि का निर्माण कर लेती है। इसीलिए कहा गया है, "सर्वोत्कृष्ट रूप वह है जिसमे प्रतिपाद्य-विषय निखर सके—उपन्यास के रूप के अर्थ की अन्य कोई परिभाषा नही है।"[१]

प्रारंभिक उपन्यासो का शिल्प—सयोग-वैचित्र्य मे ही प्रारम्भिक उपन्यासो की सम्पूर्णता और पाठको के मनोरजन की सिद्धि थी। असख्य कथा-सूत्रो और जटिलताओ के बीच से इन उपन्यासकारो ने कथा-वस्तु की एकसूत्रता का ऐसा निर्वाह किया है कि हमे उनकी बुद्धि का लोहा मानना पड़ता है। इनमे लेखक ही मुख्य है, पात्र तो उस सूत्रधार के हाथ की कठपुतली-मात्र है। हमारा साधारणीकरण सीधे पात्र से न होकर, लेखक के माध्यम से तथा उससे भी परोक्ष उनके कथित व्यापारो से होता है। इनमे उपन्यासकार सर्वशक्तिमान सम्राट है, उसकी इच्छा ही नियम और कानून है। पाठको को बीच-बीच मे सबोधन कर, कभी वे उनकी करुणा और कभी क्रोध को जगाते है। कथा-प्रवाह कौन दिशा मे जायगा, इसकी भी अस्पष्ट-सी कल्पना कभी-कभी वे करा देते है। कथा के बीच-बीच मे अपने को प्रगट करने मे उन्हे तनिक भी सकोच नही होता। 'उष-काल' मे, "इससे अधिक इस समय उस सवार का कोई वर्णन नही किया जा सकता।"[२] या शातावाई भिडे नाशिककर के 'कौमुदी' मे, "पाठको ! उनका सभाषण सुनने मे कोई आपत्ति नही···चलो उस लताकुज की ओट मे खड़े हो।" इसी शैली के उदाहरण है। हिन्दी मे देवकीनदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी ने इस पद्धति को अपनाया है। लेखक को जो स्वयं दिखाई व सुनाई पडता है, उसका ज्यो-का-

---

[१] परसी ल्यूबक, 'दी क्राफ्ट आफ़ फिक्शन', पृष्ठ ४०।

[२] हरिनारायण आप्टे, 'उष काल', पृष्ठ २।

त्यों चित्र वह पाठकों के सम्मुख रख देता है। यह वर्णनात्मक शैली, जिसकी तुलना रेडियो से की जा सकती है, विस्तारयुक्त व व्यापक कथानक के लिए उपयुक्त थी। उदाहरण के लिए, वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' और प्रेमचन्द के 'सेवासदन' मे इस पद्धति के द्वारा ही उपन्यासकार अपने उद्देश्य को कलापूर्ण एव सुन्दर रूप मे प्राप्त कर सका है।

जब लेखक अपनी कृति मे घटनाओं की प्रधानता के साथ-साथ एक प्रचड उद्वेग, प्रेम का स्पन्दन, काव्यमय भाव, रम्य प्राकृतिक वातावरण और व्यथा की एक छोटी उर्मिल लहर का समावेश कर देता है, तो वह 'रोमास' हो जाती है। हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा का 'विराटा की पद्मिनी' आदि और मराठी मे दिघे का 'गान लुब्धा मृगनयना' इसी कोटि के अन्तर्गत आते है। उच्चकोटि का भावुकतापूर्ण चरित्र-चित्रण उनकी विशेषता है। उनका चरित्र-निर्माण घटनाओ के द्वारा ही होता है। प्रत्येक घटना चारित्रिक विशेषता का दिग्दर्शन कराने मे सफल है। यहाँ परिस्थितियों को बनाना नही पड़ता, वे बनती चली जाती है। 'विराटा की पद्मिनी' अथवा 'अजिक्य तारा' मे परिस्थितियाँ बिना किसी पात्र की सहायता से अपने आप बनती चली गई है। प्रायः ये पात्र की इच्छा के विरुद्ध उपस्थित हो जाती है, जिससे साहस-भावना की सृष्टि होती है। परिस्थिति की तरगों द्वारा नायक का फेंका जाना ही, 'कुडली चक्र' एवं 'अजिक्य तारा' को रोमांस बनने में सहायता देता है। नायक के साहस और शौर्य के साथ पाठक तदाकार होना चाहता है और उसकी मृत्यु तक अपने ऊपर लेने को वह प्रस्तुत हो जाता है। उच्चकोटि के 'रोमांस' की यही विजय है। इसीलिए स्टीवेन्सन ने लिखा है "....और जब वह उसकी कल्पना से इतना लयबद्ध हो जाय कि वह उसमे पूरे हृदय के साथ तदाकार हो सके, जब वह उसे हर मोड़ पर प्रसन्न करे, जब वह उसका पूर्ण हर्ष के साथ पुनर्स्मरण करे और उसका विशद विवरण दे, तब उपन्यास को 'रोमास' कहते है।" 'गढ कुंडार' मे निर्जन मंदिर के सामने तारा का दिवाकर के कण्ठ मे माला डालना, 'विराटा की पद्मिनी' मे कुमुद का बेतवा में जल-समाधि लेना, 'कुडलीचक्र' मे अजित और पूना का चकरई की पहाड़ियो मे मिलन, 'वज्राघात' मे गेहरजान का जलाशय मे कूदना, ये सब घटनाएँ पाठक के मानस-पटल पर सदैव के लिए अकित हो जाती है। उनमे एक अनोखी टीस है, जो पाठक को प्रभावित किये बिना नही रहती।

बुन्देलखंड की रोमाण्टिक प्राकृतिक-श्री का सजीव और प्रभावपूर्ण चित्र वृन्दावनलाल वर्मा के सभी उपन्यासो एव 'गानलुब्धा मृगनयना' मे गुँथा हुआ मिलेगा। वर्मा जी ने स्वय लिखा है "ये ही नदिया-नाले या नदी-नाले-झीलें और बुन्देलखण्ड के पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण है। इसलिए मुझको हिस्टारिकल रोमांस पसन्द है।" 'गानलुब्धा मृगनयना' मे भी ऐतिहासिकता की अपेक्षा

---

१ वर्माजी का पत्र 'साहित्य सन्देश' के सम्पादक के नाम-'साहित्य सन्देश' अक्टूबर-नवम्बर १९४० ई०।

प्रणयोन्माद एवं वनश्री के चित्र अधिक प्रभावोत्पादक हैं, जिसके कारण कुसुमावती जी ने उसे "अरण्य-सौन्दर्य व सगीतप्रेम के चित्रो से पूर्ण"[1] कहा है।

इन रोमासो की भाषा भी अत्यन्त मधुर, सगीतमय तथा हृदयग्राही होती है। वर्मा जी के हिन्दी उपन्यास, हरिभाऊ का 'वज्राघात' या दिघे का 'गानलुब्धा मृगनयना' इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'वज्राघात' के प्रथम प्रकरण मे चित्रित जलाशय का चित्र भाषा की मधुरिमा, जिसकी तुलना जयदेव के अष्टपदी की झकार से की गई है, के कारण ही अत्यन्त मनमोहक हो उठा है।

आधुनिक उपन्यासों का शिल्प—हम ऊपर कह चुके है कि उपन्यास का उद्देश्य ही उसके शिल्प का नियामक और सूत्रधार होता है। ज्यो-ज्यो उद्देश्य-दृष्टि मे विकास होता गया है, उसी क्रम से, बल्कि उसी प्रक्रिया से, उनके शिल्प का विधान भी बदलता चला है। वस्तुत उद्देश्य-प्रकाश मे अधिकाधिक रोचकता, आकर्षण और प्रभविष्णुता लाने के लिए ही अन्यान्य रूप-विधानो की योजना की गई है और पत्र-शैली, डायरी-शैली, समाचार-पत्रो के उदाहरण की शैली आदि का प्रयोग होने लगा है। तीसरी शैली का प्रयोग समूचे उपन्यास मे न होकर बीच-बीच मे, केवल कुछ स्थलो पर किया जाता है। इसका प्रयोग मराठी उपन्यासो मे ही देखने को मिला, हिन्दी उपन्यासो मे नही। मराठी मे वामन मल्हार जोशी का 'सुशीला चा देव' इस का सुन्दर उदाहरण है।

पत्रात्मक और डायरी शैली मे लिखे उपन्यासो मे कथानक गढने का अधिक भार पाठको पर छोड दिया जाता है। इस पद्धति के उपन्यास मे लेखक क्रम से सब पात्रो से तादात्म्य स्थापित कर, किसी भी समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रकाश डाल सकता है। अत. किसी विवादास्पद प्रश्न पर विभिन्न पार्श्वों से विचार करने और किसी भी तत्व के गुण-दोषो का विवेचन करने के लिए, यह रचना-शैली अत्यन्त उपयुक्त है। वामन मल्हार जोशी को कला व नीति के पारस्परिक सम्बन्ध व संघर्ष के विभिन्न पार्श्वों का दिग्दर्शन कराना था। उन्होने इसके लिए पत्रात्मक रचना शैली अपनाकर, 'इंदुकाळे सरला भोळे' की रचना की। इस शैली को अपनाने के कारण ही लेखक इस समस्या को उसके विविध परिपार्श्वों के साथ बडी कुशलतापूर्वक प्रस्तुत कर सका है। प्रसग व घटना का पात्र पर जो आघात होता है, उसका तात्कालिक प्रभाव व उस प्रभाव का चित्रण तुरन्त ही पत्र मे किये जाने के परिणामस्वरूप पात्र के मनोभावो व विचारो की अभिव्यक्ति मे एक प्रकार की धार व आकर्षण आ जाता है। मराठी के इसी उपन्यास मे इदु व सरला मे पहले मन-मुटाव तथा बाद मे जो प्रेमपूर्ण सम्बन्ध पुनर्स्थापित हो गया, उसका तात्कालिक चित्रण पत्र मे होने के कारण शैली मे एक तीव्रता आ गई है, जो पाठक को सहज ही आकृष्ट कर लेती है। इस शैली की उपयोगिता उन उपन्यासो मे और भी बढ जाती है, जहा एक से अधिक पात्रो का मनोविश्लेषण करना होता है। जिसे हम प्रकट रूप मे नही कह सकते, उसे सहज ही पत्र द्वारा लिख भेजते है, यह दिन-प्रतिदिन का अनुभव है। अत. अपने मन की गूढ बातो को पत्र-शैली मे

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' द्वितीय भाग, पृष्ठ १९८।

जितना सुगमता एवं संक्षिप्तता से प्रकट किया जा सकता है, उतना अन्य किसी पद्धति से नही। 'इदु काळे सरला भोळे' मे नारायणराव की द्विधापूर्ण मन स्थिति का चित्रण इसका उदाहरण है। जो मनोविश्लेषण, आत्म-सभाषण और मनोवगाहन अन्य शैलियो के उपन्यासो मे दोष-रूप होते है, वे पत्रात्मक शैली मे सहज संभव होने के कारण गुण-रूप हो जाते हैं। वामनराव जोशी के 'रगिणी' और 'इदु काळे सरला भोळे' की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। प्रथम मे मनोविश्लेषणात्मक आत्म-सभाषण दूषण हैं, तो दूसरे मे भूषण-स्वरूप। यह पद्धति उन लेखको के लिए विशेष उपयोगी होती है, जिनकी वर्णन-शैली मे व्यर्थ का विस्तार एव अनावश्यक तत्व-चर्चा होती है। इस शैली की सीमाएँ वर्णन-विस्तार पर नियन्त्रण रखती है। इसीलिए 'इदु काळे सरला भोळे' लघु उपन्यास होते हुए भी एक उत्कृष्ट रचना है।

इस रचना-शैली का अधिक उपयोग नही हुआ है क्योकि उसमे अनेक बधन है। जहाँ एक ओर वह पाठको से अधिक सजगता एव सुसंस्कृत रुचि की अपेक्षा करती है, क्योकि कथानक की कड़िया जोड़ने का भार उन्ही पर होता है तथा कथा-रस भी उनमे कम होता है, वहाँ दूसरी ओर लेखक से भी अधिक कौशल की माग करती है, क्योकि एक तो सत्याभास निर्माण करने के लिए पात्रो की भाषा भिन्न-भिन्न होनी चाहिये और दूसरे, एक पात्र को छोडकर दूसरे पात्र से समरस होने के लिए लेखक को एक भूमिका त्यागकर दूसरी भूमिका में प्रवेश करना पड़ता है, जो सरल नही। इन्ही बाधाओ के कारण पूर्णरूप से पत्र-शैली मे लिखे गए उपन्यास हिन्दी और मराठी दोनो भाषाओ मे बहुत कम हैं। हाँ, बीच-बीच मे पत्रो का उपयोग मराठी के कितने ही उपन्यासों मे हुआ है। हरिभाऊ के 'मी' मे भावानन्द के पत्र, 'बंधनाच्या पलीकडे' में प्रभाकर के पत्र, 'माझे रामायण' मे ताई के इंदरा को लिखे पत्र व नानासाहब और विनायकराव के उद्धृत किये हुए पत्र—इसके दृष्टान्त हैं। प० त्रि० सहस्रबुद्धे का 'जीवन साथी' पूर्णत. पत्र-शैली मे लिखा गया उपन्यास है। उसकी विशेषता यह है कि उसमें नायक के पत्र लेखक ने लिखे है और नायिका के पत्र उनकी सह-लेखिका माई ऐतिवडेकर ने, पर इस विशेषता के होते हुए भी उपन्यास मे कोई आकर्षण नही है। इन उपन्यासो मे पत्रो का उपयोग कही मन के विचारों की उथल-पुथल चित्रित करने के लिए, तो कही कथानक का पूर्वपरिचय देने के लिए, कही कथानक को पूर्णता प्रदान करने के लिए किया गया है, तो कही पात्र के स्वभाव पर प्रकाश डालने के लिए। खांडेकर के 'क्रौंचवध' मे दादासाहब की स्थिति का चित्रण लेखक ने अन्य-पुरुष-शैली मे किया है, भगवंतराव की कथा आत्म-निवेदनात्मक पद्धति मे कही गई है, पर दिनकर की वस्तु-स्थिति को पत्ररूप मे चित्रित करने के कारण ही उसकी सुन्दरता बढ़ गई है। हिन्दी मे निर्वासित का 'कुसुम-कुज', उग्र का 'चंद हसीनों के खतूत' एवं अनूपलाल मडल का 'समाज की वेदी पर' आदि उपन्यासो के कथानक पत्रो के संचयन द्वारा निर्मित हुए है। उनमें भी लगभग वे ही गुण-दोष हैं जो मराठी पत्र-शैली के उपन्यासो मे। वस्तुत: जिस कथा में घटनाओ की अधिकता न हो व जिसमे मनोविश्लेषण पर आग्रह

हो, उसे ही पत्र-शैली का स्वरूप मिलना चाहिये।

पत्र-शैली से ही मिलती-जुलती शैली दैनदिनी-शैली है। पत्र-बद्ध उपन्यासों के समान ही इस शैली के उपन्यासो मे भी विविध प्रसगो व घटनाओ से मन पर पडने वाले आघातो का तुरन्त ही अकन होने के परिणामस्वरूप, उसकी अभिव्यक्ति मे एक प्रकार की तीव्रता आजाती है। एक या अनेक पात्रो के मन के विचारो व भावो के सघर्ष का दर्शन इस शैली मे अत्यन्त उत्तम प्रकार से हो जाता है, परन्तु उपन्यास के अन्य तत्वो का परिपोष वैसा नही हो पाता जैसा होना चाहिये। उदाहरण के लिए, पूर्णरूपेण दैनदिनी-पद्धति का उपयोग, जिस मराठी उपन्यास मे हुआ है, उस मुशाफिर कृत 'अभागिनीची डायरी' को लीजिए। मातृपद प्राप्त प्रवचित कुमारी के मनोविश्लेषण की दृष्टि से तो यह पद्धति अत्यन्त कलापूर्ण है, परन्तु कथानक आदि अन्य तत्वो का परिपोष ठीक ढग से नही हो सका है। एक अन्य दोप, जो इस पद्धति के उपन्यासो मे सभव है, वह मालतीवाई वेडेकर के 'विरलेले स्वप्न' मे मिलता है। उसका कथानक वैशाख व रोहिणी इन दो प्रेमियो की दैनदिनी के उद्धरणो से निर्मित हुआ है। यद्यपि इन दोनो पात्रो के भावान्दोलन को लेखिका ने बडी सहृदयता से चित्रित किया है, तथापि उसकी भाषा दैनदिनी के अनुरूप न होकर निबध के अधिक अनुकूल है और उद्धरणो की लम्बाई देखकर उन्हे डायरी के उद्धरण कहना कठिन हो जाता है। हिन्दी मे इस शैली मे लिखा हुआ 'शोणित तर्पण' भी अधिक आकर्षक एवं कलात्मक रचना नही है। किशोरीलाल गोस्वामी डायरी के पन्नो को उद्धृत करने के चक्कर मे इतने पडे है कि कुतूहल ही समाप्त हो गया है।

दैनदिनी-शैली मे उपन्यास लिखने से उसका स्वरूप अत्यन्त सकुचित हो जाता है, क्योकि उसके उद्धरणो द्वारा उपन्यास को कलात्मक एकरूपता प्रदान करना अत्यंत कठिन है। परन्तु दैनंदिनी-पद्धति का सीमित प्रयोग उपन्यास को अत्यत आकर्षक बना देता है। फडके के 'कश्मिरी गुलाब' मे कथानक की पूर्व-तैयारी के लिए अमलकान्त व गुलाब की डायरी के उद्धरणो का बड़ी कुशलता से उपयोग करने के कारण लेखक को पात्रो का परिचय नही देना पडा है। इन्ही के 'जादूगार' मे ताई का पूर्व-वृत्त आत्मकथा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसके कुछ भाग आनन्दराव के तथा कुछ स्वतः ताई के मुख से पाठकों के सम्मुख रखे गए है। यह पद्धति भी डायरी शैली का ही एक रूप है। प्रसाद जी के 'तितली' मे भी डायरी के सीमित प्रयोग से उपन्यास की कला को सहायता मिली है।

कुछ उपन्यासकारो ने आत्म-विश्लेपण के आधार पर आत्म-कथात्मक रचना-शैली का प्रयोग किया है। यद्यपि प्रेमचन्द और हरिभाऊ युग मे भी आत्म-कथात्मक शैली का प्रयोग किया गया था, पर उन रचनाओ मे आत्म-विश्लेशण की अपेक्षा मर्यादित दृष्टिकोण से कथा लिखने, चरित्र को अधिक आत्मीय एव आकर्षक बनाने और एकसूत्रता उत्पन्न करने के लिए ही उस का उपयोग किया जाता था। इसका अभिप्राय यह नही कि इन उपन्यासो में आत्म-विश्लेपण होता ही नही था। विभिन्न पात्र जैसे, 'पण

लक्षात' की यमू अपनी जीवन गाथा बताते समय अपने हृदय की विभिन्न भावनाओ का भी (पति के प्रति भय की भावना, बम्बई के जीवन के प्रति आशकामिश्रित उत्सुकता आदि) विश्लेपण करती है, परन्तु यह मनोविश्लेपण रेगिस्तान के बीच नखलिस्तान के समान कही-कही है। उपन्यास का अधिकांश कलेवर कथा के इतिवृत्त द्वारा ही अधिकृत कर लिया जाता था। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासो ने जब इस शैली को अपनाया, तो उपन्यास मे इतिवृत्त के स्थान पर पात्र के हृदय के ऊहापोह, भावान्दोलन, एव आत्म-विश्लेपण को अधिक स्थान मिलने लगा। इसका लाभ यह है कि पात्र की भावनाओ से निकट परिचय होने के कारण कथा अधिक प्रतीतिमय बन जाती है। उदाहरण के लिए पु० य० देशपाडे के 'सुकलेले फूल' मे इतिवृत्तात्मक अंश तो अत्यल्प है, उसमे प्रसगो के वर्णन की अपेक्षा, उन प्रसगो के कारण नायिका के हृदय मे उत्पन्न हुए भावान्दोलन का ही विश्लेपण मुख्य है—कृतज्ञतावश केशव से वचनबद्ध होने पर भी कृष्णा ने पतित, दुर्बल चरित्र डा० दिवाकर से प्रेमयाचना क्यो की, इसका ज्ञान हमे उसके भावो के विश्लेपण से होता है। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' मे नन्दकिशोर ने, जो-जो दुष्कृत्य या अपराध किये, उनका वास्तविक कारण उसी के मुख से सुन, हमे वह अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

आत्म-कथात्मक पद्धति मे जहाँ अनेक गुण और सुविधाएँ है, वहा उसमे कुछ दोप भी है। इस पद्धति मे उपन्यासकार, किसी एक पात्र, बहुधा नायक की भूमिका ग्रहण करने के परिणामस्वरूप, समस्या को सब पार्श्वों से चित्रित नही कर सकता, केवल नायक के दृष्टिकोण से ही उस पर प्रकाश डाल पाता है। नायक के विषय मे अन्य पात्रों के विचार क्या है, इसका ज्ञान भी इस पद्धति मे होना बड़ा कठिन है। अत: उसकी चरित्र-रेखा मे पूर्णता नही आ पाती। बहुत-सी घटनाओ के विषय मे भी पाठक को स्पष्ट कल्पना एव अवगति नही हो पाती। माडखोळकर के 'भगलेले देऊल' मे केवल अनु के दृष्टिकोण से कथा कही जाने के कारण, न तो पाठक को अनु के विषय मे मनु या अनिरुद्ध के विचारो का ज्ञान होता है और न यही पता चलता है कि मनु मोहबद्ध क्यो हुई तथा अरुण विवाह के लिए तैयार क्यो नही हुआ। इसीलिए पाठक समझता है कि अनिरुद्ध के प्रति लेखक ने अन्याय किया है। इसी प्रकार पु० य० देशपाडे के 'सदाफुली' मे कथा तनू के दृष्टिकोण से कही गई है, जबकि मुख्यकथा मे उसका कोई विशिष्ट महत्त्व नही है, क्योकि वह तो अशोक और तिमा के प्रेम पर केन्द्रित है। इससे उपन्यास-कला को आघात पहुँचा है। इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' की कथा केवल नन्दकिशोर के दृष्टिकोण से कही गई है। शान्ति, जयन्ती या नन्दकिशोर के परिवार वालो का दृष्टिकोण वहाँ प्रस्तुत नही किया गया है, अतः उसमे भी वह पूर्णता नही आ पाई है, जो अन्य-पुरुप की शैली मे लिखे गए उपन्यास मे प्रायः होती है।

उपर्युक्त दोषो का निवारण करने के लिए एक नई रचना-शैली का आविष्कार हुआ, जिसमे कथा एक पात्र के मुख से न कहलाई जाकर अनेक पात्रो के माध्यम से व्यक्त की जाती है। इलाचन्द्र जोशी का 'पर्दे की रानी' दो लड़कियो—निरजना और शीला—के

आत्म-विश्लेषण की कथा है। बहुधा इस शैली मे लिखे गए उपन्यास इतिहास या निबन्ध जैसे बन जाते है। अनेक पात्रो के मुख से कहलाई गई कथाओ को लेखक एकरूपता नही दे पाता, अत. कथानक की सहज सुगमता मे बाधा पडती है। हिन्दी मे 'सौन्दर्योपासक' और 'कलक शोभा' इसी दोष के कारण इस पद्धति के पराजित प्रयास कहे जाते है। जैनेन्द्र का 'तपोभूमि' भी इसी कारण औपन्यासिक कला की दृष्टि से दुर्बल कृति हो गया है। चार प्रमुख पात्र अलग-अलग जमकर कहानी कहते है। पर कहानी पहले ही पात्र की आत्म-कथा मे आजाती है और उससे पाठक की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, थोडे-से खुले सूत्रो को लेकर कौतूहल को अन्त तक नही खीचा जा सकता। पर इलाचन्द्र जोशी ने कौशल से अपने उपन्यास 'पर्दे की रानी' को आकर्षक बना दिया है। मराठी मे खाडेकर के 'जळलेला मोहर', 'रिकामा देव्हारा' आदि इसी शैली मे लिखे उपन्यास है। इन उपन्यासो मे एक समय पर एक व्यक्ति का निवेदन होने से अन्य-पुरुष की भूमिका मे लिखे गए उपन्यासो मे मिलने वाले सघर्ष और विरोध का प्राय अभाव है। कही-कही पुनरुक्ति दोष भी आगया है। 'क्रौचवध' मे कथा विभिन्न पात्रो द्वारा प्रस्तुत की गई है, अत घटनाओ और प्रसगो का उसी रूप मे बार-बार वर्णन उबाने वाला हो गया है। कुछ पात्र सीधा-साधा आत्म-निवेदन न कर पत्रो तथा डायरियो द्वारा अपनी-बीती कहते है। यह पद्धति 'जळलेला मोहर' व 'क्रौचवध' दोनो उपन्यासो मे मिलती है। 'रिकामा देव्हारा' मे लेखक ने कथा तो पुष्पा, अशोक, सुशीला और दासोपन्त के मुख से ही कहलवाई है, पर उसको प्राचीन घटित इतिवृत्त का रूप नही दिया गया है, अपितु घटनाओ को एक पात्र के बाद दूसरे से इस क्रम से कहलवाया है कि कथा मे नाटकीय वर्तमानता (ड्रैमैटिक प्रेज़ेंस) आगई है। कथा का प्रवाह कालक्रमानुसार अन्त तक सतत गतिमान रहता है, कही भी उसका तारतम्य नही टूटता। हिन्दी मे 'नदी के द्वीप' मे इस शिल्प का प्रयोग हुआ है।

जैनेन्द्र के 'कल्याणी' मे एक अन्य रूप मे कथा प्रस्तुत की गई है। यहा वकील साहब एक तटस्थ दृष्टा है, जो पात्र होकर भी कथा से अलिप्त हैं। वह उपन्यासकार के ही प्रतिनिधि है। उन्ही की आखो से लेखक डा० असरानी और कल्याणी के जीवन को देखता है। जीवन की सारी झाकी नही आ सकती, अत वकील साहब के कई मित्र बीच-बीच मे प्रसंग उपस्थित करते है और कल्याणी के चरित्र को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखते है। इस कथा-उपस्थापन की पद्धति से लेखक सत्य के अन्तर मे पहुँचना चाहता है।

आधुनिक उपन्यास-लेखको ने अपने युग के नये यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए पिछले उपन्यासो द्वारा स्थापित परम्परागत शिल्प को अनुपयुक्त और युग-सत्य की अभिव्यक्ति मे बाधक समझा। वर्जिनिया वूल्फ के शब्दो मे, "इस समय कथा-साहित्य का जो रूप प्रचलित है, उसमे अपेक्षित वस्तु पकड मे न आकर प्राय छूट जाती है, चाहे हम उसे जीवन कहे या आत्मा, सत्य कहे या वास्तविकता, उसे हम जिस ढाचे मे रखना चाहते है, वह अनुपयुक्त होने के कारण उसे व्यक्त नही कर पाता—अत उपन्यासकारो

को इस बात की पूरी छूट दे दी गई कि वे जैसे चाहे, उसके अगो को तोड़ मरोडकर, उसे नया रूप दे सकते है।"[१] अतः पहले यूरोप मे और फिर वहाँ की देखादेखी हिन्दी और मराठी मे भी नवीन रूप-शिल्पों का प्रयोग हुआ, जिनके द्वारा कलात्मक नवीनता से प्राप्त होने वाला सौन्दर्य-बोधात्मक आनन्द (ऐसथीटिक प्लेजर) उपलब्ध हुआ।

जीवन को जी चुकने के बाद आत्मानुभूत जीवन-तथ्यों के निरपेक्ष अकन के आधार पर स्मृतियो और आत्म-घटित व्यापारो के बीच से कथा प्रस्तुत करने की शैली इधर की ओर के उपन्यासकारों ने अपनाई है। आत्म-कथात्मक उपन्यास के लिए यह आवश्यक नही कि उसमे पूर्वदीप्ति का प्रयोग किया ही जाय। परन्तु कुछ आधुनिक उपन्यासकारो ने रोचकता लाने के लिए अपनी आत्म-कथात्मक रचनाओ मे पूर्वदीप्ति का उपयोग किया है। यद्यपि इन रचनाओ मे अतीत की स्मृतियो को लिपिबद्ध किया जाता है, परन्तु इसमे घटनाओं के अतीत का क्रमिक वर्णन नही रहता, अपितु वे पात्रो की स्मृति से अतीत के अन्धकार को दीप्त करती चलती है। इसमे कथाकार कथा को पात्रो के मस्तिष्क मे उठी हुई स्मृति-तरगो के रूप मे प्रस्तुत करता है। अतः उपन्यास मे मनोवैज्ञानिकता बढ जाती है। ऐसी रचनाओ मे लेखक वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओ को पात्रो के स्मृति-खडों के रूप मे बिखेरता है, जिसमे उनमे वर्तमानता आजाती है। प्रासगिक कथाएँ यहाँ भी होती है, पर वे अपनी स्वतत्र सत्ता की घोषणा नही करती, मुख्य कथा की क्रोड़ मे ही पल्लवित होती है, उसी मे तदाकार हो जाती है। उदाहरण के लिए, नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' में शशि, शान्ति या आशा की कथाएँ मुख्य-कथा मे घुलकर तदाकार हो गई है। इस पद्धति का गुण यह है कि वह बीच-बीच मे कथा कहने वाले को वर्तमान स्थिति पर विवेचन करने का अवकाश देती है। हिन्दी मे जैनेन्द्र और अज्ञेय, तथा मराठी में माडखोळकर, पु० य० देशपाडे आदि ने बड़ी कुशलता से इस पद्धति का प्रयोग किया है।

पूर्वदीप्ति-पद्धति मे लिखे गए उपन्यासो के लिए यह आवश्यक है कि कथा जीवन के अत्यन्त उच्च, महत्त्वपूर्ण, विशिष्ट उद्दीप्त, वर्तमान क्षण मे कही जाय, चाहे वह क्षण फासी के तख्ते पर चढ़ने का हो और चाहे मृत्युशय्या का। 'शेखर: एक जीवनी' मे प्रथम, तथा 'सुखदा' या 'भंगलेले देऊळ' मे दूसरे को अपनाया गया है। जिस प्रकार किसी उच्च शिखर पर आसीन व्यक्ति दूर-दूर की चीज देखकर, उन्हे एक सगठित चित्र का रूप दे सकता है, उसी प्रकार जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण मे, स्मृत्यालोक मे, कही गई घटनाएँ, अनुभव और दृश्य एक तो सगठित रूप प्राप्त कर लेते है, दूसरे, सहृदयतापूर्ण चित्रण होने के कारण उनमे कला की वह दीप्ति आजाती है, जो मानवीय-भावनाओ की गहराई मे डूबकर ही प्राप्त की जा सकती है। कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ समय पूर्व मनुष्य को उसका भूत-जीवन विविध मानस-चित्रो के रूप में दिखने लगता है। इसी लिए इन उपन्यासकारो ने स्मृत्यालोक के लिए प्रायः इसी भूमिका को चुना है। 'शेखर:

---

[१] वर्जिनिया वल्फ 'माडर्न फिक्शन'—दी कामन रीडर; पृष्ठ १४०।

एक जीवनी' के सम्पूर्ण स्मृत्यालोक की भूमिका यही है—फांसी, मृत्यु अथवा मृत्यु की अनिवार्यता का बोध।

"फाँसी !

.........सिद्धि कैसी—काहे की ? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी—मेरे जीवन की क्या थी।......मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने जीवन को दुबारा जी रहा हूँ।"[1] इस प्रत्यावलोकन मे शेखर के चेतना-प्रवाह मे भी अनेक तरगे उठती है। स्मृति के दर्पण मे वह अपने सम्पूर्ण भूत को प्रतिविम्बित होते हुए देखता है। उसका सारा पिछला जीवन विभिन्न मानस-चित्रो के रूप मे प्रत्यक्ष होता है और जिस क्रम से वे चित्र उसे दीखते है, उसी अनुक्रम से वह उन्हे प्रस्तुत करता है, इसीलिए 'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग मे घटनाओ का पूर्वापर संवध और कार्य-कारण-शृखला-युक्त कथानक नही है। यह अधिक मनोवैज्ञानिक भी है, क्योकि मृत्यु के समय स्मृतियाँ क्रमिक हो भी नही सकती। यदि इसमे अनुक्रम है भी, तो वह भावो और मनस्थितियो का है। इन्ही भावो और मनस्थितियो के उत्तरोत्तर विकास का, उन घटनाओ और दृश्यो के साथ, जिन पर वे आश्रित हैं, चित्रण और विश्लेपण करना ही लेखक का उद्देश्य था। ये चित्र अपने आप मे स्वतत्र होते हुए भी समन्वित प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध है। "घटनाएँ स्वभावत. विखरी है। परन्तु वे अह के विद्युत-सूत्रो से खिचकर इतने सहज रूप मे समीकृत हो गई हैं—कर दी गई है—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष वन गया है।"[2]

मराठी मे फडके के 'प्रवासी' का राजाभाऊ मृत्युशय्या पर पडा हुआ, अपने अस्पष्ट धुधले नेत्रो के सम्मुख जीवन के छोटे-वडे प्रसगो को देखता है, तो विश्राम वेडेकर के 'रणागण' का चक्रधर अपनी प्रेयसी हर्टा की आत्म-हत्या का समाचार सुनकर उद्विग्नतापूर्वक विगत स्मृतियो की कड़ियाँ जोड़ने लगता है और उस स्मृत्यालोक मे वह नाज़ी-यूरोप मे जीवन की दुर्दशा, युद्धपीड़ित ससार की पीड़ा और साधारण मानव का जीवन-प्रेम चित्रित करता है। इसी प्रकार खाडेकर के 'दोन मने' में रमेशवावू विगत घटनाओ का चित्रण स्मृति रूप मे करते हैं। इस पद्धति में लिखा गया सर्वाधिक सफल मराठी उपन्यास है माडखोळकर का 'भगलेले देऊळ', जिसमे मृत्यु-शय्या पर पडी अनु अपने जीवन की विगत दुखभरी घटनाओ का चित्र प्रस्तुत करती है।

किसी विशिष्ट तथा उद्दीप्त क्षण के शिखर पर से विगत जीवन का सिंहावलोकन करते समय पात्र कथा को आत्म-निरीक्षण के रूप मे उपस्थित करते है और परिणाम यह होता है कि कथा की गति एक निश्चित दृष्टिकोण से मर्यादित होकर तीव्रतर और प्रखर हो उठती है। ऐसे उपन्यासो मे पाठक, जो कुछ देखता है, वह कथानिवेदक के दृष्टिकोण से देखता है और उनकी घटनाएँ मुख्य पात्र के भाव-केन्द्र के चारो ओर घूमती हैं। अत: पाठक के लिए वह सम्पूर्ण उपन्यास का व्याख्याकार

---

[1] अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी' : तृतीय संस्करण, प्रवेश, पृष्ठ २१।

[2] डा० नगेन्द्र, 'विचार और अनुभूति', पृष्ठ १५१।

हो जाता है। एक सीमित दृष्टिकोण की परिधि (फोकस) मे लाकर उपन्यास का संगठित चित्र उपस्थित करना ही इन उपन्यासो की शिल्प सम्बन्धी विजय है।

यद्यपि पूर्व-दीप्ति पद्धति से उपन्यास-कला को वहुत सहायता मिली, पर इसमे भी कुछ त्रुटियाँ थी। प्रथम तो, इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता मे ग्रनुपातिकता ग्रौर सतुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरे, पाठको मे तात्कालिता के भाव की भ्रमोत्पत्ति भी प्राय. नही हो पाती थी, क्योकि कथा का वृहदाश इस प्रकार निवेदित होता था, जैसे वह हो गया है। घटनाग्रो को मानसिक स्तर पर लाने के परिणाम-स्वरूप इस शैली मे लिखे उपन्यासो की घटनाग्रो मे मानव की ग्रनुचिन्तनशीलता ग्रौर भावप्रवणता ग्रवश्य ग्रागई थी, पर ग्रभी भी उसका सक्रिय, वाह्य, क्रियात्मक रूप बना हुग्रा था। इन त्रुटियों का परिहार करने के लिए ही मानो चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ग्राफ-कानशसनैस) पद्धति का ग्राविष्कार हुग्रा। 'चेतना-प्रवाह' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने ग्रपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ग्राफ साइकोलॉजी' में किया था।"[1] ग्रौर ग्रालोचना के क्षेत्र मे इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग डॉरिथी रिचर्डसन के उपन्यास 'पॉइण्टेड रूफ' की चर्चा करते समय मिस सिक्लेयर ने किया था।

चेतना-प्रवाह पद्धति मे घटनाग्रों को वाह्य-संसार से हटाकर मानसिक-संसार मे ला विठाया जाता है ग्रौर चेतन मन की सूक्ष्म स्थितियो, भावो, ग्रौर सवेदनाग्रो को सफलतापूर्वक शब्द-वद्ध किया जाता है। वर्जिनिया वूल्फ कहती है, "मस्तिष्क पर जिस क्रम से विचार ग्रकित हो, उसी क्रम से उनका निवेदन होना चाहिये। हमे उस प्रतिछाया को खोजना है, जो प्रत्येक दृश्य ग्रौर घटना के कारण हमारी चेतना पर पडती है, चाहे वह कितनी ही ग्रसम्वद्ध ग्रौर विशृखलित क्यो न हो।"[2] ग्रत इस पद्धति के उपन्यासो मे लेखक को जकडे रखने वाले प्लाट, शिल्प, उद्देश्य ग्रादि के वधन छिन्न-भिन्न हो जाते है। न उसमे कार्य-कारण शृखला की ग्रावश्यकता रहती है, न ग्रादि, मध्य ग्रौर ग्रत का प्रतिवन्ध, क्योकि हमारे ग्रन्तर्जीवन की चेतना पर, ग्रनुभूति पर, कोई वाहरी प्रतिवन्ध हो ही नही सकता। 'तावडी माती' का ग्रन्त कोई नहीं वता सकता। ग्रपहृत सरजा पर कौन-कौन से दुष्प्रसग ग्राए, शिवा के कुटुम्ब का क्या हुग्रा, ग्रन्य पात्रो का ग्रन्त कैसे हुग्रा, ग्रादि के विषय मे कुछ भी नही वताया गया है। कथा के सूत्र लटके रह जाते है, उन्हे लपेटने का कोई प्रयत्न नही किया गया है। पात्रो का चरित्र-चित्रण तर्कशास्त्र-सम्मत विशुद्ध युक्तिवाद पर ग्राधारित नही होता, ग्रपितु मन के गहन व्यापारो मे झिलमिलाकर उत्पन्न एव विलीन होने वाली प्रतिक्रियाग्रो पर ग्राश्रित होता है। उन्हे किसी वाहरी रूप-विधान की ग्रावश्यकता नहीं। यदि यह रूप-विधान दिया जाता है, तो उपन्यासकार की सुविधा के कारण। उसे तो शब्दो का वन्धन तक स्वीकार नहीं, क्योकि कभी कभी ग्रनुभूतियाँ शब्दो द्वारा भी ग्रभिव्यक्त नही हो पाती हैं। यदि शब्दो मे वह चेतना-प्रवाह

---

[1] जे० इसाक, 'एन ऐसैसमेंट ग्राफ ट्वैंटीग्रथ सैन्चुरी लिटरेचर', पृष्ठ ८८ से उद्धृत।

[2] वर्जिनिया वूल्फ, 'दी कामन रीडर', पृष्ठ ६५।

को प्रकट भी करता है, तो इस ढग से कि उससे पाठक को सम्पूर्ण विचार-परम्परा की पुनरावृत्ति, तर्क से नही अपितु सवेदना के मार्ग से पुन. अनुभव होने लगती है। बाहर से दिखाई देने वाली हलचल के पीछे, जो सुप्त सवेदनाशक्ति है, उसी को कागज़ पर अभिव्यक्त करने की ये लेखक चेष्टा करते है। उसकी भाषा साधारण भाषा से भिन्न होती है। मर्ढेकर लिखते है, "चेतना-प्रवाह का वर्णन शब्दो मे यथार्थता से करने के हेतु भाषा की शब्द-सपत्ति और व्याकरण का सामान्य स्वरूप बदलना होगा, विकृत करना होगा, ऐसा किये बिना चेतना-प्रवाह की विलक्षण उलझनो को उपन्यास मे प्रतिबिम्बित करना कठिन है।"[1] इन उपन्यासो की भाषा मे साधारण वाक्य-विधान से काम नही चलता, नये अभिव्यजक, ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्द निर्माण किये जाते हैं, शब्दो को चाहे-जहाँ तोड़ दिया जाता है, एक शब्द के एक अश को दूसरे के अश से जोड़ा जाता है। चेतना-प्रवाह पद्धति के प्रभाव के कारण ही आज के उपन्यासो मे स्वगतोक्तिपूर्ण हृदयोद्गारो (मॉनोलोग इण्टीरियर) का प्राबल्य हो गया है, जिसकी सहायता से मानव-मन की असगत, क्रमहीन प्रक्रिया को उपन्यास के ताने-बाने मे आसानी से बुन दिया जाता है।

इस पद्धति के उपन्यासो मे छोटी-छोटी, सुप्त, उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं और जिन्हे हम पहले असगतियाँ कहकर टाल देते थे, वे प्रमुख बन जाती हैं। इनमे हृदय की प्रत्येक धड़कन का, भाव-घनत्व के लययुक्त उत्थान और पतन का बड़ा विशाद एव हृदयस्पर्शी चित्रण होता है। ऊपर से, बौद्धिक दृष्टि से देखने पर उनमे कोई व्यवस्था नही दिखाई पड़ती, पर वस्तुत. उनमे अपनी आन्तरिक व्यवस्था अवश्य होती है।

हिन्दी मे इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। इसका आशिक प्रयोग प्रभाकर माचवे के 'परन्तु', अज्ञेय के 'नदी का द्वीप' आदि मे हुआ है। मराठी मे मर्ढेकर ने 'रात्रीचा दिवस' मे सर्वप्रथम इस पद्धति का प्रयोग किया। दिक्पाल के सुप्त मन के चित्रण से पाठक को उसकी मनोरचना का जो ज्ञान होता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म, तरल व भेदक है। भाषा मे काव्य का उद्दामवेग, असबद्धता और विकृति है। उसका सहज ही अर्थ नही लगाया जा सकता। अक्षरो को उलट-पुलट कर पहेलियाँ जगह-जगह प्रस्तुत की गई हैं। नायक के जीवन मे खीचतान है, केन्द्र एव सगति का अभाव है, अतः उपन्यास का सम्पूर्ण प्रसार भी विकेन्द्रित है। इसके विपरीत 'पाणी' मे शिवा के चेतना-प्रवाह मे उसके सुश्रृखलित अनुभवो के कारण सुसंगति है। 'रणागण' मे मन पर जो-जो अनुभव, जिस-जिस रूप में पड़े, उसी रूप और क्रम मे उनका अंकन किया गया है। किसी विशिष्ट उद्देश्य से उनका चुनाव करने, उनमे व्यवस्था एव सुश्रृखलता आदि लाने का प्रयास नहीं किया गया है। चेतना के प्रवाह को स्वाभाविक गति से आगे बढने, मुड़ने एव कभी धीरे-धीरे तथा कभी तीव्र गति से अग्रसर होने दिया गया है। मन के गूढतम गह्वरो मे छिपे रहने वाले विकृत विचारो को प्रकाश मे लाया गया

---

[1] मर्ढेकर, 'रात्रीचा दिवस', प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

है। अज्ञान, प्रेम आदि वृत्तियो का निर्भयतापूर्वक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

इस पद्धति का प्रयोग जिन उपन्यासो मे हुआ है, उन्हे देखकर कभी-कभी यह आशका होने लगती है कि इनमे चित्रित मनोविश्लेषण कही अयथार्थ तो नही है? क्योंकि मन के अर्धजाग्रत अथवा सुप्त स्तरो का अकन, जिस पद्धति से हुआ है, वह अचूक नही जान पड़ती। यह चेतना-प्रवाह कृत्रिम, यान्त्रिक एव साँचे मे ढला प्रतीत होता है, क्योंकि लेखको ने तर्क या अनुमान का अधिक सहारा लिया है, अनुभूति का कम। यह पद्धति न तो कथासूत्रो को एकत्र करने और न जीवन-दर्शन के चित्रण मे सहायक है। इसीलिए कुलकर्णी ने लिखा है, "···परन्तु एक बात सच है कि कला की दृष्टि से, कलापूर्ण सत्य-दर्शन की दृष्टि से वह निरर्थक है, और इसलिए त्याज्य है।"[1] पर इतना स्वीकार करना पडेगा कि इस पद्धति ने मानव मनोरचना का जो ज्ञान पाठको को कराया है, वह सूक्ष्म, तरल व गहरा है। साथ ही इस पद्धति के द्वारा अनेक बाते कलापूर्ण ढग से व्यक्त की जा सकती है, जो अन्य किसी भी प्रकार की शिल्प-विधि द्वारा व्यक्त नही की जा सकती थी।

काल-विपर्यय पद्धति भारत के लिए नवीन पद्धति नही है, क्योंकि बाणभट्ट के 'कादम्बरी' मे इसका प्रयोग पाया जाता है। इस पद्धति मे घटनाओ और वृत्तो को काल-क्रम के अनुसार प्रस्तुत नही किया जाता, अपितु घटनाएँ कुछ ऐसे ढग से प्रस्तुत की जाती हैं कि उनके काल-क्रम मे भेद आजाता है। पात्रो के चरित्र-विकास की गति को भी उलट-पुलट कर उपस्थित किया जाता है। उनके कार्यों, विचारो तथा भावनाओ को इस रूप मे प्रकट नही किया जाता कि पाठक को पता लग सके कि एक स्थान पर आकर उन्होने अपने विकास-क्रम की एक मजिल पार करली है। उपन्यास के अन्तिम शब्द तक वह निश्चित रूप से नही कह सकता कि कहानी अब इस बिन्दु तक पहुँच गई है। इस शैली का परिष्कृत एव कलात्मक रूप हमे हिन्दी मे 'परदे की रानी', 'मनुष्य के रूप' तथा मराठी मे 'दोन मनें', 'बस नम्बर बारा' आदि आधुनिक उपन्यासो मे मिलता है। इस पद्धति मे लिखने के दो लाभ है। प्रथम तो कथा-निवेदन मे सक्षिप्तता आने से माधुर्य बढ़ जाता है, दूसरे, जिज्ञासा और कुतूहल की भावना जागृत कर उपन्यास का आकर्षण बढ़ाने मे बड़ी सहायता मिलती है।

कुछ उपन्यासो मे सम्पूर्ण चरित्र-अकन और व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा के लिए जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी जाती है और विकास, अन्तराल के आधार पर पत्र, सम्भाषण और वर्णन की सम्मिलित शैली का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी मे 'नदी के द्वीप', 'परख' और 'तपोभूमि' इस शैली मे लिखी गई रचनाएँ है। इसी प्रकार मराठी मे श्रीधर देशपांडे के 'पाऊलवाट' मे कुछ भाग वर्णनात्मक है, कुछ स्वय लेखक व पात्रो के बीच सभाषण के रूप मे व कुछ भाग-एक पात्र से कहलाया गया है। खाडेकर की 'उल्का' मे आत्म-निवेदनात्मक, पत्रात्मक शैली और डायरी के उद्धरणों द्वारा कथा का विकास किया गया है। 'पहिले प्रेम' और 'क्रौंचवध' मे भी मिश्र-पद्धति के प्रयोग ने उन्हे अधिक कलात्मक बना दिया है। इन प्रयोगो द्वारा एक तो कथा मे

---

[1] वा० ल० कुलकर्णी, 'वाङ्मयीन वादस्थलें', पृष्ठ १११।

संक्षिप्तता आजाती है, दूसरे, कुतूहल जाग्रत कर सकने मे सफल होने के परिणाम-स्वरूप वे अधिक आकर्षक बन गए हैं। अभिनवता का आकर्षण तो उनमे है ही।

सिनेमा-शिल्प ने भी मराठी तथा हिन्दी उपन्यासों को प्रभावित किया है। नारायण हरि आप्टे का 'पाच तं पाच' सिनेरियो-शिल्प मे लिखी गई रचना है। इस शिल्प की विशेषता यह है कि इससे कई व्यक्तियो के भावो, विचारो और कार्यो का समकालवर्तित्व (साइमलटेनिटी) दिखलाया जा सकता है। 'पाच तें पांच' मे कांग्रेस, गाधीजी, समाजवाद और हिन्दू-महासभा को एक साथ रखा गया है। इतना ही नहीं, इसमे एक व्यक्ति के विभिन्न भावो और मनस्थितियो का भी समकालवर्तित्व दिखलाया गया है। हिन्दी मे १९५० ई० के उपरान्त लिखा गया सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' इस पद्धति मे लिखा गया सफल उपन्यास है। सिनेमा की 'क्लोज़-अप', 'स्लो-अप' और 'कट-बैक' पद्धतियो का प्रयोग भी आधुनिक उपन्यासो मे होने लगा है। चलचित्र मे कभी मुख या अन्य किसी अवयव की आकृतियो और आकार-प्रकारो का वैविध्यपूर्ण प्रदर्शन अधिक देर तक होता रहता है। यह कार्य केवल मनुष्य की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के लिए ही नही होता, अपितु उसके विविध भावो के प्रकटीकरण और आन्तरिक सौन्दर्य के रसास्वादन के लिए भी किया जाता है। इसे 'क्लोज़-अप' कहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पात्रगत हमारे संस्कार हमारे अन्तस मे उसी प्रकार घुलते रहते हैं, जिस प्रकार मिश्री की डली मुँह मे। 'स्लो-अप' पद्धति मे गति की तीव्रता को इतना धीमा करके दिखाया जाता है कि उसके एक-एक क्रम को हम स्पष्टता से देख सकते हैं। इन दोनो पद्धतियो के विचित्र संयोग से उपन्यास कितना सुन्दर हो सकता है, इसका उदाहरण अज्ञेय का 'नदी का द्वीप' है। उपन्यास के प्रथम पन्ने पर ही रेखा द्वारा भुवन की कुहनी छूने की प्रतिक्रिया का चित्रण किया गया है और वह चुनचुनाहट प्रथम परिच्छेद के अत तक, जो चालीस पन्नो का है, बनी ही रहती है। 'क्लोज-अप' का उदाहरण हम उस प्रसग के वर्णन मे पाते है, जहाँ भुवन रेखा को जीवन का आनन्दोत्कर्ष (एक्सटैसी) प्रदान करता है अथवा जहां उसके हैमरेज का प्रसंग है। इन पद्धतियो की सहायता से मनोविज्ञान की अन्तिम बूंद तक निचोड़कर पाठकों को पिला दी गई है।

कट-बैक पद्धति मे विगत जीवन के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं। 'नदी के द्वीप' मे रेखा और उसके पति हेमेन्द्र के सम्बन्धो का सीधा सरल चित्रण नही किया गया है, अपितु भुवन के जिज्ञासा करने पर कि क्या उन पति-पत्नी में कोई समझौता नही हो सकता, रेखा का हृदय अन्दर से हिल उठता है और वह इस विवश, करुण और कातर मानसिक परिस्थिति मे अपनी खोई-खोई-सी दृष्टि से उस स्थिति को देखती है और पूर्व परिचित ग्लानि का पुन. अनुभव करती है। अतीत का एक दृश्य उसके मानस-पटल पर छा जाता है और वह डेढ़ पन्ने तक चलता रहता है। इससे रेखा की मानसिक स्थिति का, उसके मानस की अतल गहराई एव सतत प्रक्रिया का हमे

प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। मराठी में पु० य० देशपांडे ने 'काळी राणी' मे इस पद्धति का सफल प्रयोग किया है।

किसी रचना का कई कहानियों के रूप मे लिखा जाना बहुत पुरानी और अति परिचित पद्धति है। अज्ञेय ने धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवा घोडा' की भूमिका में इसका उल्लेख किया है, "··अलफलैला वाला ढग पंचतन्त्र वाला ढंग, बोकेच्छियो वाला ढग जिसमे रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी मे से कहानी निकलती है।"[1] 'कथा-सरित्सागर' मे नरवाहनदत्त, मन्त्री यौगन्धरायण और रानियो मे कभी-कभी प्रेम के किसी पहलू को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने निष्कर्ष की सत्यता किसी कथा के माध्यम से सिद्ध करता है। एक ही वस्तु को कई व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से कई सन्दर्भो मे रखकर देखते है। कुछ सूक्ष्म परिवर्तनो के साथ इस पद्धति का प्रयोग अनेक आधुनिक उपन्यासो मे किया गया है। खाडेकर का 'पहिले प्रेम' विभिन्न कथाओं के मोहक सूत्रों द्वारा निर्मित रचना है। प्रत्येक कथा अपने मे स्वतन्त्र भी है और उपन्यास का एक प्रकरण भी। प्रथम प्रेम के प्रति युवक-मन मे जो भ्रममूलक व काव्यमय कल्पना बसी हुई है, उसी का निराकरण करने के लिए देवदत्त-प्रभाकर, सुखाराम-गोकुला आदि की कथाएं रखी गई हैं। इसी प्रकार 'जळलेला मोहर' में प्रत्येक कथा के पात्रो को भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में वैवाहिक जीवन के विभिन्न अनुभव होते हैं, पर उन सबका उद्देश्य यही बताना है कि वैवाहिक जीवन का सुख और सन्तोष सीमित मात्रा मे देह-सुख पर निर्भर है।

हिन्दी मे इस प्रकार की प्रथम रचना चतुरसेन शास्त्री का 'अमर अभिलाषा' है। यद्यपि उसका उद्देश्य एक है—विधवाओ की यत्रणा का चित्रण कर, उनके प्रति अनुकम्पा जागृत करना, तथापि उपन्यास की भिन्न-भिन्न कहानियों मे कोई नैसर्गिक सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक कहानी स्वतन्त्र है। उन्हें परस्पर सूत्रबद्ध करने वाले तन्तु बड़े क्षीण हैं। जैनेन्द्र एवं ऋषभचरण के सम्मिलित प्रयत्नो का फल 'तपोभूमि' भी इसी पद्धति की रचना है, जिसमे चार व्यक्ति अपनी-अपनी जीवनगाथा सुनाते है। इसकी चारो कहानी सुगठित हैं और यदि कही शृंखला टूटती है, तो उसे बड़े कलात्मक रूप में जोड दिया गया है।

इधर की ओर उपन्यास-क्षेत्र मे शिल्प सम्बन्धी कुछ और भी नये प्रयोग हुए हैं। आत्म-कथा शैली मे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' नामक उपन्यास लिखा है। यह एक अभिनव प्रयोग है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि पाठक को भ्रम होने लगता है कि कही लेखक ने स्वय बाणभट्ट द्वारा लिखित आत्म-चरित का हिन्दी मे रूपान्तर तो नही किया है। वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए जिस प्रकार मराठी मे वामन मल्हार जोशी ने 'आश्रमहरिणी' मे यह कहकर कि वे पाडुलिपि प्रस्तुत कर रहे हैं, पाठक के मन मे

---

[1] धर्मवीर भारती, 'सूरज का सातवा घोडा', भूमिका, पृष्ठ ११।

भ्रम उत्पन्न किया था, उसी प्रकार द्विवेदी जी ने 'आमुख', 'उपसंहार' और पाद-टिप्पणियो का प्रयोग किया है। सस्कृत की कथा-आख्यायिका शैली ने उसे और भी आकर्षक रूप प्रदान कर दिया है। बाणभट्ट की शैली के अनुरूप रस-घनत्व, आलंकारिक वस्तु-वर्णन और पद-विन्यास द्वारा पाठको के मन मे आत्म-कथा की प्रामाणिकता उद्भासित करने मे लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। पर इसका यह अभिप्राय नही कि प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन आख्यायिका है। वह आधुनिक उपन्यास कहलाने का ही अधिक अधिकारी है। उद्देश्य के अनुरूप प्राचीन शैली के साथ गूढ भावो को व्यजित करने वाली आधुनिक शैली का सामजस्य स्थापित कर लेखक ने हिन्दी-उपन्यास को एक अभिनव देन दी है। मराठी मे जयदेव कवि पर लिखा गया 'पद्मा' का आधार तो उनके विषय मे प्रचलित किंवदतिया ही हैं, पर उसमे शिल्प 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' से भिन्न है।

नए उपन्यासो मे आँचलिक और स्थानीय रंग (रीजनल टच एण्ड लोकल कलर) लाने का श्रेय मराठी मे दिघे, ना० के० महाजन, श्रीराम अत्तरदे आदि को है। यद्यपि उनसे पूर्व भी अनेक लेखक अधिकाधिक यथार्थानुकारिता और स्वाभाविकता लाने के लिए किसी प्रदेश की विशेष भाषा, रीति-रिवाज आदि का चित्रण करते रहे थे, परन्तु इनके उपन्यासो मे एक प्रदेश या जाति विशिष्ट की भौगोलिक, सामाजिक और सास्कृतिक विशेषताओ का चित्रण किया गया है, जिसके कारण उसे 'आँचलिक उपन्यास' कहा जाता है। साथ ही वहा के लोगो के जीवन-स्तर, रीति-रिवाज, त्यौहार, धर्म, लोक-विश्वास, भाषा आदि का वैविध्यपूर्ण चित्रण विशेष रूप से किया गया है। ऐसे उपन्यासो मे कथा-सूत्र क्षीण और जीवन-वैविध्य अधिक होने के कारण कथा बड़ी रुक-रुककर चलती है, पर उससे आकर्षण कम नही होता। एक गाव या जाति के जीवन के इतने अधिक पक्षो का सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की दिशा मे ये उपन्यास अत्यन्त सफल रहे हैं। ऐसे उपन्यासो का समाजशास्त्रीय मूल्य ही उनको श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से हिन्दी मे १९५० ई० के उपरान्त रचे गए, 'मैला आँचल' 'परती परिकथा' आदि महत्वपूर्ण प्रयोग है।

मराठी मे रघुवीर सामंत का 'उपकारी माणसें' एक अभिनव प्रयोग है। यह उपन्यास चार भागो मे विभक्त है और अति दीर्घकाय है। उसमे बम्बई के एक उपनगर मे रहने वाले ठाकुर परिवार का दो पीढियो का जीवन-पट चित्रित किया गया है। पहले खड मे कमला मौसी एक दिन पत्रो की गड्डी निकालकर, उसमे से पत्र भी पढ़ती रहती हैं और बीच-बीच मे घर का काम भी करती रहती है। उस बीच लेखक चारो ओर की परिस्थिति, घर के वातावरण और बाल-बच्चो की अवस्था व उनके स्वाभावादि का ज्ञान पाठक को कराता जाता है। चौथे भाग मे एक और शिल्प-सम्बन्धी प्रयोग किया गया है। इस भाग की सम्पूर्ण कथा नाट्य-रूप सवादो मे लिखी गई है और लेखक ने उसे नाट्यात्मक उपन्यास का रूप दिया है। हिन्दी मे १९५० ई० तक के उपन्यासो मे इस प्रकार की कोई रचना मेरे देखने मे नही आई।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि उनमे से अधिकांश प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गए है। इन प्रयोगो द्वारा हिन्दी तथा मराठी का उपन्यास एक नई दिशा की ओर मुड रहा है, उसमे स्वस्थ सामाजिकता की प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ के नये स्तरो का विकास हो रहा है। प्रयोग की दिशा मे प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण उसमे अभाव और त्रुटियाँ हो सकती है, परन्तु जिस दिशा मे ये प्रयोग हो रहे है, वह दिशा स्वस्थ है। आज के यथार्थ को, मानव व्यक्तित्व के सघटनात्मक और निर्माणात्मक तत्वो को विभिन्न दृष्टिकोणों से, विभिन्न आयामो में चित्रित कर सकने के लिए आज का उपन्यासकार, जिन नई पद्धतियो का प्रयोग कर रहा है, वे कुछ त्रुटिपूर्ण होते हुए भी अभिनन्दन की अधिकारी हैं।

उपन्यास के उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए जव अभिनव शिल्प का आश्रय लिया जाता है, तो वह उपन्यास को कलात्मकता प्रदान करता है। मराठी मे 'विधवा-कुमारी', 'गोदू गोखळे', 'सुकलेले फूल' और 'भंगलेले देऊळ' तथा हिन्दी मे प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की कृतियो मे उद्देश्य और शिल्प की संगति ने ही उन्हे कलात्मकता प्रदान की है। इसके विपरीत अपनी कला एव सौन्दर्याभिरुचि के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी ना० सी० फडके के उपन्यासो मे विपय और शिल्प की एकरूपता का अभाव है। इसका कारण यह है कि उन्होने अपने उपन्यास किसी विशिष्ट जीवन-दृष्टि की अभिव्यंजना को लक्ष्य वनाकर नही लिखे है और न किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करने की अनिवार्य वाध्यता ने ही उन्हे लेखनी ग्रहण करने की प्रेरणा प्रदान की है। उनका तो लक्ष्य ही विभिन्न उपन्यासो से पाठको का मनोरजन करना था और उन उपायो मे से एक उपाय, जो उन्हें सूझा, वह था प्रत्येक नई कथा को एक नवीन रूप-विधान मे प्रस्तुत करना, जिससे नवान रूप-विधान का आकर्षण-मात्र उनके पाठको को मुग्ध कर सके। जो नये-नये प्रयोग उन्होने किये, वे इसलिए नही कि उद्देश्य और विपयवस्तु अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए नवीन शिल्प की माग करते थे, अपितु इसलिए कि मराठी में उस समय तक वैसा शिल्प नही था और उस नये शिल्प को अपनाकर, वह पाठको की नवीन के प्रति आकर्षण की वाल-वृत्ति को प्रभावित कर लोकप्रिय वन सकते थे। इसीलिए ना० सी० फड़के के उपन्यासो मे विषय एव रूप-विधान की एकरूपता नही है।

हिन्दी मे इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो मे भी यही दोष पाया जाता है। उनके उपन्यासो के आधारभूत उपजीव्य मनोवैज्ञानिक होते हुए भी विषय प्रतिपादन की शैली मनोविज्ञानोपयुक्त नही है। 'पर्दे की रानी' अवश्य इसका अपवाद है। उनके उपन्यासो मे घटनावैचित्र्य, कुतूहल-वर्धन और अनर्गल प्रलाप उनकी मनोवैज्ञानिकता को आघात पहुँचाते है। बहुत-सी घटनाएँ मनोविज्ञान के अनुकूल न होकर आकस्मिक दैवशात् घटी हुई-सी लगती है। कही-कही जैसे 'निर्वासित' मे लेखक की ओर से लम्बे-लम्बे वक्तव्य भी दिए गए है, जिनकी तुलना प्रेमचन्द की उपदेशात्मक प्रवृत्ति से की जा सकती है तथा जो मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के प्रतिकूल है। यह वर्णनात्मक

शैली चरित्रों के स्वाभाविक विकास और औपन्यासिक तत्वों के अनुरंजनात्मक स्पष्टीकरण में बाधक सिद्ध हुई है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में भी लेखक विषय एवं उद्देश्य के अनुरूप रूप-विधान नहीं रख सका है। उसने मृणाल के चरित्र पर प्रकाश केन्द्रित करना चाहा है, परंतु फोकस देने वाला लाल प्रमोद का बुद्धिवादी, छद्म रहस्यवादी एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, जो बुआ मृणाल को शहीद बनाकर भी उसे जीवन की वास्तविकता नहीं दे पाया है। यदि मृणाल की कथा स्वयं उसके मुख से कहलाई गई होती, तो उसका रूप अधिक सहज, विश्वसनीय एवं सामाजिकता उभारने वाला होता। उसमें यदि आध्यात्मिकता होती भी, तो वह अनिर्दिष्ट नहीं होती। परन्तु विषय के अनुरूप रूप-विधान न होने से यह त्रुटि आगई है।

आरम्भ, मध्य और अन्त—आरम्भ-काल में उपन्यास का सुनिश्चित आरम्भ, मध्य और अन्त होना आवश्यक माना जाता था। अधिकांश का मत था कि लेखक को पहले से ही उपन्यास के चरमबिन्दु एवं अन्त की कल्पना कर लेनी चाहिये और तदुपरान्त उसे घटनाओं की इस प्रकार योजना करनी चाहिये, जिससे उपन्यास का अन्त वांछित ही नहीं, स्वाभाविक भी प्रतीत हो। ना० सी० फडके ने 'प्रतिभा-साधन' में लिखा है, "कथा पढते समय पाठक को यह पता नहीं लगना चाहिये कि अन्त में क्या होगा, पर लेखक को पहले से ही उसका पूरा ज्ञान होना चाहिये।"[1] हरिभाऊ के 'गड आला पण सिंह गेला' में माघ वदी नवमी की मध्य रात्रि को होने वाली रोमाँचकारी घटनाओं को लेखक ने अपने उपन्यास के चरम-बिन्दु (क्लाइमेक्स) के रूप में कल्पित कर लिया था और तदुपरान्त उसी चरम-बिन्दु तक पहुंचने के लिए, उन्होंने अन्य घटनाओं की योजना की थी। इससे उपन्यास में कलात्मक सौन्दर्य आगया है। जिस कथा-बिन्दु से कथानक प्रारम्भ होता है, उसी बिन्दु तक लौट आता है। घटनाओं का चक्र पूरा हो जाता है। उद्वेग से जिस कथानक का प्रारम्भ हुआ था, उसकी परिसमाप्ति उदात्तता में होती है। लगभग यही बात प्रेमचन्द के 'प्रतिज्ञा' में है। आदि और अंत दोनों स्थलों पर वही पात्र हैं। उपन्यास का आरंभ और अन्त दाननाथ और अमृतराय की वार्ता से होता है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' की कथावस्तु का संघटन भी नाटक के पांच अंकों की तरह वैज्ञानिक है। कुमुद और निर्मल के पारस्परिक असंतोष में आरंभ है, दूसरे खंड में माधवचन्द के मनोगत भावों को जान कर, उन दोनों के पुनर्मिलन में सन्देह होने लगता है। तीसरे खंड में कुमुद के लिए वर्मा प्रयत्न करते हैं। इधर चपला भी निर्मल की ओर झुकती है और निर्मल कुमुद को भूलने का प्रयत्न करते हैं। वर्मा का प्रयत्न चौथे खंड तक चलता है, पर इसी खंड में वर्मा की हत्या एवं कुमुद के भावपरिवर्तन को देख, दोनों के मिलन की पुनः आशा होने लगती है। पांचवें खंड में कुतूहल अपनी सीमा पर पहुँचकर, कहानी वेग से अंत की ओर दौड़ती है।

आज इस प्रकार के सुनिश्चित अंत को कृत्रिम एवं जीवन के प्रतिकूल समझा

---

[1] ना० सी० फडके, 'प्रतिभा साधन', पृष्ठ १३७-३८।

जाता है। अतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे नाटक की पांच क्रमिक अवस्थाओं—प्रारभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—का दर्शन नही होता। इन लेखकों का कहना है कि उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है और जीवन की घटनाएँ इतने सुचारु एवं सुन्दर क्रम से नही घटती, जैसा कि प्रारम्भिक उपन्यासों मे दिखाया जाता है। पूर्ववर्ती उपन्यासो मे कार्य-अन्विति (यूनिटी ऑफ एक्शन) की प्रधानता रहती थी। कोई क्रिया प्रारंभ होकर अपनी नियमित गति से अपने निर्दिष्ट पथ पर कुछ देर तक अग्रसर होकर, अपने स्वरूप का विस्तार करती हुई समाप्त होती थी, पर आज परिवर्तित दृष्टिकोण ने इस एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अब लेखकों की यह मान्यता होती जारही है कि जीवन का वास्तविक चित्रण क्रिया-सातत्य के द्वारा नही हो सकता। जीवन मे कोई भी क्रिया प्रारम्भ होकर साफ-सुथरे ढग से समाप्त नही होती, जिसकी समाप्ति पर पर्दा गिरता-सा मालूम पडे। उनका विश्वास है कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था उपन्यास के आदि, अन्त या मध्य मे आकर जीवन को झुठलाएगी ही। इसी उद्देश्य को उपन्यासकार को अपनाना चाहिये। परिसमाप्ति के विचार को नही। समेटने के स्थान पर बिखेरने और खोलने की प्रवृत्ति होनी चाहिये।"[1] आज के उपन्यासो का अत उपसहार मे नही होता, मुख्य पात्रो के अतिरिक्त अन्य पात्रो का क्या हुआ, यह भी नही बताया जाता। यह अपूर्णता ही उपन्यास का सौन्दर्य-तत्व मानी जाती है। जिस प्रकार क्रमिक संतुलित पर्वत-श्रेणियो मे ही सौन्दर्य के दर्शन नही किये जाते, अपितु ऊबड-खाबड विश्रृखल पर्वतराजि भी दर्शक को मुग्ध करती है, उसी प्रकार विश्रृखलित कथासूत्र वाले उपन्यास मे भी कला की प्रचुर मात्रा देखी जाती है।

इसका यह अभिप्राय नही कि उपन्यास का आदि और अन्त प्रभावशाली न हो, क्योकि रचना का प्रारम्भ यदि हृदय की पकड़ करता है, तो उसका अन्त बहुधा पाठक के हृदय पर अविस्मरणीय, अमिट एव स्थायी छाप छोड जाता है। उपन्यास का आरम्भ यदि नाट्यात्मक हो जैसा कि माडखोळकर की 'चदनवाडी' का है, जिसमे येसू को पागल की तरह दौड़ते और क्रन्दन करते दिखाया है, अथवा कुतूहल जाग्रत करने वाला हो, जैसा कि हरिभाऊ के 'उष काल' या फडके के 'आशा' का है, तो पाठक का मन उपन्यास मे तुरन्त ही लीन हो जाता है और वह उसकी एक बड़ी सफलता है। पहले प्रकृति के रमणीक वर्णन द्वारा अथवा वातावरण को पार्श्वभूमि के रूप मे रख पाठक का मन आकृष्ट कर, तदुपरान्त उसी पृष्ठभूमि पर एकाध पात्र से परिचय कराकर कथा को विकसित करने का ढंग भी सुन्दर है। हरिभाऊ ने 'वज्राघात' और प्रसाद ने 'ककाल' मे इसी पद्धति को अपनाया है। कथानक का अन्त पहले ही प्रकरण मे रखकर, फिर उसका विवेचन—विश्लेषण करने की पद्धति, विमर्शात्मक एवं जीवन सम्बन्धी तत्वज्ञान प्रकट करने वाले उपन्यासों के लिए बडी उपयोगी सिद्ध होती है। 'भगलेले देऊळ' या 'सुखदा' इसके ज्वलंत दृष्टान्त है। आकर्षक सवादो से

---

[1] ई० फार्स्टर, 'आस्पेक्ट्स ऑफ दी नाविल', पृष्ठ २१६।

प्रारम्भ होने वाले उपन्यासो मे भी शीघ्र ही पाठक के मन को जकडने की शक्ति होती है। माडखोळकर के 'शाप', 'मुक्तात्मा' या गीतासाने के 'लतिका' को ही लीजिए। 'लतिका' मे 'राघे राघे' की करुण पुकार पाठको के हृदय मे एकदम कुतूहल उत्पन्न कर देती है। दिवे के 'सराई' मे 'शिरलीन् रं, शिरलीन् रं', की पुकार भी इसी प्रकार की है। हिन्दी मे 'कौशिक' के उपन्यासो का आरम्भ भी इसी प्रकार चित्तवेधक है। कला की सूक्ष्मता के साथ-साथ उपन्यासो के आरम्भ मे भी परिवर्तन हो गया है। अब वर्णनात्मक प्रणाली को त्याग देने के कारण आरम्भ अपने साथ एक सम्बद्ध विस्तृत इतिहास लिए चलता है, अपनी अतीत कथा को ध्वनित करता चलता है। जैनेन्द्र के उपन्यासो का आरम्भ इसी प्रकार का है। कभी-कभी साकेतिक घटना का प्रारम्भ उपन्यास को अत्यन्त आकर्षक बना देता है। 'सूर्योदय' के प्रारम्भ मे बडे बाघ व छोटे बाघ के युद्ध मे छोटे की विजय दिखाकर यह सकेत देना कि शिवाजी की विजय होगी, बडा कलात्मक है।

आकर्षक एव प्रभावपूर्ण अन्त ने 'प्रवासी', 'काळे पाणी' व 'गोड शेवट' को पाठक पर प्रभावशाली छाप छोड जाने वाले उपन्यासो मे स्थान प्रदान किया है। यही बात वृन्दावनलाल वर्मा के 'विराटा की पद्मिनी' के विषय मे कही जा सकती है। कुमुद का 'मलिनिया फुलवा ल्यावो नदन बन मे' गीत गाते हुए बेतवा की ओर बढना, तान समाप्त होते ही अथाह जल-राशि मे पैजनी का छम्म से शब्द होना, अलीमर्दान का उसके वस्त्र को पकडने की चेष्टा करना और नदी की लहरो के द्वारा फटकारा जाकर, उसका मुट्ठी बाधे खडा रहना—यह एक ऐसा दृश्य है, जो पाठक के मन पर उपन्यास पढ चुकने के उपरात भी छाया रहता है और जिसकी मधुर वेदना उसके हृदय को आप्लावित कर देती है। वर्मा जी सबसे प्रभावशाली दृश्यो को अन्त के लिए रखते है। इसलिए डा० रामविलास शर्मा ने कहा है, "क्लाइमेक्स रचने की दृष्टि से उनका कौशल सराहनीय है।" उनके उपन्यास चरम स्थिति पर पहुँच कर समाप्त हो जाते है।

रचना के परिणाम मे कथानक के सभी रहस्य छिपे रहते है, अत उसे उपन्यास का प्राण कह सकते है। लेखक परिणाम को कई प्रकार से दिखला सकता है। कही वह सब पात्रो के रहस्यो को एक सूत्र मे बाधकर और उनको एक दूसरे से सम्बद्ध करके उनका रहस्य खोलता है और परिणाम द्वारा सबको अतिम सीमा तक पहुँचा देता है, (उग्र जी के 'शराबी' मे मानिक और जवाहर के परिणाम मे ही अन्य पात्रो का परिणाम भी अतर्हित है) तो कही कुछ लेखक उपन्यास के अन्त मे एक ही निष्कर्ष रखते है और अन्य घटनाओ और पात्रो के परिणाम को या तो पहले ही प्रकट कर देते है अथवा उनको लुप्त-सा कर देते है। प्रसाद जी के 'तितली' मे मधुबन और तितली के मिलन से ही उपन्यास का अन्त हो जाता है। शैला, इन्द्रदेव आदि पीछे छूट जाते है। तीसरी प्रणाली मे परिणाम जटिल बना दिया जाता है। किसी भी पात्र का जीवन-लीला समाप्त करके उपन्यास का अन्त कर दिया जाता है। अन्य

पात्रो के सम्बंध मे विशेप ध्यान नही दिया जाता। 'ककाल' मे विजय के कंकाल को दिखाकर ही उपन्यास का अन्त कर दिया जाता है। मंगल आदि का क्या हुआ, इसका पता नहीं चलता। ये तीनो पद्धतियां कलात्मक हो सकती है, यदि लेखक परिणाम की स्वाभाविकता पर ध्यान रखे।

उपन्यास का अन्त किसी पूर्वाग्रह एवं व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल न होकर प्रसगो एव घटनाओं की स्वाभाविक परिणति के रूप मे होना चाहिये। अनेक उपन्यासो का अन्त उसमें घटनाओ की स्वाभाविक परिणति न होने के कारण ही विरस हो गया है। फडके ने 'अटकेपार' को जबर्दस्ती दुखद बना डाला है, जो अस्वाभाविक है। दुखान्त रचना के दुखपूर्ण अन्त के विपय मे यदि तनिक भी पाठक को शका होने लगे, तो समझ लेना चाहिये कि उसके शिल्प मे कोई न कोई त्रुटि अवश्य है। माडखोळकर के 'चंदनवाडी' का दुखद अन्त अनावश्यक प्रतीत होता है। इसी प्रकार यद्यपि 'वळी' एक अत्यत सुन्दर रचना है, परन्तु करुण रस की तीव्रता लाने के लिए अथवा यह दिखाने के लिए कि संसार दुखमय है, विभावरी शिरुरकर ने उपन्यास का अन्त कृत्रिम बना दिया है। लेखिका को नायक को शहीद चित्रित करना था, अत उसने स्वाभाविकता की उपेक्षा कर आवा को अपने साथियो के पत्थरो के आघात से मरते हुए दिखाकर उपन्यास का अस्वाभाविक अन्त कर दिया है। किसी लक्ष्य विशेप को ध्यान मे रखकर लिखे गए उपन्यासों मे भी, जब घटनाओ का क्रमिक एव स्वाभाविक विकास नही हो पाता, तो लेखक उपन्यास की इच्छित परिणति के लिए असभव घटनाओ का सहारा लेता है। श्रीधर देशपाडे के 'ठेंगणें असमान' मे द्विपत्नीत्व का समर्थन करना, बुद्धिनिष्ठा एवं सुसगति की दृष्टि से कठिन है, पर लेखक का अभीष्ट होने से उत्तरार्ध मे असंभव घटनाओं—सीताराम द्वारा झूठी कुंकुम-पत्रिका भिजवाना, श्रवण का अपने को अन्धा मान लेना—आदि का जमाव किया गया है। इसी प्रकार प्रेमचन्द्र ने पात्रो की कोई व्यवस्था न कर सकने के कारण उनसे आत्म-हत्या कराई है।

कुछ लेखक उपन्यास के स्वाभाविक अन्त के बाद भी अन्य बातो की चर्चा करने लगते है। इसका कारण बहुधा कथा के सब सूत्रो को जोडने एव सब चरित्रो की व्यवस्था करने की लेखक की उत्कठा होती है। पर यह कला के विरुद्ध है। ऐसा करने से कथा मे बोझीलापन, अनावश्यक विस्तार एव अस्वाभाविकता आजाती है। डा० केतकर के उपन्यास उपसंहार का प्रकरण जोडने के कारण सरस एव कलात्मक बनने के स्थान पर अनाकर्षक और नीरस हो गए है।

उपन्यास-शिल्प का अद्भुत कौशल इस बात मे सन्निहित है कि वह रचना के प्रभाव को तीव्र करने मे सफल हो। प्रभाव का पारा धीरे-धीरे ऊपर चढता चले और अन्त मे जैसे ताप के सीमा पार कर जाने पर ताप-यत्र टूट जाता है, वैसे ही उपन्यास की घटनाओ में क्रमिक चढ़ाव हो। पर कुछ उपन्यासो के पूर्वार्ध मे तो व्यर्थ के अनावश्यक वर्णनों एवं ब्यौरे के कारण कथा की गति अत्यत मद रहती है, परन्तु उत्तरार्ध मे, जहाँ सघर्ष चरम को पहुँचता है और पात्रो का व्यक्तित्व पूर्ण

विकास को प्राप्त होता है, कथानक को ज्यो-त्यो पूरा किया जाता है, उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है और कला को आघात पहुँचता है । माडखोळकर के 'मुक्तात्मा' और वि० वा० पत्की के 'आवळा न्याय' मे यही दोष है । 'आवळा न्याय' के उत्तरार्ध मे मनोहर की व्यसनाधीनता और नाश बडी जल्दी दिखाए गए हैं । अतः उत्तरार्ध की सब घटनाएँ आकस्मिक एवं अश्लिष्ट लगती हैं । प्रसाद जी के 'तितली' के पूर्वार्ध मे कथा बड़ी रुक-रुक कर चलती है । कथानक के प्रथम सौ पृष्ठो मे शैला और इन्द्रदेव छाये हैं और अतिम पौने दो सौ पृष्ठो मे तितली और मधुवन । कथानक पहिले बहुत धीरे-धीरे चलता है और फिर अत्यत वेग से गतव्य की ओर बढता है । प्रेमचंद के 'गबन' का प्रथम भाग तो सुस्थिर गति से आगे बढा है, पर रमानाथ के रेल मे बैठ कर जाने के बाद लेखक ने उसे जबर्दस्ती घसीटा है ।

इसी से मिलता-जुलता दोष वहाँ उपस्थित होता है, जहाँ कथा का स्वाभविक विकास रुक जाता है, कथानक आगे बढने से इन्कार कर देता है, परन्तु लेखक का उद्देश्य उसे बाध्य करता है कि वह कथा की मोटर मे पुनः कल्पना या अस्वाभाविक घटना का पेट्रोल डालकर उसे आगे बढ़ाए । फडके के 'कलक शोभा' मे मास्टर को बीमार डालकर तथा काका से पश्चाताप कराकर ही कथानक को आगे बढाया जा सका है और ये दोनो घटनाएँ स्वाभाविक नही हैं, ऊपर से जोड़ी गई प्रतीत होती है । इस प्रकार के प्रसग सम्पूर्ण चित्र को भद्दा बना देते हैं ।

कथोपकथन—स्वाभाविक, अकृत्रिम और दैनिक जीवन मे प्रतिदिन सुनाई पडने वाले कथोपकथन उपन्यास के कला सौन्दर्य की अभिवृद्धि मे सहायक होते हैं । 'पण लक्षात' मे 'लहानपणी ची आठवण' नामक प्रकरण मे बच्चो का संवाद, तथा 'मी' मे भाऊ को देखकर सुन्दरी का तोतली भाषा मे यह उद्गार "मा, मुझे यही दूल्हा अच्छा लगता है", इस पर मा का यह कथन "पर उसे यह फूहड़, सुस्त लडकी पसन्द नही, उसे तू बिल्कुल नही चाहिये" और भाऊ का घबराकर यह कहना "क्यो ? मुझे नापसन्द क्यो होती, मुझे खूब पसन्द है" आदि इन उपन्यासो को एक अभिनव सौष्ठव प्रदान करते हैं । हरिभाऊ के उपन्यासो मे भी स्वाभाविकता, सहज सुन्दरता और घरेलूपन आदि गुणो के कारण सवाद अत्यन्त हृदयग्राही और प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं । पात्रो के अनुरूप विचार प्रगट करने मे भी हरिभाऊ अत्यन्त कुशल हैं । यदि शिवाजी, तानाजी, श्रीधर स्वामी आदि के सवाद स्वदेशप्रेम से ओत-प्रोत हैं, तो औरगजेब, अफजलखा आदि की दर्पोक्तियाँ भी अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं ।

ना० सी० फडके के सवाद पात्रो की वय, सस्कृति व स्वभाव के ही अनुरूप हैं । 'अटकेपार' मे सय्यद अमीर का खानसाहब के साथ भाषण व तुरन्त बाद याकू के साथ वार्तालाप मे विभेद है । संवादों मे यह नवीनता व विभेद न केवल चरित्रभेद की ओर इंगित करता है, अपितु स्वाभाविकता एव प्रभावोत्पादकता के कारण सपूर्ण उपन्यास को एक कलात्मकता प्रदान करता है । उनके संवाद अनावश्यक विस्तार से भी मुक्त हैं । कहीं-कहीं तो चार-चार वाक्यो से भी जो कार्य सम्पन्न नही हो सकता था, वह उन्होंने एक अव्यय के प्रयोग से निकाल लिया है । सवाद मे भाग लेने वाले व्यक्तियो

व उसमे आने वाले विषय का स्वरूप अधिक स्पष्ट करने के लिए, वे उस सवाद की उपयुक्त पृष्ठभूमि की योजना करते है, जो कला की दृष्टि से अत्यन्त स्पृहणीय है। 'दौलत' मे परीक्षा का अन्तिम प्रश्न-पत्र करने के बाद अविनाश से भेट या 'उद्धार' मे लोनावाला मे घूमते समय विद्या व चारुदत्त का सवाद इसके उदाहरण है। हिन्दी मे 'कौशिक' के कथोपकथनो मे चुस्ती और सजीवता होने के साथ-साथ व्यर्थ का विस्तार भी नही है। कथा की सामान्य गति मे कथोपकथन के माध्यम से अज्ञात अन्तर्वृत्तियो को सहज सरल अभिव्यक्ति देने मे जैनेन्द्र सिद्धहस्त है। उनके कथोपकथनों मे अभिनय तत्व की प्रचुरता है। सक्षिप्तता के साथ-साथ अर्थगौरव, भावो की तीव्रता, और पात्रोचित भाषा का प्रयोग···आदि ऐसे गुण है, जो उनके उपन्यासो मे पूर्ण समृद्धि के साथ दिखाई देते हैं। उनके कथोपकथन रोचकता लाने के लिए ही नही रखे गए हैं, अपितु वे कथा को अग्रसर करने और चरित्रो पर प्रकाश डालने मे भी समर्थ है। उदाहरण रूप मे बिहारी और कट्टो का वह वार्तालाप लिया जा सकता है, जब बिहारी सत्यधन के लिए गरिमा के विवाह का प्रस्ताव लेकर उपस्थित होता है। इस प्रकार के कथोपकथनो मे जिन गुणो—आकस्मिकता, सजीवता और अभिनयात्मक स्वाभाविकता की आवश्यकता होती है, वे स्वत आगये है।

पात्रो के अनुरूप भाषा सवादो को स्वाभाविक बनाने के साथ-साथ उन्हे सुन्दर एव प्रभावशाली भी बना देती है। हरिभाऊ एव वृन्दावनलाल वर्मा के स्त्रियो के वार्तालाप फडके के प्रणयीजनो के मधुर सभाषण, पेडसे, दिवे आदि के ग्रामीण पात्रो के वार्तालाप, जैनेन्द्र के असाधारण पात्रो के गभीर सवाद अपनी स्वाभाविक भाषा के लिए प्रसिद्ध है। आजकल के ग्रामीण अथवा आँचलिक उपन्यासो के वार्तालापो मे ग्रामीण भाषा के प्रयोग का पेडसे के 'हद्द पार' से एक उदाहरण देखिए—"अर इसू-म्हन्सूस तरी काय? सिक्सान करुन प्वाट कोनी भरायचा' 'मग ठेव त्याला तसाच। तुझ्या सारखा रहावा अशी दळमडी इच्छा दिसत्ये तुझी त्याला काय करायच। मग 'हुमँसून' पत्तीर आला की सदू धावला बामना कडे" इसी प्रकार 'बळी', 'उघड्या जगात', 'सराई', 'पाणकळा' 'सावलीच्या उन्हांत' आदि मे ग्रामीण प्रादेशिक भाषा के प्रयोग ने रचना को अधिक स्वाभाविक बना दिया है। जैनेन्द्र के पात्र चिन्तन और मनोव्यवच्छेद में रुचि लेते हैं, अतः उनकी भाषा गंभीर और समर्थ है, जिससे वे अपने मनोभाव व विचार स्पष्टता और निश्चितता से व्यक्त कर सके है। स्वाभाविकता लाने के लिए उन्होने "किन्नै, तिन्नै तैंने, तुझ पै,रीतजीत" आदि कथित भाषा के शब्दो तक का प्रयोग करने मे कोई सकोच नही किया है। इसी प्रकार स्वाभाविकता लाने के लिए 'यू आर ए डार्लिग, लुक हियर' शट अप, गुड हैविन्स' आदि अग्रेजी पदो का प्रयोग किया गया है। यही बात उर्दू शब्दो के विषय मे कही जा सकती है।

इस सम्बन्ध मे एक बात खटकने वाली है। अधिकाश उपन्यासकारो के सवादो मे एकपात्र की कथोपकथन की भाषा दूसरे की भाषा से भिन्न अर्थात् विशिष्ट नही है। उसमे वैयक्तिक प्रयोगो का प्रायः अभाव है। सभी की वाक्य-रचना एक समान है, सभी

की भाषा का स्तर एकसा है। मराठी मे खाडेकर के उपन्यासो मे यही दोष है। 'उल्का' के उल्का, चन्द्रकात व भाऊराव तीनो की भाषा एकसी है।

लम्बे-लम्बे सैद्धान्तिक वाद-विवाद युक्त सवाद न केवल अपने आप मे ही नीरस होते हैं, अपितु कथा-विकास मे भी अत्यन्त बाधक होते हैं। 'सुशीलाचा देव' सरीखे उपन्यासो मे वे सौन्दर्य की अभिवृद्धि भले ही करते हो, क्योकि उस पुस्तक की नस-नस मे तत्वशोधनात्मक रक्त प्रवाहित होता है, परन्तु अधिकाश मराठी और हिन्दी उपन्यासो मे वे कला का ह्रास करने वाले सिद्ध हुए हैं। एक अन्य प्रकार के सवाद, जो ऊपर से देखने पर तो बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं, पर वस्तुत. कला की दृष्टि से अर्थशून्य होते हैं, आधुनिक उपन्यासो मे पाये जाते हैं। उथली बुद्धिवाले पाठको के लिए, वे मन को गुदगुदानेवाले, सुन्दर और कोमल भले ही हो, पर वे न तो चरित्र पर प्रकाश डालते हैं, और न कथा की गति मे ही सहायक होते हैं। ना० सी० फडके के उपन्यासो मे यह दोष मिलता है।

श्लेष आदि अलंकारो के प्रचुर प्रयोग से सवादों की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है, क्योकि उसके मोह मे लेखक पात्रो की वय, शिक्षा-स्तर एव पारस्परिक सम्बन्धो तक का विस्मरण कर देता है। 'दोन ध्रुव' मे सुलभा व उसके पिता का मुकुंद से विवाह के सम्बन्ध मे वर्तालाप इसी प्रकार का है। इसमे अन्त करण की भावनाओ को प्रकट करने की सामर्थ्य नही, केवल जिह्वा पर आने वाले शब्दो की चहचहाहट है। भाषा मे कल्पना का क्रीडा-कौशल है, भावनाओ का कल्लोल नहीं। हिन्दी मे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के पात्र कभी-कभी रूपको और उपमाओ मे बाते करने लगते हैं। रूपक मे ही देर तक बात करना साधारण नियम के विरुद्ध है, पर श्रीवास्तव जी एक रूपक को पकड़कर, उसी को बढाने लगते हैं। 'विदा' के चौथे पृष्ठ पर शान्ता और निर्मल की बातचीत काटे और फूलो का रूपक लेकर होने लगती है। इसी प्रकार पृष्ठ ३४८-३४५ पर लज्जा और कुमुदिनी की बातचीत चोर और धन का रूपक लेकर चलती है। राधिकारमणप्रसाद सिंह के सवाद भी अलकृत होने के कारण कृत्रिम हो गए हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' आदि उपन्यासो के कथोपकथन मे एक अजीब-सी निर्जीवता और स्वाभाविक प्रवाह का अभाव है। पात्रो की साधारण बातचीत मे भी व्याख्यान बन जाने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। अनावश्यक विस्तार, वाक्यों की जटिलता, विचारो मे द्वन्द्व-चमत्कार या बोझिल शब्दचयन इन सबके परिणामस्वरूप कुल मिलाकर उनके अधिकाश कथोपकथन अत्यन्त औपचारिक और श्रमसाध्य लगते हैं।

हास्य और विनोद का पुट देने से सवाद न केवल विनोदपूर्ण और आकर्षक ही बनते हैं, अपितु उनमे स्वाभाविकता एव मोहकता भी आजाती है। परन्तु लेखक को यह विनोद श्लेष आदि शाब्दिक अलकारो पर आधारित न कर, पात्रो के स्वभाव-विशेष से उत्पन्न कराना चाहिये जैसे, हरिभाऊ ने 'यशवन्तराव खरे' मे श्रीधर पत और सत्यभामाबाई के सवादो मे कराया है। हिन्दी मे जैनेन्द्र ने बिहारी और गरिमा के कथोपकथन मे प्रसग द्वारा हास्य का पुट देकर अपने कथोपकथन को आकर्षक बनाया

है ।[1] इस प्रकार के हास्य-व्यंग्यमय कथोपकथन उपन्यास को अत्यन्त रोचक बना देते है और भावनात्मक तनाव या तीव्रता को कम कर पाठक को कुछ विश्राम या अवकाश प्रदान करते है। यदि कथा मे विनोद लाने के लिए जो प्रसग लाए जाते हैं, उनमे सयम का पालन नही किया जाता, तो वे विदूषकी प्रसंग कथानक को रोचक बनाने के स्थान पर दोषपूर्ण बना देते है। खाडेकर का 'कांचनमृग' इसी दोष से आक्रान्त है। उपन्यासकारो को उससे बचना अभीष्ट है।

पार्श्व-भूमि चित्रण—जिस प्रकार चित्रकला मे दृश्य को उठाव देने के लिए पार्श्वभूमि अत्यन्त आवश्यक एवं कलात्मक अंग है, उसी प्रकार उपन्यास मे भी कथानक व व्यक्तिदर्शन के रहस्य को प्रकट करने मे उसका बड़ा महत्व है। ऐतिहासिक उपन्यासो मे यह पार्श्वभूमि पाठको को इतिहास का स्पष्ट परिचय कराने मे सहायक होने के साथ-साथ चित्र को पूर्णता प्रदान करती है। अत· सामाजिक उपन्यासो की अपेक्षा उनमे उसका महत्त्व और भी बढ जाता है। साथ ही लेखक को उसके चित्रण मे अत्यन्त सावधान भी रहना पड़ता है, क्योंकि तनिक-सा स्खलन सम्पूर्ण दृश्य को विद्रूप बना देता है।

पृष्ठभूमि एव वातावरण-निर्माण के रूप मे प्रकृति का चित्रण मराठी तथा हिन्दी के उपन्यासो मे प्रारभ से ही बड़ा सुन्दर हुआ है। हरिभाऊ के 'वज्राघात' के प्रथम प्रकरण मे 'धेनुकुज' के उद्यान व सरोवर के वर्णन इसका प्रमाण है। विशेषकर ग्रामीण जीवन के चित्रण में इन उपन्यासकारो का कौशल अत्यन्त प्रशसनीय है। ठोकळ के 'गावगुण्ड' मे पहाडी, उसकी वनस्पति, उगते हुए सूर्य, वायु के झोको, कबूतर के बच्चो की चहचहाहट आदि की पृष्ठभूमि पर उपन्यास का प्रारम्भ करने से उसमे अभिनव आकर्षण आगया है। ग्रामीण जीवन का चित्रण करते समय प्राकृतिक पार्श्वभूमि का निर्माण करने में मराठी लेखको के इसी कौशल की ओर इंगित करते हुए गोडबोले ने लिखा है, "ग्रामीण जीवन की ओर मुडने के बाद मराठी लेखको ने भौगोलिक पृष्ठभूमि को आकर्षक करने के विषय मे विशेष दक्षता दिखाई है। इस दृष्टि से पेंडसे, बोरकर, लक्ष्मणराव सरदेसाई. माडगूळकर, दाडेकर व दिघे के प्रयत्न निस्सन्देह उल्लेखनीय है।" हिन्दी मे वातावरण का ब्यौरेवार चित्रण प्रस्तुत करने मे प्रेमचन्द की कला अद्वितीय है। क्या गाव और क्या नगर, दोनो का यथार्थ, उपयुक्त एव हृदयग्राही वातावरण उपस्थित करने मे वे बेजोड़ है। शहर की गलियो सड़को, घाट और उपवन आदि के बीच 'सेवासदन' की सुमन का चित्रण करने से ही वह चित्र और भी अधिक प्रस्फुटित हो उठा है।

प्राकृतिक दृश्यों की योजना मे पात्र को भावानुकूलता मिलती है, जिससे पात्र व प्रकृति दोनों मिलकर एकरूप हो जाते है तथा इन दृश्यो की भूमिका मे भाव खड़े होते है। मानवी भावनाओ के सघर्ष के समय अनुकूल या प्रतिकूल पृष्ठभूमि निर्माण करना उपन्यासकारों की रूढ़ पद्धति है। इसकी सहायता से मानवी भावों के चित्रण

---

[1] जैनेन्द्र कुमार, 'परख', पृष्ठ १०८-१०९ : छठा संस्करण।

मे तीव्रता आजाती है। कभी बाह्य प्रकृति मे नायक-नायिका के हृदय की आंतरिक हलचल का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है, तो कभी मानवी सुख-दुखो के प्रति प्रकृति का उपेक्षा भाव दिखाकर वर्णन को स्पष्ट बनाया गया है। 'प्रवासी' के २२वें प्रकरण मे वसत का वर्णन राजाभाऊ की मानसिक स्थिति के प्रतिकूल है, तो 'प्रवासी' के १३७ पृष्ठ का शिशिर व वसत के सधिकाल का वर्णन राजाभाऊ की तात्कालिक विशिष्ट मनोरचना के अनुकूल है। इसी प्रकार हरिभाऊ के 'केवळ स्वराज्यासाठी' मे सभाजी के बन्दी होने का समाचार, जब राजाराम को मिलता है, तो उसके सताप का वर्णन प्रकृति के साहचर्य मे बडी कलात्मकता से किया गया है, "ऐन वर्षा का समय। आकाश मेघो से पूर्ण आच्छादित था। उसमे भी रात्रि का समय और वह रात भी कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात। ऐसे समय मे रायगढ के एक भवन की अटारी पर एक तरुण पुरुष पिंजरे मे बन्द व्याघ्र के समान चक्कर लगा रहा था। अटारी की एक ओर एक बड़ा दीपक जल रहा था। चक्कर लगाने वाले पुरुष की मुखमुद्रा आकाश के ही समान थी। जिस प्रकार भारी वर्षा के सभी चिह्न आकाश मे दीखते थे, उसी प्रकार कोठरी मे चक्कर लगाने वाले पुरुष के मन मे होने वाली अनेक विचारो की घुमडन के सकेत, उसकी मुद्रा से प्रकट हो रहे थे। काले मेघो से घिरे अकाश-पटल के समान ही उसके मुखमडल पर दुख और उद्वेग की काली घटा छायी थी। बाहर बीच-बीच मे हवा की सनसनाहट सुनाई पड़ती थी, उसी प्रकार इस पुरुष के मुख से उद्वेगपूर्ण निश्वास निकल रहे थे।"

सामान्यत. मराठी और हिन्दी के उपन्यासो मे उच्च मध्य-वर्ग के जीवन की ही पार्श्वभूमि अधिक चित्रित की गई है। उनमे न वैचित्र्य है और न तीव्रता। इसीलिए खाडेकर ने लिखा था, "हमारे मराठी लेखक कैसी कथा लिखते है। उनके वे बम्बई-पूना के बगले, चाय के प्याले, धनिको के उत्सव, प्रणय की भगिमाएँ सभी कुछ निराले हैं।"[1] इन उपन्यासो को पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक विशिष्ट वर्ग के लेखको ने एक विशिष्ट वर्ग के लिए उपन्यास लिखे है। कोल्हापुर के अधिवेशन मे इसी की आलोचना करते हुए कहा गया था, "स्थानीय वैशिष्ट्य उनमे नही है और भाषा तो बहुत ही बेढगी है। किसानो की भाषा व उनके विचार तक नगरो मे रहने वालो की तरह के हैं।"[2] पर जब से आँचलिक उपन्यासो का प्रचलन हुआ है, तब से यथार्थ ग्रामीण वातावरण को महत्त्व मिलने लगा है। इससे पूर्व भी कुछ ऐतिहासिक उपन्यासो मे भौगोलिक वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया गया था, जैसे, मराठी मे 'सम्राट अशोक' या 'छत्रसाल' और हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे, परन्तु सामान्यतः भौगोलिक वातावरण की ओर उपेक्षा-भाव ही रहा था। अब इस ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

शब्द-चित्र—शब्द-चित्र उपन्यास को अभिनव गरिमा प्रदान करते हैं। मराठी

---

[1] वि० स० खाडेकर, 'उल्का', पृष्ठ ९४।

[2] महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन—कोल्हापूर १७वा अधिवेशन, १९३१ ई०।

मे हरिभाऊ से लेकर दिघे तक के उपन्यासो मे ये हृदयग्राही शब्द-चित्र पाये जाते है । बच्चो के मोहक शब्द-चित्र प्रस्तुत करने मे हरिनारायण अति कुशल थे । उनका यशवतराव खरे के रूप मे स्वाभिमानी विद्यार्थी का शब्द-चित्र जितना स्फूर्तिदायक है, उतना ही उसकी माँ का करुणोत्पादक है, "बिचारी गगाबाई ! उसकी वह सिहगर्जना यकायक कानो मे पडने के साथ ही, उसने एकदम चौंककर पीसने का श्रम दूर करने के लिए जो मधुर पर करुण स्वर मे गाना गा रही थी, वह बद कर दिया और हत्थे पर हाथ टेककर निरुद्देश्य दृष्टि से उसकी ओर देखती रही ।" व्यक्ति-चित्रों के अतिरिक्त सृष्टि-सौंदर्य के चित्र भी हरिभाऊ ने प्रस्तुत किये हैं । 'वज्राघात' के प्रथम प्रकरण के 'धेनुकुज' का चित्र अद्वितीय है "वह दृश्य बडा रमणीक था । चारो ओर छोटे-बडे वृक्षो की घनी पक्ति, बीच मे वह विस्तीर्ण सरोवर, व उसके स्वच्छ जल मे विकसित सुन्दर कमल । वे स्वय शुभ्र होते हुए भी चादनी मे और अधिक शुभ्र प्रतीत होते थे ।"[1] आधुनिक उपन्यासकारो मे व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत करने मे फडके जितने कुशल है, प्रकृति-चित्र उपस्थित करने मे दिघे उतने ही निपुण है । अत. प्रथम को 'स्त्री-सौंदर्य का कारीगर' कहा गया है तो दूसरे को 'सृष्टि-सौंदर्य का कलाकार' । व्यक्ति और प्रकृति के अतिरिक्त अन्य प्रकार के चित्र प्रस्तुत करके भी लेखको ने प्रत्ययकारिता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है । माडखोळकर की निम्न पक्तियाँ कारखाने का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देती है, "उस विभाग मे सैकडो पुतली-यत्र चल रहे थे और प्रत्येक यत्र के पास खडी हुई मजदूर स्त्री सूत का पिडा तैयार कर रही थी। उनके सिर पर कपास के बारीक-बारीक ततु जम गए थे । गर्मी से सारा कारखाना तप रहा था । उसके फर्श पर छिडके पानी से भाप निकल रही थी और यत्रो से काम करने वाली स्त्रियों के शरीर से पसीने की धार बह रही थी ।"[2] इसी प्रकार उन्होंने मयूर-नृत्य का शब्द-चित्र शक्तिशाली शब्दो व लयबद्ध वाक्यो मे किया है, "पैरो के घुँगरुओ की ताल पर छमछम करती वह नर्तकी रगशाला के बाहर आई । मोरपखी रग की घूमदार साडी, जो उस समय पहने हुए थी, उस पर के मोर के नेत्र उस उज्ज्वल दीप-प्रकाश मे इतने जगमगा रहे थे कि उसके मदमद गति से आगे बढ़ने पर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो स्वय मोर ही बड़ी शान से आगे पैर बढा रहा हो ।"

करुण दृश्यो की योजना भी उपन्यास को महान सौन्दर्य प्रदान करती है । हरिभाऊ के 'जग हे असें आहे' मे सखाराम का अस्पताल मे हृदयद्रावक अन्त, राधाबाई व सिस्टर चैरिटी की शोकावस्था का वर्णन, 'मधली स्थिति' मे अम्बूताई की मृत्यु, 'पण लक्षांत' मे यमुना की मा व रघुनाथराव की मृत्यु सभी अत्यन्त करुणोत्पादक है ।

मराठी के समान हिन्दी मे भी व्यक्ति-चित्र, प्राकृतिक दृश्य तथा अन्य स्थलो का वर्णन उपन्यास को कलापूर्ण बनाने मे सहायक हुआ है । निराला के उपन्यासो मे हम सौन्दर्य के अनेक चित्र, दृश्यो के अनेक बिम्ब और कल्पना के रगीन रूपको की

---

[1] हरिनारायण आप्टे, 'वज्राघात', पृष्ठ १ ।

[2] ग० त्र्य० माडखोलकर, 'चन्दनवाडी', पृष्ठ ४५ ।

छटा देख सकते हैं। 'निरुपमा' से एक दृश्य लीजिए, "कुमार को देखते ही युवती लजा गई। उसी की प्रकृति ने उसकी चोरी की गवाही दी। आंखे झुक गईं, होठो पर पकड़ मे आने की सलाज मुस्कराहट फैल गई। सामने मधु-माधवी की लता हवा मे हिलने लगी। पीछे सूर्य अपने ज्योति मण्डल मे मुख को लेकर स्पष्टतर करता हुआ चमकता रहा। युवती छिपने के लिए पहले से तैयार थी, पर छिप नही सकी।"[1] इलाचन्द्र जोशी के दृश्यो और भावनाओ के चित्रण मे भी हमे उनकी कवि-प्रतिभा के दर्शन होते हैं, उनकी शैली की शक्ति और प्रवाह का प्रमाण मिलता है। इन स्थलों पर उनकी कल्पना को जैसे आत्मीयता प्राप्त हो जाती है और कवि-सुलभ सरलता एव व्यजना से वे हमे मुग्ध कर लेते हैं। इस शक्ति का परिचय हमें उन प्राकृतिक दृश्यो, स्थानों अथवा मनोभावो के चित्रण मे मिलता है, जहा कवि-कल्पना को मुखर होने का थोड़ा भी अवसर प्राप्त हो सका है। 'सन्यासी' के सत्रहवे परिच्छेद मे गगा-तट के चित्रण में हमे अपूर्व तन्मयता एवं मुक्त प्रवाह की उपलब्धि होती है।

स्त्री-सौन्दर्य का चित्रण करते समय कुछ लेखकों के हाथो से सयम छूट गया है, जिसके परिणामस्वरूप उन चित्रो का सौन्दर्य नष्ट हो गया है तथा औचित्य-भग हो जाने से केवल कामवासना जागृत करने वाले दृश्य रह गए है। माडखोळकर की रचनाएँ प्रायः इस दोष की बलि हो गई है। विजया का मूर्छितावस्था मे अर्धनग्न शरीर का चित्रण इसका प्रमाण है। 'ध्वन्यालोक' ने भी इस अनौचित्य से उत्पन्न होने वाले रस-भंग को बुरा कहा है "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।"[2]

आलकारिक शैली के परिणामस्वरूप भी वर्णन स्पष्टता व सजीवता खो बैठते हैं। खाडेकर के प्रकृति वर्णनो मे उपमा अलंकार की अधिकता से ही अस्पष्टता एवं निर्जीवता आगई है। जो दृश्य चित्रित किया जा रहा है, उसका व्यौरा देते-देते क्षण-क्षण पर दृष्टान्त, उपमादि अलकार लाने से, मूल वर्णन की ओर से ध्यान हट जाता है और पाठक अलंकारो मे ही उलझ कर रह जाता है। 'उल्का' का एक चित्र देखिए, "बैलो के गले की घंटियो की मंजुल ध्वनि सुनकर ऐसा भास होता था, मानों कोई घंटा बजाकर देवी की पूजा कर रहा है। दाहिनी ओर के पर्वत पर छिटकी हुई चांदनी को देखकर लगता था, शिवजी की पिंडी पर दूध का अभिषेक हो रहा है।" यदि उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि अलंकार रूढ़ हों, तो यह वितृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। अकारण, कथा से एकजीव न होने वाले चित्र सुन्दर और मनमोहक होते हुए भी, उपन्यास-कला के लिए घातक होते हैं। परन्तु अधिकांश लेखक इस तथ्य के प्रति उदासीन रहे हैं। उनके इसी दोष को लक्ष्य कर कहा गया है "जब तक केवल अलंकरण रूप में बनावटी, अयथार्थ, अर्थशून्य, परिणाम-विरोधी वर्णनों का लेखक आधार लेते रहेंगे, तब तक मराठी उपन्यासो मे सजीवता आना अत्यन्त कठिन है।"[3]

---

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'निरुपमा' : चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १३।

[2] 'ध्वन्यालोक' : तीसरा उद्योत, पृष्ठ १४५।

[3] बापट व गोडबोले, 'मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास', पृष्ठ १२६।

सारांश यह है कि जहां एक ओर प्रसंग, स्थल व व्यक्ति-चित्र कुशतापूर्वक लाने से उपन्यास की कलात्मकता बढ जाती है, वहां दूसरी ओर अनावश्यक, अनुपयुक्त एवं अलकृत वर्णनों से उसे आघात पहुँचता है। वे परम्परागत होने से अरुचिकर एव अनावश्यक विस्तार तथा निरुद्देश्यता के कारण ऊब पैदा करते है। लिडेल का भी यही मत है, "पार्श्वभूमि का अत्यन्त उदात्त दृश्य, चित्र के व्यक्तियो को फीका बना सकता है, जिससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी।"[1]

चरित्र-निर्माण में कलातत्त्व—चरित्र का परिचय कराने मे लेखक को कौशल की अपेक्षा रहती है। इस कौशल के अभाव मे यदि उपन्यास के पात्र प्रारभ से ही आकर्षक हो जाते है, तो छोटे से प्रसंग द्वारा सकेतात्मक शैली मे, पात्र का परिचय करा देने से पाठक पर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है। मराठी मे फडके और हिन्दी मे जैनेन्द्र इस कला में अत्यन्त निपुण है। फडके के 'दौलत' मे निर्मला का रेलगाडी मे जाते समय का परिचय लेखक की कलात्मक प्रतिभा का द्योतक है। छोटे से प्रसग द्वारा निर्मला का शांत और कोमल स्वभाव चित्रित किया गया है। इसी प्रकार कमला का चित्र भी तूलिका के एक-दो स्पर्श से अकित किया गया है। साराश यह है कि अपने प्रमुख पात्र का परिचय कराने तथा एक-दो छोटे प्रसगों द्वारा उनकी स्वभावजन्य विशेषताओ का सकेत करने मे फडके की कला किसी भी पाश्चात्य कलाकार से कम नही। आकृति (फिज़ियोगनोमी) का चरित्र और स्वभाव से घनिष्ट सम्बन्ध है। उपन्यासकार के लिए आकृति-विज्ञान से परिचित होना बडा आवश्यक है। दुर्भाग्य का विषय है कि हिन्दी और मराठी उपन्यासकारो ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। या तो उनके नायक-नायिका परम सुन्दर चित्रित किये गए है और उनके चित्रण के लिए परम्परागत उपमानो का प्रयोग किया गया है अथवा उनकी शारीरिक मुद्रा के विषय मे लेखक पूर्ण मौन रहे है। आकृति-विज्ञान तो दूर, हमारे यहाँ के उपन्यासो में मनुष्यों की आकृति तक पर ध्यान नही दिया गया है। मराठी मे खाडेकर तथा हिन्दी मे इलाचन्द्र जोशी के पात्रों को उदाहरण के लिए लिया जा सकता। कुछ ऐसे लेखक अवश्य हुए है, जैसे फडके और वृन्दावनलाल वर्मा, जिन्होंने पात्रो के वैशिष्ट्य के लिए विशेष आकृति का विधान किया है। फडके के 'जादूगार' का एक चित्र देखिए—'नई कोपलों मे से झांकती हुई कुंद कलियो के समान उसके दांत दिख रहे थे, दोनों नासिकारन्ध्र कुछ-कुछ फूलने के कारण वायु-लहरी से कंपित गुलाब-पटल जैसे प्रतीत होते थे। उसके नेत्रों मे तेज व मृदुता का सम्मिश्रण था, उसके शुभ्र कण्ठ को स्पर्श करता हुआ नीचे की ओर लटका हुआ सुनहरा अंचल वक्ष की दाई ओर लटका हुआ था।"[2] 'दौलत' मे परीक्षा व अध्ययन से दुर्बल हुई निर्मला का वर्णन, उसकी छोटी से छोटी चाल-ढाल का चित्रण उसे कमला के चित्र से भिन्न बना देता है। अखड धूम्रपान, विलायती वस्तुओ के प्रति कौतुक, मातृभाषा का अनादर, गरीब भिखारी को

---

१. लिडैल—'ए ट्रीटाइज़ ऑन दि नाविल', पृष्ठ ११६।

२. ना० सी० फडके, 'जादूगार', पृष्ठ २१।

पैसे की जगह उपदेश और ईसाई होटलवाले को एक रुपये की वख्शीश आदि के द्वारा धनजय का चित्र स्पष्ट कर दिया गया है और अविनाश के चरित्र से उसकी विभिन्नता स्पष्ट प्रगट हो जाती है। हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा चरित्रो की चाल-ढ़ाल व आकृति से उनके भेद को स्पष्ट करने मे बड़े कुशल है। 'गढ़कुँडार' का एक चित्र है, "एक की आयु सत्रह या अठारह वर्ष से अधिक न होगी। प्रशस्त ललाट कुछ लंबाई लिए, गोल चेहरा, आँखें कुछ बड़ी और बादाम के आकार की हल्की-काली, नाक सीधी और होंठ लाल, ठोड़ी आधार मे एक हल्के-से गढ़ेवाली और ज़रा-सी आगे को झुकी हुई और गर्दन सुराहीदार। केश पीछे गर्दन तक लम्बे और बिल्कुल काले और उन पर कहीं-कहीं रेत के कण।"[1]

इस विशेषता के साथ-साथ उन्होंने चरित्रनिर्देश के अन्य प्रचलित साधनो को छोड़कर आचरणगर्भित चरित्र के सकेत का सहारा लिया है। स्वगतकथन चरित्रों के सूत्र दिखाने के लिए नही, केवल मनोगत संकल्पो को दिखाने के लिए कराए गए है। पहले चरित्र के आन्तरिक गुण-दोपो का वर्णन करने लिए के व्यक्ति की मन.स्थिति का चित्रण होता था, अब उसके मन मे किसी भी प्रकार की विचार-तरंग उठते ही वह उसके उद्गार, संभाषण, शारीरिक हलचल अथवा कृति में प्रतिविम्वित हो उठती है और लेखक इन सबका अंकन चुने हुए शब्दों मे करता है। कथोपकथन हैं, पर वे मन के भावों को छिपाने के लिए हैं। कभी-कभी आचरण के विशेप झुकाव की झलक, संयत और रंगशून्य दिखाकर ही उसका ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार के कलापूर्ण चरित्र-चित्रण से पात्र की अधिक स्पष्ट कल्पना तो पाठक को हो ही जाती है, साथ ही उपन्यास विवरणात्मकता, अनावश्यक भार एवं ऊब इत्यादि दोपों से भी बच जाता है।

पात्रों का लेखक के मुखयंत्र वन जाना एक अक्षम्य अपराध है। पर अनेक लेखको मे यह दोप पाया जाता है। डा० केतकर, वामनराव जोशी, साने गुरुजी, मराठी में, तथा प्रेमचन्द, यशपाल और नागार्जुन हिन्दी में इस दोप से न बच सकने के कारण ही अपने कुछ चरित्रों को सफल नही बना सके हैं। यह अस्वाभाविकता एवं विसंगति उपन्यास के चित्र को विरुप बना देती है। पात्रों द्वारा उनके स्वभाव के प्रतिकूल कार्य कराने से भी यही दोप आजाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'मृगनयनी' में बैजू-बावरा द्वारा कला के षडयंत्र का भण्डाफोड़ समुचित नही माना जा सकता। इस प्रकार के कार्य कराकर उपन्यासकार चरित्रो को स्वाभाविक रूप से विकसित नही होने देता और इस का उत्तरदायित्व लेखक की अपनी धारणा पर ही रखा जा सकता है।

भाषा-शैली—भापा और कथाविपय जब तक एक दूसरे के अनुकूल न होंगे, तब तक कभी भी उपन्यास मे वास्तविकता और कलात्मकता नहीं आ सकती। प्रेमचन्द तथा हरिभाऊ आप्टे का विषय वाह्य चित्रण था और उस के लिए उन्होंने भापा की सम्पूर्ण शक्तियो का विकास कर लिया था। अत: जब तक उपन्यासो का विषय वाह्य चित्रण रहा, वह भापा काम देती रही। परन्तु अंतर्मन का चित्रण करने वाली भापा हिन्दी तथा मराठी मे उपर्युक्त दोनो लेखको के बाद ही निर्मित हुई। हिन्दी मे जैनेन्द्र

---

[1] वृन्दावनलाल वर्मा, 'गढ़कुण्डार: सातवीं आवृत्ति, पृष्ठ २१।

था मराठी मे पु० य० देशपाडे ने मानसिक जगत के चित्रण मे समर्थ भाषा का निर्माण किया। इन दोनो लेखकों की भाषा कर्म की भाषा न होकर मानस की भापा है, क्योकि उनके उपन्यास इसी प्रकार की भापा की अपेक्षा रखते है। उनके उपन्यासों की भूमि वाहरी जगत न होकर मानसिक जगत है, इसीलिए उनकी भापा भी उनके मूलचिन्तन की वाहक है। वह उनके वक्तव्य को मूदती अधिक है, खोलती कम है। उसमे साकेतिकता, अतिसंवेदना और अतिमानसता पाई जाती है।

उपन्यास मे आद्योपान्त जिन कलाकारों की शैली एक-सी रहती है, उन्हे दिवालिया समझना चाहिये। हिन्दी मे प्रेमचन्द और मराठी मे हरिभाऊ की शैली कथानक के साथ परिवर्तित नही होती, इसीलिए पाठक प्राय: पृष्ठ के पृष्ठ छोड़कर आगे वढ़ने लगते हैं। इसके विपरीत मराठी मे फडके की शैली की आत्मा है लालित्य। मराठी उपन्यासों मे अलंकृत और वडे-वड़े वाक्यो की प्राचीन पद्धति को वर्जित कर, आधुनिक सहज, सुन्दर, वोलचाल की सीधी-सादी पर साहित्यिक, लालित्यपूर्ण शैली लाने का श्रेय फडके ही को है। खाडेकर यद्यपि प्रमुख रूप से गरीबों के लेखक है, तथापि उन्होने आनन्द, भोग, सौन्दर्य आदि का वर्णन वड़ी उपयुक्त शैली मे किया है। यदि सौन्दर्य-प्रीति काव्यगध से परिपूरित भाषा मे प्रतिविम्वित हुई है, तो अन्याय व विपमता का निपेघ ओजपूर्ण भापा मे। उनकी भापा-शैली मे उनके अन्त:करण की वेदना व रसिकता दोनो यथासमय व्यक्त हुई है। उसमे निराशा का अधकार है तो आशा की चादनी भी। अन्याय व विपमता का विरोध करते हुए अपने हृदय की ज्वाला तथा रोप प्रकट करते समय, उन्होने जिस अंगार-उगलती भाषा का प्रयोग किया है, उसका उदाहरण 'पाढरे ढग' के 'रक्ताने लिहिलेला ग्रथ' नामक नवें प्रकरण मे भाई नरेन्द्र के पत्र, 'उल्का' मे चन्द्रकान्त के पत्र, मजदूरों के जीवन-वर्णन आदि मे मिल सकता है। पर प्रणय-प्रसंगो का चित्रण करते समय वही तेजमयी लेखनी 'फूलो की छड़ी' वन जाती है। इसीलिए कहा गया है "एक क्षण मे वह लाल अगारे फेकती है, और अगले ही क्षण वह चरपरा अजन प्रयोग करती है, कभी चावुक के फटकारे लगाती है, तो कभी मर्मभेदी प्रकाश डालकर झूठी महानता के खोल को हटा देती है। क्षणभर मे वह काव्य के शुभ्र पंखो पर उड़ती है, तो क्षणभर मे सामाजिक विषमता की चीर-फाड़ मे मग्न हो जाती है।" 'अर्थभारवती भाषा, शीलभारवती कान्ता, पुष्पभारवती लता, आल्हादयति वै जगत' की कसौटी पर वह खरी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण से उपन्यासो की भाषा पात्र के भी अनुरूप होनी चाहिये। प्रेमचन्द ने हिन्दू घरो मे हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानों से उर्दू वुलवायी है। जहाँ-कही ग्रामीणो का प्रसग आता है, वह ठेठ भाषा का प्रयोग करते है। हरिभाऊ आप्टे की भाषा भी प्रेमचन्द को तरह सीधी-सादी, प्रसादगुण सम्पन्न व सरस है। स्त्रीपात्रो के मुख की भाषा का प्रयोग करने मे तो वे अद्वितीय है। वृद्धा से लेकर बच्ची तक के मुख से उन्होंने अत्यन्त उपयुक्त भाषा बुलवाई है। देशपाडे उनके सबध में लिखते हैं, 'विशेषत: स्त्रियो मे प्रचलित वाक्यो एवं उक्तियो से अलकृत भाषा,

ज्यो-की-त्यो प्रस्तुत करने मे, उन्होने कमाल का कौशल दिखाया है।"[१] 'पण लक्षात कोण घेतो' के बीसवें पृष्ठ पर 'अगदी तिन्हीसाज होण्याची···पण जाऊ द्या' (बिल्कुल सध्या होने का समय···पर जाने दे) नामक उद्धरण इस का प्रमाण है। वामन मल्हार जोशी के उपन्यास विचारप्रधान है। अत उनकी भाषा मे सस्कृत शब्दो के बहुल प्रयोग से प्रौढता उत्पन्न की गई है। अपनी गंभीरता व प्रौढता से वह पाठक को भी गभीर वातावरण मे लेजाकर छोड देती है। ना० सी० फडके भी इस कला मे पारगत है। उनकी रचनाओ मे ललित-रम्य भाषा-शैली का अप्रतिम सौदर्य-विलास है। चाहे स्त्री-सौदर्य का वर्णन हो और चाहे प्रकृति-लावण्य का, सर्वत्र भाषा विषय के अनुरूप है। प्रसग के अनुरूप भाषा-परिवर्तन सम्बन्धी जो लचक उनकी कृतियो मे है, वह अपूर्व है। इतनी नाजुक, लचकीली, नखरे-भरी सौदर्यपूर्ण भाषा-शैली लिखने वाला अन्य मराठी लेखक नही। शिक्षित लडकी के मुख से नाजुक, छोटी बच्ची के ओठों से टूटी-फूटी, गुजरातियो के मुख से विशिष्ट अलौनी व सत्वहीन भाषा, युवको की मुक्त प्रवाहमयी भाषा, वृद्धो की गंभीर भाषा, उनके उपन्यासो को अभिनव सौदर्य प्रदान करती है।

इसके विपरीत प्रसग व पात्र के साथ-साथ न बदलने वाली भाषा की एकरसता रचना मे कृत्रिमता उत्पन्न करती है। खाडेकर व केतकर मे यह बहुत बड़ा दोष है। 'हिरवा चाफा' मे प्रो० गरुड की टिप्पणी, केशर के पत्र व मुकुन्द की नोटबुक की भाषा एकसी है। भाषा की इसी एकरसता को लक्ष्य कर दा० न० शिखरे ने लिखा है "···ऐसी ही आलकारिक भाषा नायक-नायिका से लेकर मोटर-ड्राइवर व कारखाने की मजदूरनी तक सबके मुख से कहलवाई है। अतः पात्रो की स्वाभाविकता मे कमी आगई है।"[२] 'हिरवा चाफा' मे बैरिस्टर विजय के मन मे सुलभा और केसर के सम्बन्ध मे उठने वाले भावों का चित्रण कल्पनाओ की लड़ी के कारण ही कृत्रिम बन गया है, "सुलभा अर्थात् गुलाब का पौधा, जिसमे बीच-बीच मे सुन्दर पुष्प तो खिले हैं, पर जिन्हे तोडने मे काटे लगे बिना नही रहते। केशर मोतिया की कलियो से भरी बेल सरीखी थी। उसकी एक-एक कली सुगधि से मस्त बनाने वाली थी और वहा काटो का डर तो था ही नही।"[३] विविध-वर्णी भाषा से उत्पन्न होने वाला रंगवैचित्र्य न होने से ही उनके उपन्यासो का सौन्दर्य कला की दृष्टि से पर्याप्त कम हो गया है।

अग्रेजी ढग के शब्द-प्रयोग और वाक्य-प्रयोग जैसे, 'आपल्यावर फटकरा आहे' 'त्यात माझा सद्गुण झाला नाही', अपरिचित सस्कृत शब्द, मनगढन्त मराठी या हिन्दी शब्द, बेडौल व अशुद्ध वाक्य भी भाषा को ऊबड-खाबड बना देते है। जिस प्रकार बैलगाडी से यात्रा करते समय घच्चियो से यात्री को कष्ट होता है, उसी प्रकार इस प्रकार की भाषा के कारण पाठक को कष्ट होता है। डा० केतकर के उपन्यासो की भाषा मे यही दोष है, जिसके कारण वे उपन्यास न लगकर सैद्धान्तिक ग्रन्थ प्रतीत होने लगते

---

[१] अ० ना० देशपाडे, 'आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ १९३।

[२] दा० न० शिखरे, 'मराठी कादम्बरीकार' दूसरा भाग, पृष्ठ १४।

[३] वि० स० खाडेकर, 'हिरवा चाफा', पृष्ठ ६४।

है। परन्तु कुल मिलाकर नये उपन्यासो की रचना-शैली मे सदा एक स्वच्छता और परिष्कार मिलता है, जिसका बहुत कुछ श्रेय उनकी भाषा-शैली को है। इन उपन्यासकारों के गद्य मे—विशेषकर हिन्दी मे 'अज्ञेय' तथा मराठी मे 'पु० य० देशपांडे' के गद्य मे—अपना एक मौलिक छन्द है। उनका संयत, गम्भीर माधुर्य और गद्य की लयमयता मानो कुशल-शिल्पी के सबल साधन हैं। कही उपन्यास की भाषा को एक उदात्त लय और अभिजात्य संस्कार मिला है, जिसके द्वारा मानवीय आत्मान्वेषण की सूक्ष्मतम वृत्तियो को अभिव्यक्ति मिलती है, जैसे हिन्दी मे अज्ञेय और जैनेन्द्र तथा मराठी मे मर्ढेकर और पु० य० देशपांडे मे, तो कही उसे लोक-सस्कार मिले हैं, जैसे, हिन्दी मे फनीश्वरनाथ रेणु तथा शिवप्रसाद मिश्र और मराठी मे दिघे एवं श्रीराम अत्तरदे मे। अत. यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि हमारी भाषा सम्बन्धी प्रगति तनिक भी निराशाजनक नही है।

कलात्मकता के अन्य उपकरण—जिस प्रकार चित्रकार छाया-प्रकाश के उचित प्रयोग व तूलिका के हल्के स्पर्श से अपने चित्र मे अभिनव आकर्षण व सौन्दर्य ले आता है, उसी प्रकार उपन्यासकार कथासंबंधी कौशल, कलात्मक प्रसंगो, साकेतिकता, दूरदर्शिता और प्रतीकात्मक घटनाओ के प्रयोग आदि कितने ही उपायो से अपनी रचना को कलापूर्ण बना लेता है। छोटे-से प्रसंग को लाकर कलाकृति को सुन्दर बनाना भी एक गुण है, जिसका उपयोग खाडेकर, फडके आदि कितने ही लेखको ने किया है। 'उल्का' मे माणिकराव द्वारा झिड़के जाने से उल्का का आत्म-घात के लिए निकलना और उसी समय अखबार बेचने वाले से भेंट होना, ऐसा ही प्रसग है। सीधे-सादे प्रसंगो को लेकर उनमे सौन्दर्य-निर्माण करने का फडके का कौशल प्रशसनीय है। 'कुलाव्याची दांडी' मे गाड़ी मे होने वाली शाता की भेंट, राधाकान्त की मूर्खता व पलायन, दुकान मे जापानी पोशाक मे माणिक का अचानक दर्शन, 'दौलत' मे सिर पर पत्ता गिरने और तदुपरान्त वृक्ष की ओर एक विशेष मुद्रा से देखने एवं डायरी का प्रसंग इसी प्रकार के चतुरता से प्रयुक्त प्रसग है, जो कथा की सुन्दरता बढ़ाते हैं। डायरी का प्रसग इस प्रकार है। निर्मला को अविनाश की डायरी मिलती है और तुरन्त उसकी दृष्टि डायरी के एक पन्ने पर पड़ती है, जहाँ लिखा है "मधुरा के लिए एकदम बम्बई से निकल पड़ा।" यह पंक्ति देखते ही वह चौंक पड़ती है। उसके हृदय मे अविनाश और मधुरा के संबंध के विषय मे आशंका घर कर लेती है। उसे इस उलझन मे डालकर प्रकरण समाप्त कर दिया गया है। डायरी का यह कुशल उपयोग कला को चारुता प्रदान करता है।

अर्थगर्भित पर संक्षिप्त, प्रसंगानुकूल शब्दों द्वारा कभी-कभी उतना अर्थ प्रकट हो जाता है, जितना अनेक वाक्यो से भी अभिव्यक्त नही हो पाता। फडके कलात्मक, सूचक और संक्षिप्त वाक्यावलि के प्रयोग द्वारा उपन्यास को सौन्दर्य प्रदान करने मे अत्यन्त निपुण है। 'जादूगार' मे इन्दुमती की पुरुषो के प्रति धारणा बदलने की स्पष्ट स्वीकृति न कराकर, केवल उसकी प्रबल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए दो शब्दो "पर मुझे ?" का प्रयोग किया गया है। शब्द दो ही हैं, पर उनके द्वारा उसकी परि-

वर्तित धारणा का स्पष्ट ज्ञान पाठक को हो जाता है। इसी प्रकार 'निरंजन' मे मन्दाकिनी निरंजन का व्यवहार देखकर निर्णय करती है कि वह अब उससे जेल मे मिलने नही जायगी, पर लेखक तुरन्त लिखता है 'पागल मन्दाकिनी' और पाठक इन दो शब्दो के द्वारा ही भविष्य सम्बन्धी अनुमान लगाने लगता है।

रांगेय राघव के 'विषाद मठ' मे परिपार्श्व के साकेतिक चित्रण से उपन्यास में अभिनव सौन्दर्य और कलात्मकता लाई गई है। क्रोध का चित्रण करने से पूर्व का एक दृश्य देखिए 'चूल्हे पर चढ़ी दाल की भगौनी पर से ढक्कन को खिसकाकर पानी उबल रहा था, झाग बाहर आ-आ जाते थे। धुआँ उठकर रसोई मे ही धीमे-धीमे घूम रहा था।"[1] यह चित्र क्रोधाभिव्यक्ति से पूर्व मन की स्थिति बताने के लिए उपयुक्त पार्श्वभूमि का कार्य करता है। तथा जब इस चित्र के तुरन्त बाद हम क्रोध को प्रगट होते देखते हैं, तो इस चित्र की सकेतात्मकता से प्रभावित हुए बिना नही रहते। कथानक के अगले प्रसगो की सूचना देने के लिए अन्य उपन्यास-लेखको ने भी विविध उपायो का प्रयोग किया है। इस पूर्व-सूचना के कारण कथा के अन्त मे उसी घटना को घटते देख, जिसका सकेत पहले दिया जा चुका होता है, पाठक कलाकार की उस प्रच्छन्न कला पर मुग्ध हो जाता है। हरिभाऊ ने इसके लिए स्वप्नो का प्रयोग किया है, जो अधिक कलात्मक नही कहा जा सकता। 'पण लक्षांत कोण घेतो' में मां की मृत्यु के उपरान्त यमुना व दादा को दिखने वाले स्वप्न, 'मी' में सुन्दरी के विवाह के संबंध मे भाऊ का स्वप्न, इसी प्रकार के स्वप्न हैं। हिन्दी मे प्रेमचन्द ने 'ग़बन' में इसका प्रयोग किया है। रमानाथ के पुलिस द्वारा सताए जाने के भय से भागने के कुछ ही पूर्व उसकी पत्नी रात को सोते समय भयंकर स्वप्न देखती है तथा पति द्वारा पूछे जाने पर कहती है "देखती थी कि तुम्हें कई सिपाही पकड़े लिये जा रहे हैं।"[2] स्पष्ट ही यह स्वप्न-योजना भविष्य की घटना का पूर्वसकेत देने के लिए नियोजित की गई है। इसी से मिलता-जुलता एक अन्य उपाय भी हरिभाऊ ने प्रयुक्त किया है। उसे हम 'जागृत-स्वप्न' कह सकते हैं। 'मी' में मां की मृत्यु के बाद भाऊराव को मां के दर्शन, भाऊ के सन्यासग्रहण से पूर्व ताई को लगातार तीन रात तक होने वाले मां के दर्शन, जिसमें उन्होने आने वाले संकट की पूर्व-सूचना दी, इसके उदाहरण हैं।

अन्य उपायो से भी लेखको ने कथानक की आगे घटनेवाली घटनाओं का पूर्व-संकेत दिया है। 'सूर्योदय' मे बड़े बाघ व छोटे बाघ का युद्ध तथा उसमे छोटे बाघ की विजय दिखाकर लेखक ने यह संकेत किया है कि उपन्यास के अन्त में शिवाजी की विजय और अफज़लखां की मृत्यु होगी। फडके भी मार्मिक प्रसंगों की योजना द्वारा भविष्य की घटनाओं का पूर्व-संकेत देने मे अत्यन्त कुशल हैं। 'कुलाव्याची दांडी' में माणिक व जगदीश के प्रणय-विलास के समय शीघ्र आने वाली अड़चन की सूचना

---

[1] रांगेय राघव, 'विषाद मठ', पृष्ठ १८३।

[2] प्रेमचन्द, 'ग़बन', पृष्ठ १११।

उन्होने पक्षी के चोच मारने के प्रसग द्वारा बडी मार्मिकता से दी है। "एक पक्षी उनके हाथ पर चोच मार गया । उसकी फडफडाहट मुझे अपशकुन लगी।" 'हिंदोळ्यावर' मे अचला का अपने भाजे से पूछना "मेरा फूल कौनसा है ?" और उसका कन्नेर के अविकसित फूल की ओर सकेत करना भी सहेतुक होने के कारण कलापूर्ण है। वह उस फूल की ओर देखकर कहती है "सुवास नही, दुर्गन्ध भी नही, रंग नही, रूप नही, घुना अविकसित फूल ही मेरे जीवन का प्रतीक है।" माडखोळकर के 'डाकबगला' मे खरगोश के बच्चे को मुह मे रखे पशु के दौडने की प्रतीक-योजना इस घटना का सकेत देती है कि काचन भी इसी प्रकार धनजय के चंगुल मे फस जायगी और उसका नैतिक पतन होगा। खरगोश के बच्चे के उस भयानक अत को देखकर उसका यह कथन कि "अरेरे इससे तो मैं तालाब पर न आती तो अच्छा था" आगे चलकर कितना सार्थक लगता है। इन्ही प्रतीक-योजनाओ एव सार्थक शब्दावली मे कलाकार की कला सन्निविष्ट है, जो रचना को आकर्षक बना देती है।

हिन्दी मे प्रेमचन्द, जैनेन्द्र आदि अनेक उपन्यासकारो ने सकेत-शैली और प्रतीक-योजना का कलात्मक प्रयोग किया है। 'गोदान' मे होरी के भाई को यह कहते सुनकर कि "भगवान चाहेगे तो बहुत दिन गाय घर मे न रहेगी।"[1] पाठक चौकन्ना हो जाता है और कथान्त मे उसकी आशका सच्ची सिद्ध होती है। इसी प्रकार होरी के धनिया से कहे निम्न शब्द "साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पावेगी धनिया। इसके पहले ही चल देंगे।"[2] उपन्यास के अन्त को देखकर कितने सार्थक प्रतीत होते हैं, यह बताने की आवश्यकता नही। कला का दूसरा स्वरूप हमे 'गोदान' मे धनिया के चरित्राकन मे मिलता है। लेखक ने धनिया के चरित्र की महत्ता स्पष्ट न बताकर उसकी पुत्री सोना के रूप मे चित्रित की है, जहा वह रात के शून्य प्रहर मे मथुरा और सिलिया को एकान्त मे मिलते देखती है और उग्र रूप धारण कर लेती है। इस स्थान पर सोना का जो उग्र रूप है, उसके गठन मे धनिया का जबरदस्त हाथ है। सोना अपने पति पर एकाधिपत्य इसलिए चाहती है कि उसने अपनी माँ को अपने बाप होरी पर एकाधिपत्य करते देखा था। इस प्रकार धनिया के चरित्र की महत्ता की कुजी लेखक ने बडी दूर रख दी है और वह भी बडी लापरवाही के साथ। जो जरा भी ध्यान से पढेगा, उसे यह कुजी हाथ लग जायगी और तब धनिया के चारित्रिक सौरभ का कोष उसे प्राप्त हो जायगा और लेखक की कला पर मुग्ध हुए बिना न रह सकेगा।

विरोधी प्रसगों की अवतारणा भी कला की अभिवृद्धि मे सहायक होती हैं। फडके के 'जादूगार' मे 'त्याग' नामक चित्र को फ्रास भेजने का प्रसग विरोध पर आधारित है, क्योकि जिस चित्र के कारण नायक-नायिका मे झगड़ा हुआ था, उसी को नायिका अपने खर्च से फ्रास भेजती है। परिस्थितियो के इस अन्तर्बाह्य विरोध को चतुराई से चित्रित करने के कारण उपन्यास मे अभिनवता आजाती है। साराश

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान' : तेरहवा संस्करण, पृष्ठ ४२।

[2] वही , पृष्ठ ६।

यह है कि आधुनिक लेखक अपनी रचनाओ मे विविध उपायो का अवलब ग्रहण कर कलात्मक सौन्दर्य लाने की चेष्टा कर रहे है ।

निष्कर्ष यह है कि ज्यो-ज्यो उद्देश्य-दृष्टि मे विकास होता गया है, उसी क्रम से उसके शिल्प का विधान भी बदलता चला है । पत्र-शैली, डायरी-शैली, समाचार-पत्रो के उद्धरण की शैली उद्देश्य प्रकाश मे अधिकाधिक आकर्षण और प्रभविष्णुता लाने के लिए ही दोनो भाषाओ के उपन्यासकारो ने अपनाई है । इसी प्रकार अपनी अनुभूति को अधिकाधिक मूर्त स्वरूप प्रदान करने के लिए लेखको ने आत्म-कथात्मक पद्धति, विभिन्न पात्रो के मुख से कथा कहलाने की पद्धति, काल-विपर्यय, पूर्वदीप्ति और चेतना-प्रवाह पद्धति का प्रयोग किया है । सम्पूर्ण चरित्र-अकन और व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा के लिए जगह-जगह कहानी के तार की कडियो को तोडने, तथा विकास और अन्तराल के आधार पर पत्र, सम्भाषण और वर्णन की सम्मिलित शैली का भी प्रयोग कुछ उपन्यासो मे मिलता है । सिनेमा ने भी उपन्यास-शिल्प को प्रभावित किया है, जिसके फलस्वरूप 'क्लोज-अप', 'स्लो-अप' और 'कट-बैक' पद्धतियो का प्रयोग हुआ है । विभिन्न कथाओ से सूत्रो द्वारा उपन्यास-रचना का शिल्प पुराना होते हुए भी कुछ परिवर्तनो के साथ आधुनिक उपन्यासकारो ने अपनाया है ।

पहले उपन्यास को नाटक के समान—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—मे विभक्त करने की प्रथा थी । मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के आविर्भाव के उपरान्त, उसे जीवन की प्रतिकृति बनाने के प्रयत्न मे इस पद्धति को तो त्याग दिया गया है, परन्तु आज भी आकर्षक आरम्भ और प्रभावशाली अत बनाने की चेष्टा दोनो भाषाओ के उपन्यासकार करते है । कथोपकथन, पार्श्वभूमि-चित्रण, चरित्र-निर्माण और भाषा-शैली के प्रयोग मे दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे लगभग समान गुण-दोष पाये जाते है । आधुनिक उपन्यासकारो ने कथा-सम्बन्धी कौशल, कलात्मक प्रसग, सूचक-सकेत, विरोधी प्रसगो की अवतारणा, प्रतीकात्मक घटना आदि उपकरणो के द्वारा जो सौष्ठव उपन्यासो को प्रदान किया है, वह वस्तुतः अभिनन्दनीय है ।

कुल मिलाकर, दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे कुछ तो प्रतिपाद्य वस्तु की सुन्दर और उचित अभिव्यक्ति के लिए तथा कुछ अग्रेजी-उपन्यासो मे प्रयुक्त शिल्प का अनुकरण करते हुए, शिल्प-विधान की समान प्रणालियाँ अपनाई हैं । यदि शिल्प-सम्बन्धी कोई भेद है भी, तो वह प्रतिपाद्य विषय को विशेष ढग से अभिव्यक्त करने की अपरिहार्यता के हेतु अथवा लेखक की रुचि के कारण आगया है ।

प्रकरण : ७

मराठी और हिन्दी उपन्यासों को पात्र-कल्पना

चरित्र-चित्रण का उपन्यास साहित्य में महत्त्व—प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझते है और ना० सी० फडके उसमें "व्यक्ति का विशिष्ट स्वभाव ही मुख्य है, उलझन भरे प्रसग केवल उस व्यक्ति की प्रतिक्रियाओ से उत्पन्न होने वाले स्फुलिग-मात्र"[1] मानते हैं। प्राचीन वाङ्मय का बहुत कुछ आकर्षण चरित्रो मे ही निहित है। व्यास, वाल्मीकि, शेक्सपीयर, हरिभाऊ आप्टे और प्रेमचन्द आदि के साहित्य की महानता साधारण पाठक के लिए उसके तत्व-ज्ञान मे नही, अपितु मानव स्वभाव के चित्रण मे है। विचार, विकार व परिस्थिति के सघर्ष से निर्मित मानव की मनोरचना का चित्रण ही किसी कृति को आकर्षक एव हृदयग्राही बना देता है। आज भी किसी विशिष्ट कालखड की स्थिति का दिग्दर्शन कराने अथवा किसी वर्ग विशेष की चारित्रिक विशेषताओ का निर्देश करने के लिए लेखक को चरित्र का माध्यम अपनाना पडता है। समाज सुधारक कैसा होता है, उसे कैसी-कैसी विपत्तिया सहन करनी पडती है, यह बताने के लिए ही हरिनारायण आप्टे ने 'मी' उपन्यास मे भाऊ की कल्पना की है। किसी समस्या विशेष के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करने के लिए भी उसे पात्रो का आश्रय लेना पड़ता है। आज का पाठक भी आश्चर्यजनक घटनाओ मे आनद खोजने के स्थान पर मानव-मन के अन्तर्रहस्यो का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। उधर मनोविज्ञान के विकास ने लेखको को मानव-हृदय के गूढातिगूढ रहस्यो से परिचित कराया है। उनके लिए "मनुष्य की सम्पूर्ण जिज्ञासा का सबसे अधिक रुचिकर विषय मनुष्य का मन ही हो गया है।"[2] कलात्मक दृष्टि से भी इस युग की कहानी-कला का मेरुदड चरित्र है। इसी के अध्ययन, कर्म-प्रेरणाओ के विवेचन तथा इसी की व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा के चारो ओर इस युग के कहानी-शिल्प के समस्त उपकरण घूमते मिलते है। चरित्र के रूप, चरित्र के वर्ग, चरित्र की स्थिति और स्तर—इन सब मे इतनी व्यापकता आगई है कि समूचा आधुनिक युग इसके माध्यम से प्रतिबिम्बित हुआ है। दर्शन,

---

१. ना० सी० फडके, 'प्रतिभा साधन', पृष्ठ १११।

२. बापट और गोडबोले, 'मराठी कादंबरी', 'तंत्र आणि विकास' : नवीन संस्करण, पृष्ठ १०४।

मनोविज्ञान, यौनवाद और साम्यवाद—समस्त युगीन प्रवृत्तियां इसी केन्द्र-विन्दु से चरितार्थ की गई हैं। सामान्य चरित्र से लेकर विशिष्ट और प्रतिनिधि चरित्रो के सहारे सम्पूर्ण मानव सवेदनाओ और कार्य-व्यापारो को कथा-विधान मे स्थान मिला है। चरित्रो की व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा और उनके व्यक्तित्व-विश्लेषण मे नये-नये प्रसाधन प्रयुक्त हो रहे हैं—आत्म-विश्लेषण, मानसिक ऊहापोह, अवचेतन विज्ञप्ति, संकेत और छोटे-छोटे कार्य व्यापारो का अध्ययन। इन सब ने उपन्यास-साहित्य मे चरित्र-चित्रण को सर्वोपरि महत्त्व दे दिया है।

अलौकिक अस्वाभाविक पात्र—आरंभ मे उपन्यास लेखको का प्रधान लक्ष्य पाठको का मनोरजन होने के कारण पात्रो का अपना स्वतत्र व्यक्तित्व नही होता था। वे घटना रूपी शकट के लिए केवल वाहक का कार्य करते थे। अत: उनके चरित्र मे न तो मानव के साधारण गुणो या अवगुणो के चिह्न ही मिलते हैं और न वैविध्य ही। वे या तो सर्वगुण-सम्पन्न देवता होते है अथवा दुर्गुणो के भण्डार दैत्य। खलनायको मे क्रूरता एवं अत्याचार-वृत्ति तो चित्रित की ही जाती है, पर उन्हे और भी अधिक पतित चित्रित करने की अभिलाषा से उनमे धैर्य, सहनशीलता, स्वाभिमान, चतुराई इत्यादि गुणो का भी अभाव दिखाया जाता है। मराठी मे शुक्लाक्ष, चडकर्मा, क्रूरसेन आदि इसी प्रकार के पात्र हैं।

पात्र-कल्पना संबधी यह दोष प्रारंभिक उपन्यासो मे क्षम्य हो सकता था, क्योंकि उस समय न तो मनोविज्ञान द्वारा मानव-स्वभाव का इतना गहरा अध्ययन ही हुआ था और न मानव-मन के रहस्यो से लेखक इतने परिचित ही थे, जितने फ्राइड, एडलर, जुग इत्यादि के सिद्धान्तो के प्रकाशन के उपरान्त। परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक युग मे भी अनेक लेखक इस दोष से नही बच पाये है। जिन लेखको ने अपनी कृतियो में सुधारक-रूढिवादी, साहूकार-किसान, मिलमालिक-मज़दूर, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर का द्वन्द्व चित्रित किया है अथवा बाल-विवाह, प्रौढ-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण इत्यादि सामाजिक समस्याओ को आधार बनाकर उपन्यास लिखे है, उन्होने इन कृतियो मे पहले तो दो पक्षो का निर्माण कर लिया है और तदुपरान्त लेखक के मतानुसार जो सत्पक्ष है, उसके नायक को शौर्य, पराक्रम, विवेक, सहिष्णुता, त्याग, परमार्थ इत्यादि गुणो की प्रतिमूर्ति चित्रित किया है तथा जो असत् पक्ष है, उससे सबवित पात्रो को दुर्गुणो का भडार बताया गया है। उदाहरण के लिए, खाडेकर का 'हिरवा चाफा' लीजिए। इस का नायक मुकुद समाजवादी विचारो का है और श्रमिकों तथा दीनदुखियो का पक्ष ग्रहण करता है। इसके विपरीत विजय देशपाडे व तात्यासाहब पूजीपति वर्ग के हैं। लेखक की सहानुभूति गरीब वर्ग के प्रति है और मुकुद गरीब है, अत उसे सर्वगुण-सम्पन्न चित्रित किया गया है। कालिज-जीवन से ही उसे स्वाभिमानी दिखाया गया है। प्रिंसिपल को वह करारा जवाब देने से नही चूकता, मद्य को स्पर्श तक नही करता। बिल्कुल एकात मे केशर सरीखी युवती को अपने आलिंगन मे पाकर भी उसका चुम्बन तक न लेने का संयम व मनोनिग्रह उसमे है। सुलभा के अत्यन्त निकट होते हुए भी

वह उसके स्पर्श-सुख की अभिलाषा तक नही करता। इसके विपरीत विजय पूजीपति वर्ग का है, अत. उसमे इस सयम का अभाव दिखाया गया है। वह मोटर मे सुलभा को आलिगन करना चाहता है। इतना ही नही, अपने काका की मृत्यु की कामना करता है जिसमे शीघ्रातिशीघ्र उसकी सम्पत्ति उसे मिल सके। इस कामना को स्पष्ट कह देने मे भी वह लज्जा का अनुभव नही करता। इसी प्रकार तात्यासाहब व रतिलाल को कामुक, कायर एव अधम चित्रित किया गया है। उनका अपराध केवल इतना है कि वे धनिक वर्ग के हैं और लेखक की दृष्टि मे धनी व्यक्तियो मे गुणो का होना असभव है। इस प्रकार के अनेक पात्र हमे मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो मे मिल सकते है क्योंकि, "नायक-नायिका के विरुद्ध या लेखक के प्रतिपादित मत के विपरीत विचारधारा वाला व्यक्ति सर्व दुर्गुणो का भंडार होना ही चाहिये—यह पूर्वाग्रह होता है।"[1]

समस्यामूलक उपन्यासो के अतिरिक्त कुछ प्रणय-प्रधान उपन्यासो मे भी पात्रो का इसी प्रकार विभाजन मिलता है। ना० सी० फडके के अधिकाश उपन्यासो की पात्र-कल्पना इसी प्रकार की है। 'निरजन' उपन्यास का नायक निरजन सदाचारी देशभक्त, बुद्धिमान एव पत्नी के प्रति अत्यत सहिष्णु चित्रित किया गया है। उसकी पत्नी सदा बीमार ही नही रहती, अपितु झगडालू एव चिडचिड़े स्वभाव भी है, फिर भी वह कभी उससे रुष्ट नही होता, उसको कभी जीवन-भार नही समझता। सामान्य जीवन मे ऐसा व्यक्ति मिलना प्राय: असम्भव ही है।

वस्तुत दुष्ट से दुष्ट पात्र भी, जीवन के कुछ क्षेत्रो मे अनाचारी होते हुए, अन्य बातो मे सामान्य मानव के समान ही आचरण करता है। कोई व्यक्ति धन के लिए, स्त्री या अधिकार-प्राप्ति के हेतु, दूसरे के साथ छल कर सकता है, परन्तु घर आकर अपनी प्रिय पुत्री के साथ वह अन्य मानवो के समान ही वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करता है। परन्तु अनेक लेखको ने इस साधारण सत्य की उपेक्षा की है। 'हाच का धर्म' मे काकासाहब का अपनी पुत्री के प्रति भी क्रूर आचरण दिखाकर लेखिका ने उनके चरित्र को अस्वाभाविक बना दिया है। चरित्र-चित्रण सम्बन्धी इस दोष का कारण यह भी है कि लेखक कथानक की आवश्यकता के अनुसार पात्रो को उपन्यास मे स्थान देते है और कथा-सम्बन्धी आवश्यकता पूर्ण होते ही उनका लोप हो जाता है। व्यक्ति का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही किया जाता। अत. या तो वे पूर्ण शुभ्र अथवा शत-प्रति-शत कालिमायुक्त चित्रित किये जाते है।

कुछ उपन्यासो मे पात्रो मे परिवर्तन दिखाया गया है—प्रारभ मे सद्गुणी मनुष्य कालांतर मे पाप-मार्ग पर चलने लगता है अथवा स्वभाव से दुष्ट व्यक्ति आगे चलकर कुछ परिस्थितियो के कारण सुधर जाता है। 'उद्याचा संसार' का विश्राम, 'पुण्यप्रभाव' का वृन्दावन इसी प्रकार के पात्र हैं। इससे भी आगे का चरण उन लेखको ने अपनाया है, जो कथारभ मे पात्र को सज्जन, बीच मे पतित व अत मे पुन: सद्वृत्त चित्रित करते है। जैसे 'भयंकर दिव्य' का पद्माकर या प्रेमचन्द के 'सेवा-

---

[1] पु० ग० सहस्रबुद्धे, 'स्वभावलेखन', पृष्ठ २६६।

सदन' मे दरोगा कृष्णचन्द्र व सुमन। इन पात्रो मे परिवर्तनशीलता होते हुए भी एक बात स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है कि यहाँ भी लेखको ने सद्गुण-दुर्गुण को परस्पर अलग रखने की वृत्ति ही अपनाई है और जहाँ सद्गुण है, वहाँ दुर्गुण का अभाव और जहाँ दुर्गुण हैं वहाँ सद्गुण का अभाव दिखाया है। इसी अभाव एव दोष को मराठी उपन्यासो मे देखकर लिखा गया है, "उनमे न तो छाया-प्रकाश ही है और न मानव-स्वभाव मे सर्वदा पाई जाने वाली वृत्ति की विविधता ही। दुर्दशाग्रस्त सज्जनो की कथा इसीलिए शीघ्र ही उबाने वाली बन जाती है तथा दुर्जनो के चित्रण कृत्रिम व अरुचिकर लगने लगते है।"[1]

कल्पना-रम्य उपन्यासों के गढ़े-गढ़ाये सुखी-सम्पन्न पात्र—कल्पना-रम्य उपन्यासो का उद्देश्य होता है जीवन के सघर्षो से विश्रब्ध एव उद्विग्न पाठको को कुछ समय के लिए इस सघर्षमय ससार से हटाकर, कल्पनालोक मे विचरण करने के लिए ले जाना और उनका मनोरजन करना। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए जहाँ वह सुखमय वातावरण, सुरम्य कथानक और ललित-कोमल भाषा-शैली का प्रयोग करता है, वहाँ उस स्वप्नरजन व कला-विलास के लिए उसे ऐसे पात्रो की सृष्टि करनी पडती है, जो उसके मनोमहल को भग्न न करदें। अत. ऐसे उपन्यासो के नायक-नायिका का चित्रण करते समय लेखक को अनिवार्य रूप से कुछ बधनो को स्वीकार करना पडता है। लेखक का उद्देश्य लक्ष्मण-रेखा के समान उसे सीमित क्षेत्र की परिधि को लाघने से रोकता रहता है। यही कारण है कि मराठी मे फडके की सभी नायिकाएँ सुन्दर, विदुषी, मृदुभाषिणी, चतुर व बहुधा वैभवसम्पन्न होती है और नायक भी उनके अनुरूप सुस्वरूप, चतुर एव बुद्धिमान है। संसार का कोई आघात उनके कोमल हृदय को स्थायी रूप से क्षुब्ध एव उद्विग्न नही कर सकता और उनकी बुद्धि व पराक्रम उन्हे अन्तत प्रत्येक आपत्ति से बचा लेते है। यदि हमे ध्येयनिष्ठ या देशभक्त दिखाया गया है, तो इसलिए कि उससे उनके चरित्र मे आई उदात्तता नायिका को मुग्ध कर सके, इसलिए नही कि उसके कारण उन्हे दु.ख, कष्ट, सकट, अन्त सघर्ष इत्यादि सहना पडे। कोई भी कार्य, चाहे वह प्रेयसि का प्रेम प्राप्त करना हो और चाहे कला या व्यापार मे सफलता, उनके लिए दु साध्य नही। इसी प्रकार या तो नायिकाएँ सीधी-सादी प्रेमी की प्रतिछाया-मात्र हैं, उनमे अपना कोई दृढ व्यक्तित्व नही है और यदि 'दौलत' की निर्मला के समान, कोई पिता से विद्रोह कर आई० सी० एस० युवक से विवाह न कर साधारण स्थिति के पर सुन्दर बलिष्ठ नवयुवक से विवाह करती भी है, तो भी वह कुल मिलाकर एक सरल प्रेयसी ही बन पाती है। कलात्मकता अधिक होते हुए भी वह हरिभाऊ की ताई या वामनमल्हार जोशी की रागिणी या उत्तरा के समान प्राणवान नही हो पाती। इसीलिए मा० का० देशपाडे ने उन्हे 'दे आर आफ दी अर्थ, अरदी' अर्थात् वे साधारण मानव है, कहा है। ये चित्र यथार्थ नही लगते, क्योकि समाज के एक अत्यन्त सकीर्ण भाग मे ऐसे व्यक्ति भले ही मिल जाएँ,

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी', प्रथम भाग, पृष्ठ ५५।

पर साधारण जीवन में इतनी सुख-सुविधा नही मिलती।

माडखोळकर की शृंगारप्रियता उनके नायको के स्वभाव मे उस दृढता का सृजन नही होने देती, जो ध्येयनिष्ठा के लिए आवश्यक हैं। 'भगलेले देऊळ' का अरु, 'शाप' का निशिकांत और 'नवे ससार' का विद्याधर प्रेम-विषयक विशिष्ट तत्वज्ञान अथवा ध्येयवाद की सनक मे अपना और अपने से भी अधिक नायिका का जीवन नष्ट कर डालते है, क्योकि न तो वे अपनी अस्थिरता के कारण ध्येय का ही पालन कर पाते हैं और न विवाह ही। ये नायक अन्त मे किसी न किसी विकृति के शिकार बनते हैं। ऐसे नायको को देखकर ही इब्सन के नाटक 'वाइल्ड डक' के डाक्टर का यह कथन याद आता है "...डोन्ट यूज दैट फोरिन वर्ड : आइडियलस. वी हैव दी एक्सलेंट नेटिव वर्ड—लाईज" अर्थात्...विदेशी शब्द आदर्श का प्रयोग मत करो। हमारे पास उसके लिए अत्यन्त सुन्दर देशी शब्द मौजूद है—झूठ।

हिन्दी मे किशोरीलाल गोस्वामी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी या कुछ सीमा तक यशपाल के कुछ पात्र भी इतने ही प्रेम के नशे मे झूमने वाले, कृतित्वहीन व सुख-स्वप्नो मे मग्न रहने वाले चित्रित किये गए हैं। गोस्वामी जी के प्राय सभी नायक एकसे कामुक और नायिकाएँ एकसी सुन्दरी है। एक बार साक्षात्कार होने से ही हृदय मे प्रेम की पीर उठने लगती है और फिर वे तड़पते रहते हैं। उनका प्रेम यौवन की उद्दाम लालसा से उत्तेजित, उच्छृखल आसक्ति-मात्र है। उनकी 'चपला' इसका ज्वलत प्रमाण है। यद्यपि फडके और किशोरीलाल गोस्वामी की उपन्यास-कला मे महान अन्तर है, परन्तु पात्र-कल्पना दोनो की रचनाओ मे लगभग एकसी है। समय-परिवर्तन के कारण कही फडके के पात्र राजनीति में भाग लेते है, कही मनोविज्ञान की गुत्थियो के दृष्टान्त रूप मे चित्रित किये जाते है, परन्तु मूल रूप मे इन दोनो लेखको के नायक-नायिका प्रेम के अलौकिक लोक मे विचरण करने वाले प्रणयलोलुप व्यक्ति ही है।

लेखक के आदर्शो के प्रतिनिधि पात्र—सुधार-युग मे लेखको के मन तथा मस्तिष्क पर सुधारकों के विचारो तथा आदर्शो का प्रतिबिम्ब पडना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त समकालीन युग की समस्याओ और उनके समाधान के प्रति उनके स्वय अपने विचार व सुझाव भी होते है। अत. अपनी रचनाओ मे उन समस्याओ और प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे ऐसे पात्रो की अवतारणा करते है जो समाज के लिए आदर्श हो। हिन्दी मे प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक तथा मराठी मे हरिनारायण आप्टे, खाडेकर और साने गुरु जी ऐसे आदर्शप्रधान चरित्रो के निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द सामाजिक चेतना से अनुप्राणित लेखक थे। अत समाज की विविध समस्याओ के समाधान का मार्ग उन्होने अपने आदर्श पात्रों के द्वारा सुझाया है। वेश्याओ या विधवाओ के लिए आश्रम खोलने वाले या उनकी आर्थिक व्यवस्था करने वाले (पद्मसिंह, अमृतराय), अछूतो के लिए मर मिटने वाले (अमरकान्त), हिन्दू-मुसलमानो मे अपनी सहृदयता और उदारता से मेल कराकर समाज के सम्मुख दृष्टान्त

उपस्थित करने वाले (यशोदानदन, ख्वाजा), किसानो के हित के लिए 'प्रेमाश्रम' की स्थापना कर आदर्श गांव बसाने वाले जमीदार (प्रेमशकर), तथा मिल-मजदूरो के शुभचिन्तक मिल-मालिक उनकी रचनाओ मे मिलते हैं। इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने दहेज और वर्णभेद से उत्पन्न विवाह संबधी दुखस्था को नष्ट करने के लिए देवीसिंह-रामा, लाखी-अटल आदि आदर्श पात्रो की सृष्टि की है। ये पात्र आदर्श होते हुए भी अमानव नही हैं, क्योकि उनमे चारित्रिक उत्कर्ष के साथ मानवी दुर्बलताएँ भी हैं। 'सेवासदन' के पद्मसिंह समाज-भीरु है, मित्रो के वेश्यानृत्य सम्बन्धी आग्रह को नही टाल पाते और समाज के भय से निरपराध सुमन को घर से बाहर निकाल देते है। 'लगन' का देवीसिंह पिता के सम्मुख कुछ भी बोलने मे अपने को असमर्थ पाता है, खुलकर विद्रोह करने की शक्ति उसमे नही है। इसी प्रकार के सुधारक आदर्श चरित्र हमे अनेक मराठी उपन्यासो मे मिलते हैं। देशोन्नति एव समाजोद्धार के लिए प्राणाधिक प्रियतमा सुन्दरी को त्यागने वाला 'मी' का भावानद, मिलमजदूरो के सुधार एव उनकी दीन दशा से द्रवित हो धन-वैभव पर लात मारकर निकलने वाला 'धावत-धोटा' का कान्होबा, अछूतो के उद्धार के लिए गाव मे बसकर अपनी अटूट निष्ठा तथा सम्पूर्ण शक्ति से सेवा करने वाला 'श्यामसुन्दर' का श्याम, अथवा खाडेकर के 'काचन मृग' मे प्रोफेसरी छोड़कर गाव मे शिक्षा-प्रसार करने, दुखियो के दर्द को दूर करने तथा विधवा से विवाह करने वाला ध्येयनिष्ठ सुधाकर लेखको द्वारा निर्मित ऐसे आदर्श पात्र हैं, जिनके द्वारा वे समाज की विभिन्न कुरीतियों को मिटाने का मार्ग सकेत करते हैं। इन पात्रो के चित्रण मे यद्यपि गुणो के साथ-साथ दोषो की ओर भी सकेत किया गया है, पर लेखको की दृष्टि अपनी अभीष्ट सिद्धि के हेतु दोषो की अपेक्षा गुणो पर ही केन्द्रित रही है। दूसरी बात, जो इन पात्रो के चित्रण मे खटकती है, वह यह है कि लेखक हमे इनके सार्वजनिक जीवन से ही परिचित कराता है, व्यक्तिगत से नही। अत. वह एकागी प्रतीत होता है। इसका कारण इन उपन्यासो का प्रचारकी स्वरूप है।

आदर्श नारी पात्र—वि० स० खाडेकर का यह कथन "हमारे विचारो मे, पुस्तकों मे और पोथी-पुराणो मे स्त्री देवी रही है···"[1] अक्षरश· सत्य है। हिन्दू समाज के दिन-प्रतिदिन के व्यक्तिगत जीवन मे नारी की स्थिति कितनी ही दयनीय क्यो न रही हो, पुस्तको मे उसे सदा मान एव आदर मिला है। इसका कारण लेखको का रुढि-पालन तो है ही, साथ ही आर्य नारी ने समय-समय पर जो आदर्श प्रस्तुत किये है, जो त्याग और तपस्या का जीवन वह अति प्राचीन काल से बिताती आरही है, वह भी इसके लिए उत्तरदायी है। अत. हमे हिन्दी, मराठी दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे अनेक आदर्श नारी पात्रो के दर्शन होते है। आदर्श की धारणा मे अवश्य थोडा परिवर्तन होता रहा है। यदि बीसवी शताब्दी के प्रारभिक काल मे नारी की मूक सहिष्णुता, त्याग, बलिदान, पातिव्रत्य, कुटुम्ब-सेवा आदि को आदर्श समझा जाता था, तो अब वरेरकर,

---

[1] वि० स० खाडेकर, 'रिकामा देव्हारा', पृष्ठ २९।

खाडेकर, जैनेन्द्र, यशपाल आदि ने उनके विद्रोही स्वरूप मे आदर्श का साक्षात्कार किया है, यद्यपि साने गुरुजी जैसे लेखक अब भी "गृहिणी सचिव. सखी मिथ. प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ'[1] का पालन करते दृष्टिगत होते है।

आदर्श की प्रतिष्ठा करते समय हरिभाऊ आप्टे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके आदर्श आकाशकुसुम न हो जाएँ, अतः उन्होंने अपने पात्रो द्वारा उन लक्ष्यों को सामने रखा है, जो आसानी से प्राप्त किये जा सके। अपने सुशिक्षित पति के सब कार्यो मे सहायता करने वाली, विनयशील, प्रेमपूर्ण, हास्यमूर्ति, बडे-बूढो का आदर-सत्कार करने वाली आदर्श गृहिणी लक्ष्मीबाई, आदर्श बहिन यमू, आदर्श माता राधा-बाई, आदर्श समाजसेविका ताई, आदर्श सखी मालती, दया की साकार मूर्ति सिस्टर चैरिटी इसी प्रकार के पात्र हैं, जिनके आदर्श मानव की पहुच के बाहर नही और जो थोडा प्रयास करने पर प्राप्त किये जा सकते है। इनके विपरीत साने गुरुजी ने अपने पात्रो के माध्यम से, जिन आदर्शों का निर्माण कराया है, वे अधिक कठिनता से प्राप्त होने वाले हैं। इसका कारण उनका दृष्टिकोण था, जो प्रत्येक क्षेत्र मे उच्चातिउच्च आदर्श की स्थापना करना चाहता था। उनकी दृष्टि मे "भारतीय स्त्री त्यागमूर्ति है, भारतीय स्त्री तपस्या, मूक सेवा, अनन्त श्रद्धा व अमर आशावाद की साकार प्रतिमा होती है।" इसीलिए श्याम की मा का चरित्र स्त्री-हृदय, विशेषत माता के हृदय का एक उत्कृष्ट नमूना है।

हिन्दी मे इतने उदात्त चरित्र वाली विदुषी मा का कोई चित्र अकित नही किया गया है। यद्यपि 'कौशिक' जी के 'मां' उपन्यास मे सुलोचना के द्वारा एक आदर्श माता का चरित्र निरुपित करने की चेष्टा की गई है और मा की ममता, सद्शिक्षा आदि का सुन्दर चित्रण भी उसमे किया गया है, तथापि विवरण के अभाव व लेखक की विविध दिशोन्मुखी दृष्टि के कारण सुलोचना का चरित्र श्याम की मां के चरित्र से कही नीचा रह गया है। इसी प्रकार प्रसाद जी के 'तितली' मे श्यामदुलारी एक धार्मिक वृत्ति की सहृदय, पुत्रवत्सल, शकालु विधवा मा के रूप मे चित्रित की गई है, पर उसमे हमे आदर्श मा की अपेक्षा प्राचीन उच्चकुलीन, दीप्त मुखमंडल वाली, उदार ज़मीदार-पत्नी का ही रूप अधिक मिलता है।

सहिष्णु, कोमल स्वभाव, पतिव्रता पत्नी के चित्र तो दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे भरे पडे हैं। हरिभाऊ आप्टे की यमू से लेकर साने गुरुजी की 'सती' की नायिका तक, सब पति के लिए सर्वस्व त्यागने वाली, पति के दुर्गुणी या नपुसक होते हुए भी उसके लिए जीवन की आहुति देने वाली है। हिन्दी में प्रेमचन्द आदि प्रमुख आदर्शवादी उपन्यासकारो के मन मे आर्य ललनाओ के प्रति आस्था होने के कारण और स्त्रीचरित्र के पीछे शिव-सुन्दर की भावना होने के परिणामस्वरूप उनके नारी-पात्र आदर्श पत्नी या आदर्श गृहिणी के रूप मे चित्रित किये गए है। प्रसाद जी ने 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के आदर्श पालन के लिए अग्रेज युवती शैला तक को भारतीय

---

[1] कालिदास, 'रघुवंश', आठवा सर्ग, ६७ वा श्लोक।

आदर्श के साचे मे ढाल दिया है। उसमे सेवामय, त्यागमय, भावुक, करुणा-सम्पन्न, प्रेम, स्नेह व वात्सल्यपूर्ण नारी की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। इन पतिव्रता नारियो मे से कुछ अत्यन्त प्रतिभाशाली एव तेजस्वी है। वे केवल अपने त्याग और सहिष्णुता से ही आकर्षक नही बनती, अपितु अपनी कृतित्व-शक्ति, पति के साथ कधे से कधा मिलाकर काम करने की प्रवृत्ति, तथा साहस से पाठक के हृदय मे श्रद्धा उत्पन्न करने वाली भी है। साने गुरुजी के 'गोड शेवट' की इन्दु, कावेरी और इदिरा, 'आस्तिक' की वत्सला, 'क्राति' की पार्वती, हिन्दी मे 'तितली' की तितली और 'कर्मभूमि' की सुखदा ऐसी ही नारिया हैं, जिनके विषय मे विमल घासकडवी के निम्न शब्द नितान्त उपयुक्त है। "अन्याय और अपमान से उद्वेलित ये रण-रमणिया पाठको को भयचकित किये बिना नहीं रह सकती।"[1] इन सबमे सौन्दर्य, कोमलता भावुकता के साथ-साथ असीम साहस, शक्ति, त्याग और बलिदान भी है। भारतीय नारी के अनुरूप 'आचल मे दूध और आखो मे पानी' लिए कुछ नारी-पात्र विपरीत परिस्थितियो मे भी अपना कार्य सुचारु रूप से चलाती रहती हैं और धैर्य तथा साहस के साथ पति की प्रतीक्षा मे जीवन बिताती है। 'तितली' की तितली और 'नारी' की यमुना इसके उदाहरण हैं। इन आदर्श स्त्री-पात्रो को कला की दृष्टि से संपूर्णत. निर्दोष तो नही कहा जा सकता, पर जिस सहृदयता के साथ उन्हे चित्रित किया गया है, वह अवश्य प्रशसनीय है।

पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने स्त्रियो मे नव-चेतना, स्वाधिकारो के प्रति आग्रह और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के भाव उत्पन्न किये, जिसके फलस्वरूप स्त्री-समाज मे एक नई जागृति दिखाई देने लगी। प्राचीन रूढियो मे पले परम्परावादी नई नारी के इस स्वरूप को देखकर आतकित हो उठे। कुछ ऐसे भी लेखक थे, जो नई शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी भारतीय नारी के प्राचीन रूप और आदर्श को ही हिन्दू-समाज के लिए श्रेयस्कर मानते थे। उन्होने अपनी रचनाओ मे सुशिक्षित नारी का एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। महाराष्ट्र मे नारी-स्वातन्त्र्य और नारी-शिक्षा हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश की अपेक्षा कही अधिक होने से इस तरह के नारी-पात्र मराठी उपन्यासो मे हिन्दी की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। नारायण हरि आप्टे की कल्पना इन नायिकाओ के विविध रूप चित्रित करने मे अधिक रमी। यदि एक ओर उन्होने वैवाहिक जीवन मे पदार्पण करने से पूर्व ही सास के अत्याचारो को न सहन करने का निश्चय पत्र द्वारा उसे सूचित करने वाली पुत्रवधू का चित्र 'उमज पडेल तर' मे अकित किया है, तो दूसरी ओर अपने व्यवहार-चातुर्य से सनकी सास का जीवन-क्रम बदल देने वाली नवयुवती का चित्र भी प्रदान किया है। ये नायिकाएँ निष्क्रिय नही हैं, पगु नही हैं और न केवल मोम की गुड़िया ही है। वे सरल-मना होते हुए भी बुद्धिमती हैं तथा उनमे अपने जीवन-रथ को ऊबड़-खाबढ मार्ग से हटाकर सरल, सुगम मार्ग पर ले चलने की शक्ति भी है और विशेषता यह है कि लेखक ने

---

[1] साने गुरुजी व स्त्री सृष्टि—साने गुरुजी व्यक्ति आणि वाङ्मय, पृष्ठ १५६।

उनमे आदर्श की प्रतिष्ठा करते हुए भी किसी प्रकार की कृत्रिमता अथवा आदर्श-जन्य भोंडापन नही आने दिया है। हिन्दी मे प्रसाद जी की शैला और प्रेमचन्द की मालती को उपर्युक्त नायिकाओ के निकट रखा जा सकता है। ये नारी-पात्र आदर्श की अपेक्षा आदर्शोन्मुखी यथार्थ पात्रो की कोटि मे अधिक आते है।

कुछ लेखको ने नारी मे प्राचीन उत्पीडन और अत्याचारो के विरुद्ध विद्रोह के बीज अकुरित होते हुए तो दिखाए है, परन्तु उनकी आदर्शवादिता ने उन्हे नारी को पूर्ण विद्रोही नही बनने दिया है और उनका तेज वाचालता व विरोध में न होकर विधायकत्व मे दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, 'सुशीला चा देव' मे वैवाहिक जीवन के अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करने वाली सुशीला पतिगृह तो त्याग देती है, पर मनुष्यता नही छोडती। यद्यपि प्रारम्भ मे उसके विवाह-सम्बन्धी विचार अत्यन्त क्रान्तिकारी है "राज-संस्था जैसे ईश्वर-कृत नही, वैसे ही विवाह-सस्था भी नही है···वह ईश्वर द्वारा स्थापित नही है, दिव्य नही है, केवल मानव-कृत है, सब प्रकार से मानवी है।"[1] परन्तु बाद मे वह पति-सेवा करने को उद्यत हो जाती है। उसमे स्वतत्र प्रज्ञा है, धैर्य है, कार्य-क्षमता, समाज-सुधार की लग्न और देशोन्नति की आकाक्षा है। वह स्वतत्रता के लिए न झगड़कर, मिले हुए स्वातन्त्र्य के उत्तरदायित्व को समझ उसे निभाने की चेष्टा करती है। वह नवयुग की समझदार, ध्येयवादी, कार्यप्रवण स्त्री की प्रतिमा है। स्पष्ट है कि लेखक सुशीला और रागिणी के माध्यम से अपने युग की सुशिक्षित तरुणियो को एक सदेश देना चाहता है कि विद्रोह की अपेक्षा समझौते का मार्ग अधिक शुभ है और शिक्षा प्राप्त करने पर भी उन्हे नारी के सहज गुण—मधुर स्वभाव, कोमलता, लज्जा, विनय, परदुखकातरता, सहृदयता, सेवाभाव, सहिष्णुता, कर्त्तव्य-निष्ठा, पातिव्रत्य आदि अर्जित करने चाहिये। हिन्दी मे प्रेमचन्द ने 'मालती' और सरोज द्वारा स्त्री-स्वातत्र्य एव पुरुषो के बराबर समान अधिकारो की माग करने वाली हिन्दू सुशिक्षित नारी का प्रतिनिधि चित्र खीचा है, परन्तु अन्त मे मालती को सेवा व त्याग-मार्ग पर चलते दिखाकर, उन्होने उसकी परिणति आदर्शात्मक ही कर दी है।

जहाँ महाराष्ट्र मे सुशिक्षित नारियो और पडिता रमाबाई, आनन्दीबाई जोशी जैसी स्त्री-नेताओ की सख्या अधिक थी और उनके अधिकारो की माँग वहाँ के समाज के लिए एक वास्तविक समस्या थी, वहाँ हिन्दी-प्रदेश मे ऐसी स्त्रियो की सख्या एक तो कम थी, दूसरे, उनकी मागे यहाँ के समाज के लिए किसी सामूहिक समस्या के रूप मे उपस्थित नही हुई; यदाकदा किसी स्त्री ने किसी कुटुम्ब मे यह समस्या भले ही उपस्थित कर दी हो। इसी का परिणाम है कि हिन्दी मे प्रेमचन्द-युग मे ऐसे विद्रोही नारी-पात्रो की सख्या मराठी की अपेक्षा बहुत कम रही।

कुछ मराठी उपन्यासकार नारी का कल्याण पूर्ण विद्रोह मे मानते थे। अतः उन्होने अपने उपन्यासो की नायिकाओ को समस्त परम्पराओ को ठोकर मारकर नवीन

---

[1] वामन मल्हार जोशी, 'सुशीला चा देव', पृष्ठ १६२।

आदर्श स्थापित करते हुए चित्रित किया है। महाराष्ट्र मे पर्दा-प्रथा न होने तथा स्त्री-शिक्षा शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाने से स्त्री-स्वातंत्र्य आन्दोलन ने शीघ्र ही जोर पकड लिया था। परन्तु इस सम्बन्ध मे दो पक्ष थे। एक स्त्री-स्वातत्र्य का पक्षपाती होते हुए भी आदर्शवादी था, तो दूसरे का आदर्श ही विद्रोह था। पहले का प्रतिनिधित्व वामन मल्हार जोशी करते है, तो दूसरे का मामा वरेरकर। जोशी जी की उत्तरा हिन्दू सफ्रेजेट की प्रतीक है, जो मनू, याज्ञवलक्य आदि के प्रति घृणाभाव रखते हुए भी अन्त मे पश्चातापदग्ध हो, नम्रता तथा सेवा के महत्त्व को स्वीकार कर लेती है। दूसरी ओर वरेरकर, केतकर, फडके आदि ने नायिकाओ को विद्रोह का ध्वज ऊँचा करते चित्रित किया। फडके की इदुमती कहती है, "पुरुषो की दासता में जीवन बिताने का चाव छोड़े बिना हम स्त्रियो को सुख नही मिलेगा।" वरेरकर और केतकर ने तो स्त्रियो का पक्ष लेने मे इतना अधिक उत्साह दिखाया कि व्यावहारिक-अव्यावहारिक, नीति-अनीति का प्रश्न ही उनके सम्मुख नही रहा। वरेरकर के सम्बन्ध मे डा० सन्त लिखते है, "पुरुषवर्ग के अत्याचारो के विरुद्ध आवेश के साथ सघर्ष करने वाली तेजस्वी नारिया चित्रित करने मे उन्होने असाधारण उत्साह और उत्सुकता दिखाई है। उनकी विद्रोही नायिकाओ मे गोदू गोखले सबसे आगे है।" वरेरकर की नायिकाएँ सकटो से न घबराकर अत्यन्त धैर्य व साहस के साथ अपना जीवन-मार्ग प्रशस्त करती है। कोई वकील बनती है (गोदू), तो कोई होटल चलाती है। इन नायिकाओ को हम तत्कालीन महाराष्ट्रीय स्त्री का प्रतिनिधि नही कह सकते, परन्तु उनको देखकर यह अवश्य ज्ञात हो जाता है कि महाराष्ट्रीय स्त्री के विचारो मे कितनी क्रान्ति हो चुकी थी। "महाराष्ट्रीय स्त्री के जीवन मे होने वाले परिवर्तन की दृष्टि से उल्का का जीवन प्रातिनिधिक है। विविध रूढ़ियो व सम्बन्धो को यथावत् रख, ध्येयवाद की ज्योति दीप्तमान रखने की चेष्टा करने वाली महाराष्ट्रीय स्त्री पतिविरुद्ध होने का साहस कर आगे आगई है। उल्का सर्वसामान्य महाराष्ट्रीय मध्यवर्गीय स्त्री की प्रतिनिधि न सही, पर महाराष्ट्रीय स्त्री के जीवन मे जो सामाजिक स्थिति का ज्ञान हो गया था, उसकी अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह चित्रण प्रातिनिधिक अवश्य है।"[1]

हिन्दी मे विद्रोही नायिकाओ के चित्र संख्या मे बहुत कम है क्योकि जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, नारी के उत्पीड़न एव शोषण के प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति होते हुए भी, हिन्दी लेखक स्त्री-विद्रोह के इतने पक्षपाती नही रहे है, जितने मराठी उपन्यासकार। इसका कारण भिन्न सामाजिक परिस्थिति तो थी ही, साथ ही हिन्दी उपन्यास-लेखको की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति भी थी। यदि हिन्दी मे नायिकाओ के स्वातन्त्र्य का समर्थन किया भी गया है, तो वह केवल योनि-स्वातन्त्र्य तक ही सीमित रह गया है। उसके व्यापक स्वातन्त्र्य की ओर उनकी दृष्टि कम गई है।

साहस और शौर्य केवल पुरुषो के ही बाँटे नही आया है, अपितु स्त्रियो ने भी

---

[1] डा० दु० का० संत, 'मराठी स्त्री', पृष्ठ १९५।

अनेक वार अपने शौर्य और पराक्रम से ससार को आश्चर्यचकित कर दिया है। इतिहास के पन्ने ऐसे उदाहरणो से भरे पडे है। अत. पहले ऐतिहासिक वीरागनाओ और तदुपरात समाज तथा राजनीति के क्षेत्र मे अद्भुत तेज और कृतित्व दिखाने वाले अनेक स्त्री-पात्रो का चित्रण हिन्दी तथा मराठी मे हुआ। इसकी प्रेरणा उन्हे राजनीति मे भाग लेने वाली, सन् १९३१ के आन्दोलन मे पुरुषो के साथ लाठी खाने वाली और जेल जाने वाली राजनीतिक कार्यकर्त्रियो से मिली, जिनका उल्लेख पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' मे किया है[1] तथा जिसके प्रति आश्चर्य-मिश्रित आदर-भाव काग्रेस के एक प्रस्ताव मे अभिव्यक्त हुआ है। मराठी मे इस कोटि की नायिकाओ की सर्वाधिक सृष्टि खाडेकर ने की है। उनकी उल्का, वत्सला, सुलोचना आदि स्त्री-पात्र कोई न कोई साहस का कार्य अवश्य करती है। 'दोन ध्रुव' की वत्सला न केवल सहिष्णु एव त्यागमय ही है, अपितु जन-सेवा का व्रत लिए हुए भी है। गरीबो के प्रति ममता-भाव से द्रवित हो, वह विद्याधर से नये यंत्र के निर्माण के सम्बन्ध मे सब आवश्यक कागज-पत्र ले लेती है, जिससे वह यत्र न बन सके और यत्र-निर्माण से होने वाली बेकारी रुक सके। माडखोळकर उसके सम्बन्ध मे 'वाड्मय विलास' मे लिखते है, "विद्रोही स्वभाव वाली इस तेजस्वी वत्सला का चित्र पाठको के सामने प्रारम्भ से अन्त तक लगातार मानवी स्वरूप मे खडा रहता है, इसमे शका नही" माडखोळकर की अधिकाश नायिकाएँ यद्यपि रुग्ण मनोवृत्ति वाली, भीरु और मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त है, परन्तु प्रमद्वरा को लेखक ने उन सबसे भिन्न, एक अभिनव तेजोमय रूप प्रदान किया है। सन् १९४२ के आन्दोलन मे भाग लेने वाली, देशभक्ति की भावना से आन्दोलित यह तेजस्वी, दृढ-चरित्र, साहसी, त्यागमयी नारी स्वावलम्बन का पाठ पढे हुए है। इसीलिए अन्त मे उसका पति उसकी दृढ़ता, साहस, धैर्य, निडरता और प्रखर ध्येयवाद आदि गुणो से प्रभावित होकर उसी मार्ग को अपना लेता है, जिसकी पथिक प्रमद्वरा स्वय है।

हिन्दी मे जहाँ वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक वीरागनाओ के कुशल चित्र प्रस्तुत किये है, वहा प्रेमचन्द, रघुवीरशरण मित्र आदि राजनीतिक उपन्यासकारो ने राष्ट्रीय सग्राम मे भाग लेने वाली वीर महिलाओ के साहसपूर्ण कृत्यो का वर्णन किया है। वर्माजी की नायिकाएँ प्रेम के लिए मर मिटना ही नही जानती, अपितु तलवार की धार और बन्दूक की गोलियो के बीच मुस्कराती हुई प्राणो पर खेल भी जाती है। यदि 'लगन' की रामा, समाज की चिन्ता न कर, भीषण आधी और बरसात मे अथाह बेतवा मे कूद अपनी ससुराल पहुँची है, तो 'झासी की रानी' मे रानी, उसकी सहेलियाँ सुन्दर-मुन्दर तथा झलकारी कोरिन का बलिदान और साहस हमारे नेत्रो मे भारतीय नारी की सम्पूर्ण विभूतियो को जगमगा देता है। उधर प्रेमचन्द जी ने सत्याग्रह-सग्राम मे स्वय-सेविकाओ के सदुत्साह को देखकर, जो चरित्र अकित किये है, वे अयथार्थ नही है। 'रगभूमि' मे सोफिया, इदु और रानी जाह्नवी, 'कर्मभूमि' मे सुखदा -

---

[1] पं० जवाहरलाल नेहरू, 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', पृष्ठ २३-२४ : दूसरा सस्करण।

और सकीना, रघुवीरशरण मित्र के 'बलिदान' मे रागिनी, अरुणा और पूर्णिमा राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने वाली उन वीर नारियो के प्रतिनिधि चित्र हैं, जिन्होने देश के लिए सर्वस्व होम कर दिया ।

भावुकता, कोमलता, सहृदयता और उदारता भारतीय नारी के चिरन्तन गुण रहे है । अत इन गुणो से समन्वित नारी-चरित्रो की अवतारणा भारतीय उपन्यासो मे होना स्वाभाविक ही था, विशेषरूप से उन लेखको के द्वारा, जो उपन्यासकार होने के साथ-साथ कोमलमना कवि भी है । उनके उपन्यासो का सर्वाधिक आकर्षक अश नारी-चित्रण ही है । निराला, प्रसाद तथा उपादेवी मित्रा ने अपनी रचनाओ मे आत्म-समर्पण को नारी जीवन की सार्थकता समझा है । अत सभी नायिकाएँ भावजगत की प्रतिमाएँ है । करुणा और प्रेम की ये पुत्तलिकाएँ अपने भावो की गहनता, करुणा और प्रेम-भाव मे विभोर होने की क्षमता द्वारा हमे प्रभावित करती है । नारी की यह भावमय मूर्ति हमे मराठी के सुप्रसिद्ध उपन्यासलेखक पु० य० देशपाडे के 'सुकलेले फूल' तथा 'सदाफुली' मे मिलती है । प्रथम उपन्यास की कृष्णा तथा दूसरे की तिमा, ऐसे ही भावनाप्रधान स्त्री-पात्र हैं ।

कुछ लेखको के मन मे एक पूर्व-सकलित उद्देश्य, एक पूर्व-निर्धारित प्रमेय होता है और वे उसी उद्देश्य की पूर्ति तथा प्रमेय को सिद्ध करने के हेतु अपने पात्रो का निर्माण करते हैं । बीसवी शताब्दी के प्रारभ मे हिन्दी तथा मराठी लेखको के दिल और दिमाग यद्यपि नवीन सुधारो एव पाश्चात्य विचारो से प्रभावित थे, तथापि उनके हृदय मे प्राचीन के प्रति एक अटूट मोह था । 'पुराणमित्यमपि साधु सर्वं' को सिद्ध करने के हेतु ही नाथमाधव के सामाजिक उपन्यासो मे नवविचारो के प्रतिनिधि पात्र दु:शील और चचल तथा सनातन विचारो के अनुयायी सुशील तथा सौजन्यशील चित्रित किये गए है । 'डाक्टर' मे माँ व दादी के सरक्षण मे पोषित और शिक्षित लड़की कमलिनी अपने मूर्ख, दुराग्रही एव नासमझ पति को वश मे कर लेती है और एम० डी० की डिग्री लेकर लौटने पर भी अपने कोमल, प्रेमपूर्ण स्वभाव से गृहस्थ-जीवन को सुखमय बना देती हैं, जबकि सुधारक माता-पिता की सतान शाता व उसका भाई यशवत पाप एव दुख के गढे मे गिर अपना जीवन नष्ट कर देते हैं । हिन्दी मे प्रेमचन्द या प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने प्राचीन के प्रति मोह होने के कारण विधवा को सयमपूर्ण जीवन बिताते हुए दिखाकर, उसके प्रति पाठक की आदरभावना आकृष्ट की है । इन्हे देख ऐसा प्रतीत होता है जैसे उपन्यासलेखक ने उन्हे कठपुतली की भाँति नचाया और मोम की गुडिया की तरह तोडा-मरोडा है ।

प्रतीक पात्र—नवीन जीवन-दर्शन से प्रभावित लेखको ने भिन्न-भिन्न विचार-धारा के प्रतीक पात्र प्रस्तुत किये है । मराठो मे सर्वप्रथम वामन मल्हार जोशी ने अपने उपन्यासो मे प्रतीक-चरित्रो की योजना की । उन्होने स्वय लिखा है, " 'इन्दुकाळे' मे विनायकराव कर्मयोग का प्रतीक था, नारायणराव पाठक ज्ञानमार्ग के अनुयायी के रूप मे कल्पित किया गया था और इन्दुकाळे कलाभिमानिनी के रूप मे ।"

गांधीजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व, दर्शन एवं विचारधारा से प्रभावित लेखको ने उस दर्शन और विचारधारा का महत्व प्रतिपादित करने के लिए विविध पात्रो की सृष्टि की है। साने गुरुजी के 'गोड शेवट' का दयाराम तथा 'क्रान्ति' का मुकुदराव, गाधीजी के ही शब्दचित्र हैं। यदि दयाराम देश, किसान व मजदूरों के लिए कष्ट सहता है, अन्याय का प्रतिकार करता-कराता है, शुद्ध विचार और मधुर वाणी उसके विशिष्ट वैयक्तिक गुण हैं, तो मुकुदराव आदर्श शिक्षक है, जिसका विस्तृत अध्ययन, सीधा-सादा रहन-सहन, उच्च विचार, खादी व मजदूरो से प्रेम, उनकी उन्नति के लिए अथक परिश्रम, देश के लिए सर्वस्व त्याग और पैदल चलकर महाराष्ट्रीय सस्कृति को बँगाल तक लेजाना आदि गुण उसे गाधी के अत्यन्त निकट पहुंचा देते है। ये पात्र प्रतीक अधिक है, व्यक्ति कम। खाडेकर के 'क्रौंचवध' मे दादासाहेब दातार, उनकी पुत्री सुलोचना तथा शिष्य दिनकर, तीन विचारधाराओ के प्रतीक है। दादासाहेब व्यक्ति-निष्ठ बुद्धिवाद के प्रतीक है, तो सुलोचना दुर्बल भावना की और दिलीप बुद्धि व भावना के सम्मिश्रण का। पात्रों को विशिष्ट विचारधारा के प्रतीक रूप मे चित्रित करने के कारण ही खांडेकर की पात्र-रचना बुद्धिनिष्ठ अधिक बन गई है और कला-कार की सर्वांगीण समरसता के अभाव में "उनमे कल्पनारम्य धूमिल आदर्शवाद के चित्र अकित करते हुए, पात्रो पर प्रतीको का रग चढाया गया है। अत: वे पात्र उन विशिष्ट प्रतीको की गुडिया बन गए है, जिसके परिणामस्वरूप उनके आज तक के पात्र विश्वसनीय नही जान पडते।"[1] इनके अतिरिक्त पु० य० देशपाडे के अनेक चरित्र भी प्रतीकात्मक है। परन्तु उनमे से अधिकाँश विश्वसनीय है, क्योंकि उनमे लेखक का स्वानुभव है, जबकि खाडेकर की प्रतीकगत कल्पना बुद्धिनिष्ठ है और प्रतीकात्मक पात्र जीवन से दूर के है।

हिन्दी मे गाधीवाद के प्रतीक पात्रो मे प्रेमचन्द की 'रगभूमि' का सूरदास सब से महत्त्वपूर्ण चरित्र है। वैसे तो विनय, सोफिया और प्रभुसेवक के जीवन-चित्रण मे भी गाधीवादी जीवनदृष्टि का प्रभाव है, पर सूरदास तो गाधीजी का ही शब्द-चित्र है। भारतीय निर्बलता और साधनहीनता के साथ-साथ गाधीजी द्वारा प्रतिष्ठित आशावादिता और अजेयता सूरदास के जीवन मे सन्निहित है। उसका विशाल, दृढ व्यक्तित्व, त्याग, तपस्या और बलिदान पाठक को मुग्ध कर लेते है। जैनेन्द्र उत्कृष्ट कोटि के कलाकार है, परन्तु गाधीवाद मे जैनेन्द्र की आस्था ने उनमे के कलाकार को मानो निगल लिया है। उनके अधिकाश पात्र गाधीवादी प्रमेयो को सिद्ध करने के लिए अकित किये जान पडते है। अत. उनमे मानवी अश कम होता गया है और वे चिन्तन के प्रतीक-मात्र रह गए है। 'त्यागपत्र' की मृणाल ने यदि कोयलेवाले को ग्रहण किया है, तो आत्म-पीडा का सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए। एक ओर विवाह-सस्था का समर्थन और दूसरी ओर अहिंसा भाव की पुष्टि करने के कारण ही सुनीता

---

[1] महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका—अप्रैल से जून, १९५४ ई० 'अश्रु'।

और श्रीकात के चरित्र लेखक से प्रयोग-मात्र बन कर रह गए है । हरिप्रसन्न के प्रति प्रबल आकर्षण होते हुए भी उसकी पति के प्रति पूर्ण आस्था बनी रहती है, क्योकि लेखक एक ओर तो विवाह-सस्था का समर्थक है और दूसरी ओर वह यह भी नही चाहता कि दम्पति की ओर से हरिप्रसन्न के प्रति विराग या घृणा का व्यवहार किया जाय, क्योकि ऐसा करना अहिंसा के विरुद्ध होता । इसी से सुनीता स्फिक्स की भाति बन जाती है—कामना से रहित, भीतर की वेदना से अनजान और अन्तर्द्वन्द्व से परे, क्योकि अन्तर्द्वन्द्व से उसकी पतिनिष्ठा जो लाछित हो जाती ।

गाधीवादी विचारधारा के प्रभाव के परिणामस्वरूप पात्रो मे आकस्मिक हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है, क्योकि गाधीजी मनुष्य की सद्वृत्तियो मे पूर्ण आस्था रखते थे । यह स्वभाव-परिवर्तन आकस्मिक हुआ है, उसके लिए पहले से परिस्थिति-योजना नही की गई है । अतः वह कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रतीत होता है । जब हम 'प्रेमाश्रम' के डा० इर्फान अली, प्रियानाथ, दयाशकर, कमलानन्द और रानी गायत्री को, जो जीवन-भर असहाय एव निर्बल व्यक्तियो को सताकर, उनका धन लूटकर अपनी वासनाओ की तृप्ति मे लगे रहे, सेवा, त्याग या परिश्रम करते हुए अथवा तीर्थ-यात्रा के लिए जाते देखते है, तो चौक उठते है । मराठी मे 'बधनाच्या पलीकडे' के बाबासाहब व 'दौलत' के भैयासाहब का स्वाभव-परिवर्तन भी आकस्मिक होने के कारण कृत्रिम प्रतीत होता है, यद्यपि उसका कारण गाधीवाद न होकर लेखक का कथा को स्वेच्छानुसार मोड-देना-मात्र है ।

जिन पात्रो का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनके चित्रण मे लेखको ने परिस्थिति और व्यक्ति की विशिष्ट प्रवृत्ति की सगति बिठाने की थोड़ी बहुत चेष्टा भी की है, पर डा० केतकर पहले समाजशास्त्री थे, तदुपरात उपन्यासकार । अत. उनके पात्र केवल मतप्रचार और सिद्धात-प्रतिपादन के लिए उपन्यासो मे आते है । उदाहरण के लिए, भिन्न संस्कृति व भिन्न धर्मावलम्बी व्यक्तियो का विवाह भी सुखमय हो सकता है, यह प्रतिपादित करने के लिए ही उन्होने 'गौडवनांतील प्रियवदा' मे आयडा का चित्र प्रस्तुत किया है । वेश्या-संतति के भवितव्य तथा उनका समाज कैसे सुधर सकता है, इस सम्बन्ध मे अपने विचार बताने के लिए ही 'आशावादी' मे कपिला का निर्माण हुआ है । "विधवा-विवाह, अकुलीन सतति के नीतिविषयक तथा जीवन-विषयक प्रश्न, स्त्रियो के मानसिक विकास के लिए उनकी आर्थिक स्वतत्रता की आवश्यकता, मातृसत्तात्मक कुटुम्ब-प्रणाली का समर्थन, आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र व स्वावलम्बी स्त्रियो के नियम अन्य स्त्रियो से भिन्न हो, आदि डाक्टर साहब के प्रिय विषय थे, और इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को प्रकट करने के लिए ही उन्होने अपने अनेक पात्रों की रचना की थी ।"[1] ये पात्र तत्कालीन समाज का प्रतिनिधित्व नही करते । वे उससे बहुत आगे के हैं । उनका समावेश तो केवल उपन्यासकार के विविध विचारो को पाठक के सामने रखने के लिए किया गया है । इसीलिए कहा गया

---

[1] शाता कोठेकर 'डा० केतकराची स्त्री-सृष्टि' : मनोहर पत्रिका ।

है, "उनके अधिकाश पात्र विशिष्ट मतप्रणाली के प्रतीक है। केतकर के मुखपात्र होने के कारण मानव-स्वभाव-चित्रण की दृष्टि से महत्वहीन है।"[1] यद्यपि यह कथन अक्षरश. सत्य नही है, क्योकि उनके कुछ पात्रो का विशिष्ट जीवनक्रम भी है, विशिष्ट स्वभाव भी है, तथापि आयडा, कपिला, मजुला आदि स्त्रीपात्रो के अतिरिक्त वैजनाथ, डा० तर्कटे, प्रा० गोगटे, ब्रह्मगिरि आदि पात्रो की अवतारणा मतविशेष के प्रतिपादन के लिए ही की गई है।

डा० केतकर के पात्रो के समान अति-प्रगतिशील (अल्ट्रा-माडर्न) विचारो का पूर्ण समर्थन एव अनुकरण करने वाले पात्र हिन्दी मे नही है। इसका कारण यह है कि डा० केतकर के समान समाजशास्त्री-उपन्यासकार हिन्दी मे नही हुआ। विदेशो मे रहने के कारण डा० केतकर के विचारो पर पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव निश्चय रूप से पडा था, क्योकि वे भारतीय स्त्रियो को भी उन्ही रीतियो और पद्धतियो को अपनाने का उपदेश देते है जो पश्चिम मे प्रचलित है। प्रियाराधन (कोर्टशिप) पश्चिम की एक अति परिचित और साधारण प्रथा है। डा० केतकर उससे भी आगे बढ जाते है और स्त्रियो को उद्बोधन देते है कि पुरुष के प्रस्ताव की प्रतीक्षा न कर, उसे स्वय विवाह का प्रस्ताव करना चाहिये तथा यदि वह बिना विवाह के भी सतान उत्पन्न करे, तो इसमे कोई अनीति नही। उन्होने स्त्रियो के आर्थिक-स्वातन्त्र्य के साथ-साथ भोग-स्वातन्त्र्य का भी समर्थन किया है और प्रियवदा और कुसुमकलिका द्वारा अपने स्त्री-सम्बन्धी आदर्श को व्यक्त कर पाठको को विस्मय-विमूढ कर दिया है। एक की शृगारप्रियता और दूसरी का 'दामाद पकड़ने' का षड्यन्त्र कभी भी पाठक को आदर्श प्रतीत नही हो सकता। हिन्दी मे भोग-स्वातन्त्र्य की दुहाई देने वाले यशपाल, अज्ञेय जैसे अनेक लेखक हुए है, पर जिस प्रकार के अति-प्रगतिशील नारी-पात्र डा० केतकर ने समाज-शास्त्रीय दृष्टि के कारण मराठी-वाड्मय को प्रदान किये है, वैसे हिन्दी मे एक भी नही है। कारण स्पष्ट है—हिन्दी मे नारी-स्वातन्त्र्य के पीछे मुख्य विचारधारा फ्राइड और मार्क्स की है, जबकि डा० केतकर ने अपने स्वतत्र विचारो एव तत्वज्ञान द्वारा अपने नारी-पात्रों की अवतारणा की है। उनका मातृ-सत्तात्मक कुटुम्बपद्धति का पक्षपाती होना, इन अभिनव अति-प्रगतिशील नारी-पात्रो की निर्मिति मे बहुत सीमा तक उत्तरदायी है।

उपर्युक्त अधिकाश उपन्यासो के पात्र निर्जीव है, क्योकि लेखकों ने अपने विचार या समाधान पात्र के ऊपर लाद दिए है। वामनराव जोशी के गिरधरराव आदि को छोड उनमे अपना कोई कृतित्व नही। 'सुशीला चा देव' मे गिरधरराव को स्पैन्सर के मतानुसार जीवन ढालने की आदत है। लेखक ने उसके जीवन की छोटी से छोटी बात मे स्पेंसर का इतना प्रभाव दिखाया है कि उसके विचार ऊपर से चिपकाए से न लगकर, उसके रक्त मे घुलेमिले दिखते है। शेष उपन्यासों के पात्र लेखक के विचारो के वाहक होने के कारण कठपुतली-मात्र प्रतीत होते है। इन पात्रो की कथन-

---

[1] बापट व गोडबोले, 'मराठी कादंबरी तत्र आणि विकास', पृष्ठ २२२।

पद्धति तक कृत्रिम होती है । 'झाकली मूठ' मे सरोजिनी की कथन-पद्धति देखिए "परमेश्वर ने हम स्त्रियो को, हम भारतीय अभागी स्त्रियो को, हम भारत की माताओ को दासता की रानी बना दिया है ।" इस 'हम' शब्द ने सम्पूर्ण वाक्य को कृत्रिम बना दिया है ।

मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रतीक पात्र—फ्राइड आदि मनोविदो ने बताया कि मानवात्मा उतना सरल, ऋजु और सीधा नही है, जितना अब तक उसे समझा एव उपन्यासो मे चित्रित किया जाता रहा है । उनके अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल, तरल और वायव्य है । उसको समझने के लिए गहरे पानी पैठना होगा, मनुष्य के चेतन मस्तिष्क के अतिरिक्त उसके अवचेतन को भी पढना होगा । अपनी पात्र-कल्पना के विषय मे पाठको को यही तथ्य समझाते हुए इलाचन्द्र जोशी लिखते है, "अतएव मेरे वर्तमान उपन्यास मे जिन असाधारण चरित्रो के अतर-जीवन, बल्कि अन्तरतर और अन्तरतम जीवन के (आत्म-घाती अथवा आत्म-उद्बोधनकारी, दोनो प्रकार के) द्वन्द्व-चक्रो का वैश्लेषिक चित्रण किया गया गया है, उनके सम्बन्ध मे आप चाहे और कुछ सोचे, उन्हे केवल मात्र पारिवारिक जीवन की व्यक्तिगत समस्या मानकर उनकी अवहेलना न करे ।"[1]

आधुनिक समाज मे सबसे अधिक दुखदायी यदि कोई वस्तु है, तो वह है मनुष्य का 'अह' । इस अह के काठिन्य की प्रबलता दिखलाने और तज्जन्य दुख और कष्टो का चित्रण करने के लिए कुछ पात्रो की सृष्टि हिन्दी और मराठी उपन्यास-जगत मे की गई है । अह से अभिभूत पात्रो के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हिन्दी मे जैनेन्द्र के सुखदा, जितेन और जयन्त तथा मराठी मे पु० य० देशपाडे के विना व तरुलता है । इन पात्रो को उनका अह-भाव झुकने नही देता । हृदय से आत्म-समर्पण एवम् प्रेमदान के लिए अत्यन्त उत्सुक होते हुए भी, वे अह के काठिन्य के कारण एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं । जयन्त चन्द्री से, सुखदा अपने पति से और विना तरु से समरस नही हो पाते । 'सुखदा' की सुखदा प्रबुद्ध अह की नारी होने के कारण ही अपने पति से समझौता नही कर पाती । इसी प्रकार विना व तरुलता पारस्परिक प्रेम होते हुए भी, अह के कारण, एक दूसरे के निकट आने की जगह दूर होते चले जाते हैं ।

प्रेम की निराशा और हृदय का सूनापन एक ग्रथि बन जाता है, जिसको खोलने के लिए वे पात्र सरल और ऋजु मार्ग त्यागकर अनघड, ऊबडखाबड मार्ग पर चल निकलते है और उस जीवन की व्यस्तता मे या तो अपने को भुला देने की चेष्टा करते है अथवा मिटा डालते है । 'सुनीता' का हरिप्रसन्न प्रेम-जन्य निराशा के कारण ही हिसा का मार्ग अपनाकर क्राति पथ पर चल देता है । पु० य० देशपाडे के 'काळी राणी का प्रकाश अहमन्यता से उत्पन्न होने वाली ग्रथि को घुलाने के लिए जीवन से दूर भागने की चेष्टा करता है । अह-भाव को ठेस लगने से उत्पन्न होने वाली पीडा उसके लिए संसार का सबसे बडा कष्ट है और उस से दुख से बचने के लिए उसे

---

[1] इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया'—भूमिका : द्वितीत सस्करण, पृष्ठ ६ ।

"निरन्तर व्यस्तता, अखड गति चाहिये थी। व्यक्तिगत जीवन की पूर्ण विस्मृति वाँछनीय थी, अहभाव से अधिकाधिक दूर जाना था।"[1] इसी लक्ष्य को लेकर वह राजनीति मे कूद पड़ता है और आत्म-नाश की प्रवृत्ति को वड़े उत्साह के साथ पकडता है। वह कहता है, "अराजकता के उस वड़वानल मे मेरा भी नाश हो गया होता, परन्तु आत्म-नाश के अतिरिक्त मुझे और चाहिये भी क्या था?"[2]

अहं के प्रताड़ित होने पर प्राणी स्वय तो कष्ट सहता ही है, दूसरो को भी, विशेपतः जिनके द्वारा उसके अहं को आघात लगता है, पीड़ा पहुँचाने मे उसे विशेष आनन्द आता है। सुखदा कहती है, "जानती थी कि मेरे स्वामी दोप के पात्र नही हैं, सहानुभूति के ही पात्र है, लेकिन फिर भी उस समय मैंने कितने तीखे तीरो से उन्हे घायल किया था, याद करती हूँ तो आज भी मन परिताप से भर जाता है।"[3] इसी प्रकार के भाव 'काळी राणी' मे प्रकाश के हैं, "रजनी को दुख हो ऐसा कुछ करूँ यह इच्छा मेरे मन में इधर की ओर झाकने लगी थी।"[4] इस प्रकार दोनो भापाओ मे अहमन्यता से आक्रांत पात्रो और उनकी प्रवृत्तियो का चित्रण लगभग समान रूप मे हुआ है।

फ्राइड के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलिनता आदि किसी न किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न होते हैं। जब कोई कुंठाग्रस्त (न्यूरेटिक) चरित्र अपनी कुण्ठाओ का रहस्योद्घाटन कर लेता है, तव वह रोग-मुक्त हो जाता है। फ्राइड के इस विवेचन से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी तथा मराठी दोनो भापाओ के उपन्यासो में चरित्र-सृष्टि की गई है। इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' का नन्दकिशोर यौन-वर्जनाओ का एक रोगी है। जयन्ती के प्रति उसके कुण्ठित आकर्षण के कारण ही उसका जीवन पीडा, पथ-विभ्रम और भावुकता की कथा वन गया है। उसकी मानसिक विकृति, वौद्धिक यन्त्रणा, उसके सशय और सन्देह, ईर्ष्या, कडवाहट, विक्षिप्तता, मति-भ्रम, पर-पीड़न और आत्म-पीडन की तत्परता, परिताप अथवा करुणा—सवका कारण जयन्ती के प्रति भग्न कामना ही है। नन्दकिशोर मे यदि सन्देहशीलता से, तो 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में क्रमशः पूर्व-अर्जित सस्कारो की प्रवलता और जन्म की कलक-कथा से उत्पन्न ग्रथियो की कथा कही गई है। नन्दकिशोर, निरजना और पारसनाथ तीनो कुंठाग्रस्त (न्यूरेटिक) चरित्र है, जिनकी गाठे खुलते ही उन्हे अपेक्षित स्वस्थ मार्ग मिल जाता है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जव तक माता के कलक की कहानी मे विश्वास करता है, तव तक वह स्वय भी कष्ट पाता है तथा जिन-जिन स्त्रियो के सम्पर्क मे आता है, उन्हे भी कष्ट देता है। परन्तु माता के चरित्र का वास्तविक ज्ञान होते ही, उसका चेतन मन अवचेतन मन पर, जो दूसरो को कष्ट पहुँचाकर अपनी दहकती हुई ज्वाला को प्रतिशोध के जल से शात करने की चेष्टा करता रहा

---

१. पु० य० देशपाडे, 'काली राणी', पृष्ठ १४६।

२. वही , पृष्ठ १४६।

३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ २७४ : पूर्वोदय प्रकाशन।

४. पु० य० देशपांडे : 'काली राणी', पृष्ठ १६१।

था, विजय प्राप्त कर लेता है और उसका शेष जीवन शान्तिपूर्वक बीतता है। फडके के 'उद्धार' मे विद्या का चरित्र भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतीक है। उसे इस बात का पता बड़ी देर से लगता है कि जिसे, उसने मां समझ रखा था, वह वस्तुत. उसकी मौसी थी, और जिसे उसने मौसी की तरह प्यार किया था, वह उसकी वास्तविक जन्मदात्री मा थी। इस अनुभव का उसके मन पर पड़ने वाला मनोवैज्ञानिक परिणाम अत्यन्त सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

इन यौन-कुण्ठाओ से ग्रस्त पात्रो में एक और समान विशेषता, जो मराठी और हिन्दी उपन्यासो मे मिलती है, वह यह है कि वे उस अभुक्ति-जन्य घुडी को तोड़ने के लिए कभी रिवाल्वर की सहायता लेते है, तो कभी राजनीतिक आन्दोलनो की। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न, जितेन, इलाचन्द्र जोशी का महीप, पु० य० देशपाडे का प्रकाश, इन सबकी प्रेम-सम्बन्धी चरम निराशा क्रान्तिकारी-आन्दोलन के सगठन मे मूर्त होती है। इसके विपरीत कुछ पात्रो को यौन-कुण्ठाओ के कारण स्त्रैण, दुर्बल, विकृत मनोविकार-ग्रस्त प्राणी के रूप मे चित्रित किया गया है। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' का शशि और यशपाल के 'देशद्रोही', का डा० खन्ना ऐसे ही पात्र हैं। शशि की निष्क्रियता और स्नायविक दुर्बलता का उदाहरण है कि वह बाबूजी द्वारा दिए गए नारियल को ही उनका सिर समझ कर पटक देता है। उधर डा० खन्ना अवसर मिलने पर भी अपनी कामवासना को, स्वाभाविक रूप से चरितार्थ न कर, नारी की गोद को ही सर्वसामर्थ्यवान समझ लेता है। मराठी में माडखोळकर के 'शाप' का निशिकान्त भी इसी प्रकार का दुर्बल प्राणी है। वासना का निरोध करने से उत्पन्न होने वाली मनोविकृति ही उसके पल्ले पड़ती है। स्वप्नसचार (सोमनेम्बुलेन्स) और स्वप्न भाषण (सोम्नीलोक्वेन्स) उसके मनोदौर्वल्य और मनोविकृति (मौरबिडिटी अथवा नर्वस डायथीसिस) के प्रमाण हैं। इसीलिए उसके विषय मे मा० का० देशपाडे ने लिखा है, "निशिकांत दूषित मन का, कुछ-कुछ पागल व मन ही मन व्यर्थ ही घुटने वाले, विकृत मनोवृत्तियुक्त पुरुषो की कोटि का है।"[1]. 'प्रतारणा' के हिमांशु तथा 'सदाफुली' के अशोक की गणना भी इसी प्रकार के दुर्बल मनोवृत्ति वाले स्त्रैण पात्रो मे की जायगी।

फ्राइड ने एक स्थान पर उन व्यक्तियो के मनोविज्ञान की चर्चा की है, जिनमे अपने प्रणयी के निर्वाचन मे एक विशेष प्रकार की विचित्रता होती है।[2] ऐसे पुरुषो के प्रेम की अधिकारिणी वे नारियाँ हो सकती हैं, जिनका किसी न किसी प्रकार से अन्य पुरुष से सम्बन्ध हो, जिन पर दूसरो का अधिकार हो। ऐसे पुरुष के लिए प्रत्येक नारी 'मदर सरोगेट' है और इस मानसिक चक्र को पूरा करने के लिए, उसके और प्रेमिका के बीच एक तीसरा व्यक्ति होना चाहिये, जैसे बचपन मे उसके और उसकी मां के बीच उसका पिता होता था। हिन्दी मे जैनेन्द्र के 'सुनीता' मे श्रीकान्त ऐसा ही पात्र है। उसके प्रणय मे तत्परत्व तभी आता है, जब उसके और सुनीता के बीच हरिप्रसन्न

---

१. मा० का० देशपाडे, 'माडखोलकर-वाङ्मय आणि व्यक्तित्व', पृष्ठ ५७।

२. फ्राइड, कलैक्टेड पेपर्स' वाल्यूम ४, पृष्ठ १९६-९९ ।

आजाता है। इस तत्परत्व को लाने के लिए वह स्वय चेष्टापूर्वक हरिप्रसन्न को सुनीता के निकट ले आता है और हरिप्रसन्न के प्रवेश से पूर्व का श्रीकान्त का निरानन्द और जडता से पूर्ण गार्हस्थ्य-जीवन प्रसन्न-प्रवाह मे वहने लगता है। इसका कारण तृतीय पक्ष को आहत करने की अज्ञात भावना को सन्तुष्ट कर सकने का अवसर मिलना ही है।

द्वितीय महायुद्ध के वाद अंग्रेजी-उपन्यासो मे एक विशेष प्रकार की माताओ का चित्रण हुआ, जिन्हे 'वार मदर्न' कहा गया है। ये स्त्रिया युद्ध के मोर्चे पर जाने वाले मृत्यु-मुखोन्मामी सैनिको से झटपट प्रणय-सूत्र जोड, गर्भ-धारण कर मातृत्व का पद प्राप्त कर लेती है। एक ओर तो मृत्यु के किनारे खडा सैनिक, सतान के रूप मे अपनी अमरता स्थापित करने की इच्छा से स्त्री के प्रति उन्मुख होता है, और दूसरी ओर स्त्री पुरुष की इस अव्यक्त इच्छा के प्रति उन सकटकाल मे सहानुभूतिपूर्वक देखती है और शीघ्र ही उसकी अकशायिनी हो उस सैनिक के सत्त्व को गर्भ मे धारण कर लेती है। यशपाल के 'देशद्रोही', 'दादा कामरेड' और 'दिव्या' तीनो में क्रमश वद्रीवावू और राजदुलारी शैल और हरीश, दिव्या व पृथुसेन का यौन-सम्वन्ध इस के उदाहरण है। इसी मन-स्थिति के दर्शन इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' मे होते है, जव निरंजना इन्द्रमोहन को भयकर राजनीतिक मामले मे वदी होने की वात सुन उसके आगे आत्म-समर्पण कर देती है। मराठी मे भोपटकर के 'मृत्युच्या माड़ीवर' की लिलू मे यह मनोवृत्ति मिलती है, क्योकि नायक को फासी का दड सुनाए जाने पर भी वह आग्रहपूर्वक नायक से मृत्यु से एक दिन पूर्व जेल मे विवाह कर लेती है। पु० य० देशपांडे के 'नवे जग' मे तरुलता का अरविंद से ऐन युद्ध-क्षेत्र को प्रस्थान करने के दिन विवाह करना भी आशिक रूप से इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। आशिक रूप से इसलिए, क्योकि इस विवाह के पीछे न केवल अरविन्द के प्रति तरुलता की सहानुभूति ही उत्तरदायी थी, अपितु विना के प्रति अमर्ष, क्रोध और आक्रोश भी पर्याप्त कारण था।

इन चरित्रो के रेखाकन की मूल प्रेरणा फ्राइड आदि मनोविनोदो से ग्रहण करने के कारण वे सिद्धान्त-सिद्धि के साधन-मात्र रह गए है, दिन प्रति दिन के जीवन के सजीव प्राणी नही। इन पात्रो मे मानव-प्रवृत्तियो की अपेक्षा पशु-प्रवृतियाँ अधिक उद्भूत हो उठी है। उनमे से कुछ तो अति विचित्र और लेखक द्वारा यत्र की भाँति सचालित होते है। इसीलिए ये पात्र चिरस्मरणीय नही वन पाये है। विकृत मन:-स्थिति के एकाध गौण पात्र का समावेश उपन्यास के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि कर सकता है, परन्तु ऐसे व्यक्तियो को ही उपन्यास का केन्द्र वना देना कदापि उचित नही। मनुष्य को केवल अर्धविक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगी की स्थिति तक उतार देना मानव-जाति के प्रति अन्याय है। शचीरानी गुर्टू का मत है, "(पात्रो के) उनके कार्य-व्यापार, इच्छा-आकाक्षा, चिंतन और अतरात्मा की कोटियो के निर्धारण मे सहज सामान्य जीवन की मौलिकता के निर्णायिक सकेत तो मिलने ही चाहिये, अन्यथा कीचड मे धस कर और लक्ष्य-भ्रष्ट होकर समाज के सामने ये चरित्र नई समस्या बनकर खडे हो

जाते है।"[1] वासना के इसी गौरव को लेकर यदि असाधारण चरित्रो का निर्माण होता रहा, तो जीवन का सच्चा मूल्य निर्दिष्ट करना असभव हो जायगा।

यदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे मनुष्य को व्यक्ति रूप मे परिकल्पित करके, उसके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल ग्रन्थियो को सुलझाने मे ही सारी प्रतिभा समाप्त की गई, तो मार्क्सवादी उपन्यास लेखको ने उसको समष्टि की एक सामान्य इकाई मानकर उसके वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या की, उसकी वैयक्तिकता छीनकर उसे बने-बनाए साचे मे ढालकर उसे कठपुतली बना डाला। ये लेखक अपने पात्रो के आत्मान्वेषण को चित्रित न कर उन्हे अपने लबादे पहनाने और अपनी पगडण्डियो पर मोड़ने का प्रयास करते हैं। अत. उनका निरूपण और विश्लेषण लेखक के सिद्धान्तों के आग्रह के कारण एकांगी होता है। पात्रो मे कोई निजत्व और व्यक्तित्व नही रहता। यही त्रुटि देखकर धर्मवीर भारती ने लिखा है कि "अधिकाश प्रगतिवादी कथाकार अपने कथा-निर्माण और चरित्र-निरूपण मे अत्यधिक यान्त्रिक हो जाते है और उनकी कला मे यथार्थ की तीखी चोट न रहकर प्रचार की छिछली ध्वनि आती है।" हिन्दी मे यशपाल एव अमृतराय के उपन्यासो मे यथार्थवाद को साम्यवादी आवरण मे लपेटने के कारण तथा वर्ग-संघर्ष की काल्पनिक गुत्थियो का समावेश होने से, उनके पात्रो पर वर्ग-चेतना का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। मर्ढेकर, माडखोळकर और खाडेकर ने भी कुछ ऐसे ही पात्रो की कल्पना की है। ये पात्र रूस और साम्यवाद की प्रशंसा के पुल बाधते है, रूस के नेताओ के अधभक्त होते है और सदा वर्ग-सघर्ष की भावना से आक्रान्त रहते हैं।

हिन्दी और मराठी उपन्यासो के क्रान्तिकारी पात्रो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर, उनमे अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती है। दोनो ही काम-अभुक्ति से पीड़ित, नैतिक शिथिलता से दूषित और नारी को तुच्छ काम-तृप्ति का साधन-मात्र समझने वाले तथा उनके साथ विश्वासघात करने वाले है। उनमे सिद्धान्तो का विवेचन करने और व्याख्यान देने के अतिरिक्त और कोई कर्मण्यता भी दृष्टिगत नही होती। "केवल वीरेन्द्र के इश्तिहार प्रकाशित करने, समय-समय पर वाद-विवाद करने और हड़ताल की ज्वाला भडकते ही पहले भूमिगत हो, बाद मे स्वत. पुलिस के अधीन होने के अतिरिक्त उसके (चन्द्रशेखर) हाथो से कुछ भी होता नही दिखाया गया है।"[2] ये पात्र अपना ध्येय भूलकर स्त्री के मोह मे फस जाते है, जिससे क्राति के कार्य मे बाधा पड़ती है। इसी प्रकार कार्य करने और साथियो की रक्षा के प्रयत्न के समय, हरिप्रसन्न इसी चिन्ता मे है कि उसे सुनीता से प्रेम है या नही। "उसका कण्ठ भर आया, उसकी देह काँपने लगी, वह जैसे डर से मर गया। मैं तुम्हे प्रेम करता हूँ—प्रेम?

---

[1] शचीरानी गुर्टू, 'जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद' : साप्ताहिक हिन्दुस्तान १६ मार्च सन १९५८ ई०, पृष्ठ ४।

[2] कुसुमावती देशपांडे, 'मराठी कादंबरी' . दूसरा भाग, पृष्ठ ६१।

लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ सुनीता।"¹ राजनीतिक आन्दोलन में स्त्रियों की सहायता की आवश्यकता है, यह कहकर 'सुनीता' का हरिप्रसन्न सुनीता से, 'सुखदा' का लाल सुखदा से और 'मुक्तात्मा' का चन्द्रशेखर ललिता से सहायता की याचना करते हैं, परन्तु उस याचना के पीछे स्त्री के प्रति उनका मोह कम नहीं है।

हिन्दी और मराठी के अधिकांश क्रान्तिकारी पात्रों में क्रान्ति की दीप्ति और तेज क्यों नहीं है, यदि उनका पता लगाया जाय तो अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा। वस्तुतः इन लेखकों—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी या माडखोळकर और मर्ढेकर—का उद्देश्य क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्धित उपन्यास लिखना नहीं था। उनका प्रधान लक्ष्य था मनोविज्ञान और स्थापना थी कि काम-अभुक्ति से उत्पन्न ग्रंथि के परिणामस्वरूप ही पात्र हिंसा के मार्ग पर चलने लगते हैं। इसीलिए वीर सावरकर, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सेनापति बापट आदि क्रान्तिकारियों की दृढ़ता, प्रचण्डता और उत्सर्ग भावना का चित्रण इन पात्रों में न होकर निष्क्रियता और वाग्वैदग्ध्य पर ही अधिक बल दिया गया है। भारतीय राजनीति को एक कलाकार के नाते न देख, केवल एक राजनीतिक प्रचारक के रूप में देखने के कारण ही उनके पात्रों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। लेखक उनका चरित्र-निर्माण करते-करते बहक गया है। अपने सिद्धान्तों के निरूपण के लिए ही 'देशद्रोही' के डा० खन्ना को दुनिया भर में नचाया गया है।

मार्क्स एवं फ्राइड की विचारधारा से प्रभावित लेखकों ने यौन-सम्बन्धों की पवित्रता को अनावश्यक बुर्जुआ रूढ़ि मानकर ठुकरा दिया और ऐसे स्त्री-पात्रों की सृष्टि की है, जिनके जीवन की सार्थकता दूसरों को शरीर देने में ही है। यशपाल के नारी-पात्र अनेक पुरुषों के साथ रमण करने लिए प्रस्तुत रहते हैं। 'दादा कामरेड' की 'शैला' सरकारी अफसर के लड़के, ईसाई युवक राबर्टसन और हरीश तीनों से प्रेम करके भी अपने को पवित्र समझने वाली नारी है। अन्य उपन्यासों में भी नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गई है। नर्गिस, गुलशन, चन्दा, राज, यमुना सभी आत्म-दान के लिए व्यग्र और आतुर हैं। भारतीय नारी के प्रति लेखकों का यह हीन-भाव अत्यन्त गर्हणीय है, साथ ही यथार्थ के अनुरूप होने के कारण कलात्मक भी नहीं है। उनकी सृष्टि करते समय लेखकों पर या तो पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव पड़ा है अथवा उनके मस्तिष्क में कालिज की कोई अनोखी अति-आधुनिका रही है। 'शेखर : एक जीवनी' की मिस मणिका, 'सुबह के भूले' की गिरिजा ऐसी ही आधुनिकाएँ हैं, जो नवयुवकों से निःसंकोच मिलती हैं और फैशन की रंगबिरंगी दुनिया में पिंजर-मुक्त पंछी की तरह उल्लास-भरी उड़ान भरती हैं। मराठी में डा० केतकर ने ऐसी ही उन्मुक्त, उच्छृंखल नायिकाएँ प्रस्तुत की है, जिनके लिए यौन-पवित्रता कोई अर्थ नहीं रखती, जिनका जीवनदर्शन पारम्परिक विचारधारा से नितान्त भिन्न है तथा जो स्वैराचार के मार्ग पर चलने से तनिक भी

---

[1] जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १७८।

संकोच नही करती । उनकी नायिकाओ मे इस स्वच्छदता के दो कारण है । प्रथम तो उन्होने जिस समाज—वेश्या, रखेली, इग्लेड-अमेरिका निवासी आदि को अपना विषय बनाया है, उसमे यौन-सम्बन्धो की पवित्रता को अधिक मूल्य नही दिया जाता । दूसरे, डा० केतकर की अभिनव विचारधारा एव समाजशास्त्रीय दृष्टि इसके लिए उत्तरदायी है ।

दोनो भाषाओ के उपन्यासो की नायिकाओ की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि मनोवैज्ञानिक एव प्रकृतवादी उपन्यासो को छोडकर, जिनका मुख्य बल ही यौन-सम्बन्धो, कामवासना और नग्नशृगार के चित्रण पर होता है, शेष रचनाओं मे, हिन्दी की अपेक्षा मराठी नायिकाओ मे अधिक स्वच्छन्दता एव स्वतन्त्रता पाई जाती है । एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी । खाडेकर एक आदर्शवादी, सयमित शैली एव संतुलित विचारधारा के उपन्यास-लेखक है. परन्तु उन्होंने भी 'रिकामा देव्हारा' मे पुष्पा का अशोक के प्रति जो व्यवहार चित्रित किया है, वह गुरु-छात्रा के मध्य शोभा नही देता । विवाहबद्ध होने से पूर्व ही वह उनसे खुल कर प्रणय-निवेदन करती है । एक प्रकार से इस मार्ग मे पहल पुष्पा की ओर से ही होती है । "आखे खुलते ही मुझे सर्वप्रथम याद आती है केवल आपकी" इस प्रकार के प्रेम-वचन और आगे बहाने से अशोक को घर बुलाना आदि व्यापार हिन्दीवालो को कुछ अनुचित और अस्वाभाविक प्रतीत होगे, पर वस्तुत. महाराष्ट्र मे सह-शिक्षा, पर्दे का अभाव और स्त्री-स्वातत्र्य इतने अधिक दिनो से प्रचलित है कि वहाँ युवक-युवतियो अथवा गुरु-छात्राओ के बीच सकोच की दीवार इतनी नही है, जितनी हिन्दी प्रदेश मे । अत: मराठी उपन्यास की नायिकाओ का यह स्वच्छन्द व्यापार न तो अयथार्थ ही है और न अतिशयोक्तिपूर्ण ही ।

समाज के प्रतिनिधि यथार्थवादी पात्र—उपन्यासो मे समाज के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ पात्रो की सृष्टि होने लगी । मराठी तथा हिन्दी के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यासो का विषय था सम्मिलित कुटुम्ब तथा उससे सम्बन्धित समस्याएँ । अत. एक ओर हिन्दू कुटुम्ब मे पुरुष के अत्याचारी, निरकुश स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया, तो दूसरी ओर निरीह, असहाय, पददलित हिन्दू नारी का करुण चित्र उपस्थित किया गया । यदि शकर मामजी द्वारा हरिभाऊ आप्टे ने अपने युग के अनावश्यक धर्माभिमानी, भस्म, माला, तिलक आदि लगाने वाले, जपजाप, देवपूजा करने वाले, परन्तु घर मे पत्नी एवं पुत्रवधू से दुर्व्यवहार और छल-कपट करने वाले पुरुषो का प्रतिनिधित्व कराया है, तो यमू द्वारा उन असख्य असहाय, निरवलम्ब, शोषित हिन्दू विधवाओ का चित्र प्रस्तुत किया है, जिनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय और अनुकम्पनीय थी तथा डा० सत के शब्दो मे "जिनके चारो ओर विविध पाशो का घेरा पडा हुआ था ।"[1] पति के दुर्व्यसनी होने के परिणामस्वरूप कष्ट पाने वाली स्त्रियो के भी अनेक प्रतिनिधि चित्र मराठी उपन्यासो में मिलते हैं । हरिभाऊ

---

[1] डा० दु० का० संत, 'मराठी स्त्री', पृष्ठ ३७ ।

आप्टे की दुर्गा से लेकर वोकील के 'कुबेर की रंक' की गिरिजा तक, अनेक स्त्रियों ने दुर्व्यसनी पति के हाथों कष्ट पाया है। हिन्दी मे प्रेमचन्द, उषादेवी मित्रा आदि ने अत्याचारी पुरुष और उत्पीडित, असहाय नारी के बड़े ही हृदयद्रावक चित्र प्रस्तुत किये हैं। 'निर्मला' के मुंशी तोताराम शंकर मामंजी के और 'प्रतिज्ञा की पूर्ति', यमू की प्रतिछाया ही हैं।

पुरुषों के अत्याचार अशिक्षित स्त्री तक ही सीमित नहीं रहे, सुशिक्षित स्त्रियों को भी उनके हाथों अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े। ऐसी उत्पीड़ित, कष्टार्त स्त्रियों के प्रतिनिधि चित्र दोनों भाषाओं के उपन्यासों में मिलते हैं। विभावरी शिरूरकर ने विवाहित स्त्रियों के मन में होने वाली कुंठाजनित यातना के प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किये, तो माडखोळकर की नायिकाएँ अपनी मानसिक दुर्बलता व कोमलता के कारण जीवन भर कष्ट सहती हैं पति की इच्छाओं के सामने झुक जाती हैं और अपने व्यक्तित्व का विकास करने मे असमर्थ हैं। यद्यपि माडखोळकर ने उनके द्वारा प्रेम के हीन व्यापारो एव व्यभिचार का समर्थन बड़े जोश से करवाकर केवल अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, तथापि उनकी दुर्बलता, पराधीनता, अप्रगतिशीलता, संकुचितता, दास-भावना, मन की कुण्ठाओं आदि का चित्रण कर लेखक ने समसामयिक दुर्बल सुशिक्षित नारी का चित्र प्रस्तुत किया है। ये स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हुए भी परवश हैं और उनका जीवन उनकी मानसिक दासता, उनकी भावनाओं, आकांक्षाओं व अभिरुचियों के दमघोंटने की करुण कहानी है। हिन्दी में इस प्रकार के स्त्री-चित्र जैनेन्द्र के उपन्यासों मे मिलते हैं। कल्याणी क्रूर, दर्दमनीय पति के दुर्व्यवहार को चुपचाप सहन करती रहती है। नारी के सनातन और नवीन रूप का द्वन्द्व उसे भीतर ही भीतर तोड देता है। आधुनिक सुशिक्षिता का अंशतः प्रतिनिधित्व करने पर भी उसे आधुनिक युवती का पूर्ण प्रतिनिधि चित्र नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी तथा अन्य स्त्री-पात्रों की अवतारणा लेखक ने अहिंसा या मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए की है। वस्तुत. माडखोळकर के उपन्यासों में जो समस्या उठाई गई है, वह विवाह-बाह्य सम्बन्ध का प्रश्न हिन्दी मे उठाया जाकर भी, उस रूप मे चित्रित नहीं किया गया है, जिस रूप में मराठी उपन्यासो मे, क्योंकि अभी भी यहाँ उतनी मात्रा मे सह-शिक्षा और स्त्री-स्वातंत्र्य नहीं, जितना महाराष्ट्र समाज में। हा, ऐसी नायिकाएं अवश्य है, जो अव्यावहारिक आदर्शवाद मे विश्वास करती हैं और अपने प्रेमी के निर्माण मे टूट जाती हैं—मानों इनके जीवन मे अन्य किसी बात के लिए स्थान ही नहीं है। जैनेन्द्र की कट्टो, अज्ञेय की शशि और 'गुनाहों के देवता' की सुधा इसी परम्परा मे आती हैं। एक अन्य प्रकार की नायिकाएँ, जो मराठी उपन्यासों मे मिलती हैं तथा हिन्दी रचनाओं मे जिनका अभाव है, वे सुशिक्षित वयस्क-कन्याएँ हैं, जिनका विवाह आर्थिक कारणों से नहीं हो पाता तथा जिन्हें पितृगृह में रहकर ही अपनी भावनाओं का दमन करना पड़ता है। उनमें से कोई अपने वृद्ध पिता की सेवा तथा आर्थिक सहायता करने के लिए विवाह नहीं कर सकती, तो कोई अपनी रुचि के अनुकूल वर

पाने मे आर्थिक कठिनाइयो की अभेद्य दीवार को देखकर, निराशा का जीवन बिताती हैं। विभावरी शिरुरकर की नायिकाएँ इसी कोटि की है। इस प्रकार की परिस्थितिया अभी हिन्दी क्षेत्र की वयस्क कन्याओ के सामने उपस्थित नही हुई है, अत उनका निर्माण भी हिन्दी उपन्यासो मे नही हुआ है।

दुर्बल चित्त, प्रवचक, कायर, समाज-भीरु नवयुवको के चित्र दोनो भाषाओ मे उपलब्ध होते हैं। ये नायक प्रारभ मे तो मीठी-मीठी बातो एव प्रशंसोक्तियो द्वारा नायिका को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है, परन्तु जब विवाह का प्रश्न उठता है, तो धन-लिप्सा या समाज-भय के कारण दुम दबाकर भाग जाते है। खाडेकर की 'उल्का' के वसत, और माणिकराव इसी प्रकार के नवयुवक हैं, जिनसे प्रवचित होने पर उल्का को दूभिया वर से विवाह करना पडता है। इसी प्रकार फडके ने 'जादूगार' के नानू द्वारा कपटी, चतुर पर दुर्व्यसनी व उच्छृखल तरुण विवाहितो के मन, विचार व वृत्ति का सुन्दर चित्रण हमारे सम्मुख रखा है। हिन्दी मे प्रसाद जी के 'ककाल' का मगल समाज-भीरु है, पर उस भीरुता को आदर्शवाद के पर्दे मे छिपाकर चलता है। एक थोथी मर्यादा-भावना से प्रताडित हो, वह तारा को असहाय अवस्था मे छोडकर भाग जाता है। इसी प्रकार जैनेन्द्र के 'परख' का सत्यधन अनुदार वृत्ति का, समाज-भीरु और आत्म-प्रवंचक युवक है। ऐश्वर्य के प्रति प्रबल आग्रह और समाज की परम्परागत रूढि को विच्छिन्न करने की शक्ति न होने के कारण ही, वह कट्टो को अस्वीकार कर गरिमा का पाणि-ग्रहण करता है। 'भिखारिणी' का रामनाथ भी आजकल के उन प्रेमियो का प्रतिनिधि है, जो कही भी रूप और यौवन देखकर, पहले तो मचल पडते हैं, पर परीक्षा के समय कन्नी काटकर भाग खड़े होते हैं। जस्सो पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाला रामनाथ अपने पिता के सामने अपनी इच्छा तक प्रकट नही कर पाता। जैनेन्द्र के त्यागपत्र की मृणाल विवाह के बाद पतिगृह से भागने पर एक बनिये के साथ रहने लगती है, जो गर्भ रहने पर उसे छोड़कर भाग जाता है। अत विवाह से पूर्व और विवाह के बाद दोनो स्थितियो मे स्त्री को धोखा देने वाले अनेक पात्र उपन्यास-जगत मे मिलते हैं।

इसी श्रेणी के पात्रो से मिलते जुलते पात्र वे हैं, जो पहले तो पाश्चात्य विचारो के प्रभाव मे आकर स्त्री को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्रदान करने की घोषणा कर बैठते है, पर जिनके मन मे स्त्री पर पुरुष के अधिकार की परम्परागत भावना और सन्देह वृत्ति नष्ट नही होती और एक दिन बलवती होकर सबको आच्छादित कर लेती है, जिससे दोनो का, विशेष रूप से स्त्री का, जीवन नष्ट हो जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'अचल मेरा कोई' का सुधाकर और इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी' का नदकिशोर इसी प्रकार के पात्र हैं।

अपने युग के समाज के विविध वर्गों एव श्रेणियो के पात्रो का प्रतिनिधि चित्र उपस्थित करने मे मराठी के हरिभाऊ आप्टे और वामन मल्हार जोशी तथा हिन्दी के प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रसाद और कौशिक अत्यन्त कुशल थे। वामनराव के पात्र

गाधीयुग के प्रारम्भिक दिनो के प्रतिनिधि चित्र है, जिन पर विभिन्न वैचारिक आन्दोलनो की छाया स्पष्ट पडी थी। उदाहरण के लिए, विचारो मे प्रगतिशील पर कृत्यो मे एकदम आगे न जाने वाले सुधारक नानासाहेब, हमेशा प्राचीन के समर्थक शास्त्रीबुवा, थिओसफिस्ट भैय्यासाहब, देशसेवक आनंदराव, सामाजिक समस्याओ के प्रति उग्रमतवादी सुशीला के पिता विनायकराव, स्पेन्सर के विकासवाद के अनुयायी राववा, विवेकवादी बळवतराव, क्रातिवादी सुन्दरराव, गांधीवादी विनायकराव भोळे, इतिहास-संशोधक नारायणराव—ये सब जोशी जी के युग मे प्रचलित विभिन्न मतो एवं विचारो के अनुयायी प्रतिनिधि चरित्र है। जो बात हरिभाऊ और वामनराव जोशी के बारे मे सच है, वही प्रेमचन्द और प्रसाद के सम्बन्ध मे भी। प्रथम अधिक आदर्शवादी है, तथापि दोनो के पात्रो मे वर्ग-वैशिष्ट्य पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है। उनके पात्र किसान, जमीदार, मिलमालिक, मजदूर, पुलिस-कर्मचारी, साहूकार, देशभक्त, महत, पुजारी, आदि विविध वर्गो के प्रतिनिधि है और अपने वर्ग के सम्पूर्ण गुणदोषों से युक्त होने के कारण जाने पहचाने से लगते है। 'गोदान' का होरी औसत भारतीय किसानो का प्रतिनिधि हैं। उसके अन्तर मे प्रतिष्ठित सम्मान-लालसा चारो ओर की परिस्थितियो से टकराती है। उसी के कारण वह धरती से बधा रहता है और ऋण लेकर द्वार पर गाय बांधता है, रायसाहब की खुशामद करता और पचो का फैसला स्वीकार कर लेता है। एक ओर पारिवारिक-विघटन से विक्षुब्ध है, और दूसरी ओर साहूकारो और जमीदारो के शोषण से संतप्त। जीवन-सग्राम मे सदा पराजित होकर भी, वह उस हार को विजय-पर्व मानता है। मराठी मे किसान-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र हैं 'पाणकळा' का भुजवा और 'अन्नदाता उपाशी' का रघुनाथ।

इस वर्ग के शोषक, जमीदारों और साहूकारों के प्रतिनिधि चित्र भी दोनो भाषाभो मे बडे सुन्दर ढग से चित्रित किये गए है। 'पाणकळा' का रंभाजी पाटिल न केवल अन्यायी है, अपितु दुर्व्यसनी भी है। उसकी दृष्टि गाव की युवतियो पर सदा रहती है। इसीलिए शिखरे ने उसे "छोटा जागीरदार या सुलतान ही है वह" कहा है। डाकूओ की सहायता से अपने शत्रु को नष्ट-भ्रष्ट कराना, झूठा अभियोग लगाना, आदि उनके बाएँ हाथ के खेल हैं। रुपया देकर मूलधन से कई गुना वसूल करके भी किसानो को जीवनभर कर्ज की बेडियो मे जकड़े रखना उनका दैनिक व्यापार है। हिन्दी मे 'प्रेमाश्रम' तथा 'गोदान' मे किसान का शोषण करने वाले जमीदार, साहूकार, पुलिस-अफसर आदि के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। रायसाहब, लाला पटेश्वरी, सहुआइन (गोदान) और दारोगा नूर आलम (प्रेमाश्रम) तत्कालीन समाज के प्रतिनिधि पात्र ही है। गाँव के अन्य वर्गों के प्रतिनिधि चित्र भी हमे दोनों भाषाओं के उपन्यासो मे उपलब्ध होते हैं। प्रेमचद ने यदि 'कर्मभूमि' के गूदड द्वारा ग्रामीणो के असंस्कृत और अशिक्षित वर्ग का, जो शिक्षा-सस्कार मे पीछे होते हुए भी, मानवता मे आगे है, प्रतिनिधित्व कराया है, तो दिघे ने सोनी, लाडी, पारु, रैना आदि द्वारा ग्रामीण अल्हड़ बालिकाओ के सजीव, आकर्षक और साथ ही प्रतिनिधि चित्र प्रदान किये हैं।

सामन्तीय एव अभिजात्य-वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र भी मराठी तथा हिन्दी मे अनेक हैं। ऐतिहासिक क्षेत्र मे हरिभाऊ और वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने-अपने उपन्यास-युग एव क्षेत्र के अभिजात्य-वर्ग के व्यक्तियो के चित्र क्रमश रगराव अप्पा (उष काल) तथा अग्निदत्त, हुरमतसिह (गढ कुंडार) के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं। रंगराव अप्पा सत्रहवी शताब्दी के मराठा सरदारो का उत्कृष्ट नमूना है तथा हुरमतसिंह बुन्देलखड के सामन्तीय युग के अधिकारियो का प्रतिनिधि, जिन्हे अपनी सम्पत्ति पर गर्व है और जो अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उचित अनुचित की चिन्ता नही करते तथा अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए शक्ति और छल दोनो का प्रयोग करते है। उन सब मे सनक भी है, जो अभिजात्यवर्ग का मुख्य गुण है। सामाजिक उपन्यासो मे भी इस वर्ग के प्रतिनिधि प्राप्त होते है। 'कर्मभूमि' का समरकान्त उन व्यक्तियो का जीवन प्रस्तुत करता है, जो धन को सर्वस्व समझते है, धन की उपासना करते-करते जिनकी आत्मा पर ऐसा स्वर्ण-आवरण पड जाता है कि उन्हे इसकी चकाचौंध मे कुछ भी दिखाई नही देता तथा जिसके कारण उनका पारिवारिक जीवन तक नष्ट हो जाता है। 'गोदान' के रायसाहब, खन्ना पूँजीपति, मेहता फिलास्फर, ओकारनाथ सम्पादक तथा तखा वकील—सबमे उनके वर्ग सम्बन्धी गुण-दोष वर्तमान है। 'कर्मभूमि' और 'ककाल' के महन्तो का जीवन धार्मिक अखाडो के भोग-विलास मे जीवन विताने वाले महन्तो का प्रतिनिधित्व करता है। मराठी मे खाडेकर ने ऐसे महन्तो की 'रिकामा देव्हारा' मे पोल खोली है, तो फडके के 'अटकेपार' मे शभुराव जोग के माध्यम से उन्नीसवी शताब्दी के अन्त के सनातन, कर्मठ मनुष्य का उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया गया है। परलोक-निष्ठा, मायामोह सबधी वेदान्तो-कल्पना, अनेक धर्माडम्बर एव रूढाचार के कारण मनुष्य कैसे कठोर वन जाता है, यह इस चरित्र द्वारा दिखाया गया है।

मध्यवर्गीय जीवन के चित्र प्रस्तुत करने के लिए भी हिन्दी और मराठी मे कुछ पात्र उपस्थित किये गए है। 'गबन' का रामनाथ पढे लिखे मध्यवर्ग का, जिसका व्यक्तित्व अत्यन्त दुर्बल होता है और जो सामाजिक कुरीतियो और झूठी मान-मर्यादा की चक्की मे सदा पिसता रहता है, सच्चा प्रतिनिधि है। मराठी मे उल्का के पिता तथा 'पहिले प्रेम' मे करुणा का प्रेमी प्रभाकर आदि पात्रो की रचना, खाडेकर ने मध्यवर्ग के पात्रो का परिचय कराने के लिए ही की है।

साराश यह कि दोनो भाषाओ के उपन्यासकारो ने अनेक ऐसे पात्र प्रस्तुत किये है, जिनमे अपने वर्ग-विशेष के लगभग सभी गुण-दोष विद्यमान हैं।

व्यक्तिवादी पात्र—उपन्यास-जगत मे प्रतिनिधि चरित्रो की वहुलता तभी तक रही, जव तक कि व्यक्तिवाद का साहित्य मे प्रवेश नही हुआ। व्यक्तिवाद के अवतीर्ण होते ही स्थिति वदल गई। अव लेखकों की पात्र-कल्पना ने वर्ग का अध्ययन और चित्रण छोड़कर, व्यक्ति को ही अपने अध्ययन और विश्लेषण का विषय वनाया,

जिसके परिणामस्वरूप महत्वबुद्धे की शब्दावली मे 'प्रतिमा लेख' के स्थान पर 'व्यक्ति रेखाओ' का निर्माण होने लगा ।

आधुनिक उपन्यासो की प्रेमगाथाओ मे विद्रोह और क्रान्ति की भावना है । अत: आज के हिन्दी उपन्यासो के नायको मे धर्म की भीरुता नही है, समाज का दासत्व नही है, उनमे दुस्साहस की प्रचडता है, प्राणो का आवेग है, शक्ति की स्फूर्ति और दर्प है और है सभी कुछ स्वायत्त कर लेने की अदम्य वासना । आधुनिक प्रगतिशील साहित्य का नायक अपने प्रवृत्तिजन्य भावो को कृत्रिम नीति या सदाचार के आवरण मे नही छिपाता है । उसके विद्रोह मे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है । पु० य० देशपाडे के 'बधनाच्या पलीकडे' का प्रभाकर अपने अनिर्वन्ध व्यक्तित्व विकास के लिए ही माता-पिता से विद्रोह कर वेश्या-पुत्री से विवाह करता है । प्रत्येक प्रश्न की ओर स्वतत्र दृष्टि से विचार करने की प्रवृत्ति होने के कारण ही, उसे सुशीला की परम्परागत चतुराई, सुन्दरता और सद्गुण प्रभावित नही कर पाते और दूसरो की कटु आलोचना विचलित करने मे असमर्थ रहती है । वह कहता है "मेरे जीवन का सम्पूर्ण आकर्षण उन कार्यो को करने मे है, जो मुझे प्रिय लगते है। दूसरो का उस सम्बन्ध मे क्या मत है,—उनकी स्थिति क्या होगी, इस सब का मेरे ऊपर कोई प्रभाव नही पडता ।" इसी स्वतत्र प्रवृत्ति के कारण पग-पग पर दिखाई देने वाली समाज की स्थितिनिष्ठा, रूढि-परम्परा, उसे खटकती है और वह उन अध-परम्पराओ के प्रति विद्रोह कर बैठता है । मनुष्य के आत्मिक सम्बन्ध एव सहज आकर्षण को वह प्रेम समझता है और ऐसे सात्विक प्रेम के मार्ग मे, यदि पारम्परिक रीतिरिवाज, रूढियाँ, जाति और धर्म के बधन, अभिजात्य भावना आदि बाधक होती है, तो उन्हे ठोकर मारने मे ही कल्याण समझता है । लेखक ने इस पात्र को स्वतत्र व्यक्तित्व प्रदान किया है, जो उनसे पूर्व के उपन्यासों मे उपलब्ध नही था । उनके 'सदाफुली', 'सुकलेले फूल' आदि के पात्रो मे भी वर्ग की विशेषताएँ न होकर, स्वतत्र व्यक्तित्व की स्थापना पाई जाती है । इसीलिए कहा गया है, "व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का अतिरेक पु० य० देशपाडे के उपन्यासो के प्रमुख पात्रो का प्रधान गुण रहा है ।"[१]

व्यक्तिवादी नायिकाओ मे विभावरी शिरुरकर के 'हिंदोळ्यावर' की अचला को लिया जा सकता है। वह सुशिक्षिता, सयमी एव धैर्यशील है और आरभ मे पति की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए मूक होकर दुख सहती रहती है, पर पति को सात साल का कारावास का दड मिलने पर, वह शिक्षिका बनती है और नागपुर मे विराग नाम के व्यक्ति से परिचय होने पर, वृत्ति तथा स्वभाव की समानता के कारण, समाज के परम्परागत रीति-नियमो को लात मारकर, वे एक साथ रहने लगते है ।

हिन्दी मे प्रसाद जी के 'ककाल' का विजय आदि से अत तक, ऊपर से नीचे तक, विरोध और विद्रोह से पूर्ण है । देवनिरजन और अपनी माँ किशोरी के अवैध रहस्य-सबंध को लेकर उसके मन मे धीरे-धीरे एक विद्रोह की सृष्टि होती है और

---

[१] अ० ना० दशपाण्डे, 'आधुनिक मराठी वाड्मयाचा इतिहास' : दूसरा भाग, पृष्ठ १२८ ।

समाज, धर्म, रूढि, परम्परा, आचार-विचार और सभ्यजनो के सारे सस्कारो के विरुद्ध, उसका चारित्रिक विकास होता है। उसका विद्रोह स्वर निम्न शब्दो मे गूँजता है, "घटी! जो कहते है अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृखल है, वे भ्रात हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो व्याह है।...... मै स्वतत्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या।"[1] जहाँ तक नायिकाओ का सम्बन्ध है, जैनेन्द्र की नायिकाएँ दुर्बलमना, कोमल एव भावुक होते हुए भी प्राचीन उपन्यासो की नायिकाओ से भिन्न हैं। उनमे विद्रोह की शक्ति है, साहस का आवेग है, दर्प है, स्वाभिमान है, स्वतत्र विचार-शक्ति है और सबसे अधिक दुर्धर्ष है अह-भाव। सुखदा उन सब मे उल्लेखनीय है। वस्तुत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सामाजिक यथार्थ के सघर्ष मे, जो महत्वपूर्ण विकास उपन्यास के माध्यम से स्पष्ट होकर आया, उससे व्यक्ति की प्रतिष्ठा का स्वर सबल तथा प्रौढ रूप मे उभरा है।

समकालीन व्यक्तियो की पात्र रूप मे कल्पना—सौमरसेट माम ने चरित्र-निर्माण के विषय मे लिखा है, "लेखक मूल व्यक्तियो की प्रतिलिपि प्रस्तुत नही करता; वह केवल उनसे अपने काम की बाते—कुछ विशेष लक्षण, जिन्होने उसका ध्यान आकृष्ट किया है, मस्तिष्क का रुझान, जिसने उसकी कल्पना को जगाया है—ग्रहण कर अपने पात्रो का निर्माण करता है। वह इस बात की चिन्ता नही करता कि उसका पात्र सच्ची प्रतिलिपि है, उसका कार्य तो केवल अपने लक्ष्य के लिए आवश्यक सत्याभसध्वनि (प्लौजिबिल हारमनी) निर्माण करना है।"[2] अत: लेखक के व्यक्तित्व का स्वलपांश ही उसके किसी पात्र को उपलब्ध होता है, यद्यपि किसी एक पात्र और उसके वर्ग को लेखक की गहरी सहानुभूति और गम्भीर तादात्म्य भी उपलब्ध हो जाता है। लेखक पात्रो की पात्रता में सन्निहित भी है और उनसे पृथक् भी। पृथकता तटस्थ विश्लेषण का आधार, वैयक्तिकता और व्यक्तित्व देती है और सन्निहित्य सजीवता और सजग स्फूर्ति। मराठी मे हरिभाऊ आप्टे से लेकर आधुनिक उपन्यासकारो—फडके और साने गुरुजी तक ने अपने पात्रो मे स्वय अपने व्यक्तित्व अथवा अपने समकालीन व्यक्तियो के गुण-दोषो को प्रतिबिम्बित किया है। ऐसा करते हुए जब तक लेखक तटस्थ रहता है, उसकी कृति मे निकट अनुभूति के कारण अधिक कलात्मकता, सरसता, और प्रभावोत्पादकता आजाती है, परन्तु जब वह समकालीन व्यक्तियो की प्रत्यक्ष आलोचना और निन्दा न कर सकने के कारण उपन्यास की शरण लेता है, तो उसकी प्रतिभा का पतन एव कलाभिरुचि की विकृति देखकर जुगुप्सा उत्पन्न होती है।

अपने विचारो और मतो के साथ-साथ समकालीन महापुरुषो को प्रतिबिम्बित करके आदर्श-स्थापना की प्रवृत्ति मराठी मे हरिभाऊ के उपन्यासो से आरभ होती है। गणपतराव को डेकन कालिज का विद्यार्थी, मिल और स्पैन्सर के विचारो से प्रभावित

---

[1] जयशंकर प्रसाद, 'ककाल': सप्तम् संस्करण, पृष्ठ १७५-७६।

[2] सौमरसेट माम, 'दी समिंग अप', पृष्ठ १३३।

सुधारवादी और विधवा-विवाह का समर्थक देखकर स्पष्ट हो जाता है कि उसमे लेखक का ही प्रतिबिम्ब है। हरिभाऊ ने एक स्थान पर स्वय लिखा था, "मेरे उपन्यासो मे एक भी पात्र ऐसा नही, जिसे मैंने व्यवहार-जगत मे प्रत्यक्ष न देखा हो।" यदि ध्यान से देखा जाय, तो उनके श्रीधर पत मे उनके समकालीन प्रो० जिन्सीवाले, यशवतराव मे लोकमान्य तिलक और स्वामी अद्वैतानन्द मे स्वामी विवेकानद की अनेक विशेषताएँ देखने को मिलेगी।

वामन मल्हार जोशी का, पात्र-रचना के सम्बन्ध में, दृष्टिकोण भिन्न था। "सत्य ससार के व्यक्ति मेरे नेत्रो के सम्मुख नही होते। कथा-उपन्यास आदि मेरी सम्पूर्ण रचनाओ मे एक-दो व्यक्ति ही मेरे नेत्रो के सामने रहने वाले प्रत्यक्ष जगत के होंगे, शेष कल्पनानिर्मित है।"[1] दृष्टिकोण की इस भिन्नता के रहते हुए भी, उनके पात्रो मे उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई देती है। इसी को देख अ० ना० देशपाडे ने लिखा है, "वामनराव के कितने ही प्रमुख पात्रो मे, उन पात्रो की उक्तियो मे, जगह-जगह स्वय वामनराव ही प्रगट होते दिखाई देते है।"[2] 'स्मृति लहरी' मे उनके जीवन की बाह्य घटनाओ व तथ्यो का भले ही कोई सबध न हो, परन्तु घोडोपत वर्वे की वृत्ति व दृष्टिकोण मे वामनराव की वृत्ति व दृष्टिकोण की छाया अनेक स्थानो पर प्राप्त होती है। इसी प्रकार खाडेकर के 'उल्का'और माडखोळकर के 'दुहेरीजीवन' मे लेखको का आत्म-चरित्र कई स्थानो पर प्रतिबिम्बित हो उठा है। शिखरे लिखते है, "राष्ट्रसेवा के उद्देश्य से गाँव मे बीस रुपया मासिक पर शिक्षण कार्य करने वाले ध्येयवादी भाऊ स्वयं खांडेकर के ही प्रतिबिम्ब हैं—ऐसा अनेक स्थानो पर लगता है।"[3] साने गुरुजी एव केतकर की कृतियो मे भी यह विशेषता मिलती है। 'श्यामची आई' के श्याम का बचपन वस्तुत: साने गुरुजी का ही बचपन है। केतकर के 'परागंदा' मे डा० सरजामे तथा 'आशावादी' मे ब्रह्मगिरि को देखकर तनिक भी शका नही रहती कि उनमे स्वय डा० केतकर की प्रतिछाया है।

अपने छोटे-मोटे अनुभवो एव कल्पनाओ को मूर्त रूप देने के लिए अनेक लेखको ने अपना प्रथम उपन्यास लिखा। नारायण हरि आप्टे के 'अर्वाचीन रामराज्य' मे श्रीधर नामक अनाथ बालक का पालन करने वाले तात्यासाहब सहस्रबुद्धे मे, वस्तुत: लेखक ने स्वय अपने सरक्षक रावसाहेब आडमुठे की प्रतिकृति उतारी है। इसी प्रकार फडके के 'निरजन' मे निरजन की रसिकता, उत्कट साहित्य-प्रेम, राजनीतिक दृष्टिकोण, सगीत-प्रेम, टकन के प्रति रुचि, अग्रेजी ग्रथ लिखने की अभिरुचि, नियमित लेखन का अभ्यास आदि कितनी ही बातो मे लेखक की प्रतिछाया दिखाई पडती है। इतना ही नही, उन्होने कुछ रचनाओं मे समकालीन व्यक्तियो के जीवन के कुछ अश तक चित्रित किये है। उनके 'पतग' और 'अखेरच बड' को पढकर लगता

---

१. वा० म० जोशी, 'माझे कादम्बरी लेखन' : सम्पादित या० मु० पाठक, पृष्ठ २४।

२. अ० ना० देशपाडे, 'आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास' : दूसरा भाग, पृष्ठ ८८-८९।

३. दा० न० शिखरे, 'मराठी कादम्बरीकार' : दूसरा भाग, पृष्ठ १४।

है, जैसे हम उस समय की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री और एक लोकप्रिय अभिनेता के जीवन के कुछ भाग पढ़ रहे हों। माडखोलकर के 'मुखवटे' में समकालीन भारतीय राजनीतिज्ञों की कटु आलोचना करने के लिए ही उपन्यास-शिल्प का आश्रय लिया प्रतीत होता है। उनसे भी अधिक यह दोष डा० केतकर के उपन्यासों में पाया जाता है। समकालीन व्यक्तियों के नाम बदलकर, उनको अपने उपन्यासों में स्थान देना और फिर उनकी कटु टीका करना, उनकी उपन्यास-रचना का शिल्प ही बन गया था। 'गोंडवनांतील प्रियंवदा' में महाराष्ट्र में अति सम्माननीय, इतिहासाचार्य श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे की मूर्ति नेत्रों के सम्मुख अंकित करने के लिए वैजनाथ शास्त्री नामक पात्र की अवतारणा की गई है और उसमें अनेक स्वभावजन्य दोषों का समावेश कर श्री राजवाडे को कलंकित करने का अश्लाघनीय प्रयास किया गया है। कल्पित सृष्टि के सहारे समकालीन व्यक्तियों की आलोचना करने की प्रवृत्ति "चोरी से छिपकर वार करना जितनी अश्लाघ्य" है। श्री राजवाडे के समान ही लाला लाजपतराय की गजपतराव के रूप में विडम्बना की गई है। यही सब देखकर शिखरे ने लिखा है, "सर्वत्र वंदनीय भारतीय नेताओं पर भी उन्होंने अपने हाथ की काली कूची फेर दी है।"[1] प्रार्थना-समाज, ब्रह्म-समाज, अप्रगतिशील विचारों के राष्ट्रीय नेता, बंगाली लोग, न० चि० केळकर, न्यायमूर्ति रानडे, श्री भंडारकर तथा 'ज्ञानकोश' के सम्बन्ध में नागपुर में, जिन-जिन व्यक्तियों से भी उनका संघर्ष हुआ, उन सबको अपने उपन्यासों में भिन्न नाम देकर तथा उन्हें काली कूँची से रंगकर उन्होंने अपने व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष भाव को सन्तुष्ट किया है। 'आशावादी' के गोंगणे, अलंकार व भोंगळवार का त्रिकूट वस्तुतः नागपुर के रा० नीलकण्ठराव डेंगणे, रा० नारायण रंगनाथ अळेकर व रा० नीलकण्ठ बळवंत भवाळकर की प्रतिमूर्ति ही हैं, जिनके सम्पर्क में वे 'ज्ञानकोश' के कारण आए थे। इस प्रकार का प्रयोग न तो कला की दृष्टि से और न सुसंस्कृत रुचि की दृष्टि से ही श्लाघनीय है। अतः बापट और गोडबोले ने लिखा है, 'जिन समकालीन व्यक्तियों की स्पष्ट आलोचना करना खतरे से खाली न हो, उन पर अप्रत्यक्ष टीका करने के लिए लेखकों को उपन्यास का आश्रय लेते देख, उनके प्रति जुगुप्सा-भाव के स्थान पर, उनकी कला के पतन को देख बहुधा उनके प्रति अनुकम्पा-भाव ही जागृत होता है।"[2]

हिन्दी उपन्यासकारों ने पात्र-कल्पना के लिए स्वयं को अथवा समकालीन व्यक्तियों को प्रायः कम चुना है, और यदि चुना भी है तो समकालीन पुरुषों के आदर्श जीवन से प्रभावित हो, उनके आदर्शों एवं सद्गुणों को ही पात्रों में उतारा गया है जैसे, प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' का सूरदास गांधीजी के आदर्शों का ही मूर्तिमान चित्र है। मराठी उपन्यासकारों के समान उनका उद्देश्य किसी की व्यक्तिगत कटु आलोचना या निन्दा करना नहीं है। यदि वृन्दावनलाल वर्मा ने 'लगन' में देवीसिंह की चरित्र-रेखा

---

[1] डा० न० शिखरे, 'मराठी कादंबरीकार'; दूसरा भाग, पृष्ठ ६२।

[2] बापट व गोडबोले, 'मराठी कादंबरी तंत्र आणि विकास' : द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४८।

किसी परिचित व्यक्ति के आधार पर अथवा 'गढ कुडार' के अर्जुन कुम्हार की रूपरेखा अपने परिचित दुर्जन कुम्हार को दृष्टि मे रखकर की है, तो उसके पीछे निन्दा की भावना तो है ही नही, साथ ही उसका उपयोग केवल चित्र मे अधिक यथार्थता, सहजानुभूति एव सहृदयता लाने के लिए किया गया है। इसका अपवाद है भगवतीचरण वर्मा का 'टेढे-मेढे रास्ते'। इसमे लेखक ने परोक्ष रूप से साहित्यकारो के प्रसग को लाकर, प्रयाग के कुछ साहित्यिक स्तम्भो के ऊपर सटीक व्यग्य किया है और अनेक जीवित कवियो एव साहित्यिको का केवल नाम बदल कर उनका खाका खीचा है और उनकी खिल्ली उडाई है। यह प्रवृत्ति अवाछनीय है।

गौण पात्र—गौण पात्रो का उपन्यास मे स्थान महत्वपूर्ण न होकर गौण ही होता है। इन गौण पात्रो की अवतारणा नायक-नायिका या खलनायक के चरित्र को परिपुष्ट करने अथवा उनके गुणावगुणो पर प्रकाश डालने के लिए होती है। साहित्य मे वर्णन की सक्षिप्तता या कृपणता दोष न होकर, कलाकार की कीर्ति का साधन होती है। गौण पात्रो के चित्रण मे इस की ओर भी अधिक अपेक्षा होती है। यदि लेखक सूक्ष्म सकेतो या जिन्हे तूलिका की आडी-तिरछी रेखाएँ (टचेज आफ दी ब्रश) कहते है, उनसे काम ले तो ये चित्र अत्यत आकर्षक, सजीव व प्राणवान बन सकते है। मराठी उपन्यासकारो मे यह गुण ना० सी० फडके के गौण पात्रों के चित्रण मे मिलता है। "प्रमुख पात्रो के समान ही फडके गौण पात्रो की स्वभाव-रेखा भी स्पष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न करते है।"[१] पात्र की विशिष्ट आदतो या सनक का सजीव चित्रण कर, वे गौण पात्र को भी चिरस्मरणीय बना देते है। 'आशा' मे सुनेत्रा के पिता बाबासाहब की समाचारपत्र पढने की सनक का वर्णन करके, लेखक ने उनका अल्प परिचय देते हुए भी, उन्हे अविस्मरणीय बना दिया है। इसी प्रकार 'अटकेपार' मे सकीना की 'हा-हा' करने की पद्धति, 'तैयारी', 'पैप' आदि शब्दो का प्रयोग, भाषा मे हिन्दी-मराठी का मिश्रण, बचपना, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो का वर्णन कर फडके ने उसे सजीव बना दिया है।

मामा वरेरकर के गौण पात्रो मे यदि यह दोष है कि वे प्रधान पात्र को आच्छादित कर लेते है, तो डा० केतकर के पात्रो मे यह बताना ही कठिन हो जाता है कि कौन प्रधान पात्र है और कौन गौण। मामा वरेरकर ने 'विधवा कुमारी' के दूसरे भाग मे 'चद्रू की पत्नी' का बडा यथार्थवादी, सजीव चित्र अकित किया है, परन्तु इसका दोष यही है कि लेखक यह भूल गया है कि उसकी कथा की मुख्य स्त्री-पात्र मथू है, न कि चद्रू की पत्नी। यदि इसी पात्र को कुछ कम प्राधान्य एव कम स्थान मिलता, तो यह दोष बच सकता था। गौण पात्रो के द्वारा प्राय. लेखक ससार के विचित्र स्वभाव वाले व्यक्तियो का, जो ससार मे होते तो है पर कम सख्या मे, परिचय कराता है। उन्हे गौण स्थान देकर वह अपना अभीष्ट भी सिद्ध कर लेता है और कला को भी आघात नही पहुँचने देता। विचित्र स्वभाव वाले सम्पादको का

---

[१] पु० ग० सहस्रबुद्धे, 'स्वभाव लेखन', पृष्ठ १५१।

परिचय हमे 'हृदयाची हाक' के काफेरकर एव 'अटकेपार' के ब्राउनिंग द्वारा कराया गया है, तो व्यसनी, सनकी व झक्की व्यक्तियो के चित्र 'कलक शोभा' के पेरीरा मास्टर, कोल्हटकर के 'पाडू तात्या' एव केतकर के कामरेड डखी' द्वारा प्रस्तुत किये गए है। वृन्दावनलाल वर्मा ने महमूद वघर्रा, नसीरुद्दीन, पिल्ली आदि की अवतारणा कर अद्भुत स्वभाव वाले व्यक्तियो का परिचय दिया है।

गौण पात्रो की अवतारणा प्रधान पात्रो को परिपुष्ट करने और उनके गुणावगुणो को प्रकाश मे लाने के लिए होती है। फडके के 'दौलत' मे प्रधान पात्र है—निर्मला और अविनाश तथा गौण पात्र है—निर्मला की सखी कमल व उसका पति धनजय। जब पाठक निर्मला की तुलना कमल से अथवा अविनाश की धनजय से करने लगता है, तो कमल व धनजय की स्वभावगत दुर्बलताओ के विरोध मे निर्मला और अविनाश के गुण और अधिक चमकने लगते है। इसके विपरीत अविनाश की सौम्य, सस्कृत प्रकृति के सम्मुख धनजय की आडम्बर-प्रियता एव विषय-लोलुपता और भी अधिक वीभत्स प्रतीत होने लगती है। हिन्दी मे 'कौशिक' के 'मा' उपन्यास मे शभु और उसकी मा सुलोचना को, यदि श्याम और उसको गोद लेने वाली मा सावित्री के साथ रखे, तो प्रथम के गुण और दूसरे के दोष अधिक तीव्रता के साथ पाठक की दृष्टि मे आजाते है।

कभी-कभी गौण पात्रो की अवतारणा प्रधान पात्रो के विरोध स्वरूप न होकर, उनके पूरक रूप मे होती है। 'मृगनयनी' मे लाखी का चरित्र मृगनयनी के चरित्र का पूरक है। मराठी मे वामन मल्हार जोशी ने साम्यविरोध की पार्श्वभूमि द्वारा पात्रो को उठाव देने की कला मे सिद्धहस्तता प्राप्त की थी। इदु को सरला और काशी के तथा विदुमाधव को नारायणराव के परिपार्श्व मे रखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

खल पात्र—जहाँ तक खल पात्रो की कल्पना का सम्बन्ध है, आरम्भ मे अधिकाश उपन्यासकारो ने खल पात्रो का अकन काली कूची से किया। वामनराव जोशी ने प्राचीन ललित-साहित्य मे दिए गए खल पात्रो के सम्बन्ध मे रूढ संकेतो का ही पालन किया है। जिस जगह कथानक-रचना के लिए खल पात्रो की आवश्यकता उन्हे अनुभव हुई है, वही उन्होने उनका निर्माण कर लिया है और बाद मे किसी तरह उनका चित्र पूरा किया गया है। परन्तु कुछ लेखक इन खल पात्रो मे अवगुणो के साथ-साथ मानवीय गुणो का भी समावेश करते थे। 'यशवतराव खरे' मे सत्यभामा बाई दुराग्रही, मूर्ख, हेकड स्त्री के रूप मे चित्रित की गई है, तथापि उसके अन्तर्मन मे मृदुता दिखाकर हरिभाऊ आप्टे ने उसे नितान्त अमानवीय नही होने दिया है। इन उपन्यासकारो ने उनका चित्रण करते समय प्राय: दो उद्देश्य अपने सामने रखे हैं—अन्य पात्रो का परिपोष और काव्यगत-न्याय की पुष्टि। वामनराव जोशी के जनुभाऊ की दुष्टता, कायरता, नैतिक-शिथिलता के विरोध मे आनन्दराव और भय्यासाहब की आदर्शवादिता, सरलता, सच्चरित्रता, उदात्तता आदि गुण चमक उठते है और वह उपन्यास के अन्त मे 'काव्यगत न्याय' के सिद्धान्त की पुष्टि करता है, क्योकि उपन्यासकार अन्त

में उसे जलती हुई आग मे फेका जाता दिखाता है। हिन्दी उपन्यासकारो की रचनाओं मे भी ये दोनो लक्ष्य दृष्टिगत होते है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' मे मिस्टर वर्मा के परिपार्श्व मे रखने से जहाँ निर्मल और मुरारी का चरित्र अधिक उदात्त हो उठता है, वहाँ इस शरीफ-बदमाश की अगति दिखाकर लेखक ने भारतीय कर्मफल-वाद की प्रतिष्ठा भी की है।

नवीन उपन्यासो मे प्रथम तो खल पात्रो की सर्जना ही कम होने लगी है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में नायक या नायिका का सघर्ष किसी अन्य खल पात्र से न होकर, स्वयं अपनी भावनाओ, आदर्शों एव दुष्प्रवृत्तियों से होता है। दूसरे, यदि खल पात्रो की सृष्टि की भी जाती है, तो लेखक की चेष्टा यह सिद्ध करने की होती है कि मानव अपने आप मे न तो पूरी तरह अच्छा है और न पूर्णतः दोषपूर्ण। उसके बुरे होने का अधिकतर दायित्व उन परिस्थितियों पर है, जिनके मध्य वह जन्म लेता, पलता, बडा होता और रहता है। यदि प्रेमचन्द के जमीदार पात्र और 'पाण कळा' का रभाजी पाटील किसानो के साथ नृशसता और कठोरता का व्यवहार करते है, तो इसलिए कि उनकी परम्पराएँ, वशानुगत रीतिनियम, समाज की झूँठी मर्यादा आदि उन्हे ऐसा करने को बाध्य करती हैं। परिस्थितियाँ ही सुमन को सुमनबाई बनाती हैं और उन्ही के अनुकूल होने पर वह सेवासादन की स्थापना करती है। डा० केतकर के 'गावसासू' मे कुसुम कलिकादास यदि अपनी पुत्री के लिए चालाकी और धोखे से आई० सी० एस० वर ढूढती है, तो इसीलिए कि उसमे वात्सल्य-भाव के साथ-साथ ऐसा कर सकने की सामर्थ्य भी है तथा उसे अपनी कार्यसिद्धि के लिए अवसर भी मिलता है। साराश यह कि आज के खल-नायको को न तो पूर्ण दानव ही चित्रित किया जाता है, और न उनके दोषो के लिए केवल उनको ही पूर्णतः उत्तरदायी ठहराया जाता है। आज का लेखक तो मानव त्रुटियो के लिए समाज और परिस्थितियो को उत्तरदायी ठहराकर, उन्हे बदलने का आह्वान करता है।

समाज के विविध वर्गों का परिचय कराने के लिए डा० केतकर ने अपने उपन्यासो मे अनेक पात्रो का निर्माण किया है। वह स्वय लिखते हैं, "नगर के अथवा सदाशिवपेठी लेखक पाठको के सम्मुख महाराष्ट्रीय समाज के अत्यन्त अल्प क्षेत्र के व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत करते है। समाज का अधिक से अधिक व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करने तथा जितने विविध स्वभाव-चित्र पाठको के सम्मुख रखे जा सकते है, उतने रखने की कामना चित्त में धारण करने के परिणामस्वरूप मेरे उपन्यासों मे विविध चित्र चित्रित किये गए हैं।"[1] इस बात मे उनकी तुलना अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स डिकिन्स से की जा सकती है। जिस प्रकार डिकिन्स ने अपने युग के विविध वर्गों के प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किये है, उसी प्रकार डा० केतकर ने बेन-इस्रायील, पारसी, ईसाई आदि विभिन्न समाजो, उच्च, मध्य, निम्न वर्गों और विभिन्न व्यक्तियो के चित्र प्रस्तुत किये है। ऐसे चित्र प्रस्तुत करते समय लेखक के लिए यह सम्भव न था कि वह अपने पात्रो

---

[1] डा० केतकर 'मी व माझे टीकाकार' ज्योत्स्ना, अगस्त १९३६।

के अन्तर मे झाँक सके और उनकी गूढातिगूढ वृत्तियों का दिग्दर्शन करा सके। वह उनके बाह्य कार्य-व्यापार का ही परिचय करा सका है। जो मत कार्लायल ने स्काट के चरित्रो के विषय मे "तुम्हारा स्काट चरित्रो के केवल बाह्यांश को स्पर्श करता है, हृदय को कभी नही पाता।" अथवा बेकर ने जो मत डिकिन्स के पात्रो के सम्बन्ध में व्यक्त किया है, "वह मनुष्य जाति की बाह्य एव प्रत्यक्ष दर्शनीय सनको के नीचे छिपी वृत्तियो को देखने मे असमर्थ है।"[2] वही डा० केतकर के इन पात्रो के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। हिन्दी मे ऐसा कोई उपन्यासकार नही हुआ जिसने अपने उपन्यासो द्वारा समाज के विविध अपरिचित वर्गों के व्यक्तियो का परिचय पाठको को कराने का ध्येय अपने सामने रखा हो। अत हिन्दी के किसी भी उपन्यासकार की कृति मे विविध वर्गों के प्रतिनिधि चित्र एक साथ एक कृति मे प्रस्तुत नही किये गए हैं।

अमर पात्र

'मी' का भावानद—त्याग, परोपकार, सहिष्णुता, साहस, दृढता, मानवीयता आदि मानव-स्वभाव के कुछ ऐसे गुण है, जिनकी ओर दूसरे लोग सहज ही आकृष्ट हो जाते हैं तथा जिनकी अवस्थिति व्यक्ति विशेष को आदर, सम्मान एव श्रद्धा का पात्र बना देती है। परन्तु यदि किसी पात्र मे केवल गुण हो गुण समाविष्ट किये जाएँ और उन गुणो के विकास के लिए उपयुक्त मनोभूमि तथा परिस्थितियो का निर्माण न किया जाय, तो वह पात्र दैवी पात्र कहलाता है और पाठको का विश्वास प्राप्त न कर सकने के कारण परम उदात्त होते हुए भी अमर नही बन पाता। इसके विपरीत, यदि कोई पात्र पाठको के हृदय मे अपने विचारो तथा कृत्यो से सद्कार्य करने की प्रेरणा और महान बनने की स्फूर्ति प्रदान करता है और साथ ही उसकी महानता, गरिमा और उदात्तता सहज विश्वसनीय भी होती है, तो वह पात्र अमर बन जाता है। हरिभाऊ आप्टे के 'मी' का भावानन्द एक ओर अपनी दुर्बलताओ, उत्कट भाव-प्रधानता तथा अन्त सघर्ष के कारण पाठको के हृदय को स्पर्श करता है, तो दूसरी ओर अपने त्याग, बलिदान एव उदात्त विचारो से आदर्श देशभक्त तथा निस्सग समाज-सेवक का चित्र प्रस्तुत करता है—जिस चित्र से न केवल हरिभाऊ-युग के व्यक्तियो ने ही प्रेरणा ग्रहण की, अपितु जो युग-युग तक महाराष्ट्र-समाज को त्याग का पाठ सिखाता रहेगा। इतना उदात्त चरित्र अंकित करते हुए भी लेखक ने उसे अस्वाभाविकता से बचा लिया है।

भाऊ से भावानन्द होना, नर से नारायण होने का निर्देशक है। उसके बचपन की परिस्थितियो को देखकर, यह विश्वास नही होता कि व्यसनी व आवारा पिता तथा झक्की और चिडचिड़ी मा का गाव की पाठशाला मे पढने वाला वह सामान्य बालक आगे चलकर त्याग और बलिदान की जाज्वल्यमान मूर्ति बन सकेगा। गरीबी एव अभाव के वातावरण मे पले इस निरीह बालक को मा-बाप का प्रेम तक नही

---

[1] मिसलैनीज, भाग ६ : 'सर वाल्टर स्काट', पृष्ठ ६९।

[2] ई० ए० बेकर, 'हिस्ट्री आफ दी इंगलिश नाविल' : वोल्यूम ७, पृष्ठ ३२६।

मिलता, क्योंकि अशिक्षा तथा परिस्थितियो ने बीमार मा को चिड़चिडा एव वात्सल्यविहीन बना दिया था तथा पिता आवारा था । इसी कारण वह गाव के अन्य सामान्य बालको के समान हठ करता है, बहन से झगडता है तथा पढने मे जी चुराता है । फिर भी उसमे पिता के सस्कार है, जो पितृगति (हैरेडिटी) के सिद्धान्त को प्रमाणित करते है । पिता की व्यसनाधीनता उसमे अवतरित हुई है और उसकी हठवादिता मूर्तिमान हो उठी है । वह स्वय कहता है, "बचपन मे ही मेरी प्रकृति कुछ अद्भुत थी । जो एक बार करना निश्चय कर लिया, उसे किये बिना मन को सतोष नही मिलता था ।"[1] उसकी यह हठवादिता आगे भी कई प्रसगो—लिफाफे का प्रसग, सुन्दरी को पत्र लिखने का प्रसग आदि मे मिलती है । परन्तु शिवराम पत एव सुन्दरी का सम्पर्क उसकी सस्कारजन्य व्यसनाधीनता को उदात्त परिणति प्रदान करता है । आगे चलकर वह हठ तो करता है, पर देशकार्य अथवा समाज-सुधार के सम्बन्ध मे ।

उसके चरित्र की यह उदात्त परिणति अस्वाभाविक नही है । उसके ऊपर पड़े शिवराम पत के प्रभाव को दिखाने के लिए, भाऊ की उपयुक्त मनोभूमि तैयार की गई है, उसके लिए आवश्यक उपयुक्त परिस्थितियो की योजना की गई है । रावजी की कोठरी मे सुन्दरी व उसकी मा से भाऊ की भेट, उसके मन मे सुन्दरी के प्रति स्नेह व समस्त कुटुम्ब के प्रति श्रद्धामय प्रेम, सुन्दरी को पढते देख व स्वय को पढने मे असमर्थ पा पढने के प्रति रुचि उत्पन्न होना, सुन्दरी की मा से अपनी मा की मन ही मन तुलना करने पर हृदय पर आघात होना आदि परिस्थितियो एव प्रसगो की योजना कर लेखक ने शिवराम पंत द्वारा भाऊ के प्रभावित होने के लिए मानो पूर्व-भूमि निर्माण की है । अत· जब वह शिवराम पत के सानिध्य मे आकर, उदात्त ध्येय अपना लेता है और उसका जीवन सुधर जाता है, तो पाठक को आश्चर्य नही होता, जैसा कि आश्चर्य निम्न पक्तियो मे प्रकट किया गया है, "लडका बहुत सुधर गया है । वह ऐसा सुधर जायगा, यह मुझे कभी विश्वास नही था ।"[2]

भावानन्द का चरित्र स्थिर न होकर विकासशील है और लेखक ने उसका विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है । अत: उसके चरित्र मे जो भी विशेषताएँ दिखाई गई है अथवा परिवर्तन हुआ है, वे आकस्मिक एव अस्वाभाविक नही है । सुन्दरी के प्रति बचपन से ही उसका सौहार्द उसके जीवन मे वरदान सिद्ध होता है, जिसके कारण वह अनेक दोषो से बच जाता है । उदाहरण के लिए, उच्छृखल स्वभाव वाला भाऊ, जब अपनी बहन ताई को चाटा मारता है, तो उसके यह कहते ही "भैय्या ! तू बड़ा अच्छा है, बडा अच्छा है कहकर, जो सुन्दरी हमेशा तेरी प्रशसा करती रहती है, तो क्या तू ऐसा ही अच्छा है ?"[3] वह भविष्य मे बहिन से उपयुक्त व्यवहार करने लगता है । सुन्दरी के मन मे अपने प्रति प्रेमभाव जगाने की

---

[1] हरिभाऊ आप्टे 'मी', पृष्ठ १३ ।

[2] वही, पृष्ठ ८४ ।

[3] वही, पृष्ठ १०६ ।

चेष्टा मे ही वह पढने मे ध्यान लगाता है, गुरुजनो की आज्ञा मानने लगता है तथा स्त्रियो के साथ आदरपूर्ण व्यवहार करने लगता है । आगे चलकर यह घनिष्ठता तारुण्य के प्रेम मे परिवर्तित हो जाती है और वह उसके शारीरिक सौन्दर्य एव यौवन पर भी आकृष्ट होता है । शिवराम पत द्वारा सुन्दरी से विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए वह स्पष्ट कहता है कि सुन्दरी के साथ परिणय उस के जीवन का सबसे सुनहरा स्वप्न था, "जो बात आज आपने मुझसे पूछी है, वह मुझे कितनी प्रिय है, वह मेरे जीवन मे घटित हो, यह मेरे जीवन की कितनी बडी आकाक्षा थी ।"[1] इसीलिए, चाहे कुछ क्षणो के लिए ही क्यो न हो, विवाह के प्रश्न को लेकर उसके हृदय मे विरोधी भावो की जो आधी चलती है, वह उसके चरित्र को अत्यन्त स्वाभाविक एव हृदयग्राही बना देती है । एक ओर सुन्दरी का प्रेम और दूसरी ओर शिवराम पत के प्रति आदर तथा प्रतिज्ञा, उसे दुविधा मे डाल देते है ।

उत्कट भावुकता उसके चरित्र का एक मुख्य सूत्र है, जो प्रारम्भ से अत तक बना रहता है । यह भावुकता प्रारम्भ मे बहिन के प्रति स्नेह, तदनन्तर सुन्दरी के प्रति प्रेम और अन्त मे देशप्रेम मे दिखाई पडती है । बहिन के विवाह का समाचार सुनकर अथवा विनायक के यह कहने पर कि उसका और सुन्दरी का विवाह होने वाला है, उसका बीमार हो जाना, उसकी इसी भावुकता का प्रमाण है । यही भावोत्कटता उसे समय-समय पर उतावला बना देती है । पति के रुग्ण होने का समाचार सुनकर जब उसकी पति द्वारा तिरस्कृत बहिन ससुराल चली जाती है, तो उसे बडा क्रोध आता है और उसी क्रोधावेश मे वह बहिन को उल्टा-सीधा पत्र लिख डालता है, पर तुरन्त ही उसे उसके लिए पश्चाताप भी होता है । यह सब उसके उतावलेपन का द्योतक है । अपनी इस त्रुटि को वह स्वय जानता है, "बचपन से ही मेरे विकार बहुत प्रबल रहे है । किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे राग, द्वेष, लोभ, प्रेम, उत्सुकता इत्यादि भाव उत्पन्न होने पर मैं उन विकारो के अधीन हो जाता हूँ ।"[2] इस प्रकार लेखक ने भावानन्द के चरित्र मे मिलने वाली त्रुटियो की ओर सकेत किया है, पर इनके कारण उसका चरित्र गिरने के स्थान पर और अधिक आकर्षक एव स्वाभाविकता के कारण विश्वसनीय बन गया है । प्रारभिक जीवन के ये दोष विरोध के कारण उसके चरित्र की उदारता को और अधिक चमका देते हैं ।

उसके चरित्र मे गुण और दोष दोनो का सम्मिश्रण उसे अधिक मानवी बना देता है । गुणो मे से कुछ तो ऐसे है, जो तात्कालिक परिस्थितियो मे चेतनाशून्य, अर्धसुप्त जनता को उद्बुद्ध करने के लिए प्रतिष्ठित किये गए है और कुछ ऐसे है, जिनका सम्बन्ध मानव के चिरन्तन आत्म-सौन्दर्य से है । स्त्रियो के प्रति उदारता, उन को बधन-मुक्त करने एव शिक्षित बनाने की आतुरता, सुशिक्षित स्त्रियो मे से कुछ को घर-घर भेजकर स्त्री-समाज मे सिलाई, बुनाई तथा शिक्षा का प्रसार करने की

---

[1] हरिभाऊ आप्टे 'माँ', पृष्ठ ३७५ ।

[2] वही, पृष्ठ ६० ।

भाऊ की योजना, तत्कालीन स्त्री-समाज को उद्बुद्ध करने के लिए ही उपस्थित की गई है। देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के प्रति भी, जो उसका दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह भी तत्कालीन स्थिति को ध्यान मे रखकर किया गया है। वह कहता है, ''हम राजनीतिक तथा सामाजिक दोनो दृष्टियो से परतत्र हैं। राजनीति के क्षेत्र मे ब्रिटिश अधिकारियो के अधीन है, तो सामाजिक कार्यो मे बहुजन-समाज के—अधिकारी वर्ग अपने अधिकार जनता को देने के अनिच्छुक है और दूसरी ओर बहुजनसमाज परम्परागत समाज व्यवस्था मे परिवर्तन का विरोधी है। ये दोनो बाते दूर होनी चाहिये। पर वे कैसे हो ?''[1] तत्कालीन जनता को मार्ग दिखाते हुए वह कहता है, "पेट भरने मात्र को मिल जाने पर, हमे जन्मभूमि के उद्धार के लिए शेष समय लगा देना चाहिये—मनुष्यो को अपने अधिकार, अपने कर्त्तव्य व अपनी शक्ति समझनी चाहिये। राजा व अधिकारी जनता के सुख के लिए होते हैं, जनता उनके सुख के लिए नही होती। इसी प्रकार रीतिरिवाज, समाज के लिए होते हैं, न कि समाज रीतिरिवाज के लिए।"[2] इस प्रकार के ज्ञानोपदेश भाऊ के माध्यम मे दिलाकर लेखक ने तत्कालीन समाज को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। यदि भाऊ मे केवल यही गुण होते, तो वह सजीव पात्र होते हुए भी कदाचित् अमर पात्र नही बन पाता, पर लेखक ने सतर्कतापूर्वक उसमे ऐसे गुणो की भी प्रतिष्ठा की है जो चिरन्तन, स्थायी एवं शाश्वत है तथा जिनका सम्बन्ध मूल मानवात्मा से है।

बहिन का प्रेम, सत्यनिष्ठा, विचारशीलता, दृढ इच्छाशक्ति, ज्ञानलालसा, देशप्रेम, लोकहित, अविरत अध्यवसाय एव उद्योगशीलता, त्याग और बलिदान, धैर्य और साहस, समन्वय-वृत्ति आदि गुण उसे आत्मा का चिर सौन्दर्य प्रदान करते हैं, जिनके कारण वह एक युग का न होकर, युग-युग का बन गया है। रामानन्द के प्रति उसके वचन "पूर्ण विश्राम ! रामानन्द ! यह ससार विश्राम के लिए नही है। विश्राम के लिए परलोक बहुत लम्बा-चौडा है।"[3] यदि युग-युग तक गूंजते रहेंगे, तो "साम आफ लाइफ" की पक्तियाँ गुनगुनाते हुए मृत्यु को आलिंगन करने का दृश्य हृदय-पटल पर अमिट छाप छोड जायगा। भावानन्द के चरित्र की इसी प्रभावशीलता को देखकर गो० वि० तुळपुळे ने कहा था, "एकमात्र भावानन्द का ही विचार किया जाय, तो भी प्रस्तुत उपन्यास बहुत उदात्त, विचार-प्रवर्त्तक व मनोरजक सिद्ध होगा।"[4]

''पण लक्षांत कोण घेतो'' की यमू—हरिभाऊ के 'पण लक्षात' के उपोद्घात को पढकर, पाठक को यह विश्वास होता है कि उसकी लोकप्रियता का कारण विधवाओ की करुण दशा का सजीव चित्रण है। परन्तु उसकी लोकप्रियता का वास्तविक कारण उसके चरित्र-चित्रण मे सन्निहित है। यमुना, शकर मामजी आदि के चरित्र

---

१. हरिभाऊ आप्टे 'मी', पृष्ठ ३७५-५८।

२. वही , पृष्ठ ३५३।

३. वही पृष्ठ ४०३।

४. गो० वि० तुलेपुले 'हरिभाऊची मी', पृष्ठ ४१।

इतने सजीव और प्रभावशाली है कि पाठक की स्मृति मे वे चिरकाल तक बने रहते है और उन्ही की सजीव चित्ररेखा उसमे प्रतिपादित समस्या को भी ज्वलत एव स्पष्ट आकार प्रदान करती है।

यमू की जीवन-गाथा को पढकर ऐसा लगता है, जैसे हरिनारायण आप्टे ने उस जीवन का अति निकट से साक्षात्कार किया था। उसके बचपन, सुखमय-यौवन के कुछ वर्ष और आपदाओ के क्षणो मे सर्वत्र लेखक की प्रतिभा उसके साथ रही है। इसीलिए कहा गया है, "पण लक्षात कोण घेतो' उपन्यास की सफलता का रहस्य है, लेखक का यमू के व्यक्तित्व से तादात्म्य।"[1] यमुना के माध्यम से लेखक ने अपने युग की स्त्री का, बाल्यावस्था से लेकर प्रौढावस्था तक का जीवन अत्यन्त ओजस्वी एव स्फूर्तिदायक भाषा मे अंकित किया है।

बचपन का नटखटपन, हसना, बोलना, कल्लोल करना, गुडियो से खेलना, दादा से झगडना और फिर मनाना, निर्व्याज प्रेम, मातृ-भक्ति और पिता का आतक, खाने के प्रति विशेष रुचि—इन सब बातो के चित्रण द्वारा यदि यमू एक सजीव, सप्राण बालिका के रूप मे पाठक के मन चक्षुओ से सम्मुख खडी हो जाती है, तो उसे ससुराल के प्रत्येक व्यक्ति से भयभीत होते, गर्दन उठाकर देखने मे भी संकोच करते, सास-ननद से गाली खाते और रोते, पति से मिलने मे भी आतकित होते देख हमारे नेत्रो के सम्मुख १९००-१९१० ई० के समय की दीन-हीन हिन्दू नारी खडी हो जाती है। पति के साथ कुछ दिन बम्बई मे सुखमय जीवन बिताते हुए, उसके स्वभाव मे हर्ष और उल्लास के चिह्न स्पष्ट दिखाई पडते है, परन्तु यह सुख क्षणिक सिद्ध होता है। पति की शीघ्र ही मृत्यु होने पर, जो कष्ट, प्रतारणा, क्लेश एव उत्पीडन उसे सहना पडता है, उसे पढ हृदय थर्रा जाता है। साराश यह है कि लेखक ने यमू के द्वारा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे, जो हिन्दू नारी की दयनीय स्थिति थी, उसका सजीव प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किया है।

एक अन्य कारण, जिससे वह मराठी उपन्यास की अमर नायिका बनी हुई है, यह है कि वह मराठी मे गतिशील पात्रो का प्रथम उदाहरण है। बचपन की कातरता और नटखटपन, बडे होकर शालीनता और अह-शून्यता मे परिणत हो जाते है। भोली-भाली बालिका से वह नम्र स्वभाववाली वधू और तदुपरान्त कोमल, पर साथ ही धैर्यशाली पत्नी बनती है। सुख मे उसका जीव उल्लसित होता है और असह्य आपत्तियो को धैर्य से सहन करने का प्रयत्न करते-करते कुठित हो जाता है। यह मन परिवर्तन और मनोविकास बडी सूक्ष्मता से प्रभावशाली भाषा मे चित्रित किया गया है। उसके इस विकास को पढकर ऐसा लगता है, जैसे हम स्वय उसे जीवन-मार्ग पर शनै. शनै. अग्रसर होते देख रहे है। उसका सम्पूर्ण जीवन-पट इतनी कुशलता से चित्रित किया गया है कि उसके व्यक्तित्व के माध्यम से उसके अन्य सबधियो की मूर्ति भी स्पष्ट रूप मे हमारे सम्मुख खड़ी हो जाती है और तत्कालीन समाज

---

[1] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' : प्रथम भाग, पृष्ठ ९।

का निकट परिचय प्रस्तुत कर देती है। तत्कालीन समाज मे स्त्री की दीन-हीन स्थिति का प्रतिनिधित्व करने के साथ-साथ वह अपनी विशिष्ट मनोरचना एव गुणो के कारण पाठको की स्मृति मे चिरकाल तक बनी रहती है।

'पण लक्षांत कोण घेतो' के शकर मामंजी—हरिभाऊ ने प्राचीन परिवारो में विधवा-स्त्री को कष्ट देने वाले, दुराग्रही, स्वार्थी व क्षुद्र मनोभाव वाले पुरुषो के प्रतिनिधि रूप मे शकर मामजी की अवतारणा की है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए यह व्यक्ति कुछ भी करने को सदा प्रस्तुत रहता है और लक्ष्यपूर्ति के लिये यदि असत्य, दाम्भिकता और नीचता का भी आश्रय लेना पडे और स्वाभिमान को ताक पर रखना पडे, तो वैसा करने मे भी उसे सकोच नही होता। तिलक-छापे लगाकर सनातनी बनने का ढोंग करने वाला, नाली के मोटे पाइप अथवा गधी की दूकान पर गप्प मारने वाला, यह धर्म-मार्तंड वेश्या से सबध रखता है तथा साथ ही 'मुफ्त मे मिलने पर चाहे जितने प्याले' पीने की सामर्थ्य भी रखता है। अपने वेतन मे से घर खर्च के लिए एक पैसा भी न देने वाला, यह व्यक्ति पुरखो की सम्पत्ति पर दात लगाए रहता है। पत्नी को स्वय ही नही मारता, अपितु पुत्र को भी उसे गाली देने के लिए प्रोत्साहित करता है। परन्तु मतलब पडने पर उसकी खुशामद करने को भी तैयार हो जाता है। पीहर से पत्नी के पास पैसे आने की बात सुनते ही वह कहते है, 'गुस्से मे कभी-कभी मनुष्य के मुख से उल्टी-सीधी बाते निकल जाती है, उसका क्या बुरा मानना चाहिये ? उस घोडे (पुत्र का नाम) को तेरे सामने, यदि तू कहे, तो अभी ठोकू, उसका कचूमर निकाल दू।" प्रात काल निरपराध बीमार पत्नी को लात मारने वाला यह निर्लज्ज व्यक्ति रुपये के लालच मे शाम को स्वय उसके लिए काढा बनाता है। भाजे को अट-संट, वाहियात लिखने के बाद भी कि उसके घर मे पैर न रखेगा, उसका आतिथ्य पाने के लिए, उसके घर दोनो बच्चो को लेकर पहुच जाने मे, उसे कोई सकोच या विसगति प्रतीत नही होती। कभी उसके अनावश्यक धर्माडम्बर, स्नान, सध्या, भस्म, तिलक, छापे, जपजाप को देखकर हसी आती है, तो कभी पत्नी व यमू के प्रति छल और दुर्व्यवहार व व्यसनासक्ति देखकर चिढ होती है। अपनी माता तक से धन के लिए कपट करने और अपशब्द कहने मे उसे सकोच नही होता।

खलत्व और विदूषकत्व का सम्मिश्रण, यह पात्र मराठी-उपन्यास का एक अमर चरित्र है, क्योकि एक तो यह हरिभाऊ-काल के कतिपय पुरुषो के जीवन मे पाई जाने वाली दुष्टता का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है, दूसरे, उसका चित्रण करते समय लेखक ने यह ध्यान रखा है कि यह खल पात्र होते हुए भी किसी दूसरे लोक का प्राणी न बन जाय, जैसा कि अधिकाश खलनायक हुआ करते थे। शकर मामजी मे, जो भी दुर्बलताएँ या दुर्गुण चित्रित किये गए है, वे इसी ससार के है। उसे नितान्त आसुरी या अमानवीय नही बनाया गया है। तीसरे, छोटे-छोटे प्रसगो एव सूचक सकेतो के द्वारा चारित्राकन करने के कारण उसकी रेखा बडी सजीव एव आकर्षक बन पडी है।

'उष काल' का सावळया—भारतीय उपन्यास-साहित्य मे वयस्क स्त्री-पुरुषो के सजीव आकर्षक चित्र तो अनेक मिलते है, पर अल्पवय कुमारो के बहुत कम। सावळ्या उन थोडे से चचल, प्रतिभासम्पन्न तथा चतुर बाल-चित्रो मे से है, जो अपने कर्तृत्व एव साहस के कारण अमर हो गए हैं। आरभ से ही जिन गुणो की अवतारणा उसमे की गई है, वे अन्त तक उसमे अधिष्ठित किये गए है। कभी-कभी उपन्यासकार प्रारभ मे, जिन गुणो का किसी पात्र मे उल्लेख करते हैं, उन्हे थोडे समय बाद भूल जाते हैं और पाठक के मन पर पात्र के उन गुणो की कोई अमिट छाप नही पडती। फलस्वरूप वह पात्र-रेखा बडी फीकी व अस्थायी प्रभाव वाली रह जाती है, परन्तु हरिभाऊ इस दोष से मुक्त है।

'उष काल' के आरम्भ से ही, जब आवजी पटेल सावळया को अपने साथ किले पर ले जाते है, उसकी चतुराई, कुशाग्र-बुद्धि, चंचलता, साहस, शौर्य, निर्भयता आदि की प्रतीति पाठक को हो जाती है और वह अत तक बनी रहती है। सुभान और पटेल के बीच किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वार्तालाप होते समय, वह ऐसी मुद्रा धारण कर लेता है कि किसी को सन्देह तक नही होता कि वह उनकी बाते सुन रहा होगा। परन्तु शीघ्र ही पता लग जाता है कि जिसे वह निरा भोला बच्चा समझे हुए थे, वह अपनी वय से अधिक चतुर और सावधान है। इस प्रकार प्रारभ मे दिखाया गया यह गुण अत तक उसके चरित्र मे कायम रखा गया है और उसका सकेत बीच-बीच मे कई स्थानो पर दिया गया है। जिस किसी भी प्रकरण मे पाठक को सावळया मिलता है, वही उसके चातुर्य, साहस और कौशल को देखकर आवजी पटेल के उसके विषय मे प्रारभ मे ही कहे गए शब्द 'अवलाद कारटे' अर्थात् 'दुष्ट छोकरा' याद आजाते है। उसके कार्य ही नही, अपितु मुखमुद्रा, शरीर-भगिमा, भाषा, चालढाल, सभी बाते आवजी पटेल के मत का शत-प्रतिशत समर्थन करती है।

देशमुख-वाडे मे सूर्याजी की पत्नी को छुडाने, अहमद को बुर्का पहनाकर उसकी विडम्बना करने, शिवाजी को अपना मामा बताकर उनके गुप्त रहने की व्यवस्था करने आदि सभी प्रसगो से उसकी चतुरता प्रकट होती है। अपनी इसी चतुराई, धूर्तता, साहस, शौर्य और विवेक के कारण वह पाठको की स्मृति मे अमर बन जाता है। इस पात्र मे यदि कोई दोष है, तो यही कि कही-कही उसकी वय को देखते हुए उसका कर्तृत्व, शौर्य एव विवेक अस्वाभाविक और असभव से प्रतीत होते है।

'रागिणी' की रागिणी व उत्तरा—वामन मल्हार जोशी के काल से कुछ समय पूर्व ही नेताओ के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप महाराष्ट्रीय मध्य-वर्ग मे 'आधुनिक स्त्री' का आविर्भाव हो चुका था, परन्तु उसको साहित्य मे अवतरित करने की चेष्टा उस समय तक भी नही हो पाई थी। इस स्त्री के विचार अपरिपक्व थे। उसमे उत्साह और आवेश था, विलक्षण चैतन्य और स्वसामर्थ्य की कल्पना भी थी, पर अपने कर्त्तव्य-ज्ञान से अधिक अधिकार-प्राप्ति का चाव था। यह सब होते हुए भी उसे अपने जीवन-लक्ष्य और कार्य के सम्बन्ध मे निश्चित कल्पना न थी, विवेक न था,

आवेश होते हुए भी चारो ओर की परिस्थिति का यथार्थ परिज्ञान न था। वामनराव ने इस स्त्री को देखा, उससे सबंधित प्रश्नों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और इन सबका चित्रण ललित-कथा के माध्यम से करने का प्रतिफल 'रागिणी' के रूप मे उपस्थित हुआ। उन्होने यह दिखाने की चेष्टा की कि सुशिक्षित होते हुए भी महाराष्ट्रीय स्त्री उच्चतम पावित्र्य, उच्चकोटि के धैर्य, शील और सौजन्य की प्रतिमूर्ति होती है। यद्यपि सामान्य सुख-लालसा और लोकनिन्दा का भय जैसी मानवी दुर्बलताएँ भी उसमे होती हैं, तथापि अपने शांत-मधुर स्वभाव, कोमल, लज्जाशील, विनययुक्त व्यवहार, पर दुख-कातरता, सेवा-भाव, अद्‍भुत पतिनिष्ठा, निस्वार्थ-भावना, अविचल दृढता, सहिष्णुता आदि सद्‍गुणो द्वारा वह आर्य नारी का आदर्श अभी भी प्रस्तुत करती है। रागिणी की स्वभाव-रेखा इसी आदर्श पर कल्पित की गई है। इसीलिए भैयासाहब को उसकी संगति 'गगा सरीखी, साधु-सगति सरीखी, कवि-सगति सरीखी पावन' प्रतीत होती है।

लेखक का कौशल इस मे है कि उसने रागिणी को आर्य पतिव्रता चित्रित करके भी निर्जीव, ढुलमुल, रीढ़रहित नही बनने दिया है। पुर्नविवाह के प्रस्ताव पर न तो वह भड़कती ही है और न प्रस्तावकर्त्ता को गाली ही देती है, अपितु शान्तिपूर्वक उस पर विचार करती है। उसकी पतिनिष्ठा परम्परागत रुढिनिष्ठ चित्रित न कर, उसे विवेकसम्मत बताया गया है। इन्ही सब बातो के कारण उसका चरित्र मर्मस्पर्शी, सुन्दर एवं अमर बन गया है।

इसके विपरीत उत्तरा की कल्पना कुछ भिन्न मनोवृत्ति वाली सुशिक्षित स्त्री के रूप में की गई है। पुरुषों के अत्याचारो के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करने वाली उत्तरा वाद-विवाद मे अत्यन्त कुशल है और सदा पुरुषो की निंदा और स्त्री के अधिकारो का समर्थन करती है। अंग्रेजी पढ़ी-लिखी यह युवती अत्यन्त बुद्धिमती और तर्कनिपुण है। विवाह के सम्बन्ध मे उसके विचार अत्यन्त क्रान्तिकारी है। वह तत्कालीन विवाह-पद्धति की निन्दा करते हुए, उसकी तुलना कुत्ता-कुतिया के विवाह से कर डालती है। उसमे सकोच तिल-मात्र नही। पुरुषो के अधीन रहने को घृणास्पद समझती है और पुरुषो के बराबर अधिकार की समर्थक है। धैर्य और सहिष्णुता उससे कोसो दूर है। वाद-विवाद करते-करते शीघ्र उत्तेजित हो जाना और उत्तेजना के क्षणो मे मर्यादा का उल्लंघन कर अशोभन बातें कह डालना, उसके लिए साधारण बात है। द्वेष और क्रोध भी उसके चरित्र को दुर्बल बनाते हैं। रागिणी जैसी अन्तरग सखी भी उनसे नही बच पाती। यह नही कि उसे अपनी इन त्रुटियों और अभावो का ज्ञान न हो। वह स्वयं एक स्थान पर कहती है, "मैं बहुत मानिनी, लड़ाकू और उच्छ्ंखल हूँ।"[1] दूसरो ने तो उसे 'वाचाल', 'झगड़ालू', 'कर्कशा' और 'तर्कप्रिय सफ्रेजेट' कहा ही है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने उसमे अवगुणो की ही अवतारणा की है, परन्तु वस्तुस्थिति यह नही है। बाद मे तो उसका स्वभाव बिल्कुल

---

[1] वामन मल्हार जोशी, 'रागिणी', पृष्ठ २४३।

ही बदल गया है, पर प्रारभ मे भी वह प्रेमपूर्ण, कोमल स्वभाव वाली एव सात्विक प्रकृति की स्त्री है, जैसा कि उसके माता-पिता के प्रति प्रेम और सत्यनिष्ठा से प्रकट होता है। इन्ही गुणो को देखते हुए दा० न० शिखरे ने उसे "मन से सरल और हृदय से प्रेमळ' कहा है। इस प्रकार वामनराव ने उत्तरा के रूप मे एक प्रगतिशील, तर्कशील, वाचाल युवती का चित्र प्रस्तुत किया है, जो उपन्यास के लगभग अत तक बडा सुसगत बन पडा है। उपन्यास के अत मे जाकर लेखक ने इस स्वभाव-रेखा मे अप्रत्याशित परिवर्तन उपस्थित कर, उसे कुछ विकृत बना डाला है। यह ठीक है कि इस परिवर्तन के बीज उसके उस प्रेमपूर्ण स्वभाव मे हैं, जिसकी झांकी आरम्भ मे ही हमे माता-पिता के प्रति प्रेम और भक्ति मे मिल जाती है। परन्तु आगे चलकर 'पुरुषो के आगे स्त्रिया भला क्या कहे', 'नम्रता से प्रश्न करना चाहिये और सेवा करते रहना चाहिये' अथवा 'ऐसे प्रश्नो पर बहस करने से आजकल घृणा होने लगी है' आदि मत प्रकट करने जितनी नम्रता दिखाकर, लेखक ने उसके चरित्र को अत्यधिक निर्बल बना दिया है। उसमे साहस, उद्दडता, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान आदि की इतनी कमी दिखाई गई है कि यह विश्वास नही होता कि यह वह उत्तरा है जिसके दर्शन पुस्तक के आरम्भ मे हुए थे।

रागिणी और उत्तरा के जीवन-चित्र द्वारा लेखक ने यह बताने की चेष्टा की है कि पाश्चात्य शिक्षण का प्रभाव भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति वाली युवतियो पर किस प्रकार भिन्न-भिन्न होता था। इन दोनो की मित्रता के चित्रण द्वारा उन्होने महाराष्ट्रीय स्त्री-जीवन के एक नवीन पक्ष का भी दिग्दर्शन कराया है तथा बताया है कि स्त्रियो के पारस्परिक सबध उनके समय मे कैसे बदल गए थे, अब उनकी मित्रता बचपन के गुड्डा-गुडियो के खेल तक ही सीमित न रहकर, अधिक समय तक टिकने वाली हो गई थी। लेखक की प्रतिभा का निदर्शन इस तथ्य से भी मिलता है कि उन्होने इन दो अग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त तरुणियो को अमहाराष्ट्रीय नही होने दिया है, जैसा कि कुछ अन्य लेखको ने किया है। अग्रेजी उपन्यासो से परिचित होते हुए भी, वे प्रेम पर सैद्धान्तिक वाद-विवाद नही करती और न अग्रेज़ी पुस्तको के उद्धरणो की तोतारटन्त ही प्रस्तुत करती है। उनके सभाषणो मे स्वाभाविक, कोमल एव वास्तविक मराठी सहृदयता के दर्शन होते है। इन्ही विशेषताओ के कारण ये दोनो चरित्र उस समय अत्यन्त प्रसिद्ध हुए और आज भी उनका उल्लेख यदा-कदा होता ही रहता है। उनकी लोकप्रियता के सबध मे कुसुमावती का मत देखिए, "एक पीढी पूर्व जिस प्रकार घर-घर मे 'पण लक्षात कोण घेतो' के यमू व शकर मामजी के नाम लोगो की जबान पर स्थिर हो गए थे, उसी प्रकार १९२० ई० के लगभग अनेक सुशिक्षितो के घरो मे उत्तरा-रागिणी के दृष्टान्त दिए जाते हैं।"[२]

शभुराव जोग—प्राचीन धर्म-रूढियो के पृष्ठपोषक एव पुरातन सस्कृति के

---

[१] वा० म० जोशी, 'रागिणी' : हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ७७१।

[२] कुसुमावती देशपाडे, 'मराठी कादम्बरी' : प्रथम भाग, पृष्ठ १५०।

उपासक व्यक्ति ससार मे सदा रहे है और भविष्य मे भी सदा रहेगे, क्योकि प्रत्येक युग वर्तमान से असतोष होने के कारण विगतकाल को स्वर्ण-युग कहता है । ये व्यक्ति 'पुराणमित्येव साधु सर्वम्' के अनुयायी होते है । प्राचीन सस्कृति का अभिमान, धार्मिक कर्मकाण्डो का विधिवत पालन, धर्म मे अपार निष्ठा उन्हे वज्रादपि कठोर बनाती है, तो उस कठोरता के पीछे कोमल भावनाओ का निर्झर भी छिपा रहता है, जो अवसर मिलते ही फूट पडता है और उनके 'कुसुमादपि मृदु' अत.करण की झाँकी प्रस्तुत करता है । अतः ये व्यक्ति सदा ही आकर्षक एव प्रभावशाली होते हैं । फडके के 'अटकेपार' के शभुराव जोग ऐसे ही व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व करने के कारण मराठी-उपन्यास के अमर पात्र बन गए हैं ।

अपनी धर्म-निष्ठा के लिए वह बड़े से बडा त्याग कर सकते है । धार्मिक परम्पराओ की लक्ष्मण-रेखा को पार करने वाला व्यक्ति उनके क्रोध, तिरस्कार तथा घृणा-भाव का शिकार बनता है । सुधीर के काका उनके भाई होते हुए भी उनके लिए त्याज्य हो गए है, क्योकि उन्होने मुसलमान लड़की को अपने यहाँ आश्रय दिया है तथा खानपान के बन्धनो का भी वे पालन नही करते । पुत्र के स्खलन को भी वे क्षमा नही करते । मुसलमान के घर मे रहना, उनकी दृष्टि मे अक्षम्य अपराध है, चाहे वहाँ रहते समय कितने ही नियमो एव रूढियो का पालन क्यो न किया गया हो । इसीलिए सुधीर के मुसलमान-घर मे रहने की कल्पना-मात्र उनकी क्रोधाग्नि को प्रज्वलित कर देती है । "मुसलमानो के घर मे रहते हुए भी मैंने यथाशक्ति उचित नियम-बधनो का पालन किया था, पर मैं वहाँ चार दिन रहा, इस कल्पना-मात्र ने दादा का क्रोध भड़का दिया·· ।"[1]

परम्परागत मूल्यो के प्रति महान श्रद्धा एव प्राचीन रूढियो का परिपालन उनके जीवन का मुख्य सूत्र बन गया था । इसीलिए उन अंधरूढियो एव अधी अभिजात्य-भावना की वेदी पर उन्होने अपनी पुत्री का विवाह एक शराबी से करके उसका बलिदान कर दिया । पुत्र का आग्रह, पुत्री का निरीह भोला स्वभाव, और उसके भविष्य की मगल-कामना भी उन्हे उस अविवेक के पथ पर अग्रसर होने से न रोक सकी, क्योकि विवाह के सम्बन्ध मे उनकी कल्पनाएँ अत्यत रूढ थी । वे मुक्त-प्रेम की कल्पना-मात्र से घृणा करते थे "इधर की ओर के प्रेम के इस मतवालेपन से मुझे घृणा हो गई है ।"[2]

धर्म और धर्म-पालन उनके जीवन मे व्यसन हो गया था । सब ओर से उदासीन हो, वह धार्मिक कृत्यो मे ही सलग्न रहते थे । धार्मिक वाद-विवाद, यज्ञादि धार्मिक कृत्यो के लिए अथक परिश्रम, धार्मिक नियमो का विधिवत पालन ही उनकी जीवन-चर्या के प्रमुख अग हो गए थे । कौटुम्बिक आपत्ति अथवा अन्य किसी भी प्रकार की अडचन उसमे व्याघात नही डाल सकती थी । इसीलिए पत्नी की रुग्णावस्था मे

---

[1] ना० सी० फडके, 'अटकेपार', पृष्ठ २३४ ।

[2] वही , पृष्ठ ४४ ।

भी उनकी स्नान-सध्या, जपजाप, वेदनान्तचर्चा, आदि कार्यक्रम सुसूत्र अखड रूप से चलता रहा, उसमे कोई व्यतिक्रम नही उपस्थित हुआ ।

धर्म के कठोर नियमो का पालन करते-करते उनका हृदय भी कठोर बन गया था । घर मे पत्नी बीमार है, यह जानते हुए भी, उन्होने कभी उसके स्वास्थ्य के विषय मे पूछताछ नही की, उसकी शैय्या के पास उन्हे सान्त्वना देने दो पल भी नही बैठे क्योकि उनका धर्म उन्हे चेतावनी देता रहा था "मोह से मन विचलित होता है । ब्रह्म पर से निष्ठा हटा, मोह के वशीभूत करने वाले प्रसगो को यथाशक्ति टालना चाहिये ।"[1] परमार्थ की भ्रामक कल्पना ने उनके हृदय की समस्त कोमलता एव भावुकता को सोख लिया था । इसी कारण सगी पुत्री के सख्त बीमार होने पर भी, उसे देखने जाने की बजाय वह बापट शास्त्री के यज्ञ के लिए चदा एकत्र करने की चिंता करते रहे, "मेरे जाने से नियति थोडे ही टल जायगी" उनकी यह कठोरता साधारण मनुष्यो के सम्बन्ध मे भले ही अस्वाभाविक प्रतीत हो, पर उन जैसे अध-श्रद्धालु व्यक्तियो के लिए अस्वाभाविक नही, क्योकि धार्मिक विश्वासो एव रूढियो के सम्मुख व्यक्ति का सुख-दुख उनकी दृष्टि मे नगण्य था । इसी भावना से अनुप्रेरित हो वह पति-परित्यक्ता अपनी पुत्री 'माई' को पतिगृह लौट जाने की सम्मति देते है । उनकी दृष्टि मे ऐहिक सुख से परलोक का सुख अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह रूढियो के पालन से ही प्राप्त हो सकता है । इसीलिए पुत्र का विरोध करते हुए वह कहते है, "तुम उसके ऐहिक सुखमात्र का विचार करते हो । क्या तुम्हे विश्वास है कि ऐसा कराके (पति त्यागकर) तुम उसे पारलौकिक सुख प्राप्त करा सकोगे ? पति कैसा भी हो, पतिगृह त्यागना सती का धर्म नही ।"[2]

उनकी इसी कट्टरता तथा धर्मनिष्ठा के कारण उनका बाह्य आचरण अत्यन्त रुक्ष एव कठोर हो गया था, जिसके कारण अधिकाश को ऐसा प्रतीत होता था कि "उनकी भावुकता एव जीवन के सारे नैसर्गिक स्रोत सूख गए है और उन्होने धर्म, सस्कृति का आडम्बर रच रखा है ।"[3] पर वस्तुत ऐसा नही था ।

उनके कठोर आचरण एव रुक्ष स्वभाव के नीचे नीचे कोमलता, प्रेम, स्नेह व माधुर्य की सरस्वती बहती रहती थी । इसके निदर्शक ये दो प्रसग है । पत्नी की रुग्णावस्था के समय वे उदासीन अवश्य दिखाई देते थे, पर उस उदासीनता का कारण उनके स्वभाव की रुक्षता या हृदय की कठोरता इतनी नही थी, जितनी निष्ठा । "कही माया-ममता की धारा के बह निकलने से निष्ठा का बाध न टूट जाय, कदाचित् इसीलिए दादा मा से दूर-दूर रहे ।"[4] पर पत्नी के अच्छा होने का समाचार मिलते ही उनके नेत्रो से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है । इसी प्रकार अपनी पुत्री 'माई' के

---

१. ना० सी० फड़के, 'अटकेपार', पृष्ठ ३२
२. वही, पृष्ठ २६६-६७ ।
३ वही, पृष्ठ १३५ ।
४. वही, पृष्ठ ३३ ।

फुटपाथ पर चलते-चलते दो-ढाई मील का चक्कर लगाकर, गरीबो की स्थिति का अध्ययन कर आते हैं। दीन-हीन व्यक्तियो की बस्तियो के अवलोकन मे उनके लिए सिनेमा से अधिक आकर्षण है, क्योंकि उनके हृदय के रागात्मक-सूत्र इन्ही शोषित, दुखी प्राणियो के हृदय से जुडे हुए है। जहाँ कही गरीबो और निराश्रितो को देखते है, वही उनके लिए सेवा का क्षेत्र प्रसारित हो जाता है और वे उनके उद्धार-कार्य मे जुट जाते हैं। उनका करुणा-प्लावित हृदय किसी को दुखी नही देख सकता। कारागृह मे वह अपना भोजन दूसरे बन्दियो को दे देते है और स्वयं भूखा रहे आते हैं। कृषकों और मज़दूरो को अपना सम्बन्धी समझते है और उनके जीवन से समरस हो जाते है। इसी को लक्ष्यकर विद्याधर कहता है, "दूसरो के जीवन से शीघ्र समरस होने की कला प्राप्त हुए बिना यह बचपन बडो मे नही आ सकता।"[1]

देश को परतन्त्रता की बेडियो से मुक्त कराने की उनकी लगन बड़ी उत्कट है। उसके लिए अपने जीवन का सुख-चैन तो वह बलिदान कर ही देते हैं, दूसरो को भी वैसा करने के लिए विभिन्न आन्दोलनो द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। शराब-बंदी, खादी-प्रचार, असहयोग आदि विभिन्न आदोलनो मे भाग लेना तथा जेल जाना, किसान और मजदूरो के कल्याण से सम्बन्धित उनके प्रयत्न, उनकी इसी भावना के परिणाम हैं। उन्होने देश की स्वतन्त्रता को अपने जीवन मे वरण किया, "अपनी पत्नी का नाम बताऊं क्या? स्वतन्त्रता।"[2] तथा उसके लिए जीवन-भर कष्ट सहन करते रहे।

गांधीजी के समान वह भी औद्योगीकरण के विरुद्ध है, "यंत्र आये, कि जो काम आज पांच सौ व्यक्ति करते हैं, वह पचास करेंगे। फिर शेष साढे-चार सौ क्या करेंगे।"[3] भगवान मे अगाध निष्ठा व प्रगाढ भक्तिभाव उनकी दो अन्य चारित्रिक विशेषताएँ हैं, जो उन्हे गांधी के निकट पहुँचा देती हैं। बच्चो के प्रति प्रेम-भाव में भी वह गांधी के ही समान हैं। रोगग्रस्त होते हुए भी अपनी भान्जी को समुद्रतट की सैर के लिए ले जाना, उनके हृदय की कोमलता एवं शिशुओ के प्रति उत्कट प्रेम का द्योतक है। सुलोचना उनके इसी शिशु-प्रेम को लक्ष्य कर कहती है "हमारे बाप्पा कुछ अरसिक नही है···उन्हे छोटे-छोटे बच्चे कितने अच्छे लगते हैं।"[4] कलाओ को वे तभी सार्थक समझते हैं, जब कि उनका जीवन से अटूट सम्बन्ध हो। जो कला जीवन को अधिक सुखमय न बना सके, वह उनके लिए निरर्थक है। इसीलिए वह कला के सम्बन्ध मे एक सूत्र प्रस्तुत करते है "कला के पति का नाम है जीवन।"[5] अर्थात् जीवन को कलाओं का नियंत्रक मानते है।

---

[1] वि० स० खांडेकर 'दोन ध्रुव', पृष्ठ २५५।

[2] वही, पृष्ठ ६४।

[3] वही, पृष्ठ १४६।

[4] वही, पृष्ठ ४८।

[5] वही, पृष्ठ ८६।

श्यामा गाय और बिल्ली की देखभाल करने, भरे बुखार में भी पड़ौसिन की बफियाँ बनवाने, बीमार और निर्बल होते हुए भी वृक्षों के नीचे नई मिट्टी और खाद आदि डालकर पानी सींचने आदि कार्यों में, हम उसके हृदय की दया, उदारता और कोमलता के प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

भगवान में उसकी अटूट निष्ठा है, जो भयानक से भयानक आपत्ति आने पर भी विचलित नहीं होती। पति के जंगल में नाग (एक अछूत जाति का पुरुष) द्वारा घेरे जाने का संवाद सुनते ही वह गृह-देवता के पास जा, पति-रक्षा के लिए प्रार्थना करती है, और सावित्री का व्रत लेती है, तो लड़की के मरणासन्न होने पर भगवान शंकर की मनौती मनाती है। वस्तुतः उसे "सर्वत्र ईश्वर का ही हाथ, उसी का अंश दिखाई देता था। प्रत्येक कार्य में वह परमेश्वर का उद्देश्य और उसी का कार्य भी देखती थी।"[1]

उसका हृदय अत्यन्त विशाल था, अतः भगवद्निष्ठ होते हुए भी वह अन्धरुढि एवं मिथ्याडम्बर से कोसों दूर थी। इसीलिए छूआछूत की चिन्ता न कर, वह महार वृद्धा की सहायता करती है और अपने देवता पर अधिकाधिक फूल चढाने का लालच नहीं करती। वह कहती है, "अपने देवता को यदि दो-चार फूल कम भी मिले, तो हानि नहीं। क्योंकि छोटू के घर भी तो वे देवता को ही चढाये जाएंगे। कहीं भी जाएँ, वे पहुँचते तो देवता के ही पास हैं न?"[2] जोर-जोर से कीर्तन कर दूसरों के भजन में विघ्न डालने को वह बुरा समझती है "यदि हमारे कारण दूसरों को कष्ट होता हो, तो वह भजन किस काम का।"[3]

स्वाभिमान एवं धैर्य उसके चरित्र की उदात्तता के दो अन्य उपकरण हैं। अपने देवरों से अपमानित एवं निकाले जाने पर, जब वह अपनी माता के घर पति के साथ रहने आजाती है, तब भी उसे वहाँ रहना बहुत अखरता है। पति सहित नैहर में रहने से तो वह मर जाना श्रेष्ठ समझती है। "मुझे गौशाला में रह लेना स्वीकार है, परन्तु वह स्वतन्त्र होनी चाहिये, अपनी चाहिये। बिलकुल सीधी-सादी, घासफूस की झोपड़ी होने से भी काम चल जायगा।" स्वाधीनता के लिए वह धन-सम्पत्ति तक त्यागने को तैयार है। धनाभाव में भी वह दान लेना स्वीकार नहीं करती। "श्याम हम गरीब हो जाने पर भी सद्गृहस्थ कहलाते हैं। हम भिक्षुक नहीं हैं। दक्षिणा लेना हमारा काम नहीं।" गरीबी और ऋण उसकी स्वाभिमान-भावना को नष्ट नहीं कर पाते। इसीलिए साहूकार के आदमी के यह कहते ही कि 'साहूकार के लिए औरत को बेच दो' वह बिजली की तरह तड़प उठती है और उसे घर से निकल जाने का आदेश देती है।

---

१. साने गुरुजी 'श्याम ची आई' हिन्दी संस्करण, पृष्ठ २१२।
२. वही वही, पृष्ठ ३२।
३. वही वही, पृष्ठ ६६।
४. वही वही, पृष्ठ ८५।
५. वही वही, पृष्ठ ८२।

पद-पद पर अपमान सहते रहने से, वह मर जाना अच्छा समझती है। धैर्य और सहिष्णुता यद्यपि अन्तिम क्षणो मे, उसका साथ छोड़ते दृष्टिगत होते है और वह शीघ्रातिशीघ्र संसार त्यागना चाहती है, तथापि जिस साहस, कष्ट और धैर्य के साथ वह गरीबी और अभाव का जीवन बिताती है, वह निस्सन्देह प्रशसनीय है। घर का काम-काज तो स्वय करती ही है, बीमार होने पर भी न केवल अपने घर मे चौका-बर्तन, चक्की एव रसोई का काम करती है, अपितु धन के लिए पड़ोस की राधाबाई के यहा पीसने एव तेल मलने का कार्य करती है।

कुशल गृहिणी के अनुरूप स्वादिष्ट भोजन बनाना एव घर के सब प्राणियो की देखभाल करना उसके स्वभाव मे प्रारम्भ से ही मिलता है। उसके हाथ मे पाकशास्त्र का रस-भाडार भरा था और वह प्याज जैसी कम मूल्य वाली वस्तु से 'कादा-पाक' बनाकर गुलकद का कार्य निकाल लेती थी। विदुषी भी वह कम न थी। लोरिया रचना उसके विदुषी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परन्तु उसके चरित्र के दो पक्ष—पति प्रेम एव मातृत्व सबसे अधिक प्रभावशाली है। उसके लिए पति ही उसका सर्वस्व है, जिसको आपत्ति मे देख उसका हृदय व्याकुल हो उठता है। उनका अपमान वह और से तो क्या स्वय अपने पिता के मुख से भी सहन नही कर सकती। वह अपने पिता से नम्र परन्तु स्पष्ट शब्दो मे कह देती है, "हमारा जो होना है सो होगा ही। किन्तु आप आज से उन्हे एक भी मर्म वचन या अपशब्द मत कहिए।"[1] अपने से अधिक अपने पति की चिन्ता करना उसके जीवन का व्रत हो गया है। वह भाई के पास से आए हुए रुपयो से अपनी धोती फटी होते हुए भी पति के लिए धोती खरीदती है। पति की चिन्ताकुल स्थिति देख, उनसे कभी वह वस्तु नही मागती, जो वह न दे सके। जीवन भर घर मे पडी रहती है और कभी ऐसा कार्य नही करती, जो पति को खिन्न या लज्जित करे।

पुत्रो की शिक्षा मे वह अत्यन्त सावधान है। जहा एक ओर उनके लिए सब कुछ त्यागने के लिए तत्पर रहती है, वहा दूसरी ओर अवसर के अनुकूल कार्य करने एव शिक्षा देने मे भी सकोच नही करती। वह अपने बच्चो को यो ही जगली झाड की तरह नही बढने देती, अपितु व्यवस्थापूर्वक उनका पालन करती है। उपदेश के लिए उपयुक्त क्षण उपस्थित होते ही वह कभी मृदुल, कोमल शैली और कभी कठोर शब्दावली मे उपदेश देती है। वटवृक्ष की प्रदक्षिणा, पत्तल बनाना सीखने, तैरना सीखने, देव-दर्शन के लिए यात्रा को छिपकर जाने, भाई से द्वेष करने, सूखा के समय, शिव-उपासना के समय, शिक्षा के लिए परदेश जाते समय, आदि विभिन्न अवसरो पर जो शिक्षा उसने श्याम को दी, वह वस्तुत उसके जीवन-निर्माण मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। इसी लिए श्याम कहता है, "वह मुझे प्रेम-दान के साथ ही सन्मार्ग-प्रदर्शन भी करती थी। उसका प्रेम अन्ध और अज्ञानमय नही था।"[2] पति-प्रेमल होते हुए भी, वह कभी-कभी

---

१. साने गुरुजी 'श्याम ची आई' हिन्दी मे संस्करण, पृष्ठ २४३।

२. वही, वही , पृष्ठ १३७।

कठोर हो जाती थी, क्योकि अपने पुत्र को भीरू, चोर या आलसी देखना उसे अभीष्ट न था। इसीलिए जब श्याम तैरने जाते समय डरता है, तो वह उसे मार-मारकर वहाँ भेजती है, हठ करता है तो भोजन नही देती, और झूठ बोलने पर प्रताड़ित करती है। परन्तु उसकी कठोरता मे ही सच्चा प्रेम होता था, सच्ची ममता होती थी।

उपर्युक्त गुणो की अवस्थिति का यह अर्थ नही कि उसमे कोई दुर्बलता थी ही नही। ऐसा होता तो उसका चरित्र अतिमानवी बन जाता। परन्तु लेखक को ऐसा करना अभीष्ट न था। अत उसने उसमे क्रोध, निराशा, कष्ट के क्षणो मे खिन्नता आदि दुर्बलताएँ दिखाकर, उसे मानवी बना दिया है। श्याम के गलती करने पर क्रोध करना, दूब वाली दादी से झगडना और उन्हे कटु वचन कहना, अत्यन्त दीनता एव गरीबी की दशा मे निराश होकर मृत्यु की कामना करना आदि दुर्बलताएँ उसे इसी लोक का प्राणी बना देते है और इसीलिए पाठको के स्मृति-पटल पर वह चिर अकित हो जाती है।

'रंगभूमि' का सूरदास—प्रेमचन्द के 'रगभूमि' उपन्यास का आकर्षण-स्तम्भ है सूरदास, जो वैयक्तिक प्रवृत्तियो के सविधान का उत्कृष्ट उदाहरण है। गाधी जी के विचारो से प्रभावित लेखक ने अपनी इस रचना मे सूरदास को ग्रामीण जीवन के प्रतीक और गाधीवाद की प्रतिमूर्ति के रूप मे चित्रित किया है। स्वाधीनता-कामी भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला यह पात्र तत्कालीन निर्बलता और साधन-हीनता के साथ ही आशावादिता और अजेयता को अपने मे सन्निहित किये हुए, भारतीय जनता को एक नवीन सदेश देता प्रतीत होता है।

क्षीणकाय, दुर्बल और सरलमना सूरदास का जीवन पशुबल, अन्याय और अनीति के विरुद्ध आत्म-बल के सघर्ष की कहानी है। वह स्वय भिखारी होते हुए भी, उदारमना, सहृदय और परोपकारी है। गाव के पशुओ के चरने के लिए अपनी जमीन छोड, वह उससे हो सकने वाली आय पर लात मार देता है और परोपकार वृत्ति के कारण ही उसे जानसेवक के हाथ नही बेचता। सामाजिक क्षेत्र मे भी वह अन्याय का विरोध करता है और मिथ्या उपालभ के कारण भैरो द्वारा सुभागी के निकाल दिए जाने पर उसे आश्रय देता है। निन्दा और अपशब्दो की उसे चिन्ता नही। जिस प्रकार प्रलोभन और धमकियो से वह अपनी जमीन छोडने को तैयार नही होता और सत्याग्रह करता है, उसी प्रकार अपशब्द, लोकनिन्दा और कलक का भय उसे धर्म-मार्ग से विचलित नही कर पाते।

देवोपम उदारता तो इतनी है कि विरोधियो के शतबार अपकार करने पर भी, वह उनके प्रति मन मे तनिक भी दुर्भावना नही आने देता। भैरो उसके रुपये चुराता है, घर जलाता है, कलकित करता है, किन्तु वह उसकी सदा सहायता करने को उद्यत रहता है। इसी प्रकार जिस जानसेवक ने उसकी भूमि ही नही छीनी अपितु जान भी ली उससे वह मरते समय कहता है, "मेरा तो आपने कोई अहित नही किया

……मुझे आप से कोई शिकायत नही ।"[1] उसकी इस उदात्त मनोवृत्ति के मूल मे उसका जीवन दर्शन है, "सच्चे खिलाडी कभी रोते नही, बाजी पर बाजी हारते है ……उनकी त्योरियो पर बल नही पडते । हिम्मत उनका साथ नही छोडती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नही आते, न किसी से जलते है, न चिढते है ।" इस जीवन-दर्शन का उसने जीवन मे अक्षरश पालन भी किया, तभी तो उपन्यासकार ने उसके चरित्र की आलोचना करते हुए लिखा "वह यथार्थ खिलाडी था"……जीता तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो जीतने वाले से कीना नही रखा, जीता तो हारने वाले पर तालियाँ नही बजाई, जिसने खेल मे सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नही की, कभी द्वन्द्वी पर छिपकर चोट नही की ।"[2]

यदि प्रेमचन्द जी इस पात्र मे उपर्युक्त सद्गुणो की ही प्रतिष्ठा करते, तो वह अमानवी होकर अविश्वसनीय बन जाता, पर लेखक ने उसमे सद्गुणो के साथ-साथ मानव-सुलभ दुर्बलताओं का भी समावेश किया है । पर ये दुर्बलताएँ न्याय और नीति के सम्पर्क मे उसके चरित्र की सद्वृत्ति के रूप मे प्रकट हुई है । अत गगाप्रसाद पाडे का यह कथन कि "वहा चादनी का ही राज है, अधेरे का अस्तित्व नही, जो सत्य का दूसरा पक्ष है ।" गलत है । लेखक स्वय लिखता है, "वह साधु न था…एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओ और बाधाओ से घिरा हुआ, जिसमे अवगुण भी थे, और गुण भी । गुण कम थे, अवगुण बहुत । क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र मे भरे हुए थे, गुण केवल एक था ।"[3] इसी एक गुण के कारण उसके विरोधी पात्र भी उसके प्रति श्रद्धा अनुभव करते थे । यहाँ तक कि उसका प्राण-हता 'क्लार्क' भी उसे देवतुल्य समझने लगा था । जिस व्यक्ति ने अपने चारित्रिक बल से अपने विरोधियो को भी जीत लिया, वह निस्सदेह श्रद्धा का पात्र है ।

इतना सब होते हुए भी, यह मानना पडेगा कि प्रेमचन्द जी की आत्मा नैतिक तथा सामाजिक सुधार की शारीरिकता मे ही होने तथा मानवमन की सूक्ष्म मनोवृत्तियो की विरोधात्मक अभिव्यक्ति मे उसका निवास न होने के परिणामस्वरूप 'सूरदास' कभी-कभी मनुष्य से ऊपर देवलोक का निवासी जान पडता है ।

२. 'गोदान' का होरी—प्रेमचन्द जी के अधिकाश पात्र व्यक्ति न होकर वर्ग के प्रतिनिधि है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उनमे वैयक्तिक विशिष्टताएँ हो ही नही । 'गोदान' के होरी मे भारतीय किसान की अनेक विशेषताओ के साथ कुछ अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी है और इन्ही दोनो के सम्मिश्रण से यह अमर पात्र बन गया है । उसके जीवन की प्रेरणाधार है समाज मे सम्मानीय स्थान पाने की अतृप्त आकाक्षा । गाय इस अतृप्त वृत्ति का प्रतीक है । उसके लिए गऊ केवल भक्ति और

---

१. प्रेमचन्द 'रगभूमि' ग्यारहवा सस्करण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३६८ ।
२. वही, प्रथम भाग, पृष्ठ १६० ।
३. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ ३८१ ।
४. वही, पृष्ठ ३८१ ।

श्रद्धा की वस्तु नही, सजीव सम्पत्ति भी थी। वह उससे अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था। 'मरजाद' और 'इज्जत' की रक्षा का प्रश्न इसी सम्मान-लालसा की भिन्न प्रतीति है। सम्पत्ति और उसका सग्रह, मर्यादा एव सम्मान की अभिवृद्धि मे सहायक होता है, यह वह जानता है। उसे पता है कि मजदूरी मे पैसे है, पर इसी स्निग्ध सम्मान-लालसा के कारण वह धरती से बधा रहता है। वह भारतीय किसान के समान ही 'पक्का स्वार्थी' है। "उसकी गाठ से रिश्वत के पैसे बडी मुश्किल से निकलते है। भाव-ताव मे वह चौकस है, ब्याज की एक-एक पाई छुडाने के लिए वह महाजन की घण्टो चिरौरी करता है।"[1] अवसर मिलने पर भाई के पैसे दबाने मे वह नही चूकता। उसमे न तो गाढ रागात्मक उन्मेष है और न प्रौढ विचार-शक्ति। सहनशीलता और धैर्य भी उसके व्यक्तिगत शील के परिचायक नही, अपितु परम्परा और रूढियो की निर्वैयक्तिक सत्ता की स्वीकृति के परिणाम है। उस की आर्थिक हीनता भी समस्त किसान-वर्ग के शोषण और हीनता का प्रतिनिधित्व करती है। होरी कितना चाहता है कि किसी से एक पैसा भी कर्ज न ले, जिसका आता है, उसका पाई-पाई चुका दे, लेकिन हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नही छूटता।

साधारण किसान की तरह वह अवसर मिलते ही शोक-सन्ताप भूलकर मनोरजन एव दिलबहलाव मे सलग्न हो जाता है। नाटक मे राजा जनक के माली का अभिनय करना, उसकी इसी वृत्ति का परिचायक है। उसका सम्पूर्ण जीवन सघर्ष मे बीतता है। इस सघर्ष मे जहाँ उसकी दुर्बलताए स्पष्ट होकर उभरती है, वहाँ उदात्तता का रूप भी स्पष्ट हो जाता है, पर कुल मिलाकर वह सामाजिक सस्थाओ, धार्मिक रूढियो, आर्थिक सघठन और राजनीतिक व्यवस्था से दबा हुआ प्राणी ही है, जो उसके जीवन को नियत्रित करती है और जिनके विरुद्ध वह विद्रोह भी नही कर पाता।

साराश यह है कि होरी को प्रेमचन्द जी ने वर्ग-विशिष्टताएँ प्रदान करते हुए भी, एक व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया है और उनका यह चित्रण अपनी विस्तृत रूपरेखा तथा सूक्ष्म विवेचन दोनो ही के कारण महत्वपूर्ण है। यह सत्य है कि होरी अन्तर मे नही जीता, बाह्य ही उसके लिए तथ्य और सत्य दोनो हैं। उसका महत्व भी उसके सघर्ष, उस सघर्ष की चेतना, वैयक्तिकता की निर्बाध चरमता या नवमूल्य-स्थापक धारणाओ मे नही है, अपितु पाठक की कृषक-वर्ग के प्रति सहानुभूति जगाने की क्षमता मे है, जो उसकी सामान्य उन्नति की आकाक्षा और उसकी अपूर्ति के कारण प्रत्येक सहृदय पाठक के मन मे उत्पन्न होती है। लेखक ने होरी को साधारणीकृत नही किया है, बल्कि सामान्य होरी का विशेषीकरण ही साधारणीकरण का स्वरूप हो गया है, जिने देखकर अगेजी कविता की निम्न पक्तिया याद आ जाती है—

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', तेरहवा सस्करण, पृष्ठ १०।

है कि वह किस प्रकार इन तीनो पर अधिकार पाने का प्रयत्न कर रहा है।

जेल से लौटने पर हम शेखर को कुछ झुका-दबा पाते है। यह कल्पना करना कठिन है कि वह शेखर, जो बचपन मे किसी से दबना नही जानता था, आगे चलकर आत्म-हत्या की बात सोचने लगा होगा। जो शेखर बाल्यावस्था मे परिस्थितियो और विरोधी तत्वो का स्वामी रहा, वही बडा होकर उनके सामने एक बार नही, अनेक बार जब सिर झुका देता है, तो आश्चर्य होता है। परन्तु ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योकि प्रथम तो कारागार का जीवन ही ऐसा होता है, जहाँ व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है, फिर सम्पादको और प्रकाशको के दुर्व्यवहार, मा की मृत्यु और बेकारी ने भी उसे हिला दिया होगा। फिर भी पाठक उसके अदम्य साहस और व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बने देखना चाहता था, अत उसका अभाव देखकर उसे कुछ निराशा होती है।

यह ठीक है कि बालक शेखर के सभी गुण सामान्य बालक के गुण नही, वह असाधारण बालक के रूप मे ही हमारे सामने आता है, जो सहस्रो मे कही एक पाया जाता है। परन्तु कही-कही लेखक ने जो रूप उसे प्रदान किया है, वह अविश्वसनीय हो गया है। उदाहरणार्थ, जहाँ-जहाँ उसने उसकी अवस्था और मानसिक सीमा का ध्यान छोड़कर, उससे दार्शनिक जैसी बाते करानी चाही है, वे चित्र अस्वाभाविक हो गए है। छ: वर्ष की आयु मे प्रसिद्धि को लक्ष्य बनाकर पुस्तक लिखना और उनमे एक माह तक उलझे रहना अस्वाभाविक है, फिर इस आयु का बालक अग्रेजी के इतने लम्बे-लम्बे वाक्य भी नही लिख सकता, जैसे उपन्यासकार ने शेखर से लिखवाए है।

वस्तुत शेखर के चरित्र-विकास मे लेखक की बुद्धि और अध्ययन का तो प्रचुर प्रयोग हुआ है, पर आत्मानुभूत सत्यो का उसमे अभाव है। उसके चित्रण मे वैयक्तिकता का रग इतना गहरा हो गया है कि वह समाज के लिए कोई भी एक निश्चित मानदण्ड उपस्थित करने मे समर्थ नही हुआ है। उसके बहिर्जगत की घटनाओ मे विशेष आकर्षण नही, उनमे ऐसा कोई गौरव नहीं, जिससे हम उसे प्रतिष्ठा दे सके। उसकी महत्ता तो अन्तर्जगत मे है। अत: यह केवल भारत भूमि की उपज नही कहला सकता, जैसे कि शरत् का 'विप्रदास' या प्रेमचन्द का 'सूरदास' कहला सकते है। वह तो किसी भी देश और वातावरण मे पनपने वाला चरित्र हो सकता है। ऐसे सार्वभौम चरित्रो के साथ सवेदनशील हृदय निजत्व का सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। उससे तो अधिक रोम्या रोला का ज्या क्रिस्ताफ ही, जिससे अज्ञेय ने शेखर के निर्माण की प्रेरणा ग्रहण की है, अपने देश की मिट्टी का बना हुआ प्रतीत होता है।

उपन्यासकार की सफलता ऐसे चरित्रो की सृष्टि मे नही, जो लेखक के निजी अह या कुछ बधी हुई विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करते है, बल्कि ऐसे चरित्रो की सृष्टि मे है, जो आसपास के जीवन मे पहचाने जा सकते है, जिनकी अगभगिमा भाव-मुद्रा और पसीने की गन्ध तक हमारी पहचानी हुई होती है। वे चरित्र हमारे इतने

उद्धत है। मुहजोर है। किसी और घर मे जायगी तो न खुद सुखी हो सकेगी और न अपने पति को सुखी बना सकेगी।"[1] मिथ्या सिद्ध होती है, क्योकि वय और पद-मर्यादा उन्हे गभीर बना देते हैं। उनकी वाचालता और क्रुद्ध हो जाने की वृत्ति घुलती जाती है। बचपन की चलपता एव वाचालता कभी-कभी उद्दाम भी हो जाती है, तो वह व्यग्य, मुस्कान एवं मधुरता के कारण सुसह्य बन जाती है। इसीलिए गगाधरराव उनके तीक्ष्ण से तीक्ष्ण व्यग्यो को भी सहन कर जाते है। विधवा होने पर तो उनकी गभीरता एव शालीनता सागर की गहराई और आकाश की विराटता को भी लज्जित करती है। इस प्रकार लेखक ने अल्हड़ और उद्धत मनु को सौम्य, गभीर एव शालीन रानी मे परिणत कर दिया है, पर यह परिवर्तन इतना क्रमिक तथा परिस्थितियो के अनुरूप है कि रानी का चरित्र अस्वाभाविक प्रतीत नही होता।

उनका वह साहस तथा शौर्य, जो बचपन मे घुडसवारी, निशानेबाजी, हथियार-चलाने, मलखब, कुश्ती आदि मे प्रकट होता था, आगे चलकर और अधिक विकसित हुआ और वह सागरसिंह डाकू, नत्थेखा फौजदार या अग्रेजो से युद्ध करते समय अपनी सम्पूर्ण आभा के साथ प्रकट हुआ। बचपन मे जिस धैर्य का परिचय उन्होने नाना के घायल होने पर, उन्हे जगल से घर लाने मे दिखाया था, उसी का परिवर्धित एव विकसित रूप, हमे झासी के अग्रेजी राज्य मे मिलाये जाने की घोषणा के अवसर पर या बाद मे पराजय पर पराजय झेलते हुए भी अग्रेजो का सामना करते समय मिलता है। देश-प्रेम एव राष्ट्र-भक्ति के जो घूट, उसने बचपन मे पेशवाओ और छत्रपति के शौर्य और वैभव की गाथाएँ सुनते-सुनते पीए थे, उन्ही के कारण आगे चलकर वह देश की मर्यादा के लिए, धर्म के गौरव और सस्कृति की रक्षा के लिए अग्रेजो की अपार शक्ति से जूझ पडी।

मनु का हृदय प्रारम्भ से ही कोमल, प्रेमल तथा सहृदयतापूर्ण दृष्टिगत होता है। उसके प्रारभिक चिन्ह हमे नाना की रुग्णावस्था के समय मनु के व्यवहार मे मिलते है। इसी प्रेम, सहृदयता एव कोमलता का विकसित भव्य रूप हमे आगे चलकर उनके हल्दी-कुंकुम के अवसर पर झाँसी की स्त्रियो के साथ मृदुल व्यवहार मे, काशी, सुन्दर और मुन्दर को दासी न बनाकर उन्हे सहेली मानने मे, युद्ध के समय नगर-निवासियो एव साथियो के साथ मीठी बाते करने, एव उन्हे धैर्य बधाने, सागरसिंह डाकू को क्षमा करने आदि कृत्यो मे मिलता है। अपने इसी सौजन्य एव कोमल स्वभाव के कारण झाँसी की जनता अपनी रानी पर मुग्ध थी। बाल्यावस्था मे धर्म, धार्मिक ग्रन्थो, एव ईश्वरोपासना के प्रति जो अटूट आस्था उसके मन मे अकुरित हुई, वह समय का खाद एव संस्कारो का जल पाकर और भी पल्लवित हुई। गीता के अट्ठारहवें अध्याय का पारायण भयानक से भयानक परिस्थितियो एव युद्ध की विभीषिकाओ के बीच भी नही छूटा तथा गीता की "नैनं दहति पावक ." पक्ति का उच्चारण करते करते ही उन्होने प्राण त्यागे।

---

[1] वृन्दावनलाल वर्मा, 'झासी की रानी', पृष्ट ३३-३४।

रानी का विवेक बचपन मे ही उसकी अवस्था से अधिक जाग्रत था, जिसके कारण उसके तर्कों एव विचक्षण बुद्धि के आगे मोरोपन्त तथा पेशवा दोनो को पराजित होना पड़ता था। वही बुद्धि-वैभव एव तीव्र विवेक अवसर प्राप्त होने एव आवश्यकता पड़ने पर, विभिन्न रूप धारण कर विविध कृत्यो में प्रकट हुआ। आनन्द-राय की अवहेलना के समय, जो विचार "जिन्हे तुम छोटा आदमी कहती हो, आधार तो हमारे वे ही हैं।"[1] उन्होने प्रकट किये, वे उनकी सहृदयता के ही परिचायक नही, अपितु गभीर विवेक एवं दूरदर्शिता के भी प्रमाण है। यही दूरदर्शिता उन्होने झाँसी के युद्ध से पूर्व-स्थानों के भौगोलिक अध्ययन, हथियार एव बारूद एकत्र करने, नये-नये हथियार बनाने, स्त्री और सामान्य नागरिकों को युद्ध-शिक्षा दिलाने, किले मे अन्नादि का समुचित प्रबन्ध करने आदि के सम्बन्ध मे आदेश देकर प्रकट की। युद्ध मे जिस कौशल से उन्होने प्रत्येक अवसर पर सैन्य-संचालन एवं शत्रु का सामना करने की योजना बनाई, वह भी उनके सैनिक-ज्ञान एवं महान बुद्धि का परिचायक है।

इस प्रकार रानी के चरित्र का विकास लेखक ने पुष्ट आधार पर किया है, जिससे उनके चरित्र का प्रासाद भव्य, उदात्त एवं महान होते हुए पाठक की कल्पना मे डगमगाता नही है। उपन्यासकार ने रानी को कुछ मार्मिक क्षणों में विचलित एव व्याकुल दिखाकर, उनके मानवी पक्ष को उद्घाटित किया है और इस प्रकार उनके चरित्र को विश्वसनीय बना दिया है। पुस्तकालय को जलते देखकर उनका माथा घूमना, झाँसी में कत्ले-आम एव अग्निकाड देखकर उनके हृदय का धंसना, गला भर आना और फिर चौखट पर बैठकर रोना, अपने शव की दुर्दशा की आशंका से बारूद में जलकर आत्म-हत्या करने का निश्चय करना, उनके हृदय की क्षणिक दुर्बलता के परिचायक प्रसग है। पर इन्ही प्रसंगों के कारण रानी इस पृथ्वी की प्राणी लगती है। इनकी योजना कर तथा उनके द्वारा रानी के चरित्र मे गुणो एवं क्षणिक दुर्बलताओ का मिश्रण कर लेखक ने उन्हे अमर बना दिया है।

'त्याग-पत्र' की मृणाल :—समाज की नैतिक धारणाएँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। एक समय था, जब कि यौन-पावित्र्य को ही स्त्री के चरित्र की आधारशिला समझा जाता था और यौन-सम्बन्धो में तनिक-सा भी स्खलन समाज को सह्य न था। परन्तु आधुनिक विचारकों की दृष्टि मे पवित्रता का सम्बन्ध मन से है, तन से नही। यदि मन शुद्ध है, तो नारी तन से अशुद्ध होते हुए भी वन्दनीय है, आदर और सहानुभूति की पात्र है। जैनेंद्र जी ने इसी विचारधारा को अपनाते हुए 'त्याग-पत्र' की मृणाल का चरित्र अंकित किया है। यद्यपि लेखक कहता तो यह है "मेरी बुआ पापिष्ठा नही थी, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ।"[2] परन्तु जो चार आँसू उन्होने अपनी इस कथा द्वारा बहाए हैं, वे बुआ मृणाल के सम्बन्ध मे उनकी धारणा को स्पष्ट कर देते हैं।

---

[1] वृन्दावनलाल वर्मा, 'झांसी की रानी', पृष्ठ ७५।

[2] जैनेन्द्र 'त्याग-पत्र', पृष्ठ ६ : पूर्वोदय प्रकाशन।

प्रारम्भ मे मृणाल अन्य साधारण किशोरी-बालाओ से भिन्न नही है । वह सुन्दर है, विनोदप्रिय है, निर्द्वन्द्व है और अपनी बडी भाभी (प्रमोद की मा) के सामने जरा सकुचाई रहती है । परन्तु बाद मे चलकर उसके चरित्र मे जो महानता, त्याग, उदारता आदि गुण दृष्टिगत होते है, उनके बीज हमे उसकी किशोरावस्था मे ही उपलब्ध होने लगते है । दूसरो के प्रति करुणा और उत्सर्ग, जो उसके बाद के जीवन को दीप्तिमान् बना देते है, उसकी किशोरावस्था मे घटी उस घटना से ही प्रकट हो जाते है, जब कि वह अपनी सखी शीला को ताडना से बचाने के लिए स्वय मास्टरजी की बेत खाती है । अत बाद मे चलकर जब वह कोयलेवाले को अपने रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होने के कारण पीडित होते देख करुणार्द्र हो उठती है, अथवा गन्दी बस्ती के लोगो को "दुख दरद मे ढाढस बधाती" या "बच्चो को घर बिठाकर" पढ़ाती है और सबके छोटे-मोटे काम करती है, अथवा प्रमोद के घर चलने के आग्रह को ठुकराती हुई कहती है, "जिन लोगो के बीच बसी हूँ, वे समाज की जूठन है...लेकिन आखिर तो इन्सान है । और यह बात, जबकि उनके बीच आ पडी हूँ, मैं साफ देखती हूँ । मै किसी भी और बात पर अब जिन्दा रहना नही चाहती, उनकी बुझती और जगती इन्सानियत के भरोसे ही रहना चाहती हूँ ।"[1] तो पाठक को कोई विशेष आश्चर्य का आघात नही लगता, क्योकि लेखक ने उसकी कोमल भावनाओ एव त्याग-वृत्ति का परिचय प्रारम्भ मे ही दे दिया है ।

इसी प्रकार जिस आत्म-सम्मान एव अहमन्यता का परिचय, हमे उसकी किशोरावस्था मे शीला के भाई के साथ सम्बन्ध के क्षणो मे मिलता है, वही विवाहोपरान्त भी दृष्टिगत होता है । शीला के भाई के पत्र आने पर, वह जो कुछ प्रमोद से कहती है, उसके शब्द-शब्द से उसकी आत्म-सम्मान एव अहमन्यता की भावना ध्वनित होती है । "प्रमोद, अब तू वहाँ कभी मत जाना । तुझसे जवाब लाने को किसने कहा था ? कभी किसी का कोई खत लाने की जरूरत नही है ।"[2] अथवा "देख प्रमोद, शीला के भाई का कोई पैगाम आया कि मैं छत से गिरकर मर जाऊँगी । मुझे उन्होने क्या समझा है ? ...मृणाल का कौल झूठा नही होता",[3] आदि वाक्य उनके अहंकार एव आत्म-गौरव की भावना के स्पष्ट निदर्शक है । विवाह के बाद उसकी यह भावना केवल बनी ही नही रहती, अपितु और अधिक पुष्ट होती दिखाई देती है । भाई के एक बार यह कहने पर कि विवाहित स्त्री का वस्तविक घर तो उसका पति-गृह ही है, वह पति द्वारा लाञ्छित एव परित्यक्त होने पर भी भाई के यहाँ नही आती । "फूफा ने कहा था कि मैके चली जाओ, पर बुआ इसके लिए बिल्कुल राजी नही हुई । धमकाया गया, मारा-पीटा गया पर उन्हे मरना मजूर हुआ, हमारे यहा

---

[1] जैनेन्द्र 'त्यागपत्र', पृष्ठ ६२ । पूर्वोदय प्रकाशन ।

[2] वही , पृष्ठ २४ ।

[3] वही , पृष्ठ २५ ।

आना कबूल नही हुआ ।"[१]

कृतज्ञता की भावना उसके रोम-रोम मे समाई हुई है । कोयले वाले ने उनकी सहायता परोपकार की भावना से न कर, अपनी मोहान्धता एव रूपलिप्सा के कारण की थी । परन्तु मृणाल उसके उस परोपकार को कभी नही भूलती । प्रमोद ने जब उस कोयले वाले को छोड देने को कहा, तो उसने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया "जिनके सहारे मै बची, उन्ही को छोड देने को मुझसे कहते हो ? मैं नही छोड सकती । पापिन हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या अकृतज्ञ भी बनू ? नही"[२] वह जानती है कि यह आदमी उसे एक दिन छोडकर चला जायगा, फिर भी वह उसे दुखी बनाकर त्यागना नही चाहती । पर जब वह देखती है कि उसका परिवार उसके मृणाल के पास चले आने से अकेला है और उसे वहाँ जाना चाहिये तथा स्वय भी वह कभी-कभी अपने परिवार की याद से विचलित होने लगता है, तो उसका उदार हृदय उसे पकडे रखने की बजाय उसे वहाँ से जाने के लिए प्रोत्साहित करता है "मेरी कोशिश है कि वह मुझसे उकता जाए ।"[३] यही कृतज्ञता की भावना आगे चलकर उसे गन्दी बस्ती त्यागने से रोकती है । थोड़ा-सा भी उपकार उसे बहुत जान पडता है और वह उन्हे छोड़कर ऐश्वर्य एव सुख के वातावरण मे जाना अस्वीकार कर देती है ।

प्रेम के सम्बन्ध मे उसके विचार अत्यन्त उदात्त है । प्रेम के राज्य मे छल और असत्य को कोई जगह नही , ऐसी उसकी दृढ आस्था है । "छल पाप है । हुआ जो हुआ, व्याहता को पतिव्रता होनी चाहिये । उसके लिए पहले उसे पति के प्रति सच्ची होनी चाहिये ।"[४] इसीलिए टामस हार्डी की 'टैस' के समान वह विवाह के बाद पति से शीला के भाई के साथ अपने प्रेम-सम्बन्ध की चर्चा कर बैठती है और जीवन-भर दुख उठाती है । वह कोयले वाले के साथ भागती है, पर काम-तृप्ति या धन के लिए नही, अपितु कृतज्ञता का भार हल्का करने एव करुणाप्लावित होने के कारण "...... जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ मे नही आता । .. .. दान स्त्री का धर्म है । नही तो उसका और क्या धर्म है ?"[५]

ससार, समाज और परिवार द्वारा लाँछित होने और पग-पग पर ठुकराए जाने पर भी मृणाल मे कटुता निश्शेष हो चुकी है, यह उसकी महानता है, चरित्र की स्पृहणीय गरिमा है । अन्य कोई साधारण स्त्री समाज द्वारा अपमानित होने पर उस के नियमो का उल्लघन करने-कराने मे गौरव का अनुभव करती, परन्तु मृणाल के हृदय मे सामाजिक नीति-नियमो के प्रति आदर बना रहता है । "मै समाज को तोडना फोडना नही चाहती हू । समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेगे ?— इसलिए मै इतना ही कर सकती हू कि समाज से अलग होकर उसकी मगलाकाक्षा मे खुद ही

---

[१] जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' , पृष्ठ ५१ । पूर्वोदय प्रकाशन ।

[२] वही पृष्ठ ५९ ।

[३] वही , पृष्ठ ६९ ।

[४] वही , पृष्ठ ६५ ।

[५] वही , पृष्ठ ६४ ।

टूटती रहूँ।"[1] इसी प्रकार पति द्वारा प्रताडित होने पर भी उन्हें पति से कोई शिकायत नहीं है। उनकी सहिष्णुता और उदारता के कारण ही प्रमोद कहता है "··· अपने भाग्य से गहरा सौहार्द है।···जो झेला है, सब पी गई है। सबका रस बन गया है, खार कोई नही है।"[2]

साराश यह है कि मृणाल का चरित्र प्रारम्भ से अत तक पाठक के हृदय मे करुणा एव सहानुभूति जगाता रहता है और पुस्तक समाप्त होने पर भी कुछ समय तक उसकी करुणार्द्र मूर्ति हृदय पर अकित रही आती है।

वैवाहिक विडम्बनाओ के इस युग मे मृणाल आज के नारी-जीवन का प्रतीक तो बन गई है, परन्तु उसे सोलह आना विश्वसनीय नही कहा जा सकता। हेमलेट अनिर्दिष्ट है। 'टु बी आर नाट टु बी' अर्थात 'रहू या न रहू' 'मृणाल भी अनिर्दिष्ट है' नियति के सम्मुख किकर्त्तव्यविमूढ है। कदाचित् वह प्रकृत्य किकर्त्तव्यविमूढ नही है, बल्कि उसे वैसा बनाया गया है। लेखक ने अपने दर्शन की पुष्टि के लिए उसे कठपुतली की तरह नचाया है, यद्यपि कलाकार होने के कारण वह अदृश्य सूत्रो को सतर्कता और सफलतापूर्वक छिपाये रहा है।

निष्कर्ष यह है कि दोनो भाषाओ के प्रारभिक उपन्यासो मे अलौकिक, अस्वाभाविक पात्रों की कल्पना की गई है और उनका कार्य केवल कथा को अग्रसर करना मात्र है। सुधारवादी उपन्यासो के पात्र लेखक के आदर्शो एवं विचारो के प्रतिनिधि है। वे आदर्श होते हुए भी अमानवी नही, क्योंकि उनमे दुर्बलताए भी दिखाई गई हैं। विभिन्न सिद्धान्तो—राजनीतिक, आध्यात्मिक एव मनोवैज्ञानिक—तथा मतो के समर्थक पात्र भी दोनो भाषाओ मे उपलब्ध होते हैं। यथार्थवादी उपन्यासो मे समाज के प्रतिनिधि एव व्यक्तिवादी दोनो प्रकार के पात्र पाये जाते है।

स्त्री-पात्रो मे आदर्श माता, बहिन, पत्नी, समाज-सेविका के अतिरिक्त दुर्बलमना, अस्थिर चरित्र नारियो की भी कल्पना दोनो भाषाओ के उपन्यासो मे की गई है। परन्तु जहा मराठी मे पुरुष चरित्र, अतिप्रगतिशील विचारो के नारी-पात्र पर्याप्त सख्या मे है, वहाँ हिन्दी मे उनकी सख्या नगण्य ही है।

हिन्दी उपन्यासो से मराठी उपन्यासो मे एक विशेषता यह भी है कि मराठी लेखको ने स्वय की अथवा समकालीन व्यक्तियो को आधार मानकर उपन्यास के पात्रो की कल्पना प्रचुर मात्रा मे की है और वह इतनी स्पष्ट है कि समसामयिक सावधान पाठक को शीघ्र ही उसका ज्ञान हो जाता है। हिन्दी मे भगवतीचरण वर्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की रचना मे यह कल्पना मराठी उपन्यासो के समान स्पष्ट नही है। डा० केतकर के समान समाज के विविध वर्गों का परिचय एक ही उपन्यास मे कराने की प्रवृत्ति भी हिन्दी मे नही है। गौण एव खल-पात्रो की अवतारणा दोनो भाषाओं के उपन्यासो मे समान ही है।

---

[1] जैनेन्द्र 'त्यागपत्र', पृष्ठ ७३। पूर्वोदय प्रकाशन।

[2] वही , पृष्ठ ८४।

प्रकरण : ८

नवीन जीवन-दर्शन

कथा-साहित्य में दर्शन से अभिप्राय—प्रतिभावान उपन्यासकार जीवन का निरीक्षण ही नही करता, वरन् उस पर मनन भी करता है। मानव-चरित्र का ज्ञान, उसकी प्रवृत्तियो और मनोवेगो की सूक्ष्म परख, अनुभूत सत्यों और समस्याओ का सुन्दर समाहार तथा रचना-कौशल सभी मिलकर उसकी कृति को अभिनव गरिमा प्रदान करते है। जगत और जीवन की समस्याओ के प्रति लेखक के दृष्टिकोण, उसके विचार और भावना की समष्टि को हम उसका दर्शन कह सकते हैं, किन्तु कथा-साहित्य का दर्शन आध्यात्मिक-दर्शन से भिन्न होता है। उसमे तात्विकता न होकर, व्यावहारिकता होती है। कथा-साहित्य मे जीवन-दर्शन का अभिप्राय यही है कि कथाकार ने अपने उपन्यासो मे सामाजिक और नैतिक प्रश्नो का समाधान किस रूप मे किया है, उसके आदर्शो एव सामाजिक और नैतिक मान्यताओं का मापदण्ड क्या है? कोई भी उपन्यासकार मानव जीवन का निरीक्षण करके, उसके बहुत से छाया-चित्र प्रस्तुत करता है। इन छाया-चित्रो मे ही वह मूलभूत सत्य लिपटा होता है, जो उसके निरीक्षण, मनन तथा प्रतिपादन का फल होता है। उसी को उपन्यास का जीवन-दर्शन कहा जा सकता है।

यदि उपन्यासकार की कृति को केवल मनोरजक न होकर, स्थायी बनना है, तो इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वह बहुत ही सबल एव व्यापक विश्वासो का व्यक्ति हो। साथ ही उसे अपने उन सबल विश्वासो और दृष्टिकोण को इस प्रकार नियोजित करना चाहिये कि उनके द्वारा जगत के प्रति एक नित्य एव स्थायी दृष्टिकोण प्रतिभासित हो। जीवन के बहुत से जटिल तथा उलझे हुए पक्षो को तार्किक एकरूपता देना दार्शनिक का काम माना गया है। इसी प्रकार उपन्यासकार का दायित्व हो जाता है कि वह जीवन के बिखरावो मे से एक भावात्मक सामजस्य ढूंढ निकाले। इस गुरु-गम्भीर कर्त्तव्य व दायित्व मे वह किसी दार्शनिक से कम नही। दार्शनिक बहुत निरपेक्ष तथा इतिवृत्तात्मक ढग से अपना चिन्तन हमारे सम्मुख रखता है, जबकि उपन्यासकार का चिन्तन एक स्वस्थ भावात्मकता तथा विस्तृत सहानुभूति से अनुरंजित होकर उसकी कला-कृतियो मे अभिव्यक्त होता है। अत· दार्शनिक की अपील बहुत सीमित और सोलह-आने बुद्धिपरक होती है, जबकि उपन्यास की प्रभावशीलता

का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। एक राष्ट्र तथा जाति के उत्थान या पतन का जितना अधिक दायित्व उसके दार्शनिको पर होता है, प्राय उतना ही उसके उपन्यास-लेखकों पर भी। जॉन्स महोदय के अनुसार तो "सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य की किसी अन्य विधा द्वारा सम्भव ही नही है। तथ्य की बात तो यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एकमात्र सहारा है।" उनका यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य है, पर उसमे निहित सत्य का निषेध नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार आत्मा की खोज कभी समाप्त नही होती, उसी प्रकार सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नही होता। इसीलिए उपन्यासकार कभी यह अनुभव नही करता कि प्रत्येक बात कह दी गई है, अथवा सत्य का कोई भी पहलू अन्तिम निश्चय के साथ अनावृत्त कर दिया गया है। अत नित्यप्रति नये-नये दृष्टिकोणो एवं विचारो का प्रतिपादन हमे उपन्यासो मे मिलता रहता है।

जहाँ पहले अध्यात्मशास्त्र की धारणाएँ ऊपर से मनुष्य पर लादी जाती थी, वहाँ आज वह स्वय अपने लिए कुछ दर्शन स्थिर करता दिखाई पडता है। वर्तमान उपन्यासकार मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप मे देखता है। आज के युग-दर्शन का मूल धरातल व्यक्तिवाद है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण और व्यक्तित्व के आधार से नैतिक मान्यताओ और आदर्शों के सम्बन्ध मे मन्तव्य स्थिर करता है। इसीलिए आज विद्रोह, पाप, अपराध, हिंसा, घृणा का नये प्रकार से विश्लेषण हो रहा है और पापी तथा अपराधी को भी अपार करुणा प्राप्त हो रही है। हिन्दी तथा मराठी के उपन्यासो मे नवीन लेखको के इन्ही अभिनव विचारो और दृष्टिकोणो का अध्ययन करना प्रस्तुत प्रकरण का लक्ष्य है।

मानवतावाद—हिन्दी और मराठी मे अनेक उपन्यासकारो का जीवन-सबधी दृष्टिकोण लोकमगल की भावना से अनुप्रेरित है। इनमे से कुछ का लोकमगलवाद तुलसीदास आदि मध्यकालीन साधको के लोकमगलवाद से मिलता-जुलता है, तो कुछ का सर्वथा भिन्न है। मानवतावादी जीवन-दर्शन के केन्द्र मे मनुष्य होता है और उसकी सुसम्भावनाओ पर अदम्य विश्वास प्रकट किया जाता है। मानवतावादी लेखक मनुष्य-हृदय की सदाशयता, करुणा, श्रद्धा, प्रेम आदि भावो के प्रति आस्थावान होता है तथा सदाशयो की पराजय मे भी विजय की कल्पना करता है।

कुछ लोग प्रेमचन्द, खाडेकर तथा साने गुरुजी को गाधीवादी मानते हैं, तो कुछ उन्हे समाजवादी बताते हैं। इन लेखको पर गाधीवादी एव समाजवादी विचार-धारा का प्रभाव पडा अवश्य है, पर वे उनके अन्धानुकरणकर्ता न थे। इसी को लक्ष्य कर विनोबा भावे ने साने गुरुजी के सम्बन्ध मे लिखा था "सच तो यह है कि वे समाजवादी नही समाजसेवी थे। उनकी विशाल आत्मा सबसे गुण ग्रहण करती थी। जहाँ कही भलाई नजर आई, उन्होने अपना ली।"[1] वस्तुत इन उपन्यासकारो के मानवतावाद का विकास सुधारवाद से क्रान्तिवाद की दिशा मे हुआ है। जहाँ वे सुधारवादी

---

[1] विनोबा का लेख, 'आस्तिक' की भूमिका मे उद्धृत', पृष्ठ ३।

है, वहाँ गाधीवाद के निकट है और जहाँ क्रान्तिवादी, वहाँ समाजवाद के। ये लेखक घृणित से घृणित व्यक्ति मे भी मानव-मन की उदात्तता एव पवित्रता के दर्शन करते है तथा वेश्या तक को घृणा का पात्र घोषित न कर उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति प्रकट करते है। उनका विश्वास है कि वेश्या का हृदय उतना ही सवेदनशील होता है, जितना किसी अन्य व्यक्ति का। परिस्थितियाँ ही उसके दुराचार के लिए उत्तरदायी होती है। इन लेखको की धारणा के अनुसार पापी और अत्याचारी की इन्ही सद्वृत्तियो को जगाकर समाज से अन्याय, अनाचार और क्लेश को हटाया जा सकता है। प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' का अमर कान्त त्याग, बलिदान और सत्य के आधार पर 'धर्मयुद्ध' छेडकर विजय पाता दिखाया गया है और 'आस्तिक' का नागानन्द एकता एव शान्ति स्थापित करने मे सफल चित्रित किया गया है। साने गुरुजी का मत है कि "एक बार अपराध करने वाले को हमेशा पापी न मानकर उसके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये।" इसी कारण वह जेलो मे बन्दियो के साथ क्रूर व्यवहार का विरोध करते है और चाहते हैं कि उनके साथ ऐसा व्यवहार हो, जिससे वे पशु न बनकर देवता बने। हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त मे विश्वास करने के कारण ही जैनेन्द्र के उपन्यासो के पुरुष पात्र अपनी पत्नियो को पूरी स्वतत्रता दे, उनके हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करते है।

मानवतावादी लेखक एक ओर मानव-हृदय की सद्वृत्तियो पर आस्था प्रकट करता है, तो दूसरी ओर मानव को सत्पथ ग्रहण करने का उद्बोधन देता है। मराठी के वामनराव जोशी यदि 'रागिणी' मे प्रेम, परोपकार, आत्म-त्याग आदि पर बल देते हैं, तो 'सुशीला चा देव' मे सर्वभूतदयावाद का पक्ष ग्रहण करते हुए, 'विश्वकुटुम्बवाद की अवतारणा करते है। 'रागिणी' मे प्रियब्रह्मस्वामी का मत है, "धर्म का अतरग प्रेम व बहिरग परोपकार है। हृदय मे प्रेमनिर्झर प्रवाहित हुए बिना धर्मवृक्ष नही पनपता। धर्मवृक्ष का जीवन शुद्ध प्रेम, उसके फल पवित्र कर्म, और उसकी सुगन्धि है—नि श्रेयस व शान्त सुख। ····· प्रेम का अर्थ है—सब प्राणियो के प्रति आत्म-भाव, स्वाभिमान-विस्मृति, स्वार्थ-त्याग—आत्म-यज्ञ"[1] 'सुशीला चा देव' की सुशीला, जिस 'वसुधैव कुटुम्बकम' का सन्देश देती है, उस मे समाजवाद की छाया होते हुए भी परोपकार, प्रेम, भूतदया एव लोकमगल पर बल दिया गया है। खाडेकर ने 'रिकामा देव्हारा' मे ससार को सुखी बनाने का उद्बोधन देते हुए लिखा है "देव, धर्म, नीति आदि के नाम पर, हम औरते न जाने कितनी निरर्थक बातो से अधश्रद्धा के कारण चिपटी रहती है। सच्चा देव, सच्चा धर्म, सच्ची नीति एक ही बात मे है और वह है सब लोगो को सुखी करने मे, सभी लोगो के दुख हरने मे।"[2]

आज स्वार्थ की सकीर्णता से विश्व की अखण्डता खण्डित-सी हो गई है। मनुष्य पारस्परिक वैमनस्य के कारण अपने सहज सुख को खो बैठा है। जैनेन्द्र जी का मत

---

[1] वामन मल्हार जोशी 'रागिणी' : हिन्दी सस्करण, पृष्ठ ७८७।

[2] वि० स० खाडेकर, 'रिकामा देव्हारा', पृष्ठ १४७।

है कि इस अखण्डता और सहज सुख को प्रेम की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है। वह लिखते हैं, "अखिल विश्व की सचेतन एकता की भावना ही परमात्मा है। इस सनातन ऐक्य अर्थात् परमात्मा की लब्धि का साधन है प्रेम। विश्व मे फैली नाना-रूपिणी भिन्नता व्यक्ति को समष्टि के प्रति उकसाती है और उसके अह-भाव को जीवित रखने का प्रयास करती है। परन्तु ऐक्य पाने की लालसा भी प्राणो मे कम नही होती—तत्काल की सीमा का अतिक्रमण करके यह प्रेम जितना चिरस्थायी, शरीर के प्रतिबन्ध को लाघकर जितना अखिल व्यापी और सूक्ष्मजीवी तथा क्षणिक, स्थूल तृप्ति मे न जीकर जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही व्यक्ति ऐक्य के अर्थात् सत्य के अर्थात् परमात्मा के अनुरूप होता जाता है।"[1]

सेवा और त्याग को ये लेखक जीवन का मूल मानते है। 'गोदान' मे प्रेमचन्द, प्रो० मेहता के विचारो की व्याख्या करते समय लिखते है "प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो के बीच मे जो सेवा मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है ·· सभी मनस्वी प्राणियो मे यह भावना (त्याग भावना) छिपी रहती है और प्रकाश पाकर चमक उठती है।"[2] मालती को अन्त मे तडक-भडक का जीवन छोडकर मगल, पवित्रता और त्याग की प्रतिमा बनते देख इस पर सहज ही विश्वास होने लगता है। यही विचार उन्होने अपने निबन्ध-सग्रह मे प्रकट किया है, "अगर हमारा अतर प्रेम की ज्योति मे प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नही जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सके।"[3] प्रेमचन्द के प्राय प्रत्येक उपन्यास मे सेवा-धर्म की चर्चा मिलेगी और कितने ही पात्रो को उन्होने इस मार्ग का पथिक चित्रित किया है। 'कर्मभूमि' के अमरकान्त, नैना, डा० शान्ति कुमार, 'गोदान' मे होरी, प्रो० मेहता, 'प्रेमाश्रम' मे प्रेमशकर, 'रगभूमि' मे सूरदास आदि सभी के जीवन का उद्देश्य सेवा दिखाया गया है। लेखक का यह मन्तव्य है कि त्याग और सेवा के पथ पर चलकर ही आत्म शान्ति और लोकमगल की प्राप्ति सभव है। उपन्यासकार ने जिस 'कर्मण्य मानवता' मे अपना विश्वास प्रकट किया है, उसकी मूलवृत्ति त्याग और सेवा है। यही बात नागे गुरुजी के उपन्यासो मे पाई जाती है। त्याग, सेवा व प्रेम के आवश्यक पाठ पढाने के लिए ही, वे कुटुम्ब-व्यवस्था को समाज के लिए आवश्यक मानते है। सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति होने के कारण ही माता का ससार मे सर्वोत्कृष्ट स्थान है। उनके लिए "माता है कुटुम्ब की उपभोग-शून्य स्वामिनी जिसके लिए नि स्वार्थ प्रेम-मय सेवा ही जीवन का व्रत है।" उन्होने त्याग व सेवा के तत्व अपनी रचनाओं मे अनेक प्रकार से प्रस्तुत किये है—नागानन्द, वत्सला का आर्य और नाग जाति की एकता के लिए त्याग, और बुवा का मधुरी के लिए, कमाली का त्याग या मातृभूमि के लिए

---

[1] जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृष्ठ १०६-१०७।

[2] प्रेमचन्द, 'गोदान', तेरहवा संस्करण, पृष्ठ ६८।

[3] प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ १८।

सर्वस्व-त्याग, इसके कुछ रूप है। 'आस्तिक' मे कार्तिक तथा वत्सला के बीच ज्ञान के विषय मे जो वार्तालाप कराया है, उससे भी स्पष्ट है कि वे प्रेममय सेवा को बडा महत्व देते थे। देखिए—

" 'समग्र ज्ञान की चाबी मिल गयी, इसलिए।'
'कैसी चाबी ?'
'प्रेममय सेवा।' "[1]

खांडेकर का मत भी यही है कि "जीवन की सफलता भोग मे न होकर त्याग मे है।" इसीलिए उनके अनेक नायक-नायिका स्वार्थमय आकाक्षाओ का तिरस्कार कर दलितो एव शोषितो के लिए सघर्ष करते चित्रित किये गए हैं।

ये लेखक व्यक्ति-व्यक्ति मे भेद स्वीकार करते है। वर्णगत, जातिगत, देशगत भेदभाव को वे नही मानते। साने गुरुजी का अखड विश्वास है "ऊपर की चमडी काली हो चाहे गोरी, परन्तु भीतर की वृत्ति एकसी होती है। भीतर की आशा-आकाक्षा, अलग-अलग कल्पना, वासना-विकार के प्रकार तो एक ही तरह के होते हैं।" वह समाज मे विषमता के विरोधी है और जाति-भेद उन्हे मान्य नही। अस्पृश्यता उनकी दृष्टि मे अधर्माचरण है। सेवा-कर्म करने वाले को अस्पृश्य कहना, मनुष्यता को नष्ट करना है। जाति ईश्वर द्वारा निर्मित बन्धन नही, वे धधो के नाम पर पड गई है। आज धन्धो के बदलने पर, वे भी बदलनी चाहिएँ। प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त का चमारो की बस्ती मे जाकर उनके सुधारने का प्रयत्न, लेखक की इसी आस्था का परिचायक है कि मानव मानव मे कोई भेद नही तथा पददलितो का उद्धार करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

इस प्रकार इन लेखको ने मानव-हृदय की सद्‌वृत्तियो पर आस्था रखते हुए तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त मे विश्वास प्रकट करते हुए मानव-मात्र को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है तथा उसी के द्वारा सम्पूर्ण समस्याओ का समाधान बताया है। इसी भावना से अनुप्रेरित हो ये लेखक मानव की आत्मोपलब्धि, उसकी अपराजेयता और श्रेष्ठता को पाठक के सम्मुख रख रहे है। प्रेमचन्द का 'सूरदास', जयशकर प्रसाद का 'विजय' तथा विभावरी शिरुरकर के 'बळी' का आवा इसी के दृष्टान्त है। जिन शक्तियो का ये सामना करते है, वे उनसे सबल है, अंत मे उन्हे तोड भी डालती है। परन्तु ये अपनी विफलता मे ही इतना सम्माननीय पद एव गरिमा प्राप्त कर लेते है कि जिसकी छाया को भी देवता नही छू सकते। उनका यह जीवन-दर्शन व्यक्ति के लिए आदर्शवादी दृष्टिकोण से तो बडा सुन्दर, मगलमय एव आकर्षक है, परन्तु समाज की सामूहिक विषमताओ को दूर करने की दृष्टि से वह उतना सफल नही है। मानव-सृष्टि का इतिहास इसका साक्षी है। आदि काल से इन उदात्त सिद्धान्तो का प्रचार होने पर भी ससार वही है, जहाँ पहले था। यही देखकर क्रान्तिकारी

---

१. साने गुरुजी, 'आस्तिक' हिन्दी सस्करण : पृष्ठ ४८।
२. वही, पृष्ठ ५०।

विचारधारा का जन्म हुआ है, जिसका विश्वास सुधार मे न होकर क्रान्ति, संघर्ष एव आन्दोलन मे है। इस विचारधारा के अनुयायी हृदय की उदात्त भावनाओ को जगाने मे आस्था न रखकर, जनता मे विक्षोभ और क्रान्ति-भाव उत्पन्न कर समाज के उत्थान मे विश्वास करते हैं। इन उपन्यासकारो के लोकमगल-विधान मे आर्थिक और सामाजिक विषमता के लिए कोई स्थान नही। वे विषमता-जन्य अन्याय को समूल नष्ट करना चाहते हैं। जो दलित हैं, पीडित है, वंचित है, उनका पक्ष लेना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं और जो शक्तियाँ समाज को शोषण और अत्याचार से त्रस्त किये हैं, उनके प्रति उन्होने गहरा आक्रोश और विक्षोभ प्रकट किया है।

प्रेमचन्द ने 'मगलसूत्र' तथा साने गुरुजी ने 'क्राति' मे इसी विक्षोभ को प्रकट करते हुए शक्ति-प्रयोग का परामर्श दिया है। प्रेमचन्द ने जब यह देखा कि गाधीजी के तौर-तरीके अव्यावहारिक है, तो उन्होने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया, "वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नही। सभव है उसे पूर्ण रूप से व्यवहार मे लाया जा सके, तो राष्ट्र को उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो सके, पर यह तो उसी तरह है कि रोगी की देह मे रक्त बढ जाय, तो वह अवश्य अच्छा हो जायगा।"[1] अथवा "अब यह मान लेना पडेगा कि जिस चीज को भीतर की आवाज कहते है, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सम्भावना नही, वह बहुत भरोसे की चीज नही है, क्योकि उसने एक से ज्यादा अवसरो पर गलती की है।"[2] गीता साने के 'निखळलेली हिरकणी' मे भी समाज की थोथी नीतिमत्ता पर प्रहार करते हुए कहा गया है, "ये नीति-नियम केवल मध्य-वर्ग के लिए है। धनिक-वर्ग तो पैसे के बल पर उनका उल्लघन करता ही रहता है।"[3] इस विक्षोभकारी विचारधारा को जन्म देने का श्रेय सामयिक परिस्थितियो के अतिरिक्त मुख्यत मार्क्सवादी दर्शन को है।

मार्क्सवाद—मार्क्स ने अर्थ-वस्तु (मैटर) को परम सत्य मानकर उसके प्रकाश मे समाज, व्यक्ति, उसके इतिहास, संस्कृति आदि की व्याख्या की है। उसके वस्तुवादी दर्शन का मूलकेन्द्र द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। उसकी दृष्टि मे समस्त दृश्य और सूक्ष्म जगत वस्तु-पदार्थ से निर्मित है। अत इस संसार मे केवल एक आदि सत्ता है—भौतिकता। उसके अतिरिक्त अन्य तत्व—मन, आध्यात्मिकता आदि भ्रम हैं, कल्पना-मात्र हैं। व्यावहारिक रूप मे समाज मे अर्थ-पदार्थ-व्यवस्था ही परम सत्य है। पार्थिव शक्तियो की अवस्थिति से ही विचारात्मक प्रक्रिया का जन्म होता है। एन्जिल्स ने बडे जोरदार शब्दो मे कहा है कि मनुष्य की इच्छाओ तथा उत्तेजनाओ का संघर्ष मानव के भावात्मक तत्वो को लेकर नहीं होता, अपितु उसका वास्तविक आधार मानव की शरीर-सबंधी अवस्थाएँ और आर्थिक समस्याएँ ही है। मार्क्स के अनुसार मानव-समाज दो विरोधी वर्ग—पूंजीपति और सर्वहारा—मे बना है। उन्ही के

---

[1] 'जागरण' ७ अगस्त १९३३ - सम्पादकीय टिप्पणी।

[2] 'जागरण' १९ अप्रैल १९३४ - सम्पादकीय टिप्पणी।

[3] गीता साने 'निखळलेली हिरकणी', पृष्ठ ५६।

परस्पर सघर्ष से समाज का विकास होता चल रहा है। फलत मार्क्सवादी लेखक के दो चरम लक्ष्य है—अर्थ के प्रकाश मे समाज की आलोचना करना तथा आधिभौतिक शक्तियो को कला का उपजीव्य बनाना। पूंजीवाद ने समाज के वर्ग-भेद को बहुत अधिक विषम और तीव्र बना दिया है, जिसके फलस्वरूप एक बहुत बडा वर्ग आर्थिक दासता की शृखलाओ मे जकडा हुआ है। आर्थिक विपन्नता-जन्य जीवन-धारण के तत्त्वो के अभाव मे व्यक्तित्व अत्यन्त निष्प्राण, संकीर्ण और रुद्ध हो जाता है। नैतिक मान्यताएँ और चारित्रिक मूल्य गिर जाते है। शोषक और शोषित दोनो वर्गो मे अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि, मानसिक विक्षिप्तता और यौन-विकृतियाँ आजाती है।

इस विचारधारा का प्रतिबिम्ब हिन्दी मे हमें सर्वप्रथम प्रेमचन्द के 'महाजनी सभ्यता' लेख मे मिलता है "मनुष्य समाज दो भागो मे बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने-खपने वालो का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बडे समुदाय को अपने बस मे किये हुए है।"[1] उनके 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त के निम्न शब्दो मे भी यही वर्ग-भेद का भाव प्रकट किया गया है "एक आदमी दस रुपये में गुजर करता है, दूसरे को दस हजार क्यो चाहिएँ? यह धाधली उसी वक्त तक चलेगी, जब तक जनता की आँखे बन्द है। क्षमा कीजिएगा, एक आदमी पखे की हवा खाए और खस-खाने मे बैठे और दूसरा आदमी दोपहर की धूप मे तपे, यह न न्याय है, न धर्म, यह धाधली है।"[2] इसी प्रकार का विचार 'गोदान' मे रायसाहब के द्वारा अभिव्यक्त कराया गया है "मै इसे स्वीकार करता हूँ कि किसी को भी दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नही है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। ···समाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमे कुछ लोग मौज करे और अधिक लोग पिसे और खपे, कभी सुखद नही हो सकती।···जिन्हे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस पाच-पाच हजार फटकारें, यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी।"[3] साम्यवादियों के समान वह पूंजीवाद और सामन्तवाद को पतनोन्मुख मानते है। 'प्रेमाश्रम' मे लखनपुर के ज़मीदारो के पूर्वजो का जर्जर भवन नाशोन्मुख सामन्ती-व्यवस्था का प्रतीक है, "दोनो ही खण्ड जगह-जगह टूट-फूट गए थे।·· कही दीवार फट गई थी और कही छत धँस पडी थी—एक वृद्ध रोगी की तरह जो लाठी के सहारे चलता हो···।"[4]

प्रेमचन्द के बाद यशपाल, राहुल साकृत्यायन एव नागार्जुन आदि की रचनाओ मे हमे वर्ग-सघर्ष एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। यशपाल का विचार है कि जीवन-निर्वाह के साधन सब को उपलब्ध होने चाहिएँ और इसका एक ही उपाय है कि उन साधनो पर सब का अधिकार हो, "जीवन-निर्वाह के

---

[1] 'हंस', दिसम्बर १९३६ ई०।

[2] प्रेमचन्द 'कर्मभूमि', आठवा सस्करण पृष्ठ १२३।

[3] प्रेमचन्द 'गोदान' तेरहवा संस्करण, पृष्ठ ५६।

[4] प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ ६।

साधनो पर हमे अधिकार हो । अपनी शक्ति के उपभोग और विकास का हमे अवसर हो ।"[1] पूंजीपतियो को वह मजदूरो के श्रम का अनुचित लाभ उठाकर, लखपति बनने वाले डकैत मानते है, "यह मिलें तुम्हारे और तुम्हारे भाइयो की मेहनत से खडी की गई है ।"[2] "मजदूरो की मेहनत की कमाई को जब आप पूंजीपतियो के कब्जे मे देखते हैं, तो इसे क्योकर डकैती नही समझते ?"[3] 'वर्ग-संघर्ष के वह समर्थक है । 'मनुष्य के रूप' मे वह कहते है "वास्तव मे यह झगड़ा श्रेणियो का है । · भद्र श्रेणी के सम्पन्न गमलो में सजा हुआ सहृदयता से महकता हुआ, यह समाज अपने आप मे चाहे कितना सन्तुष्ट हो, परन्तु समाज के लिए तो यह अन्याय ही है ।"[4]

मराठी के भी कुछ लेखको ने यह विश्वास प्रकट किया है कि अर्थ मे ही मानव-जीवन का सुख सन्निहित है । "अन्न, आश्रय और वस्त्र—ये प्राप्त हुए कि मानव सुखी हो जाएगा, यह स्वप्न भी एक दिशा से समाज के मन चक्षुओ के सामने शीघ्रता से आने लगा है ।" साने गुरुजी समाज मे विषमता का अभाव चाहते है और आर्थिक समानता को परम आवश्यक मानते हैं, क्योकि उसी पर अन्य समानताएँ आधारित हैं । यह समानता-सम्बन्धी विचार भारतीय दर्शन की उपज न होकर, रूसी मार्क्स-वाद का फल है । परिश्रम करने वाला भूखा मरे और आलसी मौज करे, यह उन्हे स्वीकार न था । उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त पौष्टिक भोजन मिले, राष्ट्रकार्य मे किसी प्रकार का भेदभाव न हो और प्रत्येक व्यक्ति अपने विवेक से कार्य ले । वह मजदूरो और गरीबो का राज्य चाहते है ।

खाडेकर गाधीवाद को त्याग कर समाजवाद की ओर झुकनेवालो मे से हे । 'उल्का' मे पूंजीवाद के विरुद्ध शखनाद करते हुए कहते है " · रोग से, उपवास से या अज्ञान से, तो लाखो आदमी हमारे देश मे अकारण मरण भोग रहे हैं, उनमे से प्रत्येक की मृत्यु एक व्यवस्थित हत्या ही है ।···परन्तु बुद्धि अथवा शरीर तिल भर भी न खर्च करते हुए, एक वर्ष मे हज़ारो की कमाई करने वाले लोग और भी बडे चोर नही हैं क्या ?" इसी प्रकार के विचार 'दोन ध्रुव' मे व्यक्त किये गए है, "मनुष्य-मनुष्य मे जो भेद हैं, वह नैसर्गिक न होकर कृत्रिम है । प्रत्येक को आनन्द व सुखोपभोग करने का अधिकार है । सुख मनुष्य के श्रम पर अवलम्बित होना चाहिये, पर आज स्थिति भिन्न है । श्रम के अनुरूप फल नही मिलता । · ···कला का जीवन से सम्बन्ध होना चाहिये । सम्पत्ति का विभाजन ठीक होना चाहिये । जीवन और कला का पृथक्करण न हो । भोग एव त्याग मे विलक्षण अन्तर आने मे विषमता आजाएगी, दुःख का साम्राज्य फैलेगा । अत इस अन्तर को दूर करो, गरीब व अमीर का भेद मिटा दो ।"

उधर माडखोळकर और पु० य० देशपाडे ने प्रारम्भ मे ही गरीबो की दयनीय

[1] यशपाल 'दादा कामरेड', पृष्ठ ३७ ।

[2] वही , पृष्ठ १८० ।

[3] वही , पृष्ठ [illegible] ।

[4] यशपाल, 'मनुष्य के रूप', पृष्ठ ८७-८८ ।

दशा और उससे मुक्त होने का उपाय बताते हुए साम्यवादी दर्शन का प्रतिपादन किया है। 'काळी राणी' मे देशपाडे के निम्न विचार देखिए "सत्य ? कैसा सत्य ? तुम गरीब हो, गुलाम हो, यही एक सत्य है, शेष सब झूंठ है। तुम्हारी गुलामी के कारणीभूत सब पदार्थो को नष्ट करना ही एकमात्र सत्य है। घर मे पत्नी और बच्चो के भूखों मरते समय साहूकार का कर्ज चुकाना या सरकार को कर देना सत्य का खून करना है, जबर्दस्ती कर्ज या कर वसूल करने वालो के मुँह पर थप्पड न लगाना ही अहिंसा का खून है। जिनके पेट भूख से पीठ मे लग गए है, ऐसे असख्य व्यक्तियो को पेट भरे हुए मनुष्यों द्वारा मुट्ठी-भर लोगों की सुविधा वाला नीति-उपदेश देना नीति का खून है। ...यदि तुम्हे जीना है, तो मुट्ठी-भर लोगो द्वारा शक्ति के बल पर अधिकृत जीवन-साधनो को हस्तगत करना होगा, उन साधनो पर थोड़े से धनिक लोगो का अनीतियुक्त और अमानुषीय स्वामित्व नष्ट कर, उन पर सबो की सत्ता स्थापित करनी होगी। इसी सत्ता को प्रस्थापित करने मे स्वतन्त्रता का सम्पूर्ण सार है। शेष सब पाखड है, ढकोसला है।"[1] वामन मल्हार जोशी ने भी समाज को सुखी एव सन्तुष्ट बनाने के लिए यही उपाय बताया था "यह असतोष तभी मिटेगा, जब सब को ऐसा अनुभव होने लगेगा कि कोई एक व्यक्ति स्वामी या सत्ताधीश नही, बल्कि सम्पूर्ण समाज ही सबका स्वामी है, सब काम उसी के है और सब समाज के नौकर है।"[2]

इस प्रकार इन लेखकों ने समाज मे समता स्थापित करने को अपना उद्देश्य मानकर, सघर्ष और विप्लव का आह्वान किया है। इनका सम्पूर्ण बल आर्थिक समता पर है। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि आर्थिक समता द्वारा ही सब प्रकार की समता नही लाई जा सकती, जैसा कि प्रेमचन्द ने कहा है, "धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते है। लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बडे का भेद केवल धन से ही तो नही होता।"[3] दूसरे, यह विचारधारा मनुष्य के आत्मान्वेषण को एक बुर्जुआ भ्रान्ति मानती है और मनुष्य को एक यत्र-मात्र समझती है, जो भोजन, वस्त्र और घर मिलने मात्र से सुखी हो जायगा। अन्तर की उपेक्षा कर बाह्य उपकरणो मात्र पर बल देना न तो सत्य ही है और न मानवजाति के लिए मगलमय ही। तीसरे, बौद्धिक रूप से मार्क्सवादी होकर भी इन लेखको के हृदय, भाव और दृष्टि से यह दर्शन समरस नही हो पाया है। ये लेखक भारत की परिस्थितियो का बिना अध्ययन किये हुए और उन्हे न पहचानते हुए, क्रान्ति की पूर्णता केवल मजदूरो के श्रेणीबद्ध आन्दोलन द्वारा सभव समझते है, क्योकि मार्क्स और लेनिन के मतानुसार क्राति की सफलता का वही एक मार्ग है। वे यह नही समझते कि हिन्दुस्तान जैसे पिछडे देश मे, जहाँ औद्योगीकरण अपनी बाल्यावस्था मे है, थोड़े से श्रमजीवी जन-क्रान्ति कैसे कर

---

[1] पु० य० देशपाडे, 'काली राणी', पृष्ठ १४७।

[2] वामन मल्हार जोशी, 'सुशीला चा देव', पृष्ठ २६५।

[3] प्रेमचन्द, 'गोदान'. तेरहवा संस्करण, पृष्ठ ५६।

सकते हैं। उनका यह अस्वीकार करना कि मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया कई स्तरो पर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामो मे होता रहता है, कुछ उपयुक्त प्रतीत नही होता, क्योकि मनुष्य अपने को केवल वर्ग-सघर्ष ही नही, वरन् अन्य दिशाओ मे भी उपलब्ध करता है। वस्तुत. इन लेखको ने मानव-सत्य को उसकी समग्रता मे ग्रहण न कर राजनीतिक कमिस्सार की दृष्टि से अपनाया है, फिर भी दलितो, शोषितो, उत्पीड़ितो के प्रति अनुकम्पा जाग्रत करने के कारण यह विचारधारा अभिनन्दन की पात्र है।

भोगवाद—हमारे यहाँ चार्वाक दर्शन एक बहुत बदनाम दर्शन है, क्योकि वह जीवन की गभीर समस्याओ पर विचार न कर, मनुष्यो को सुखोपभोग का उपदेश देता है। 'यावत् जीवेत् सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' वाली विचारधारा ही इसकी आधार-शिला है। द्विवेदी-युग की असह्य नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह एव जीवन से पलायन करने की प्रवृत्ति के कारण आज के कुछ उपन्यासकारो ने इस दर्शन को ज्यो-का-त्यो, तथा कुछ ने उसमे सशोधन कर उसे अपनी रचनाओ मे प्रस्तुत किया है। कुछ नग्न भोगवाद के पक्षपाती है, तो कुछ स्वस्थ भोगवाद के समर्थक है। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' का बीजगुप्त भूत और भविष्य को कल्पना की वस्तु समझकर, उनकी चिन्ता नही करता। उसका चिन्त्य है—वर्तमान, उसका उल्लास-विलास, ससार का सुख और यौवन-जन्य उन्माद। चित्रलेखा भी अपने मोहक रूप, यौवन एव सौन्दर्य द्वारा श्वेताक को जो दीक्षा देती है, उसका सार है "जिसे तुम साधना कहते हो, वह आत्मा का हनन है। मैंने तुम्हे केवल इतना दिखलाया है कि मादकता जीवन का प्रधान अंग है।"[1] राहुल साकृत्यायन 'परलोकवाद के लिए एक क्षण भी देना जीवन का अपव्यय' समझते है तथा लौकिक सुखवाद की सिद्धान्त-त्रयी 'खाओ-पिओ मौज करो' का प्रचार करते दृष्टिगत होते है।

यशपाल की 'दिव्या' का मारिश आत्मा-परमात्मा मे विश्वास न कर इस जीवन और उसके सुख को ही सर्वस्व मानता है, "परलोक मे अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग, त्याग नही।···भोग की इच्छा है, तो साधन रहते भोग करो।· परलोक केवल अनुमान है, कल्पना है, प्रत्यक्ष नही।···जीव मे पृथक आत्मा कहाँ है ? उसका अस्तित्व कैसे सभव है ?—यह जीवन ही सत्य है। यह ससार ही सत्य है। जो पाना है, इसी जीवन मे पाओ।"[2]

माडखोळकर के 'नाग कन्या' का नायक ' जो कुछ पास है, उसका यथेच्छ उपभोग करो" के सिद्धान्त मे विश्वास करने वाला है। नायिका से भेट होते ही वह सब कुछ भूलकर कहता है "यह रात, यह एकान्त और प्रेम, इन सबका निर्द्वन्द्व होकर आस्वादन करना चाहिये।" उसका यह कथन उमरखैयाम की निम्न पक्तियो का स्मरण दिला देता है—

---

[1] भगवतीचरण वर्मा, 'चित्रलेखा' : दसवा संस्करण, पृष्ठ २७।

[2] यशपाल, 'दिव्या' : तीसरा संस्करण, पृष्ठ १३६-३७।

"आह्, फिल दी कप, व्हाट बूट्स इट टु रिपीट
हाउ टाइम इज स्लिपिन्ग अन्डरनीथ आवर फीट
अनबौर्न टुमौरो एन्ड डेड यस्टरडे
व्हाई फ्रेट एबाउट दैम, इफ टुडे बी स्वीट,—"

अर्थात् 'मदिरा से प्याला भरदो, समय बीत रहा है, यह कहने से क्या लाभ। यदि वर्तमान सुखमय है, तो विगत और भविष्य के सम्बन्ध मे चिन्ता क्यो ?' 'दोन ध्रुव' का रमाकान्त सौन्दर्यवाद का समर्थन करते हुए "सुन्दर तरुणी को ही सम्पूर्ण कलाओं का मनोहर सगम"[1] मानता है तथा जीवन को आनन्द स्थल समझता है, "जीवन ! हरी-हरी घास की ओर देखना, पक्षियो का कलरव सुनना ही मानव-जीवन है। ·· जीवन का ध्येय आनन्द है।"[2]

यद्यपि भगवतीचरण वर्मा आदि हिन्दी लेखक सन्यास के विरोधी और सांसारिक वैभव के उपभोग के समर्थक है, तथापि बीजगुप्त के बलिदान और त्याग को दिखाकर उन्होने स्वीकार कर लिया है कि मानव को ससार का उपभोग तो करना चाहिये, पर स्वस्थ रूप मे। उसे वासना का क्रीडा नही बनना है, जो सर्वदा उसी मे गिजगिजाता रहता है, अपितु अवसर आने पर उससे उठने की सामर्थ्य भी उसे उपार्जित करनी चाहिये।

प्रसाद जी ने भी सन्यास और निषेध का विरोध करते हुए, भावी जीवन के लिए सुन्दर सन्देश दिया है, "मेरी सम्मति मे जीवन को सभी तरह की सुविधा मिलनी चाहिये। यह मै नही मानता कि मनुष्य अपने सतोष से ही सम्राट हो जाता है, और अभिलाषाओ से दरिद्र। मानव-जीवन लालसाओ का बना हुआ सुन्दर चित्र है। इसका रग छीनकर, उसे रेखाचित्र बना देने से मुझे सतोष नही होगा।"[3]

वामनराव जोशी के 'सुशीला चा देव' मे गिरधरराव या रावबा के माध्यम से सुखवाद का चित्रण तो किया गया है, रावबा कहता है "सेल्फ सैक्रीफाइस इज ए लग्जरी, ए सोर्ट आफ इनडलजेंस" अर्थात् आत्म-बलिदान एक व्यसन है, उसका विश्वास है कि "सुख के सिवाय अन्य साध्य नही···परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार करना मेरा लक्ष्य है और 'अनुरूप' का अर्थ है, अधिकाधिक सुख देने वाला, जीवन-संघर्ष मे अधिक से अधिक सामर्थ्य देने वाला।"[4] परन्तु उन्होने उसके आत्मोन्नतिकारी रूप के स्थान पर आत्म-विनाशकारी रूप दिखाकर, उसका विरोध ही किया है। वह प्रधान रूप से मानवतावादी लेखक थे। अत. उपभोगवाद उन्हे किसी भी प्रकार स्वीकार्य न हो सकता था। साराश यह है कि यद्यपि कुछ लेखको ने 'उपभोगवाद' का समर्थन किया है, तथापि उसकी सबल प्रतिष्ठा हमारे यहाँ के उपन्यासो मे नही हो

---

[1] वि० स० खाडेकर, 'दोन ध्रुव', पृष्ठ ५७।

[2] वही , पृष्ठ २३०।

[3] जयशकर प्रसाद 'तितली' छठा संस्करण पृष्ठ १२५।

[4] वामन मल्हार जोशी' 'सुशीला चा देव', पृष्ठ १२६।

पाई है, क्योंकि सदा से हमारी सस्कृति और धर्म ने प्रवृत्ति से अधिक विरक्ति को प्रश्रय दिया है।

यौन-पावित्र्य सम्बन्धी नवीन दर्शन—मध्य-युग मे समाज यौन-पवित्रता को बडा महत्त्व देता था। स्त्री की गरिमा, उसका समाज मे आदर-सम्मान और उसकी पवित्रता यौन-निष्ठा पर अवलंबित थी। इस सम्बन्ध मे उसकी तनिक-सी उच्छृंखलता, उसका थोडा-सा भी स्खलन समाज को असह्य था। परन्तु आधुनिक युग मे एक ओर असह्य नैतिक बन्धनो के प्रति विद्रोह भावना तथा दूसरी ओर फ्राइड, एडलर, जुग आदि मनोविश्लेषणवादियो तथा मार्क्स के अर्थवादी-दर्शन के परिणाम-स्वरूप यौन-पवित्रता सम्बन्धी मानदड बदल गए है। फ्राइड के अनुसार यदि अन्तर-मन की इच्छाओ का लगातार दमन किया जाय, तो मनुष्य के जीवन मे बहुत-सी अस्वास्थ्यकर ग्रन्थिया पड जाती हैं और बहुत से विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अत इन्द्रियासक्ति को न दबाते हुए, उसका उपशमन करना चाहिये। फ्राइड आदि मनोविश्लेषणवादियो का साहित्य पर यह प्रभाव पडा कि यौन-पावित्र्य को उस गरिमा के सिंहासन से ढकेल दिया गया, जिस पर वह इस देश के साहित्य मे शताब्दियो से आरूढ था।

यशपाल की यह स्पष्ट धारणा प्रतीत होती है कि स्त्री को अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सतीत्व को बहा देना चाहिये और हृदय एक को देते हुए भी आवश्यकतावश शरीर अनेक को अर्पित करने मे कुठित नही होना चाहिये। 'मनुष्य के रूप' मे सोमा को लेखक पवित्र मानता है, क्योकि वह यदि अनेक पुरुषो से सम्बन्ध स्थापित करती है, तो भावना से प्रेरित होकर नही, अपितु इसलिए कि उसका अदम्य मनोवेग उसे ऐसा करने को बाध्य करता है और अदम्य मनोवेग पाप की मलिनता से असपृक्त रहता है। जैनेन्द्र की नायिकाएँ भी अन्य पुरुषो से सम्बन्ध रखती है, पर उन्होने उस नैतिक स्खलन को 'आत्म-पीडन' की दार्शनिकता से आवरित कर उसे गरिमा प्रदान करने की चेष्टा की है। वह नारीत्व को सतीत्व से बड़ा मानते हैं, तथा आत्म-दान को ही उसका परम पौरुष समझते हैं। जो सतीत्व विवाह के बाद प्रेम की पुकार को ठुकरावे, वह उनकी दृष्टि मे कारागार है। यदि सतीत्व, उसे लौह शृखला मे बाधकर व्यक्ति-विशेष से जकड देता है, तो नारीत्व इस शृखला का उन्मोचन करती है। उसी के द्वारा नारी की मुक्ति है। नारीत्व के विकास के लिए सतीत्व से स्खलन भी लेखक को स्वीकार है। मृणाल पर-पुरुष से सम्बन्ध रखकर भी सती, त्यागमयी और जीवन-साधिका बनी रहती है। ज्यो-ज्यो मृणाल गर्हित समाज मे गहरी पैठती जाती है और ज्यो-ज्यो उसका सम्पर्क आचारहीन समाज से बढता जाता है, त्यो-त्यो लेखक अपनी भावुक दार्शनिकता के बल पर उसके व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्रदान करता और साधना के मार्ग पर ऊँचा उठाता चला जाता है। प्रत्यक्ष मे उपन्यास किसी विशेष साधना-पथ का सकेत नही करता, तथापि लेखक की दृष्टि मे वह उत्कृष्टतम साधिका बनी हुई है। इन दोनो लेखको ने समाज की

परम्परागत नैतिक धारणाओ से विद्रोह करने वाले पात्रों का चित्रण किया है और अपनी-अपनी दार्शनिकता के आधार पर उनका समर्थन किया है। यह दार्शनिकता कितनी ही अभिनव क्यो न हो, पर उसे हम साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ दृष्टि नही कह सकते। व्यभिचार कभी साधना नही बन सकता, पर-पुरुष संगति कभी जीवन-सेवा नही कहला सकती, पर आज इन्ही को यह मान्यता दी जाने की चेष्टा की जारही है।

मराठी मे भी गत पन्द्रह वर्षो से फ्राइड के प्रभाव के परिणामस्वरूप लैंगिक-स्वातत्र्य एव आचार-भ्रष्टता का समर्थन किया जारहा है। वहाँ भी पातिव्रत्य-भग के औचित्य का विवेचन किया गया है और यह प्रमाणित करने की चेष्टा की जा रही है कि विवाह व प्रेम अन्योन्याश्रित नही है। डा० केतकर के विचार इस सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रगतिशील है। यद्यपि उनके विचारो का कारण फ्राइड आदि का प्रभाव न होकर, उनकी विचित्र समाजशास्त्रीय दृष्टि है। "खेत के स्वामी को जिस प्रकार यह निर्णय करने का अधिकार है कि वह खेत मे कितने और कौनसे बीज बोए, उसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति किस के द्वारा व कितनी करे, इस बात का निर्णय करने का अधिकार स्त्री को होना चाहिये। अपने इच्छित पुरुष को अधिकृत करने और विवाह न करते हुए भी सान्तानोत्पादन करने की स्वतन्त्रता उसे होनी चाहिये।"[१] इसी प्रकार 'विचक्षणा' मे पद्मनाभ का कहना है कि यदि सन्तान न हो और उसका कारण पति का दोष हो, तो पत्नी गुरु की सहायता से सन्तान अवश्य उत्पन्न करे। पर-पुरुष के ससर्ग से सन्तानोत्पत्ति का समर्थन मोतीलाल-रामप्यारी द्वारा भी कराया गया है। 'तर्कटनीति' मे भी स्त्री-पुरुष के नीति-नियमो को अधिक सुविधाजनक एव सुखपूर्ण बनाने का प्रयत्न है। साराश यह कि आधुनिक उपन्यासों मे यौन-पवित्रता को उतना महत्व नही दिया जारहा है, जितना प्राचीन काल में दिया जाता था। कुछ उपन्यासकारो ने फ्राइड की विचारधारा से प्रभावित होकर, तो कुछ ने अपनी भावुक दार्शनिकता और आत्म-पीड़न के सिद्धान्त के आधार पर और कुछ ने विशिष्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण यौन-उच्छृखलता का समर्थन किया है। कारण और प्रेरणा कुछ भी रही हो, पर समाज-कल्याण और मर्यादा की दृष्टि से लेखकों की यह प्रवृत्ति अभिनन्दनीय नही है।

पिछली अर्ध-शताब्दी मे विश्व-उपन्यास मे निस्सन्देह मानव-तत्त्व का विघटन हुआ है। इस विघटन की प्रकृति को समझने के लिए उन चिन्तन-धाराओ और प्रवृत्तियो को समझना आवश्यक है जिनका व्यापक प्रभाव समकालीन उपन्यासो पर पड़ा है। इनमे सबसे पहली धारा उस यथार्थवाद की है, जिसका उदय रोमांटिसिज्म की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ और जिसको जोला ने अपने उपन्यासो मे प्रथम बार पूर्ण-रूप मे प्रतिष्ठत किया। जोला के इस यथार्थवाद को बाद मे प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) की सज्ञा प्रदान की गई। उसका मत है कि साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह जीवन के विश्वसनीव, यथातथ्य चित्रो को अकित करे, चाहे वे कितने ही बुरे

---

[१] डा० केतकर, 'प्रियदवा', पृष्ठ ११४-११६।

एव भ्रष्ट क्यो न हो। जब वह मनुष्यो के रोगो तथा कुरीतियो को चित्रित करे, तो वह इतना तथ्यपूर्ण हो कि पाठको को उसकी वास्तविकता मे किसी भी प्रकार का सन्देह न हो।"[१]

इसके अन्तर्गत मानव को इस प्रकार चित्रित किया जाता है, जैसे वह भी विराट् प्राकृतिक-जीवन मे पशु-पक्षियो की ही श्रेणी का जीव है और मूलत. उसमे भी क्षुधा, काम, अह तथा गिरोह बनाने की प्रवृत्तियाँ है, और वे ही उसके सम्पूर्ण आचरण को परिचालित करती है। यह मनुष्य को प्रकृति का पुतला समझने वाला तत्त्वदर्शन है। इस दर्शन ने मानव को सीमित और एकागी बना दिया है, उसे उसकी परम्परागत श्रेष्ठता से वचित कर पशु-धर्मी और विकृतिपूर्ण जीव मान लिया है। वह मनुष्य को सामाजिक और बौद्धिक विकास-भूमियो से बाहर ले जाकर, उसे केवल अर्धविक्षिप्त, कामुक और विकृत रोगी मानता है, "उसे काम-क्रोध आदि मनोरोगो का गट्ठर-मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणो, कामासक्त चेष्टाओ, अहकार मे उत्पन्न धार्मिक वृत्तियो का विशेष भाव से उल्लेख करता है।" प्रकृतवादी-दर्शन ने स्त्री-जाति के साथ भी बडा अन्याय किया है, क्योकि इसकी दृष्टि स्त्रियो के प्रति अत्यन्त एकागी है और उसके साढे-तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख मे ही रमी रहती है। वह मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धो को तुच्छ और सामाजिक बन्धनो की बाधा को घातक समझता है। इन्ही दोषो को देखकर प्रकृतवादियो के सम्बन्ध मे कहा गया है, "दे प्रौमिज्ड टू गिव अस ए न्यू वर्ल्ड, इन्स्टेड दे गेव ए होस्पिटल" अर्थात् उन्होने एक नवीन ससार प्रस्तुत करने का वचन दिया था, पर दिया केवल अस्पताल।

अज्ञेयवाद (ऐगनोस्टिसिज्म)—ईश्वर मे अविश्वास, उसके अस्तित्व की अस्वीकृति ही नास्तिकवाद है। आधुनिक उपन्यासो मे इस नास्तिकवादी विचारधारा को ज्यो-का-त्यो नही अपनाया गया है, पर आज के बौद्धिक युग मे, जब कि प्रत्येक वस्तु तर्क व प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर कसी जाती है, ईश्वर के अस्तित्व मे सन्देह अवश्य किया गया है। इसी जीवन-दृष्टि को ऐगनोस्टिसिज्म कहा गया है। अधिकाश भारतीय उपान्यासकार पश्चिम की इस दूषित वायु से प्रभावित नही हुए है, वे आज भी ईश्वर मे अगाध श्रद्धा एव दृढ निष्ठा रखते हैं, तथापि कही-कही उनके पात्र ईश्वर मे सदेह प्रकट करते देखे जाते है। इन पात्रो की नास्तिकतावादी विचारधारा को भले ही हम लेखको का प्रतिनिधि दृष्टिकोण न मानें, पर इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि लेखक इस विचारधारा से परिचित है, उन पर इस विचार-प्रवाह का इतना अधिक प्रभाव पडा है कि उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उन्होने कुछ पात्रो का सृजन किया है।

---

[१] "जोला मेन्टेन्ड दैट दी ड्यूटी आफ ए राइटर टु गिव ए प्रिसाइज एण्ड फेथफुल डेलिनिएशन आफ मैन इन दी प्रिमिटिव एण्ड मोस्ट ब्रूटल फंक्शन्स आफ लाइफ, विदाउट श्रिंकिंग दी [illegible] रलिटैप [illegible] टु पोर्ट्रेइंग ह्यूमन वाइसेज, डिसीजेज एण्ड मोरल डिसोर्डर।"
[illegible] : 'मोडिर्न लिट्रेचर एण्ड [illegible]', पृष्ठ [illegible]।

हिन्दी मे 'गोदान', 'चित्रलेखा' तथा 'शेखर एक जीवनी' मे नास्तिकवादी विचार हमे बीच बीच मे उपलब्ध होते है। 'गोदान' के मेहता स्वाध्याय, चिन्तन और मनन के बाद, जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह नास्तिकवाद के अत्यन्त निकट है। आत्मवाद और अनात्मवाद की छानबीन के उपरान्त वह 'सेवामार्ग' को ही श्रेयस्कर एव कल्याणकारी मानते है। लेखक मेहता के व्यक्तित्व का विश्लेपरण करते हुए लिखता है, 'किसी सर्वज्ञ ईश्वर मे उनका विश्वास न था···यह धारणा उनके मन मे दृढ हो गई थी कि प्राणियो के जन्म-मरण, सुख-दुख, पाप-पुण्य मे कोई ईश्वरीय विधान नही है। उनका खयाल था कि मनुष्य ने अपने अहकार मे अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हर-एक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। ···मानव-समाज की एकता मे उनका दृढ विश्वास था, मगर इस विश्वास के लिए उन्हे ईश्वर-तत्व के मानने की जरूरत न मालूम होती थी।"[१] उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने मेहता द्वारा उन व्यक्तियो का दृष्टिकोण स्पष्ट कराया है, जो उदात्त भावनाओ—मानव-कल्याण और समाज-हित से अनुप्रेरित होते हुए भी ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही रखते।

नास्तिकवाद की प्रतिष्ठा करने के लिए ही भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' मे चाणक्य और कुमारगिरि का शास्त्रार्थ कराया है और उस शास्त्रार्थ मे आस्तिकवादी कुमारगिरि की पराजय दिखाई है। चाणक्य कहता है, "हाँ, ईश्वर अनादि है, पर उस ईश्वर को, मै दावे के साथ कहता हूँ, कोई नही जानता, वह कल्पना से परे है।·· उस ईश्वर को पाने के लिए घोर तपस्या करो, पर सब व्यर्थ है—निष्फल है। ···हमारा और तुम्हारा ईश्वर कल्पनाजनित ईश्वर है। अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए ही समाज ने उस ईश्वर को जन्म दिया है।"[२] आगे चलकर वह अन्तरात्मा के विषय मे कहते है, "अन्तरात्मा ईश्वर द्वारा निर्मित नही है, वरन् समाज द्वारा निर्मित है। यदि वास्तव मे वह ईश्वर-प्रदत्त होती, भिन्न-भिन्न समाज के व्यक्तियो की अन्तरात्माएँ भिन्न-भिन्न न होती।"[३] उपर्युक्त उद्धरणो मे, जो अकाट्य तर्क उपस्थित किये गए है, वे केवल उपन्यास के पात्रो को ही प्रभावित एव नतमस्तक नही कर देते, अपितु पाठक-गण भी उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहते। साथ ही सभा मे कुमारगिरि के यह स्वीकार करने से कि वस्तुत. सभा ने जो कुछ ईश्वर समझा, वह ईश्वर न होकर कुमारगिरि की आत्म-शक्ति का प्रभाव था, उसकी कल्पना द्वारा निर्मित ईश्वर का रूप था, स्पष्ट हो जाता है कि नास्तिकवाद की विजय ही लेखक को अभिप्रेत थी।

'शेखर: एक जीवनी' मे भी यह प्रश्न उठाया गया है। शेखर प्रारंभ से ही जिज्ञासु है। वह प्रत्येक विषय मे पूर्ण ज्ञान चाहता है। उसे बार-बार बताया जाता है

---

[१] प्रेमचन्द 'गोदान' : तेरहवा संस्करण, पृष्ठ ३१५-३१६।

[२] भगवतीचरण वर्मा 'चित्रलेखा' : दसवा संस्करण, पृष्ठ ४०।

[३] वही, वही, पृष्ठ ४१।

कि जो कुछ करता है, ईश्वर करता है। पर उसकी समझ में यह बात नहीं आती कि जब ईश्वर न्यायशील और दयालु है, तो वह युद्ध, अकाल, मृत्यु, रोग, बाढ आदि क्यों भेजता है। सन्देह के झूले पर झूलता हुआ शेखर अपनी छानबीन जारी रखता है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है, "नहीं है ईश्वर—नहीं है, नहीं है।'[1] वह बुद्धिवादी और घोर नास्तिक हो जाता है, "उसने देखा—समझ लिया—कोई ऐसा नहीं है जिस पर निर्भर किया जा सके, जिसे प्रत्येक बात में पूर्ण, अचूक माना जा सके। यदि किसी का कोई है, तो उसकी अपनी बुद्धि, मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है।'[2] स्पष्ट है कि 'शेखर एक जीवनी' में अज्ञेय शुद्ध वैज्ञानिक बुद्धिवादी, नास्तिक बुद्धिवादी बनकर उभरे हैं। शेखर स्वयं लेखक के विचारों का प्रतिनिधि है। 'वैशाली की नगरवधु' का वैद्य भी ईश्वर को कुछ नहीं मानता "परमेश्वर कुछ नहीं है, परलोक नहीं है, वेद धोखे की टट्टी है, बुद्धि ही सब कुछ है।"[3]

धार्मिक श्रद्धा या आस्तिक-बुद्धि का अभाव आज सुशिक्षित वर्ग में दिखाई पड़ रहा है, इसका कारण सहित विवेचन मराठी में वामनराव जोशी ने 'सुशीला चा देव' में किया है। विपन्नावस्था में निराश एवं हताश व्यक्ति ईश्वर को असमर्थ पाकर, उसकी किस प्रकार भर्त्सना करता है, देखिये, "यह कहा जाता है कि ईश्वर आकाश अथवा स्वर्ग से, कभी क्षीर-समुद्र तो कभी कैलाशपर्वत से सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करता है, पर मुझे तो ऐसा लगता है कि उसकी सामर्थ्य अपनी मैली-कुचैली गुडिया की रक्षा करने वाली उषा से अधिक नहीं है।" इसी अश्रद्धा के कारण सुशीला देव-मूर्ति को जलसमाधि देती है और 'स्नेह' को ही देवता मानने लगती है। लेखक का अखंड विश्वास है, "यदि तारेंगे तो हम ही अपने को तारेंगे और यदि मरेंगे तो अपनी ही कृति के कारण।"[4] 'उल्का' में खाण्डेकर ने एक ओर धनिकों के विलास-सुख एवं दूसरी ओर अभाव-पीड़ितों के दैन्य से द्रवित हो परमेश्वर के अस्तित्व की निर्भर्त्सना की है, तो माडखोळकर ने साम्यवाद से प्रभावित पात्र मुक्ता को आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व में अविश्वास प्रकट करते हुए चित्रित किया है "यदि आत्मा अमर भी हो, तो जो आँखों से नहीं दिखता, जिससे वार्तालाप नहीं किया जा सकता तथा जिसे हाथों से स्पर्श नहीं किया जा सकता, उसके अमर होने से क्या लाभ ?...शरीर के नष्ट होने पर तुम्हारे आत्मा के अमरत्व सम्बन्धी ज्ञान से क्या संतोष हो सकता है ?"[5] कर्म का महत्त्व स्वीकार करने वाले कुछ पात्रों ने भी ईश्वर के प्रति अपना संदेह प्रकट किया है। हरिभाऊ के 'कर्मयोग' का चन्द्रशेखर इसी प्रकार का पात्र है। "आज हजारों वर्ष से जिसकी खोज बड़ी अखंड व गंभीर गति से चल रही है, पर जो अभी तक 'अनिर्वचनीय'

---

[1] अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग : तीसरा संस्करण, पृष्ठ १०० ।

[2] अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग : तृतीय संस्करण, पृष्ठ १०० ।

[3] चतुरसेन शास्त्री, 'वैशाली की नगरवधू', पृष्ठ ४६५ ।

[4] वामन मल्हार जोशी, 'सुशीला चा देव', पृष्ठ २६१ ।

[5] माडखोळकर, '[illegible]', पृष्ठ ८२ ।

एवं 'अगाध' आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है, उसकी ओर अधिक खोज करने से क्या लाभ।"

मराठी के इन लेखको पर मिल और स्पैन्सर के विचारो की प्रगाढ़ छाया थी। साथ ही चतुर्दिक परिस्थिति-जन्य निराशा ने भी उन्हे इस प्रकार सोचने को वाध्य किया। फलस्वरूप उन्होने अपने उपन्यासों मे ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह प्रकट किया। हिन्दी लेखकों पर मिल और स्पैन्सर के विचारो का प्रभाव इतना नहीं था, जितना मार्क्सवाद एवं परिस्थिति जन्य निराशा का। पर मराठी तथा हिन्दी लेखकों की कृतियों में ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह स्पष्ट शब्दों मे प्रकट किया गया है। यह विचारधारा निराशा का परिणाम है और निराशा तथा कुंठा-जन्य दर्शन कभी स्वस्थकर नही हो सकता। यह दर्शन मानव-मन मे विक्षोभ, अशांति और अश्रद्धा भले ही उत्पन्न करे, समाज को स्वस्थ मार्ग पर ले जाने में असमर्थ है, क्योकि आस्था और श्रद्धा से हीन समाज कभी सुखी नही हो सकता।

नियतिवाद—नास्तिकतावादी विचारधारा का विरोधी है नियतिवादी दर्शन, जो ईश्वर तथा उसकी विधानात्मक शक्ति में विश्वास करता है तथा यह मानता है कि जीवन मे प्रत्येक कार्य उसी परमसत्ता की संचालिका शक्ति के इंगित पर होता है तथा उसके नियन्त्रण से बाहर कोई नही है। विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति को भी उसके सम्मुख लाचार और नतमस्तक होना पड़ता है। हिन्दी में प्रसाद जी अपने जीवन मे 'नियतिवाद' के विश्वासी रहे, इस तथ्य का संकेत उनके नाटक ही नहीं देते, उपन्यासों मे नियोजित घटनाएँ भी प्रस्तुत करती हैं। 'कंकाल' मे किशोरी यात्रा करने आती है, पर मिल जाता है बाल-सहचर निरंजन। मंगल तारा की सहायता करने आता है, पर एक दूसरी ही घटना का नायक बन जाता है। घंटी विजय को खींच लाती है, तो शैला लंदन से भारत में चली आती है, जहां उसके पिता कभी नील का गोदाम चलाते थे। सब चेष्टा करते हैं कि एक निर्दिष्ट मार्ग पर चले, पर सब व्यर्थ। नियति-सरिता की धारा बड़े वेग से उन्हे अदृष्ट की ओर बढ़ाए चली जाती है। अदृष्ट-सूत्रधार की डोरी द्वारा सभी परवश, पराधीन कठपुतली की तरह नाचते हैं। चाहते है कुछ, करते हैं कुछ, और हो जाता है कुछ और। 'गोदान' में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि संसार दुखमय है, जिसका परिचालन ऐसी शक्तियों द्वारा होता है जो मानवीय अभिलाषाओ एवं रोगो तथा मनोवेगों के प्रति बिल्कुल उदासीन होती है।

जैनेन्द्र भी नियतिवादी हैं और कॉस्मिक विल (परमात्मा) में प्रत्यय रखते हैं। उनके नियतिवाद का अर्थ है कि भवितव्य अज्ञेय है, कल्पनातीत है और बेचारा मनुष्य उससे बंधा होने के कारण दीन है। अनागत सदा अंधकार मे रहता है। घटना-चक्र किस क्रम से घूमता है, यह हमारे लिए सर्वथा अज्ञात है। भाग्य का तर्क हमारे तर्कों और सिद्धान्तो में नही बांधा जा सकता। भावी के प्रति हमारा सम्बन्ध विस्मय और उत्सुकता का ही हो सकता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन की गति तर्कहीन

है । वस्तुत जो भी घटित होता है, उसके पीछे नियम है और यही नियम नियति है । 'त्याग-पत्र' मे लेखक ने स्पष्ट कहा है, ' नियति का लेख बंधा है । एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ न हो सकेगा । वह बदलता नही, बदलेगा नही ।''[1] 'सुखदा' मे भी उन्होंने यही कहा है कि यदि मनुष्य कुछ दूर तक कर्त्तत्व मे स्वतत्र भी है, तो भी वह अन्ततः खेल का मोहरा ही है, "खेल, यह सब किसका है ? क्या हम जो अपने मन मे नाना सकल्प-विकल्प रचा करते है, खेल का क्रम उनसे बनता है ? अरे, यह तो मन समझाने की बातें है । खिलाडी तो जाने ऊपर-नीचे, यहाँ-वहाँ, कहाँ छिपा बैठा है ? और हम उसके खेल मे कठपुतली की मानिन्द नाचते है ।"[2] पर जैनेन्द्र यह नही चाहते कि नियति मे आस्था, जडता या निस्पन्दता के भाव उत्पन्न करे, मानव को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनाए । अत· उनका नियतिवाद निराशावादी नही है । यही मत अज्ञेय का है । क्रान्तिकारियो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए वह 'शेखर' की भूमिका मे लिखते है, "क्रान्तिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं । लेकिन यह नियतिवाद उन्हे अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नही होता, वह उन्हे अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है—क्रातिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान-सगत कार्य-कारण परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है ।"[3]

भगवतीचरण वर्मा ने भी अपने 'चित्रलेखा' मे बीजगुप्त द्वारा अदृश्य शक्ति की महान इच्छा को ही सब कुछ और उसके सामने मनुष्य को लाचार और असमर्थ बताया है । बीजगुप्त कहता है, "हमारे प्रत्येक कार्य मे अदृश्य का हाथ है । उसकी इच्छा ही सब कुछ है ।"[4] आगे चलकर भी काशी पहुँचने पर यह नियति मे विश्वास करता दृष्टिगत होता है, "मनुष्य परतत्र है, परिस्थितियो का दास है, लक्ष्यहीन है । एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती रहती है, मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य ही नही है । मनुष्य स्वालम्बी नही है, वह कर्त्ता भी नही है, साधन-मात्र है ।"[5]

कुछ उपन्यासकार इस नियति, अदृश्य या भाग्य को कोई अनियमित, उच्छृखल शक्ति न मानकर नियम मे बधी हुई शक्ति मानते है, जो पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है । 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त एव डा. केतकर के 'ब्राह्मण कन्या' के सत्यव्रत का यही विचार है । बीजगुप्त श्वेताक से कहता है, "श्वेताक, यह याद रखना कि मनुष्य स्वतत्र विचार वाला प्राणी होते हुए भी परिस्थितियो का दास है और यह परिस्थिति-चक्र क्या है, पूर्व जन्म के कर्मों के फल का विधान है ।"[6] 'ब्राह्मण-कन्या' मे भी कर्मवाद का समर्थन किया गया है । "हम जो कुछ भोगते हैं, वह कर्मों के कारण ।

---

१. जैनेन्द्र कुमार, 'त्यागपत्र' : १९५६ ई० संस्करण, पृष्ठ ४५ ।
२. जैनेन्द्र कुमार, 'सुखदा' , पृष्ठ २०३ ।
३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी, भूमिका, पृष्ठ 'न' ।
४. भगवतीचरण वर्मा, 'चित्रलेखा' , पृष्ठ १०९ । दसवां संस्करण ।
५. वही , पृष्ठ १५८ ।
६. वही , पृष्ठ ६७ ।

आनुवशिक संस्कार और संपत्ति के द्वारा, जो प्राप्त होता है, उसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य हमे प्राप्त हुआ है वह हमारे पूर्वजन्म के कर्मो के कारण ही ।"[1]

कुछ लेखको ने नियति और कर्मफल का विरोध भी किया है । इस विरोध का कारण प्राय· समाजवादी विचार एव ईश्वर की शक्ति मे अविश्वास है । उदाहरण के लिए, यशपाल की 'दिव्या' का मारिश, जो ऐतिहासिक उपन्यास का पात्र होते हुए भी लेखक की समाजवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए अवतरित हुआ है, कहता है, "भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान । भद्रे ! इसके अतिरिक्त भाग्य और कर्मफल कुछ नही ।"[2] भगवतीचरण वर्मा ने भी 'टेढे मेढे रास्ते मे' नियति के सम्बन्ध मे लिखा है . 'वह एक बहाना है, अपनी पराजय स्वीकार न करने का । अपनी असफलता की, अपनी पराजय की जिम्मेदारी अपनी कमजोरी पर न रखकर अपनी कल्पना द्वारा एक अज्ञात को पैदा करके उस पर लाद देते है · ।"[3]

साराश यह है कि हिन्दी-मराठी उपन्यासो मे नियति मे विश्वास और अविश्वास दोनो प्रकट किये गए है । यदि नियतिवादी दर्शन जैनेन्द्र एव अज्ञेय के समान निराशावादी न हो, व्यक्ति को कर्म की प्रेरणा दे, तो वह अभिनन्दनीय है, परन्तु यदि वह हाथ पर हाथ धरे बैठने को प्रेरित करता है, मनुष्य को निकम्मा, अकर्मण्य और आलसी बनाते हुए 'देव देव आलसी पुकारा' का समर्थन करता है, तो त्याज्य है ।

कर्मवाद—यद्यपि प्राचीन भारतीय दर्शन (गीता आदि को छोड़कर) ससार-त्याग, विराग और सन्यास पर ही अधिक बल देता था, तथापि आधुनिक युग में ससार के कष्टो और आपदाओ से भयभीत होकर सन्यास लेना कायरता और पलायन समझा जाता है । अत· आज का उपन्यास-लेखक, संसार मे रहते हुए, उसके कष्टो को सहते हुए कर्त्तव्य पालन पर बल देता है । उसका मत है कि मनुष्य का जन्म कर्म करने के लिए होता है, अतः उसे जीवन को सम्पूर्ण रूप मे अपनाना चाहिये तथा वासना इत्यादि को, जिन्हे पाप कहा गया है, हनन करने के स्थान पर उनका उन्नयन करना चाहिये । भगवतीचरण वर्मा की चित्रलेखा सन्यासियो की स्पृहणीय वस्तु शान्ति को अकर्मण्यता समझती है । वह कहती है, "मनुष्य को जन्म देते हुए ईश्वर ने उसका कार्य-क्षेत्र निर्धारित कर दिया । उसने मनुष्य को इसलिए जन्म दिया है कि वह ससार मे आकर कर्म करे, कायर की भाति संसार की बाधाओ से मुख न मोड़ ले और सुख ! सुख तृप्ति का दूसरा नाम है । तृप्ति वही सम्भव है, जहाँ इच्छा होगी, वासना होगी ।"[4] आगे चलकर कुमारगिरि, जो अपने प्रारभिक जीवन मे वैराग्य एवं इन्द्रिय-दमन को ही सब कुछ समझता था, जीवन और कर्म को अपनाता है । वह

---

[1] डा० केतकर 'ब्राह्मण कन्या', पृष्ठ ४५ ।

[2] यशपाल, 'दिव्या' : तृतीय संस्करण , पृष्ठ १४२ ।

[3] भगवतीचरण वर्मा, 'टेढे मेढे रास्ते', पृष्ठ १५६ ।

[4] भगवतीचरण वर्मा 'चित्रलेखा' : दसवा संस्करण, पृष्ठ ३४ ।

साधनों को भी औचित्य प्रदान करता है) नामक सिद्धान्त का विरोध कराया है, तो साने गुरुजी की भी आस्था कर्मयोग और निष्काम कर्म पर है। कर्म-सन्यास उन्हें नहीं रुचता। 'धडपडणारे मुलं' के स्वामी, इत्यादि पात्र सन्यास की ओर झुकते हैं, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से वे कर्मयोग को अधिक पसन्द करते हैं। कर्म, चाहे वह कितनी ही निम्न कोटि का क्यों न हो, उन्हें श्रेष्ठ लगता है। भंगी से लेकर शिक्षक तक प्रत्येक का कर्म उनकी दृष्टि में एक-से महत्व का है। अतः आधुनिक युग में कर्म को सन्यास से अधिक महत्व दिया जाता है और कर्मयोगी ही समाज में आदर और सम्मान का पात्र माना जाता है। यह विचारधारा अत्यन्त स्वास्थ्यकर होने से अभिनन्दन की पात्र है।

समन्वयवाद—समन्वय भारत की संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। उपन्यासकारों ने भी इस समन्वय-वृत्ति को अपनाया है, पर विद्रोह एवं संघर्ष से बच निकलने की आकांक्षा ने ही आधुनिक समन्वय-भावना को जन्म दिया है। प्रसाद जी भारतीय संस्कृति के महान समर्थक रहे हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' में ही नहीं, अपितु 'तितली' उपन्यास में भी समन्वयवाद का समर्थन किया है। मधुबन परिस्थितियों से परिचित होते हुए भी संघर्ष करना नहीं चाहता। वह भारतीय सांस्कृतिक सीमा के अन्तर्गत सामाजिक विषमता का हल, समन्वय द्वारा चाहता है। क्रांतिकारी भावनाओं का दमन बड़ी सुन्दरता से करता हुआ वह कहता है, "...सब का सामूहिक रूप से कल्याण होने में विलम्ब है अवश्य, परन्तु उसे अपनी उच्छृंखलताओं से अधिक दूर करने में तो कुछ लाभ नहीं। मैं कायर हूं, डरपोक हूँ, मुझे मोह है, यह सब तुम कह रहे हो, केवल इसलिए कि मुझे भविष्य के कल्याण में आशा है। मैं धैर्य से उसकी प्रतीक्षा करने का पक्षपाती हूं।"[1] स्पष्ट है कि प्रसाद जी मार्क्सवाद की कट्टरता तथा तज्जन्य संघर्ष एवं विद्रोह के समर्थक न होकर, शांतिपूर्ण उपायों द्वारा मध्यवर्ग से समन्वय-मार्ग की अपेक्षा रखते हैं। इसी सत्य को पहचानकर नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था " ..यद्यपि वे (तितली और मधुबन) कम्यूनिस्ट लेखकों के इस श्रेणी के चरित्रों की भाँति कर्कश, संघर्षमय और घृणाभिभूत नहीं हैं, फिर भी अपनी वर्गचेतना से रिक्त नहीं है और भारतीय श्रमिक की संस्कारी परम्पराओं से युक्त हैं।"[2] उन्होंने पूर्वी व पश्चिमी जीवन-दर्शन का समन्वय बाबा रामनाथ के शब्दों में इस प्रकार कराया है, "भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है किन्तु उसका रहस्य है समाजवाद की रूढ़ियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ है, व्यक्ति-समता की प्रतिष्ठा, जिनमें समझौता अनिवार्य है।"[3] उन के विचार से "पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है, किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के

---

१. प्रसाद 'तितली', ; छठा संस्करण, पृष्ठ १७ -१७१ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ ३ ।

३. जयशंकर प्रसाद, 'तितली' : आठवां संस्करण, पृष्ठ ६६ ।

अध्यात्मवादियो का काम है ।"[1] जीवन को वह समझौता मानते है, विग्रह और युद्ध नही ।

मराठी मे यह समन्यवाद वामनराव जोशी, साने गुरुजी, खाडेकर, प्रभृति लेखको मे मिलता है । 'उल्का' का लेखक आत्मा और शरीर के समन्वय का समर्थक है, "जिस तरह केवल आत्मा ही को हम जीवन नही कह सकते, उसी तरह सिर्फ शरीर को भी जीवन नही कहा जा सकता । जिस तरह केवल सुख-विलास का उपभोक्ता बनने के लिए मनुष्य पैदा नही हुआ है, उसी तरह त्याग की आदर्श प्रतिमा बनने के लिए भी उसे जन्म प्राप्त नही हुआ है । आत्मा एव रोटी, त्याग एव भोग इनके सुन्दर समन्वय मे, जिस समाज को आसानी से सफलता प्राप्त होती है, वही समाज साधारण मनुष्य के विकास मे सहायता प्रदान कर सकता है ।" 'दोन ध्रुव' मे भी उन्होने 'कला के पति का नाम जीवन'[2] कहा है तथा तीन क्षुधाओ के समन्वय पर वल दिया है । "बाप्पा सरीखे गाधी-भक्तो को दूसरी भूख का महत्व समझ मे नही आता, तो आज के रूस सरीखे देशो मे तीसरी भूख को स्थान नही है । सफेदपोश वर्ग की सारी शक्ति दूसरी भूख का शमन करने मे खर्च हो जाती है, तो पहिली भूख को बुझाने मे श्रमजीवी वर्ग के नाक मे दम हो जाता है । प्रत्येक व्यक्ति को इन तीन भूखो का समाधान करने का अवसर दिए बिना, कोई भी समाज सुखी नही हो पाएगा ।"

वामनराव जोशी ने 'इदु काळे सरला भोळे' मे ज्ञान, शरीर-सुख व कला के समन्वय पर बल दिया है । वह मानो विनायकराव के मुह से बोलते है, "मनुष्य-जीवन केवल ज्ञान प्राप्ति के ही लिए न होकर, शरीर-धर्म का पालन करते हुए यथाशक्ति कला-विलास का उपभोग करने, दूसरो के लिए उपयोगी बनने तथा आनन्द प्रदान करने के लिए बनाया गया है । केवल शरीर सुख से सतोष होना असम्भव है, क्योकि हम पशु नही हैं । केवल ज्ञानमार्ग से समाधान नही हो सकता, क्योकि जिज्ञासा के अतिरिक्त भी मानव की कुछ अन्य आकाक्षाएँ होती है । केवल कलोपासना से तृप्ति-लाभ होना सभव नही, क्योकि अकेली कला ज्ञान व नीति की क्षुधा पूर्ण नही कर सकती । केवल कर्ममार्ग उपयोगी नही, क्योकि ज्ञान के विना मनुष्य अधा है व कला के विना उसका जीवन नीरस हो जाता है ।"[3]

साने गुरुजी भी समन्वय पर वल देते है । उनकी 'समानता' की परिभाषा मार्क्सवादियो की परिभाषा से भिन्न है । उनकी दृष्टि मे 'समानता का अर्थ है सबको समदृष्टि से देखना, सबके साथ समता का व्यवहार करना । परन्तु इसका अर्थ यही है क्या कि छोटे लडके से वडे मनुष्य जितना काम कराया जाय ?···समानता का अर्थ है विकास के लिए, जिसको जितना चाहिये, उसे उतना देना । किसी का भी विकास

---

[1] जयशकर प्रसाद, 'तितली', . छठा सस्करण, पृष्ठ १३० ।

[2]. वि० स० खाडेकर, 'दोन ध्रुव', पृष्ठ ८६ ।

[3] वामन मल्हार जोशी, 'इन्दु काले सरला भोले', पृष्ठ ९५ ।

न रोकना।"[१] वह वर्ग-सघर्ष की बजाय वर्ग-समझौते एव पारस्परिक सहकारिता को महत्व देते है, "मानव-समाज के प्रत्येक वर्ग की भिन्नता मे एक प्रकार की चारित्रिक प्रभा होती है, उसकी सस्कृति मे विशिष्ट एव महत्व के गुण होते है, इस बात को ध्यान मे रखकर सब समीप आए और बुद्धि की क्षमता प्रकट करे, यही समस्त मानव-जाति का कर्त्तव्य है—गडे मुर्दे खोद निकालने मे कोई सार नही, उसमे जो अच्छा है, उसे लेकर आगे बढना चाहिये।"[२] स्पष्ट है कि साने गुरुजी रूस के वर्ग-सघर्ष एव समानता के सिद्धान्तो को अक्षरश- नही मानते थे। उन्होंने समाजवाद और भारतीय अध्यात्मवाद का समन्वय करने की चेष्टा की है।

समन्वय मे ही मानवजाति का कल्याण निहित है, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता, क्योकि सघर्ष का पथ अपनाने से, कलह और अशान्ति का ही जन्म होता है। इसीलिए सदा से भारत ने समन्वय के मार्ग को अपनाया है। आज भी विभिन्न सस्कृतियो और विचारधाराओ से आन्दोलित और प्रताडित मानव-मन को समन्वय का मार्ग ही शुभ दिशा दिखाएगा, इसमे सन्देह नही।

अस्तित्ववाद—पश्चिम की नवीनतम दार्शनिक उपलब्धियो से भी हिन्दी के साहित्यकार परिचित है, इसका प्रमाण हमे जैनेन्द्र के उपन्यासो को पढकर मिल जाता है। सन् १९२० के बाद से यूरोप मे सार्त्रे के 'अस्तित्ववाद' का बड़ा प्रभाव रहा है। जैनेन्द्र जी भी उससे परिचित हुए। पर वह स्वयं विचारक है, अत बहुत कुछ बाहर से बटोरकर भी सबको अपना बना सके हैं और यह स्वय मे कोई छोटी उपलब्धि नही है।

सार्त्रे के अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की पहली विशेषता यह है कि वह अस्तित्व को चरम-तत्व से पहले रखता है। उसके अनुसार मनुष्य केवल कर्तृत्व मे ही है होना ही उसकी सार्थकता है। वह अपने को जैसा बनाता है, वैसा वह है। परन्तु इसी कर्तृत्व मे उसकी सर्वोपरिता अन्तर्निष्ठ है। वह अपने प्रति दायी है, उसके अस्तित्व की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उस पर है। वह अपना स्वामी है, वर्तमान का भी, भविष्य का भी। परन्तु वह अपने प्रति दायी होने के साथ-साथ समस्त मानवजाति के प्रति भी दायी है, क्योकि वह उसका प्रतिनिधि भी तो है और अपने कर्मो द्वारा मनुष्य के भविष्य का एक निश्चित रूप सामने रखता है। इतना महत्व देते हुए भी सार्त्रे मनुष्य को पीडामय, दुर्बल और निस्सहाय मानता है।

सार्त्रे और जैनेन्द्र के विचारो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि जैनेन्द्र की दार्शनिक-भूमि सार्त्रे जैसी सूक्ष्म है, तथापि वह उससे बहुत भिन्न है। जैनेन्द्र मनुष्य मे परिमित कर्तृत्व की स्थिति मानते है। मनुष्य मे स्वतन्त्र कर्तृत्व है, परन्तु इस कर्तृत्व मे ही भवितव्य भी है। सार्त्रे की तरह जैनेन्द्र भी मनुष्य को 'बेचारा' मानते हैं, पर सार्त्रे के लिए यह 'बेचारापन' मनुष्य के स्वतन्त्र कर्तृत्व का स्वाभाविक

---

[१] साने गुरुजी 'आस्तिक', पृष्ठ ६८।

[२] वही, पृष्ठ १९३।

विकास है और इसी मे उसकी महानता है, जबकि जैनेन्द्र मनुष्य को बडा बेचारा बना कर ही छोड देते है। इस प्रकार सात्रे के निराशावाद मे आशावाद की झलक आजाती है और जैनेन्द्र का नियतिवाद घनघोर हो उठता है, क्योकि मनुष्य की नि सहायता और निराश-स्थिति को जैनेन्द्र ने केन्द्र के स्थान पर रखा है।

जैनेन्द्र ने सात्रे की तरह पीडा को महत्व दिया है, पर उनकी पीडा समष्टि के लिए दायित्व की उपज नही। उसमे उन्होने 'भीतर के दर्द' की कल्पना की है और उसे मनुष्य का सहारा और बिखरे हुए तत्वो को जोडने वाला बताया है। सात्रे के 'ऐन्ग्युइश' की तरह यह भी सूक्ष्म वस्तु है, पर प्रकृत्य उससे भिन्न है। जब सात्रे यह कहता है कि मनुष्य पीडामय है, तो उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्तृत्व की स्वतन्त्रता है पर यह स्वतन्त्रता उसके लिए बडी भारी पड रही है, क्योकि वह अपने लिए ही नही चुनता, वह सारी मानवता के लिए चुनता है। उसकी 'पीडा वैराग्यमूल नही, कर्तृत्वमूलक है'[1], जबकि जैनेन्द्र की 'पीडा का दर्शन' मनुष्य को अकर्मण्य बना देता है।

अस्तित्ववादी वस्तुगत अनुभव के प्रति अविश्वासी होता है। वस्तुगत बोध अन्तर्बोध पर आधारित रहता है, इसीलिए वह भिन्न व्यक्तियो के लिए भिन्न होता है। उपन्यास का जगत लेखक के मन की प्रतिच्छाया है, वस्तुजगत का होकर भी वह वस्तुजगत का नही है। एकात वास्तविकता है ही नही। है तो इन्द्रिय-जन्य अनुभूतियो के विभिन्न रूपो के ज्ञान मे, उनके सम्बन्धो और अन्तर्सूत्रो मे, जिसे कुल मिलाकर अनुभूति-जन्य वस्तु की सम्पूर्णता का निर्माण कहा जा सकता है, परन्तु अन्तत ज्ञान भीतरी मन का ही होता है। इस प्रकार वस्तुजगत का ज्ञान भी भावात्मक है, भीतर बाहर एक है। जैनेन्द्र के अनुसार भी जाना कुछ नही जा सकता और जानकर भी प्रकट नही किया जा सकता, क्योकि शब्द अबूझ है। वह भी 'भीतर-बाहर' को एक मानते है। "भीतर बाहर, ये शब्द मे दो है, पर यो दो नही है। प्रकृति मे एक ही है। दो होकर भी एक, जैसे ओर और छोर।"[2] वह अस्तित्व को मूल मानते है। उनकी दृष्टि मे होना ही जीना है। फलत. बुद्धि द्वारा किसी को समझने की चेष्टा केवल भूल है। इस प्रकार चारित्रिकता होने मे है, कर्तृत्व मे है, वैसे वह असार है।

इन ऊपरी समानताओ के होते हुए भी जैनेन्द्र की विचारधारा सात्रे के दर्शन से भिन्न है। जैनेन्द्र ईश्वरवादी या आस्तिकवादी है, जबकि सात्रे की विचारधारा नास्तिक है। ईश्वर के अस्तित्व मे वह विश्वास नही करते। वह नैतिकता या मानवीयता को भी नही मानते। इसी से पाप-पुण्य की भी बात नही उठाते, जबकि जैनेन्द्र पाप-पुण्य की समस्या को बार-बार उठाते है, यद्यपि कोई समाधान उपस्थित करने मे वह भी असमर्थ है।

साराश यह है कि जैनेन्द्र की विचारधारा सात्रे के अस्तित्ववादी दर्शन के समकक्ष रखी जा सकती है। दोनो मे जीवन के प्रति गहरी और अतलस्पर्शी दृष्टि,

---

[1] जीनपाल सात्रे 'एक्जिस्टेंशियलिज्म एन्ड ह्यूमैनिज्म', पृष्ठ ३२।

[2] जैनेन्द्र, 'कल्याणी' : १९५६ ई० का सस्करण, पृष्ठ ११२।

उसकी अबूझता और रहस्मयता पर बल एवं पीड़ा का दार्शनिक महत्व मिलता है। सार्त्रे की रचनाओ मे, उनके अपने को मानवतावादी सिद्ध करने के प्रयत्नो के बाद भी, घोर निराशावाद मिलता है। जैनेन्द्र की रचनाओ मे भी संशयवाद एव निराशावाद है। इस निराशावादी प्रवृत्ति का कारण जैनेन्द्र के आत्मानुभव, उनके अपने व्यक्तित्व और मन स्थिति मे ढूंढना होगा। कुछ सीमा तक वह युद्धोत्तरकाल की परिस्थितियो की प्रतिछाया है।

घृणा, अहिंसा, पाप-पुण्य और पीड़ा सम्बन्धी नवीन दर्शन—अधिकांश विचारकों ने घृणा, हिंसा और पीडा को मानव-जीवन के लिए उपादेय और कल्याणकारी न मानते हुए उनकी निंदा की है, पर आधुनिक लेखको ने इसके महत्त्व को समझा और उन्हे मानव-जीवन के लिए शुभ ही नही, आवश्यक भी माना है। इसका अभिप्राय यह नही कि वे प्रेम, अहिंसा और सुख के महत्त्व को कम करके दिखलाते हैं। उन्होने तो यह दिखाने की चेष्टा की है कि घृणा, अहिंसा और पीड़ा मे भी कुछ उपयोगी अश होता है, जिससे व्यक्ति के विकास और लोक-कल्याण में सहायता मिलती है। उनका कथन है कि जिस प्रकार कभी-कभी जीवन मे क्रोध नितान्त आवश्यक और कर्त्तव्य बन जाता है, वैसे ही घृणा और हिंसा भी।

हिन्दी मे 'अज्ञेय' के विचार इस सम्बन्ध मे अत्यन्त मौलिक है। वेदना के सम्बन्ध मे वह लिखते है, "वेदना मे एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना मे है, वह द्रष्टा हो सकता है।"[1] अथवा "दु.ख ससर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दु.ख का ससर्ग परिवर्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।"[2] लेखक के दुख के प्रति इस दृष्टिकोण को देखकर ही नरोत्तमप्रसाद नागर ने उन्हें 'यातना का दर्शन प्रचारित करने वाला' कहा है। परन्तु अधिक गहराई से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि नागर जी का कथन अयथार्थ है, क्योकि 'शेखर' मे लेखक ने दुख का भी कल्याणकारी रूप ही स्वीकार किया है। एक वेदना ऐसी होती है, जो मनुष्य की शक्ति को कुठित बना देती है, उसे अवसन्न कर देती है, जिसमें वह घुल-घुलकर मर जाता है, पर दूसरी से सृजन की प्रेरणा मिलती है, उसे विद्रोही बनाने मे सहायक होती है। अज्ञेय जी ने दूसरी वेदना का ही समर्थन किया है। अत. हम यह नही कह सकते कि लेखक ने यातना के दर्शन की प्रशसा की है। उसने तो उस दुख को, जो जीवन मे अनिवार्य है, शक्ति मे बदलने की बात कही है, जिससे ससार के कष्ट कम हो सके।

जैनेन्द्र भी पीड़ा को मूल तत्त्व मानते है, "मानव चलता है, चलता जाता है और बूद-बूद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मान मणि है, उसके प्रकाश मे मानव का गति-पथ उज्जवल

---

[1] अज्ञेय. 'शेखर . एक जीवनी' . प्रथम भाग : भूमिका, पृष्ठ क।

[2] वही : दूसरा भाग : पृष्ठ ३२।

होगा।"[१] 'परन्तु उनकी रचनाओं से यह प्रकट नही होता कि जिस दर्द को उन्होने इतना महत्व दिया है, वह व्यक्तिगत है अथवा सामाजिक। दूसरे, यह 'पीडा का दर्शन' कही-कही उनकी पलायनवादी वृत्ति को ही काव्य का सुमधुर रूप प्रदान करता है। पीडा की अनुभूति उसी समय सार्थक है, जब वह पीडा-निवारण के अर्थ हो, नही तो पीडा व्यसन बन जायगी। मृणाल और कल्याणी अपने दुख को लेकर ही जीती प्रतीत होती हैं, पीडा के प्रति उनकी अनुरक्ति (मैसोशिज्म) निश्चय ही अस्वस्थ एव विकृत है। साराश यह है कि अज्ञेय के विपरीत जैनेन्द्र का 'पीडा दर्शन, जहाँ कही अकर्मण्यता का प्रचारक हो गया है, वहाँ समाज के लिए अकल्याणकर है।

मराठी लेखको मे साने गुरुजी ने वेदना को शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। वह आस्तिक मे लिखते है, "दुख सहे बिना किसी को सुख नही मिलता। वेदना से ही सौन्दर्य, मोक्ष, और ज्ञान तक मिलता है। वेदना से ही सबका जन्म होता है।"[२] अन्य लेखको ने भी उसे भयावह और तिरस्करणीय वस्तु नही माना है। ना० सी० फडके का मत है कि जीवन और दुख का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट एव स्थायी है। जहाँ जीवन है, वहाँ दुख की उपस्थिति अनिवार्य है। ऐसी दशा मे मनुष्य को दुख के प्रति अपनी पारम्परिक वृत्ति बदल लेनी चाहिये। अब तक वह दुख से भागता रहा है, उससे डरता रहा है, पर जब वह अनिवार्य है ही, तो उसे दुख मे भी थोडा बहुत आनन्द अनुभव करने की आदत डालनी चाहिये। ऐसी वृत्ति बन जाने पर दुख का दंश स्वयं ही अपनी तीव्रता एव कटुता खो देगा और मानव जीवन अधिक सुखकर बन सकेगा।

वेदना के समान ही अज्ञेय ने घृणा का समर्थन किया है, उस घृणा का नही, जो मानव को पागल बना दे या उसे भस्म कर डाले, अपितु उसका जो तटस्थ, सात्विक है। इसी विचारधारा के कारण वह 'निहिलिस्टो' की घृणा भावना की प्रेरक शक्ति का समर्थन करते है। वह लिखते है, "उसके (ससार के) लिए घृणा (हेटरेड) ···एक अधोमुखी प्रवृत्ति है, जो मानवता का विनाश करती है···वे नही जानते कि इस एक भावना मे कितनी शक्ति है, कितनी युगान्तरकारी शक्ति, यदि उसका उचित और बुद्धियुक्त प्रयोग किया जाय। · प्रेम के बाद सबसे बड़ा और सबसे अमोघ अस्त्र है, यही बौद्धिक घृणा।"[३] शेखर यदि सब कुछ खोकर भी ससार को ललकार सका, तो घृणा द्वारा दी गई शक्ति ही के कारण, ऐसा लेखक का स्पष्ट मत है।

अहिंसा का साधारण अर्थ है जीव-हत्या का निषेध, परन्तु गाधीजी ने उसे नया अर्थ प्रदान किया। उनकी दृष्टि मे अहिंसा का अर्थ है, दूसरो के लिए स्वय कष्ट सहना और अपने अह को घुलाना तथा राक्षसवृत्ति वाले, आक्रान्ता पीडक के मन मे दया उत्पन्न करना। यह प्रेमजन्य आत्म-पीड़न ही जैनेन्द्र के उपन्यासो का मूल

---

[१] जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र' · १९५६ ई० का संस्करण, पृष्ठ ४७।

[२] साने गुरुजी 'आस्तिक' हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ८८-८९।

[३] अज्ञेय, 'शेखर एक जीवनी', प्रथम भाग, पृष्ठ ३५-३६।

आधार है। लेखक की दृष्टि में कामजन्य पीड़ा ही आत्मपीडन का सर्वाधिक तीव्र रूप है, अत उसी की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओ मे प्रमुख है। वे पाठको के हृदय मे आत्म-पीडन की प्रेरणा देकर, उनमे प्रेम उत्पन्न कर जीवन की सम्पूर्णता का अनुभव कराने की चेष्टा करते है। रात के समय सुनसान जगल मे हरिप्रसन्न के सामने सुनीता का दिगम्बर हो जाना, गाधी की अहिसा का साहित्यिक प्रतिपादन ही है। वह हरिप्रसन्न की काम-हिंसा के प्रति अपना समस्त अग बलि कर देना चाहती है। ऐसा करके वह उसकी काम-हिंसा वृत्ति का नाश करना चाहती है और उसकी यह अहिसा-वृत्ति हरिप्रसन्न की हिंसा-भावना पर विजय भी पाती है। 'त्याग-पत्र' की मृणाल के चरित्र मे भी जैनेन्द्र के आत्म-व्यथा अथवा आत्म-पीडन का सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ है और प्रमोद भी अपने त्यागपत्र द्वारा इसी आदर्श मे अपनी आस्था प्रकट करता है। मृणाल जीवन मे पग पग-पर मिलने वाले अन्याय और अनाचार के प्रति हिंसात्मक प्रतिक्रिया का आश्रय न ले, तप और साधना के मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करती है। उसका कोयले वाले के प्रति समर्पण, उसकी काम-वृत्ति का द्योतक न होकर, उसके अहिसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसके सुख और जीवन-रक्षा के लिए ही वह अपनी अनिच्छा का दमन करती और आत्म-कष्ट को स्वीकार करती है।

- मराठी मे प्रेमाकटक के 'काम आणि कामिनी' मे गाधीजी के अहिसा सिद्धात का जैनेन्द्र के समान आत्म-पीडा के रूप मे प्रतिपादन किया गया है। उपन्यास का नायक मुकुन्द आत्म-पीडा एव काम-दमन मे विश्वास करता है तथा हेमलता के चुम्बित होने पर उपवास रखता है। यह उपवास आत्म-पीडा द्वारा आत्म-परिष्कृति तथा दूसरे के अपराध के लिए स्वय कष्ट सहन करने के सिद्धान्त का ही परिचायक है। इस प्रकार अहिसा का समर्थन कितने ही लेखको ने किया, पर कुछ को गाधी के इस सिद्धान्त मे त्रुटि दिखाई दी और उन्होने हिंसा का पक्ष लिया।

अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' मे हिंसा-अहिंसा पर विस्तार से विचार किया है। शेखर, उसके मित्र बाबा मदनसिह आदि सभी के पास इस सम्बन्ध मे कुछ न कुछ कहने के लिए है और वे हिंसा के उसी रूप को अनिष्टकारी मानते है, जहाँ प्रेरणा ही हिसा की हो, अनिष्ट करने की हो। उनकी दृष्टि मे इष्ट के लिए की हुई हत्या हिसा नही, यदि वह इष्ट व्यक्ति का नही, सृष्टि मात्र का हो। भय के कारण अपने गौरव की रक्षा से चूकना भी हिसा है, जिससे राष्ट्र की रीढ टूट जाती है। अत ऐसे क्षणो मे अहिसा-व्रत का पालन ही हिंसा हो जाता है, और हिसा उचित बन जाती है। बाबा मदनसिंह के शब्दो मे, "रक्तपात कभी सामाजिक कर्त्तव्य हो जाता है। अगर ऐसा है तो वह रक्तपात अनुचित नही रहता और अहिसात्मक वह हो ही सकता है।"[१] सारांश यह है कि अज्ञेय ने पात्रो के मध्य हिंसा-अहिंसा के विषय मे

---

[१] अज्ञेय 'शेखर : एक जीवनी' : दूसरा भाग. पृष्ठ ७७।

जो विचार-विमर्श कराया है, उससे एक ही ध्वनि निकलती है कि जीवन मे हिंसा और अहिंसा के बीच सभी कही विभाजक-रेखा खीचना बहुत कठिन है।

मराठी मे माडखोळकर ने अपनी रचनाओ मे, विशेषकर 'नवे ससार' मे, क्रांति का महत्व घोषित करते हुए दिनकर को अहिंसा की निंदा करते हुए चित्रित किया है, दिनकर का मत है कि कभी-कभी पराकाष्ठा की अहिंसा भी निन्दनीय बन जाती है। "आजकल की इस अमानुषिक शाति से जब तक हम मुक्त नही होते, तब तक हमारे लिए सिर उठाना एव नया मार्ग ढूंढ निकालना अशक्य है·· यह अमानुषिक शाति···इस शाति के रहते हमे किसी भी प्रकार की आशा नही।"[1] वह क्रान्ति का समर्थक है, क्योकि क्राति वह अग्नि है, जिसकी लपटो मे सब प्रकार की दुष्टता, कालुष्य, अन्याय और अनाचार नष्ट हो जाते है। उसके लिए क्रान्ति के समान ससार मे अन्य कोई वस्तु इतनी पवित्र नही हो सकती, क्योकि वह विकलाग, पगु, अपात्र अथवा निरुपयोगी वस्तुओ को कुजबुजाते न छोडकर उनका नाश कर देती है। दोन ध्रुव' मे वाप्पा की पराकाष्ठा की अहिंसा, जिसके कारण बलि-पशु गॉव के लिए महान विपत्ति बन जाता है, को अनुचित एव अज्ञान-जन्य समझा गया है "वाप्पा का अज्ञान ही उस भैसे के रूप मे मूर्तिमान होकर आज गॉव मे फिर रहा है।"[2] अत. अज्ञेय, खाडेकर और माडखोळकर के हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी विचार लगभग एक समान ही है। वे अहिंसा को सर्वदा मगलमय नही मानते और कभी-कभी हिंसा को वाछनीय ही नही, अनिवार्य बतलाते है। उनकी दृष्टि मे अहिंसा-व्रत का शत्रु दुरुपयोग करता है और बिना हिंसा का आश्रय लिए विश्व-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर नही हो सकता। हिंसा का समर्थन करने का एक अन्य कारण यह भी है कि लोग 'एण्ड जस्टीफाइज दी मीन्स' मे विश्वास करने वाले है। 'नवें ससार' के विद्याधर का यही मत है "हेतु एव फल पर विचार कर किसी भी कृत्य की पवित्रता और उपयुक्तता निर्धारित की जाती है।"

पाप-पुण्य के सम्बन्ध मे भी आज क्रान्तिकारी मत प्रतिपादित किया जा रहा है। अब पाप के लिए उसके कर्त्ता को उत्तरदायी न समझ कर, उन परिस्थितियो को दोष दिया जाता है जो पाप करने की प्रेरणा एव प्रोत्साहन देती है। हिन्दी मे भगवती चरण वर्मा आस्तिक वृत्तिवादी है। उनके दृष्टिकोण से पाप-पुण्य जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ मात्र हैं और व्यक्ति परिस्थितियो के सम्मुख विवश है। परिस्थितियो के वात्याचक्र मे फसकर ही कुमारगिरि का पतन होता है। उनके इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करते हुए महाप्रभु रत्नाम्बर कहते है, "जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नही, वह परिस्थितियो का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नही है, केवल साधन है,

---

[1] ग० त्र्य० माडखोलकर, 'नवें संसार', पृष्ठ २०४।

[2] वि०स० खाडेकर, 'दोन ध्रुव', पृष्ठ २५८।

फिर पाप और पुण्य कैसा ?"[1] ऐसे ही कुछ विचार मराठी में डा० केतकर के 'ब्राह्मण कन्या' मे प्रकट किये गए है, "सज्जन अथवा दुर्जन ऐसा मनुष्यों मे भेद ही नही होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य सज्जन या दुर्जन परिस्थितियो के कारण होता है—अत. जो कार्य लोगो द्वारा बुरा कहा गया है, वह क्षम्य प्रतीत होने लगता है और जो बहुत श्रेष्ठ कहा गया है, उसका श्रेय कम हो जाता है।"[2] परिस्थिति और सामाजिक रचना का मनुष्य के स्वभाव व आचरण से सम्बन्ध बताते हुए उन्होने कहा कि सदाचार तथा दुराचार परिस्थिति-सापेक्ष है।

यह दर्शन विलोभनीय एवं अंशत. यथार्थ होते हुए भी मानव को उच्छृंखलता की ओर ले जाने वाला है, क्योकि परिस्थितियो पर अपने सम्पूर्ण पाप-कर्मो का बोझा डाल वह सर्वदा मुक्त हो सकता है। जहाँ तक समाज की परिस्थितियों को सुधारने की ओर यह दर्शन प्रेरणा देता है, वहाँ तक तो उसकी सदोद्देश्यता असन्दिग्ध है, परन्तु उसके द्वारा फैलाई जाने वाली उच्छृंखलता की ओर भी आँखे नही मूँदी जा सकती।

अहंभाव सम्बन्धी दर्शन—अहंभाव के प्रति लेखको का विभिन्न दृष्टिकोण रहा है। कुछ के लिए मानव का अहं ही सब कुछ है, और कुछ अहं को सारी बुराइयो, विकृतियों एवं पापाचारों का मूल कारण मानते है। कुछ अहं का निषेध चाहते हैं, तो कुछ उसका स्वस्थ उपभोग और कुछ उसका उन्नयन।

हिन्दी उपन्यासकारों मे भगवतीचरण वर्मा अहं के निषेध के विरोधी हैं। वह उसका स्वस्थ उपभोग चाहते है। 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त के चरित्र की उदात्तता, उसका त्याग और कुमारगिरि का पतन उनके इसी दृष्टिकोण का परिचायक है। अज्ञेय के शेखर का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक बुद्धिवादी या नास्तिक बुद्धिवादी है। उनके लिए व्यक्ति का अहं ही सब कुछ है। उसके बिना वह कुछ नही है, मिट्टी का पिंड है—जड़ और असमर्थ। शेखर जो कुछ है, वह अपने अहं-भाव के कारण। उसके चरित्र का मूल स्वर है विद्रोह और इस विद्रोह का उद्गम-स्थल यही अहंभाव है। जैनेन्द्र ने भी यही मूल प्रश्न उठाया है—क्या अह को विलीन न करना श्रेयस्कर है, अपेक्षित है ? क्या अहं का जागरूक और प्रबुद्ध होना सुख और कल्याण की दृष्टि से अवांछित नही ? जैनेन्द्र की यह मान्यता है कि मानव अपने को विश्व मे एकाकार करना और विश्व को अपने में प्रतिफलित देखना चाहता है, पर अह-भाव इस लक्ष्य की सिद्धि मे बाधक है। यह अहंकार आत्म-पीड़ा की साधना द्वारा ही विगलित हो सकता है। व्यक्ति के जीवन में उसके दुख का कारण यह अहमन्यता ही है और उसका उपचार ईश्वर के प्रति समर्पण-भाव मे है। उनका मत है कि अहंकार का नाश नहीं किया जा सकता, उसको गलाया या घुलाया ही जा सकता है और वह आत्म-व्यथा के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रक्रिया को अहंकार का उन्नयन भी कहा जा सकता है। इस साधना में अहंकार का नाश नही होता, उसकी तुष्टि का माध्यम बदल जाता

---

[1] भगवतीचरण वर्मा, 'चित्रलेखा', दसवां संस्करण, पृष्ठ १६३।

[2] डा० केतकर, 'ब्राह्मण कन्या', पृष्ठ ४४-४५।

है। 'सुनीता' मे श्रीकान्त समर्पण-वत्ति एव निरहम् का प्रतीक है, सुनीता का चरित्र इसका क्रियात्मक रूप है। 'त्याग-पत्र' की मृणाल इसी समर्पण-भाव की साक्षात् प्रतिमा है। सत्यधन अह मे फूला एक ऐसा पात्र है, जो आत्म-प्रवचना से ग्रस्त होने के कारण ही दुख पाता है। सुखदा अहं-भाव के ही कारण दुख उठाती है। इस तरह जैनेन्द्र की दृष्टि मे अहकार ही जीवन की अखडता की अनुभूति मे बाधक है और वही विभेद को जन्म देता है। वही ससार मे विग्रह, द्वेष, घृणा, अधिकार-भाव आदि विकारो का मूल है। आत्म-रति और परालोचन की प्रवृत्ति भी अहकार-जन्य है। अत लोक-कल्याण के लिए ही नही, स्वय व्यक्ति के विकास के लिए भी अहकार की शून्यता और समर्पण की वृत्ति आवश्यक है। जैनेन्द्र का प्रत्येक उपन्यास इसी दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। उसमे अहवृत्ति की व्यर्थता और अनुपादेयता चित्रित की गई है तथा निरहकारिता एव प्रेम-भाव का प्रचार किया गया है।

इलाचन्द्र जोशी अज्ञेय के बौद्धिक आनन्द मे विश्वास नही करते। उनके विचार से व्यक्ति का अह ही सारी बुराइयो की जड है। इसी अह से पीड़ित होने के कारण उनके उपन्यासो के पात्रो—इन्द्रमोहन, निरजना, नदकिशोर आदि का दुखद अत होता है।

मराठी मे खाडेकर एव पु० य० देशपाडे ने इस अह की विनाशकारी शक्ति की ओर सकेत किया है। खाडेकर के 'पहिलें प्रेम' एव देशपाडे के 'नवे जग' तथा 'काळी राणी' के नायक-नायिका को इसी अहं-भाव से पीडित दिखाकर लेखको ने उसके घातक प्रभाव के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये हैं। इस प्रकार मराठी और हिन्दी दोनो के उपन्यासकारो ने अह को व्यक्ति तथा समाज दोनो के लिए विघातक माना है और यह सच भी है, क्योकि अह भले ही व्यक्ति को व्यक्तित्व अथवा असामान्यता प्रदान करे, परन्तु अन्तत समर्पण, सामजस्य एव निरभिमानता के अभाव मे व्यक्ति को दुख ही उठाना होता है।

प्रेम सम्बन्धी नवीन विचार—प्रेम मानव-मन की चिरन्तन वृत्ति है। प्रेम हमे न केवल सुख प्रदान करता है, अपितु हमारी भावनाओ का परिष्कार करता है तथा हमे त्यागपूर्ण महान कार्य करने की प्रेरणा देता है। पर इसका दूसरा पक्ष भी है। जब वह ऐन्द्रिय-सुख अथवा स्वार्थ पर आधारित होता है, तब न केवल वह प्रेमी और प्रिय के जीवन मे ही अनिष्ट उत्पन्न करता है, अपितु चतुर्दिक वातावरण को भी विषमय बना देता है। एक का स्वरूप उदात्त होता है, दूसरे का कलुषित। मानव हृदय मे चिर-प्रतिष्ठित होने के कारण तथा कथा-साहित्य का केन्द्र स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण होने के परिणामस्वरूप, इस प्रेमभाव का चित्रण और विश्लेषण आदि काल से ही होता रहा है। आधुनिक युग मे मनोविज्ञान के अध्ययन, चित्त-वृत्तियो के विश्लेषण एव परम्परागत नैतिक-नियमो के प्रति विद्रोह के कारण प्रेम के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार प्रकट किये गए हैं। कोई उसके उदात्त रूप पर लुब्ध है, तो कोई उसे हिंस्र पशु के समान ईर्ष्यालु एव प्रतिशोधपूर्ण मानता है और उसे क्षणिक

भावुकता-मात्र स्वीकार करता है ।

अधिकाश मराठी तथा हिन्दी उपन्यासकारो ने प्रेम का चित्रण उदात्त भावना के रूप मे किया है, जो प्रेमी-प्रेमिका की वृत्तियो के उन्नयन मे सहायक होता है, उन्हे बड़े से बडा त्याग करने की सामर्थ्य प्रदान करता है तथा सहिष्णु बनाता है । भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' मे बीजगुप्त के निम्न कथन से यही विचार ध्वनित होता है "चित्रलेखा, प्रेम स्वय एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है । प्रेम के प्रागण मे कोई अपराध ही नही होता ।"[1] मराठी मे पु० य० देशपाँडे, खाँडेकर, तळवळकर हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा, प्रसाद, कौशिक, जैनेन्द्र इत्यादि के उपन्यासो मे इस उदात्त प्रेम के बडे आकर्षक चित्र प्राप्त होते है । इनकी रचनाओ मे नायक अथवा नायिका हृदय मे उज्ज्वल प्रेम की दीप-शिखा जलाए प्रिय के लौटने की प्रतीक्षा करते रहते है, अथवा प्रिय के मगल के लिए आत्मोत्सर्ग कर डालते है । प्रसाद की प्रेममयी तितली जीवन-पथ के झझावातों से छिन-भिन्न होकर खो नही जाती, अपितु अतीत की सुखद घडियो की स्मृति को अपने हृदय मे छिपाए, कर्म मे सग्लन रहती हुई, मधुवन की प्रतीक्षा मे रत रहती है । इन उपन्यासो मे दिखाया गया है कि विवाहोत्तर प्रेम से उत्पन्न झझटो को उन्नयन, कर्त्तव्य-भावना व विवेक की सहायता से दूर किया जा सकता है । इन रचनाओ के नायक-नायिका के प्रेम को देखकर महाकवि गेटे व उसकी पत्नी शार्लोटे स्टाइन के वासनारहित आत्मिक-प्रेम का स्मरण हो जाता है । उनके महान त्याग की क्रान्तिकारिता का कोमल एव कवित्वमय साक्षात्कार कर पाठक का हृदय उदात्त भावनाओ से भर उठता है । इसका स्वरूप अग्रेजी कवि शैली, कीट्स, ब्राउनिग के काव्य के उदात्त प्रेम के सदृश होते हुए भी, उनसे ग्रहण नही किया गया है, क्योकि इस प्रकार के प्रेम के चित्रण की परम्परा हमारे यहाँ आदि काल से रही है । इसी प्रेम की परिणति देश अथवा धर्म के लिए पराक्रम करने, समाज-सेवा अथवा राजनीतिक क्षेत्र मे उदात्त कर्मो मे की गई है ।

इसी का एक आकर्षक एव उदात्त रूपान्तर सौन्दर्यवाद है । 'मालकस' मे इसका सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए तळवळकर ने कहा है कि किन्ही भी दो भिन्न-लिगी व्यक्तियो मे सर्वप्रथम पारस्परिक आकर्षण उत्पन्न होता है और आकर्षण के उपरान्त प्रेम होता है । यह आकर्षण एव प्रेम नैसर्गिक है, उसे नैतिक बधन रोक नही सकते । अत उसकी परिणति विश्वात्मक-सौन्दर्यवाद मे होनी चाहिये । प्रत्येक सुन्दर वस्तु मे सन्निहित सौन्दर्य की उपासना करने से चित्त की सकीर्णता एव लोलुपता नष्ट हो जायगी, जीवन को पूर्णत्व प्राप्त हो सकेगा तथा मानव-मन प्रफुल्लित हो सकेगा । इस उपासना का आरम्भ भले ही स्त्री-सौन्दर्य से हो, परन्तु उसकी परिणति 'विश्वात्मक' होनी चाहिये ।

प्रेम की संकीर्णता का निषेध अज्ञेय ने भी 'शेखर एक जीवनी' मे किया है । शेखर सोचता है, "…फिर यह सीमा भी क्यो हो कि प्यार दो इकाइयो के बीच हो ?

---

[1] भगवतीचरण वर्मा, 'चित्रलेखा' : दसवा संस्करण, पृष्ठ १९२ ।

क्यो यह जरूरी है कि किसी को ही प्यार किया जाय—क्या प्यार की भावना किसी स्थूल, एकाकी विषय से अलग नही की जा सकती ? क्या जरूरी है कि 'मैं प्यार करता हूँ' इस वाक्य का अनिवार्य अनुवर्ती हो यह प्रश्न कि 'किसे प्यार ?' और वह 'कौन' भी एक ही हो ? क्या सारी मानवता को ही प्यार नही किया जा सकता ··।"

प्रेम के आदर्श स्वरूप मे भोग-पक्ष का नितान्त अभाव होता है, क्योकि भोग के कारण प्रेम कलुषित, ऐन्द्रीय एवं स्थूल हो जाता है। पर प्रेम के सम्बन्ध मे भोग का निषेध एक दूसरे हेतु से भी किया गया है। कुछ लोग यह समझते है कि भोग से शिथिलता, अवसाद, तृप्ति उत्पन्न होती है, जो निश्चय ही सुखकर नही है । अत सुख के लिए भोग का निषेध ही कल्याणकर है, क्योकि उससे इन्द्रियो पर तनाव पडता है, अतृप्ति होती है और उस अतृप्ति मे ही सुख है। उसके उपासकों का विश्वास है कि प्रेम का सुख भोग मे नही, उसको पाने की उत्कठा में निहित है। माडखोळकर के 'भगलेले देऊळ' के अरु का प्रेम-विषयक तत्वज्ञान कुछ इसी प्रकार का है। प्रेयसि पर प्रेम की पूरी वर्षा कर प्रेमी उसमे अपना सपूर्ण व्यक्तित्व खो वैठे, यह अरु को स्वीकार नही। उसका मत है, "प्रेम का वास्तविक सुख तो उत्कठा मे, अतृप्ति मे है, उपभोग या अद्वैत मे नही।···सुन्दर वस्तु के चिन्तन मे जो सुख है, वह उपभोग मे नही। उपभोग के वाद तो तुरन्त उपरति उत्पन्न हो जाती है।"

साम्यवादी विचारधारा के भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण अथवा भोग-लोलुपता एव इन्द्रियासक्ति को सब कुछ मानने के परिणामस्वरूप कुछ लेखको ने प्रेम के उदात्त, परिष्कृत पक्ष की अवहेलना कर, केवल उसके शारीरिक तथा भौतिक पक्ष पर ही वल दिया है। हिन्दी मे यशपाल और मराठी मे माडखोळकर ने इस विचार-धारा को अपनी कृतियो मे प्रस्तुत किया है। यशपाल प्रेम को जीवन मे सहायक वस्तु मात्र मानते हैं। यदि वह अड़चन पैदा करता है, तो उनकी दृष्टि मे त्याज्य है। 'मनुष्य के रूप' मे उनका मतव्य देखिए, "जीवन मे अडचन के रूप मे प्रेम चल नही सकता।··जब प्रेम नित्य जीवन मे असह्य स्थिति पैदा करने लगता है, तो वह जीवन का वाधक होकर स्वय समाप्त हो जाता है, उसकी जगह घृणा पैदा हो जाती है।"[2] स्पष्ट है कि लेखक प्रेम को पारस्परिक हित एव स्वार्थ पर आधारित भावना से अधिक महत्व देने के लिए प्रस्तुत नही है ।

माडखोळकर के 'दुहेरी जीवन' मे भी प्रेम को आत्मा की उदात्त, परिष्कृत, पवित्र वृत्ति न मानकर, शरीर को उन्मत्त वना देने वाली मदिरा माना गया है। नायिका मे वैवाहिक जीवन को सफल वनाने वाले अन्य सब गुण होते हुए भी, नायक मुकुन्द को उन्मादातिरेक से उन्मत्त वनाने की शक्ति नही है। अत उनका दाम्पत्य

---

१. अज्ञेय, 'शेखर . एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ट २१०-२११ ।

२. यशपाल, 'मनुष्य के रूप', पृष्ठ ६६-६७ ।

जीवन सफल नही हो पाता। मुकुन्द का प्रेम-सम्बन्धी हीन दृष्टिकोण ही इस असफलता के लिए उत्तरदायी है। वह कहता है, "सच्चा प्रेम वह है, जो मानव को उन्मत्त बना देता है व मर्यादा का अतिक्रमण करने की प्रेरणा देता है। जिसके द्वारा शरीर मे अविरत रोमाच की लहरियां न आदोलित हो सके, वह कैसा प्रेम ?" इस प्रकार के प्रेम का सम्बन्ध आत्मा से न होकर इन्द्रियो एव इन्द्रिय-सुख से ही माना गया है। खांडेकर का मत माडखोळकर के समान भोगवादी तो नही है, परन्तु वह भी प्रेम मे शरीर-पक्ष की महत्ता स्वीकार करते है, "मनुष्य सिर्फ आत्मा नही। मनुष्य शरीर और आत्मा का विलक्षण मिश्रण है।···किसी को भी यह पागल आशा नही रखनी चाहिये कि शरीर-सुख उसके जीवन का उपेक्षणीय भाग हो जायगा।"[१]

प्रेम का विश्लेषण करते हुए कुछ लेखको ने स्त्री और पुरुष के मानसिक विभेद से उत्पन्न उनके प्रेम-भाव के विभेद की ओर इगित किया है, जो मनोवैज्ञानिक एव सच्चा होने के कारण सुग्राह्य है। माडखोळकर के विचार इस सम्बन्ध मे दृष्टव्य है। 'भगलेले देऊळ' मे अनू ने प्रतिपादित किया है कि स्त्री का प्रेम पुरुष के प्रेम से मूलत. भिन्न होता है। स्त्री यदि पुरुष से प्रेम करती है, तो पूर्ण तन्मयता एव उत्कटता के साथ। प्रेम के लिए वह सर्वस्व त्याग कर सकती है, अपना व्यक्तित्व प्रेमी के व्यक्तित्व मे घुला देती है। इसके विपरीत जैसा कि ब्राऊनिंग की "टू इन दी कैम्पैना" मे दिखाया है, पुरुष स्वार्थी होता है, उसका प्रेम भी स्वार्थपूर्ण होता है। यही प्रेम-विषयक मीमांसा आगे चलकर 'नवें ससार' मे की गई है। "पुरुष एक ही समय अनेक स्त्रियो से प्रेम करता है, रुचि-वैचित्र्य के कारण और स्त्री दूसरे पुरुष की ओर उन्मुख होती है असतोष अथवा प्रतारणा के फलस्वरूप। स्त्री के प्रेम मे आत्म-समर्पण की भावना और स्थैर्य अधिक है, पुरुष के प्रेम मे केवल क्रीडा एवं आत्म-समर्पण की।"[२] यह विश्लेषण वास्तविक और यथार्थ है, इसमे कोई सन्देह नही।

प्रेम को अधिकाश सत्साहित्य के लेखको ने अति प्राचीन काल से त्याग एव बलिदान करने की प्रेरणा-शक्ति माना है, पर बर्बर जातियो के इतिहास एव उनसे सम्बन्धित कथा-साहित्य मे प्रेम के रौद्र, प्रतिहिंसक रूप के दर्शन भी होते है। आज भी मानव, विज्ञान इत्यादि के क्षेत्र मे अकल्पनीय प्रगति करने के बाद, प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा की भावना को त्याग नही पाया है। प्रेम का निरूपण करते हुए उसके इस विकराल एव रौद्र रूप पर प्रकाश डाला गया है। प्रेमचन्द जी के 'गोदान' मे मेहता का वक्तव्य देखिए, "इस विषय मे मैं पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नही देखता। आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निस्वार्थ प्रेम, जिसमे आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उनके आनन्द से आनदित होता है और उसके चरणो पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द है।···इस भावना को मैं श्रद्धा कह सकता हूँ, सेवा कह सकता

---

[१] वि० स० खाडेकर, 'जलतेला मोहर' : हिन्दी सस्करण, भूमिका, पृष्ठ १६२।

[२] ग० त्र्य० माडखोलकर, 'नवें संसार', पृष्ठ २३०।

हूँ, प्रेम कभी नही। प्रेम सीधी-सादी गऊ नही, खूँख्वार शेर है जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी पडने नही देता।"[1]

प्रेम के सम्बन्ध मे जो विभिन्न दृष्टिकोण ऊपर की पक्तियो मे प्रकट किये गए है, वे केवल अशत सत्य है, एकागी है। मानव इस ससार मे रहकर आदर्श के रूप मे भले ही उदात्त प्रेम को अपना लक्ष्य बनाए रखे, परन्तु वास्तविक व्यावहारिक जीवन मे स्थूल शरीर-सुख के महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। अतः अन्य क्षेत्रो के समान प्रेम के राज्य मे भी स्थूल तथा सूक्ष्म, आत्मा एव शरीर, उदात्त एव पार्थिव तत्वो मे समन्वय स्थापित करना ही श्रेयस्कर है।

विवाह-सम्बन्धी नवीन विचार —पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने एवं समाज मे उच्छृंखलता रोकने के लिए विवाह-सस्था का आविष्कार हुआ। पर धीरे-धीरे पुरुष द्वारा निज सुविधा के लिए बनाए हुए नियमो एव स्त्री की उत्तरोत्तर बढती हुई मूकता एव दुर्बलता के कारण इस सस्था मे विकार आने प्रारम्भ हो गए। माता-पिता की इस सम्बन्ध मे निरकुशता ने पहले युवको और तदनन्तर युवतियो को वैवाहिक रूढियो एवं अन्ध परम्पराओ के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी। उनका इस कथन मे कि 'मैरिजेज आर सैटिल्ड इन हैविन' 'अर्थात् विवाह स्वर्ग मे तै कर दिए जाते हैं' विश्वास डगमगाने लगा। वे विवाह को ईश्वरीय कृति अथवा सस्था न मानकर उसे मनुष्य-कृत समझने लगे। 'सुशीला चा देव' की सुशीला कहती है, "राज-सस्था के समान विवाह-सस्था भी मनुष्य ने अपने अभ्युदय एव निःश्रेयस के लिए बनाई है। राज्य-सस्था जिस प्रकार ईश्वरीय कृति नही, उसी प्रकार विवाह-सस्था भी नही है।...काल, युगधर्म एव स्थिति के अनुरूप उसमे उचित परिवर्तन करना इष्ट व आवश्यक है, ...विवाह की गाँठ ईश्वर द्वारा बाधी जाती है, यह कल्पना अशुद्ध है।"[2] हिन्दी मे प्रेमचन्द जी ने भी प्रोफेसर मेहता के द्वारा उसे सामाजिक समझौता माना है, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हू और उसे तोडने का अधिकार न पुरुष को है न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन है, समझौता होने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"[3]

दाम्पत्य-जीवन के वैषम्य को दूर करने के लिए सर्वप्रथम यह विचार प्रकट किया गया कि विवाह उन्ही व्यक्तियो के मध्य हो, जिनमे पारस्परिक प्रेम हो तथा जो स्वभाव, रुचि, बौद्धिक स्तर, वय आदि मे एक दूसरे के अनुरूप हों। इसके लिए पुरुष और नारी दोनो को जीवन-साथी चुनने मे पूर्ण स्वतत्रता प्रदान करने की बात कही गई। 'गोदान' मे सरोज के द्वारा इसी स्वातत्र्य की माग कराई गई है, "हम पुरुषो से सलाह नही मागती। अगर वह अपने बारे मे स्वतत्र है, तो स्त्रिया भी अपने विषय मे स्वतत्र हैं। युवतियाँ अब विवाह को अपना पेशा नही बनाना चाहती।

---

[1] प्रेमचन्द, 'गोदान', : तेरहवाँ सस्करण, पृष्ठ ५२९।

[2] वामन मल्हार जोशी, 'सुशीला चा देव', पृष्ठ २३५।

[3] प्रेमचन्द, 'गोदान' : तेरहवा संस्करण। पृष्ठ ६४।

वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेगी।"[१] मराठी में हिन्दी उपन्यासों से बहुत पूर्व यह प्रतिपादित किया जाने लगा था कि विवाह स्त्री-पुरुष की पारस्परिक मनोनुकूलता पर अवलम्बित होना चाहिये। वामन मल्हार जोशी ने 'सुशीला चा देव' मे अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है, "स्त्री पुरुष का मन विवाह के अनुकूल हो और वे वय, स्वास्थ्य, शिक्षा, अभिरुचि इत्यादि दृष्टि से एक दूसरे के अनुकूल हो, तो सतान-हित व समाज-व्यवस्था के लिए स्पष्ट ही विवाह सम्पन्न होना चाहिये।" उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट संकेत मिलता है कि यदि उपर्युक्त शर्त पूरी न होती हो, तो दो व्यक्तियों को विवाह-सूत्र में नही बधना चाहिये, क्योकि "वर-वधू के एक दूसरे के अनुरूप न होने पर प्रथम विवाह भी व्यभिचार है।" इसके विपरीत आत्मा एव मन के मिलने पर, यदि दैहिक मिलन न भी हो, तो भी वह विवाह हो सकता है, ऐसा मत जैनेन्द्र ने 'परख' मे प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार विवाह देह का बधन नही, मन का बधन है। इसीलिए कट्टो और बिहारी को, दैहिक मिलन न होते हुए भी आत्मिक मिलन के कारण विवाह-बद्ध कहा गया है। यदि समाज इसका विरोध करता है, तो न केवल वह दो व्यक्तियो के जीवन को नष्ट करने का उत्तरदायी है, अपितु वह समाज मे अनैतिकता व उच्छृंखलता फैलाने के उत्तरदायित्व से भी नही बच सकता, क्योकि आकर्षण एव प्रेम के अभाव में यदि स्त्री-पुरुष व्यभिचार या अनैतिकता के मार्ग पर चलने लगें, तो इसमे उनका इतना दोष नही, जितना समाज का।

इस सम्बन्ध मे लेखकों ने युवक-युवतियों को पर्याप्त सतर्क एव विवेकशील बने रहने का भी आदेश दिया है, क्योकि यौवनोन्माद मे प्राय. शारीरिक आकर्षण और मोह को ही प्रेम समझ कर विवाह की उतावली की जाती है। 'काळी राणी' मे पु० य० देशपाडे ने यही चेतावनी देते हुए कहा है, "पारस्परिक व्यक्तित्व-विकास के लिए एक दूसरे की सहायता एव प्रेरणा का विश्वास विवाह के लिए अपेक्षित है। जब तक इस विश्वास का प्रमाण न मिले, तब तक अपने स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व का समपर्ण न करना ही स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो के मध्य मानवता की एकमात्र कसौटी है। केवल लैंगिक आकर्षण के कारण एकत्र होना और नैसर्गिक मोह की बलि होजाना प्रकृति की दासता है तथा वैयक्तिक जीवन के सुख के लिए विवाहबद्ध होना मानवी दासता है।"

यदि भ्रम अथवा अविवेक के कारण अनमेल विवाह हो ही जाता है, तो लेखको ने उस गलती को सुधारने का आग्रह किया, न कि हाथ पर हाथ रखकर रोने-पीटने को श्रेयस्कर बताया। वामन मल्हार जोशी की सुशीला विवाह को तभी तक पावन व पालनीय बधन मानती है, जब तक कि दम्पत्ति मे पारस्परिक अनुरूपता व अनुकूलता रहे। उसकी दृष्टि मे पुनर्विवाह आपद्धर्म नही, अपितु पहले विवाह की तरह ही पवित्र है। कमलाबाई बम्बेवाला उस समाज को अत्यन्त नृशस एव अनाचारी

---

[१] प्रेमचन्द, 'गोदान' : तेरहवां सस्करण, पृष्ठ ६४।

बताती है, जो जबर्दस्ती, प्रेम न होने पर भी, दम्पति को एक साथ रहने के लिए बाध्य करे। 'एकेरी गाठ' की हेमलता का मत देखिए, "पति-पत्नी मे परस्पर थोड़ा भी आकर्षण न होते हुए, यदि समाज उन्हे केवल विवाह हो गया है, इसलिए एकत्र रहने की अपेक्षा करता है, तो यह अन्याय है और यदि कभी-कभी इस अन्याय के असह्य हो जाने पर चोरी-चोरी प्रेम-व्यापार आरम्भ हो जाता है, तो उसका उत्तरदायी कौन ? प्रेम-विहीन पति-पत्नी को एकत्र रहने के लिए बाध्य कर, उनके विवाह-सूत्र को उल्टे-मुल्टे ढग से सुलझाने की चेष्टा मे उसे और अधिक उलझाने की अपेक्षा प्रेम व सहानुभूति के अभाव मे विवाह की 'एकेरी गांठ' को तलाक की सहायता से सुलझा देना अधिक श्रेयस्कर है।'' "

यदि एक ओर विवाह के सम्बन्ध मे प्रेमा कंटक गांधीजी के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी मत का समर्थन करती है, तो दूसरी ओर अन्य लेखक विवाह-सस्था को ही अनावश्यक मानते हैं। 'काम आणि कामिनी' मे मुकुन्द का सिद्धान्त-वाक्य ही गांधीजी के वार्तालाप से उद्धृत निम्न कथन है, "स्त्री-पुरुष का समागम सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होना चाहिये।" उसका विश्वास है "विवाह के द्वारा एक पुरुष और एक स्त्री आत्मैक्य के उद्देश्य से बाह्य जीवन मे मिलते है, और एक-प्राण, एक-रूप होने का प्रयत्न करते है। दम्पति मन-बुद्धि, आचार-विचार आदि सबकी एकता के द्वारा आत्मैक्य के सोपान तक पहुंचते हैं।···यही विवाह की आध्यात्मिक भूमिका है। और प्रेम, यानी स्त्री-पुरुष के बीच आत्मैक्य की सर्वोच्च सीढी। केवल भौतिक दृष्टि से विवाह की कामना नही रखनी चाहिये। विषवृक्ष पर अमृत-फल नही लग सकते।"[1]

कुछ लेखकों ने इससे भी अधिक क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये। उनके मतानुसार विवाह-सस्था व वेश्या-संस्था में कोई मौलिक भेद नही है। दोनो के पीछे मुख्य भाव प्रेम का न होकर, काम व अर्थ का है। खांडेकर 'उल्का' मे इस दृष्टिकोण को उपस्थित करते हुए लिखते हैं, "बीमे की रकम किश्तो मे न देकर एक मुश्त ही देते है न ? वेश्यागमन और विवाह मे भी उतना ही अन्तर है।" इसी प्रकार 'निखळलेली हिरकणी' मे स्त्रियो का पक्ष ग्रहण करते हुए एव उनके प्रति सहानुभूति जाग्रत करते हुए गीता साने रतन के माध्यम से कहती हैं, "तुम चाहो तो उसे पातिव्रत धर्म कहो पर मैं तो ऐसे सम्बन्ध को सरल शब्दो मे 'कानूनसम्मत वेश्यावृत्ति' कहूंगी।"[2]

हिन्दी मे भी अज्ञेय ने इसी प्रकार का विचार निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है, 'प्रेम-वेम कुछ नहीं है। शरीर है और बुद्धि है—एक शरीर को पकड़ता है और एक पैसे को, बस यही प्रेम है।"[3] जैनेन्द्र का हरिप्रसन्न विवाह मे अपनी आस्था एव श्रद्धा खो चुका है। उसके निम्न कथन मे उसके अवचेतन मे अदृश्य रूप से निवास करने वाली वासना तो है ही, पर विवाह की अपूर्णता की ओर भी स्पष्ट सकेत है, "भाभी

---

१. प्रेमा कंटक, 'काम आणि कामिनी' : हिन्दी संस्करण पृष्ठ ३८०-३८१।

२. गीता साने, 'निखळलेली हिरकणी', पृष्ठ ५८।

३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी' : भाग दो, पृष्ठ १६।

विवाह को तुम क्या चीज मानती हो ? उससे आगे होकर क्या कोई कर्त्तव्य नही है ? जो हो, क्या उसमे तुम जीवन की सिद्धि समझती हो ? मैं कहना चाहता हूँ कि भाभी तुम भूल मे हो।"[1] इसके विपरीत इलाचन्द्र जोशी का पारसनाथ स्पष्ट शब्दो मे विवाह का विरोध करता है, "विवाह-प्रथा को ढोगियो और सफेदपोश बदमाशो की प्रथा समझता हू।...इस प्रकार की प्रथा मनुष्य को केवल सामाजिक विधि-निषेधो का दास या कठपुतली बनाने के सिवा और कोई भी उपयोगिता नही रखती।"[2]

डा० केतकर आधुनिक विवाह-संस्था को अपूर्ण मानते हैं और उसके लिए मातृसत्तात्मक कुटुम्ब-पद्धति को उपाय बताते है। हिन्दी मे प्रेमचन्द 'गोदान' मे मेहता द्वारा व्यक्ति की दृष्टि से विवाह को अनावश्यक ही नही, हानिकर भी बताते है, "मुक्त भोग आत्मा के विकास मे बाधक नही होता। विवाह तो आत्मा को और जीवन को पिंजरे मे बन्द कर देता है।"[3]

दाम्पत्य-जीवन की विषमता को देख, इस प्रकार विभिन्न प्रकार के विचार विवाह के सम्बन्ध मे व्यक्त किये गए, जिनमे से अधिकाश मे स्वाभावानुकूलता एवं रुचि-अनुरूपता पर बल दिया गया तथा उसके अभाव मे विवाह न करने अथवा विवाह के उपरान्त उसे विच्छिन्न करने का परामर्श दिया गया। यद्यपि कुछ ने विवाह-सस्था को ही अनावश्यक माना, पर कुल मिलाकर क्रान्तिकारी विचार वालो ने भी उसे समाज के स्वास्थ्य, सयम, पावित्र्य, मगल, व्यवस्था एव सुचारु विकास के लिए आवश्यक ही माना है। 'गोदान' के मेहता व्यक्ति की दृष्टि से भले ही अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ समझते हो, समाज की दृष्टि से वे भी विवाह-सस्था का समर्थन करते हैं। इसी प्रकार वामनमल्हार जोशी की सुशीला के विवाह सम्बन्धी विचार भले ही अत्यन्त क्रातिकारी हो, पर वह भी सतान व समाज की व्यवस्था के लिए विवाह को आवश्यक बताती है। माडखोळकर की दृष्टि मे विवाह-सस्था भग्न-मदिर के समान होने पर भी, विध्वस्त नही होनी चाहिये, क्योकि ऐसा करने से मनुष्य-जाति मे उच्छृखलता का प्रसार होगा, जो स्त्री-जाति के लिए विशेष रूप से घातक सिद्ध होगा।

मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो मे जीवन और उसके विविध प्रश्नो के सम्बन्ध मे जो मत एव विचार प्रस्तुत किये गए है, उनके सम्बन्ध मे सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि उनमे से अधिकाश को यहाँ के लेखको ने पश्चिम से ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर उनको अपनी शब्दावली पहना दी है। उदाहरण के लिए, समाजवादी विचारधारा से, आलोच्यकाल की भारत की परिस्थितियो को देखते हुए किसी भी समस्या का समाधान होना सभव नही था। यहाँ के किसानो और मजदूरो की परिस्थितियो का अध्ययन कर, उनके जीवन को निकट से देख, उसके अनुसार समाजवादी

---

[1] जैनेन्द्र कुमार 'सुनीता' . चौथा संस्करण, पृष्ठ १३३।

[2] इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १७२।

[3] प्रेमचन्द 'गोदान' . तेरहवा सस्करण, पृष्ठ ६३।

दर्शन मे परिवर्तन कर, यदि समाज के उत्पीडित वर्ग को उद्बुद्ध किया जाता, तो वह अधिक विवेकपूर्ण एव समाज के लिए कल्याणकारी होता । केवल वर्ग-सघर्ष का नारा बुलन्द करके अथवा रूस की प्रशसा कर इन लेखको ने भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना भले ही कुछ अशो मे जाग्रत कर दी हो, (क्योकि उसके लिए अन्य अन्दोलन एव परिस्थितिया भी उत्तरदायी है), उनके हृदय मे असन्तोष के बीज बो दिए हों, पर ऐसा कोई यथार्थवादी मार्ग ये नही बता सके, जिसका अनुगमन कर यहाँ का शोषित वर्ग लाभान्वित हो सकता । प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे भी जो विचार प्रकट किये गए है, उन पर पश्चिमी विचारधारा एव सस्कृति का प्रभाव अधिक है । यहाँ की परिस्थितियो पर चिन्तन और मनन का परिणाम वे नही प्रतीत होते । इनसे व्यभिचार एवं उच्छृखलता फैलने की ही शका है । कुछ विचार-दर्शन घोर निराशा एव क्षोभ के क्षणो की उपज है । ईश्वर को 'शैतान का चाचा', 'बहरा बुड्ढा' आदि बताना इसी प्रकार के विचार है । इस प्रकार के विचारो का प्रचार समाज-मन से आस्था और निष्ठा के भावो का उन्मूलन कर, उसे अनीति एव अमर्यादा की ओर ही ले जा सकता है, कल्याण-पथ का अनुगामी नही बना सकता । इसके विपरीत कुछ लेखको ने अह का भयावह घातक रूप बताकर अथवा समन्वय एव मानवता के पथ पर चलने का आह्वान दे कर, अपनी कृतियो द्वारा समाज को मगल-पथ पर चलाने का प्रयास भी किया है । उनका स्वस्थ दृष्टिकोण, स्पष्ट चिन्तन-प्रणाली और समाज की सापेक्षता मे समस्याओ का समाधान ढूढ निकालने की चेष्टा अभिनन्दनीय है ।

प्रकरण : ९

उपसंहार : मूल्यांकन

पारस्परिक प्रभाव—यद्यपि हिन्दी तथा मराठी साहित्य का पारस्परिक परिचय पर्याप्त पुराना है, तथापि जैसा कि हम इस प्रबन्ध के दूसरे अध्याय मे बता चुके हैं, मराठी के प्रारभिक उपन्यास-साहित्य ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को प्रभावित नहीं किया। यदि इन दोनो भाषाओ के प्रारभिक उपन्यास-साहित्य मे विषयगत अथवा रूपगत समानताएँ मिलती है, तो उसका कारण यह है कि दोनो भाषाओ को सस्कृत कथा-साहित्य परम्परा के रूप मे प्राप्त हुआ था, दोनो ने मनोरजन के लिए अरबी-फ़ारसी कथाओ को अपनाया था, तथा प्रारभिक उपन्यासकारो ने उपन्यास लिखने की प्रेरणा या तो सीधे अग्रेजी से ग्रहण की थी अथवा बँगला के माध्यम से अग्रेजी उपन्यासो से प्रभावित होकर, उन्होने उपन्यास लिखे थे। आज उपन्यास-साहित्य पर भी यद्यपि पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव अधिक है, तो भी कभी-कभी वे संस्कृत से प्रेरणा ग्रहण करते है। उदाहरण के लिए, डा० हजारी प्रसाद जी ने यदि 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' बाणभट्ट की ही शैली मे लिखी है, तो मराठी मे जयदेव कवि के सम्बन्ध मे प्रचलित आख्यायिकाओ के आधार पर 'पद्मा' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ है।

किसी भाषा के अनूदित ग्रंथ पढ़कर भी दूसरी भाषा वाले उन अनुवादो से प्रभावित हो सकते है। यदि इस दृष्टि मे मराठी तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य की परीक्षा करे, तो भी कोई पारस्परिक प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। इस निबन्ध के तीसरे प्रकरण मे मराठी से अनूदित हिन्दी उपन्यासो के विषय में विचार किया गया है, तथा यह निष्कर्ष निकला है कि १९५० ई० तक मराठी से हिन्दी मे अनूदित उपन्यासो की सख्या कुल मिलाकर बाईस है और उनका प्रभाव हिन्दी उपन्यासो पर कोई विशेष नही पड़ा है। जहाँ तक हिन्दी से मराठी मे हुए अनूदित उपन्यासों का सम्बन्ध है, उनकी भी यही स्थिति है। सन् १९५० तक किशोरीलाल गोस्वामी के कथानक पर आधारित 'राजकुमारी' आदि, प्रेमचन्द के 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'सेवा सदन', 'गोदान', 'रंगभूमि', यशपाल के 'दादा कामरेड' और 'देश-द्रोही', राहुल के 'जय यौधेय', 'सिह सेनापति' तथा 'बीसवी शताब्दी', जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र', कृष्णचन्द्र के 'अन्नदाता', रामानन्द सगर के 'और इन्सान मर गया', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' के मराठी रूपान्तर हुए हैं। इनमे से प्रेमचन्द के उपन्यास अवश्य १९२८ ई०

के लगभग अनूदित होने प्रारम्भ हो गए थे, अन्य लेखको की कृतियाँ तो १९४० ई० के उपरान्त रूपान्तरित हुई हैं। स्पष्ट है कि मराठी भाषा-भाषी हिन्दी उपन्यासो से बहुत बाद मे परिचित हुए हैं। इसी पारस्परिक परिचय की कमी पर मराठी जनता का ध्यान आकृष्ट करते हुए खाडेकर ने उज्जैन मे दिए भाषण मे कहा था, "उच्च कोटि का हिन्दी-साहित्य मराठी मे लाना तथा श्रेष्ठ मराठी-साहित्य को हिन्दी मे रूपान्तरित करना यहाँ के साहित्यकारो का परमावश्यक कर्त्तव्य है। वह इस कर्त्तव्य को पूरा करे मेरी उनसे यह विनती है। आधुनिक जगत मे निर्माण के बराबर ही प्रसार-कार्य का महत्व है। यहाँ के एक साहित्यकार प्रो० अ० म० जोशी ने जैनेन्द्रकुमार के एक लघु उपन्यास का सरस अनुवाद किया है, वह आप सबने पढा ही होगा। उन्ही के समान अन्य लोग भी इस मार्ग पर चले, तो आधुनिक मराठी वाङ्मय को राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण एव साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान कृतियो द्वारा सम्पन्न करने का श्रेय उन्हे मिलेगा।"[1]

राहुल और यशपाल साम्यवादी विचारधारा के लेखक है। इस विचारधारा की समानता, पारस्परिक परिचय की जिज्ञासा एव लेखको की स्थिति ने ही मराठी अनुवादको को हिन्दी के इन दो लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारो की ओर आकृष्ट किया है। यशपाल के राजनीतिक उपन्यासो मे गाधीवाद का विरोध तथा समाजवाद का समर्थन उतनी ही शक्ति एव दृढता के साथ किया गया है, जितना कि माडखोळकर के उपन्यासो मे और इन दोनो मे मौलिक प्रतिभा है, दोनो ने लगभग एक समय ही साहित्य रचना प्रारम्भ की है। अतः यह कहना कि एक ने दूसरे को प्रभावित किया है, असगत ही होगा। राहुलजी ने इतिहास के माध्यम से साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने की चेष्टा की है। मराठी मे ऐतिहासिक उपन्यासो के माध्यम से आधुनिक विचारधारा का प्रचार करने वालों मे वि० वा० हडप प्रसिद्ध है। पर इस प्रवृत्ति की मूल प्रेरणा उन्हे राहुल जी से मिली, यह कहना नितान्त असगत होगा। हडप ने प्रथम तो राहुल से कई वर्ष पूर्व उपन्यास-लेखन का कार्य आरम्भ कर दिया था, दूसरे, वह स्वतत्र-चेता उपन्यासकार है। तीसरे, उनके उपन्यास राहुल जी के समान प्राचीन भारत के गण-तन्त्रो पर न होकर, पेशवा व अग्रेजी-शासन के काल से संबंधित हैं। इस स्थिति मे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हडप ने न तो राहुलजी का अनुकरण ही किया है, और न उनसे प्रेरणा ही ग्रहण की है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' के अतिरिक्त अपने अन्य उपन्यासो मे गाधीवाद का समर्थन किया है। मराठी मे गाधीवादी दर्शन के समर्थक दो उपन्यासकारो—साने गुरुजी एव प्रेमा कटक मे, स्वतन्त्र विचारशक्ति एव मौलिक प्रतिभा है। उन्होने जो कुछ लिखा है, वह उनके स्वतन्त्र चिन्तन एव अनुभव का परिणाम है, न कि प्रेमचन्द जी का प्रभाव।

वस्तुत गाधीवादी एव समाजवादी विचार-दर्शन देश मे सर्वत्र एक ही समय उद्भूत हुए। उन्होने हिन्दी और मराठी ही नही, भारत के अन्य भाषा-भाषियो को

---

[1] वि० स० खाडेकर, 'तीन सम्मेलने', पृ० १०४।

भी एक साथ प्रभावित किया। अतः मराठी की गांधीवादी या समाजवादी कृतियों की मूलप्रेरणा लेखकों को हिन्दी से न मिलकर, स्वतंत्र चिंतन, मनन एवं अनुभवों से प्राप्त हुई। यह सच है कि मराठी में ग्रामीण जीवन पर उच्चकोटि के उपन्यास प्रेमचंद से बाद में लिखे गए, परन्तु यह कहना कि ग्राम्य-जीवन के चित्रकार हडप, दिघे, पेंडसे आदि ने अपने उपन्यासों को लिखने की प्रेरणा प्रेमचन्द से प्राप्त की, असंगत होगा। हडप में प्रेमचंद की अपेक्षा समाजवादी प्रभाव अधिक है, तो दिघे तथा पेंडसे ने ग्रामीण समस्याओं से अधिक ग्रामीण वातावरण के चित्रण पर अधिक बल दिया है। इस प्रकार हम निःसंकोच कह सकते हैं कि जिस प्रकार हिन्दी उपन्यासकार मराठी अनुवादों से प्रभावित नहीं हुए हैं, उसी प्रकार मराठी उपन्यास-लेखक हिन्दी अनुवादों से अप्रभावित ही रहे हैं।

हम पहले, दूसरे तथा तीसरे प्रकरणों में बता चुके हैं कि हिन्दी और मराठी के उपन्यास-लेखक एक दूसरे से प्रभावित होने के स्थान पर बँगला से अधिक प्रभावित रहे हैं। हिन्दी का प्रारम्भिक उपन्यास ही बँगला के माध्यम से नहीं आया, अपितु बाद के उपन्यास को भी बँगला की रचनाओं ने प्रभावित किया है। जैनेन्द्र की कृतियों पर शरद और रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। 'सुनीता' पर 'घरे-बाहरे' के प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। 'परख' में 'चोखेरबाली' की छाया है तो 'चतुरंग' की वस्तु और शैली का व्यापक प्रभाव 'सुखदा' और 'विवर्त' पर है। उनकी अभिव्यंजना पर रवीन्द्र के परवर्ती उपन्यासों की रेखाविरल, सांकेतिक-कला का स्पष्ट प्रभाव है और उन्हीं की भाँति बौद्धिकता का आग्रह भी है। यद्यपि रवीन्द्र की रचनाओं से जैनेन्द्र ने प्रेरणा-मात्र ली है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनके उपन्यासों की भावात्मक और विचारात्मक रूपरेखा के निर्माण में कवीन्द्र की रचनाओं का योगदान रहा है। जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ की दृढ़ धारणा है कि मानव की प्रकृति ही प्रेममयी है और उपन्यास में इसी मूल प्रकृति को निषेध और प्रत्याक्रमण की अहंतामयी प्रवृत्ति पर जिताना चाहिये तथा व्यक्ति को अकुण्ठित मन से अपना सर्वस्व दूसरे के लिए न्यौछावर कर देना चाहिये, उसी प्रकार का मत जैनेन्द्र ने 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में ही नहीं, 'सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त', और 'व्यतीत' तक में प्रतिपादित किया है।

परन्तु जैनेन्द्र पर शरद का प्रभाव अधिक सूक्ष्म है। उनके साहित्य सम्बन्धी आदर्शों एवं मान्यताओं पर शरद की छाप स्पष्ट है। उन्होंने 'शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय' शीर्षक लेख में शरद के इस ऋण को स्वीकार भी किया है। शरद की सतीत्व की परिभाषा को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। वह भी सतीत्व को तन की वस्तु न मानकर, मन की दीप्ति समझते हैं। उनकी दृष्टि में भी जहाँ मन की पवित्रता है, वहाँ तन की मजबूरी मजबूरी ही है, न अपवित्रता है, न पवित्रता। उन्होंने अपनी रचनाओं में इसीलिए नारी से सम्पूर्ण नारीत्व की मांग की है, केवल सतीत्व की नहीं। यही कारण है कि 'त्यागपत्र' की मृणाल भले ही साधारण नैतिक दृष्टि से असती हो, जैनेन्द्र ने उसे नारीत्व का प्रतीक बनाया है। उनकी लेखनी की नोक पर बीच-

बीच मे जो मर्मभेदिनी अतर्दृष्टि और गलिदाश्रु भावुकता उतर आई है, वह भी शरद मे देखी जा सकती है। इस प्रकार जैनेन्द्र पर शरद और रवीन्द्र दोनो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहाँ शरद से उन्होने भाव-बोध पाया, पीडा का दर्शन पाया, नारी के मूल्य-सम्बधी दृष्टि पाई, वहाँ रवीन्द्र ने उन्हे बौद्धिकता दी, कथा खडी करने के लिए ढाँचे प्रदान किये और नई सवेदनामयी भाषा-शैली दी। त्यागमयी वेश्याओ के चित्र हिन्दी मे ही नही अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य मे भी शरद के प्रभाव के प्रमाण है। मराठी मे भी हिन्दी की अपेक्षा बँगला उपन्यासो का ही अधिक अनुवाद हुआ, क्योकि बँगला कथा-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध था। यद्यपि बँगला से अनूदित उपन्यासो ने रचनाकौशल तथा विषय-विस्तार की दृष्टि से मराठी उपन्यासो को विशेष प्रभावित नही किया, तथापि ललित व मधुर शब्दावली-युक्त भाषा लिखने की प्रेरणा कुछ लेखको ने अवश्य बँगला से प्राप्त की। अत कुल मिलाकर स्वभाव-भेद, रुचि-वैभिन्य एव चिन्तन-प्रणाली की विभिन्नता के कारण बँगला उपन्यासो का मराठी लेखको पर उतना प्रभाव नही पडा, जितना हिन्दी उपन्यासकारो पर जैसा कि निम्न अवतरण से प्रकट होता है 'बँगला व मराठी उपन्यासो के स्वरूप मे बडा अन्तर है। बँगला उपन्यासो मे कोमल शब्दावली, सुकुमार कथा, अपूर्ण प्रेम-सम्बन्ध, सत्प्रेम के प्रति भी पश्चाताप और आत्म-हत्या आदि की रेल-पेल होती है। इसके अतिरिक्त बगला पाठको को लम्बे-चौडे उपन्यासो के स्थान पर लघु उपन्यास चाहिएँ और वे भी हृदय मे कल्लोल उत्पन्न करने वाले—बँगला उपन्यासो के भाषान्तर यद्यपि मराठी मे अनेक हुए है, तो भी उनका अनुकरण यहाँ तनिक भी नही हुआ है।"[1] तथापि यह मानना पडेगा कि बँगला उपन्यासो की चकाचौंध ने उन्हे अन्य किसी भारतीय भाषा की ओर देखने से विमुख अवश्य किया। साराश यह है कि मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो के एक दूसरे से अप्रभावित रहने का एक मुख्य कारण यह रहा कि बँगला का उपन्यास-साहित्य प्रारम्भ से ही अत्यन्त समृद्ध रहा है और हिन्दी तथा मराठी लेखको का जितना ध्यान बँगला की ओर गया, उतना अन्य भाषाओं की ओर नही।

भारत मे उपन्यास-साहित्य वस्तुत: पश्चिम के ससर्ग का ही परिणाम रहा है और आज भी शिल्प, जीवन-दर्शन और विषय किसी भी क्षेत्र मे, जब कभी कोई क्रान्ति पाश्चात्य उपन्यास-वाङ्मय मे होती है, तभी कुछ समय बाद भारतीय उपन्यासकार उसे या तो ज्यो-का-त्यो अथवा कुछ परिवर्तन के साथ अपने साहित्य मे वही से सीधा ग्रहण कर लेते है। शिल्प के क्षेत्र मे चेतना-प्रवाह पद्धति, सिनेरियो तत्र, पूर्वदीप्ति, आत्म-सस्मरणात्मक पद्धति, जीवन-दर्शन के क्षेत्र मे सार्त्र का अस्तित्ववाद तथा मार्क्स का मार्क्सवाद उदाहरण के रूप मे लिए जा सकते है। यही बात मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे दिखाई देने वाले यौनवाद के सम्बन्ध मे कही जा सकती है, जिसका विकृत रूप चित्रित करने की प्रेरणा हिन्दी-मराठी लेखको ने डी०

---

[1] डा० केतकर, 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश', : दसवाँ भाग, पृष्ठ २७५-२७६।

एच० लारेन्स इत्यादि पाश्चात्य लेखको से सीधे ग्रहण की है। भारतीय भाषाओ के लगभग सभी उच्चकोटि के उपन्यास-लेखक अंग्रेजीविद् हैं। वे उपन्यास-क्षेत्र में होने वाली प्रत्येक क्रान्तिकारी घटना को सीधे वही से ग्रहण करने मे समर्थ होते है, उन्हे अन्य भारतीय भाषाओ पर निर्भर नही होना पड़ता।

मध्य-प्रदेश द्विभाषी प्रदेश रहा है। अतः यह सम्भावना थी कि इस पारस्परिक भाषा-ज्ञान के परिणामस्वरूप मराठी तथा हिन्दी भाषा-भाषी एक दूसरे के कथा-साहित्य से प्रभावित हुए होगे, परन्तु दोनो के उपन्यास-साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त ऐसा कोई प्रमाण हमे नही मिला, जिसके आधार पर हम एक को दूसरे से प्रभावित कह सके। इसके दो कारण—बँगला की चकाचौध और अंग्रेजो साहित्य का सर्वव्यापी प्रभाव—हम ऊपर बता चुके है। तीसरा कारण यह है कि यद्यपि मध्य-प्रदेश द्विभाषी प्रदेश रहा है, पर १६५० ई० तक वहाँ ताम्बे को छोडकर न तो कोई महान मराठी साहित्यकार हुआ है और न वृन्दावनलाल वर्मा को छोडकर हिन्दी उपन्यासकार। स्वयं वृन्दावनलाल वर्मा पर मराठी उपन्यासो का कोई प्रभाव नही पड़ा, इसका ज्वलत उदाहरण है उनका 'मृगनयनी' नामक उपन्यास। इस हिन्दी कृति के प्रकाशित होने से लगभग पाँच वर्ष पूर्व दिघे का 'गानलुब्धा मृगनयना' नामक उपन्यास लिखा जा चुका था। दोनो उपन्यासों का विषय ग्वालियर का राजा मानसिंह एव उनका कला-प्रेम है। परन्तु इन दोनो रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी की कृति पर 'गानलुब्धा मृगनयना' का कोई प्रभाव नही है। वर्माजी की कृति ऐतिहासिक अधिक है, रोमाटिक कम। लेखक ने पर्याप्त खोज एव निरीक्षण के उपरान्त ऐतिहासिक तथ्यो को समाविष्ट किया है। मानसिंह, सिकन्दर लोदी, महमूद बर्बरा, नसिरुद्दीन आदि के वृत्त शुद्ध इतिहास पर आधारित है, यद्यपि उनमे लेखक की अभिनव कल्पना का कौशल भी बडा चित्ता-कर्षक है। गूजरी महल के भग्नावशेषो और ग्वालियर की नहर के अस्फुट चिन्हो को लेकर, जो कल्पना का प्रासाद निर्मित किया गया है, वह केवल कपोलकल्पना नही, अपितु इतिहास-सम्मत है। सारांश यह है कि वर्माजी का उपन्यास इतिहास और जनश्रुतियो के आधार पर लिखा गया उच्च कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके विपरीत दिघे ने अपने उपन्यास के लिए ऐतिहासिक शोध न कर, केवल जनश्रुतियों एवं कल्पना के आधार पर उस पर ऐतिहासिक मुलम्मा चढाने का प्रयत्न किया है। अतः यह रचना लेखक की नैसर्गिक कल्पनारम्य प्रकृति के अनुरूप वनसौन्दर्य एव सगीतप्रेम के वर्णनो से आच्छादित, कल्पनारम्य कृति-मात्र बन कर रह गई है। उसमे पन्द्रहवी शताब्दी के जीवन का उतना सुन्दर परिचय नही मिलता, जितना वर्माजी के उपन्यास से प्राप्त होता है।

इन दोनों उपन्यासो के कथानक, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य तथा रचना-शैली मे भी पर्याप्त अन्तर है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है 'गानलुब्धा मृगनयना' मे ऐतिहासिक वृत्त तो है ही नही, साथ ही उसमे तिलिस्मी रहस्यमयता और रहस्यों

को धीरे-धीरे उद्घाटित करने की प्रवृत्ति के कारण स्वाभाविकता कम हो गई है। उपन्यास के ये अश ऐतिहासिक प्रणय-कथा के अश न मालूम होकर, किसी जासूसी-तिलिस्मी रचना के अश प्रतीत होते हैं। जीर्णनगर, नरेन्द्रसिह-गूजरी, दुर्ग-रहस्य आदि से सम्बधित वृत्त इसी प्रकार के हैं। वर्माजी ने भी नायक-नायिका के अतिरिक्त लाखी और अटल के रूप मे उपनायक-उपनायिका की अवतारणा की है, जिस प्रकार दिघे ने मकरन्द-फुलवा की। फुलवा का गूजरी के लिए त्याग भी लाखी के त्याग से कम नही है, पर जो सक्रिय सहायता एव बलिदान लाखी और अटल ने ग्वालियर की मुसलमानो से रक्षा के कार्य मे किया, वह फुलवा-मकरन्द द्वारा नहीं किया गया है। उनका कृत्य व्यक्तिगत अधिक है, सामाजिक कम। दूसरे 'गानलुब्धा मृगनयना' मे फुलवा व गूजरी के बीच प्रारम्भ मे सघर्ष और असूया एवं प्रतिस्पर्धा के भाव दिखाए गए है, जबकि वर्माजी की कृति मे लाखी और मृगनयनी आरम्भ से अत तक सहयोगिनी रही है। लाखी मे शौर्य तो है, पर फुलवा के समान संगीतकला में निपुणता नही। उधर मानसिह और गूजरी का चरित्र जितना उदात्त वर्मा जी ने चित्रित किया है, उतना दिघे ने नही।

वर्मा जी का उद्देश्य कला और कृतित्व का समन्वय दिखाना था, अत मानसिह मृगनयनी के विवाह के उपरान्त भी कथा समाप्त नही होती, उसका वास्तविक सौन्दर्य तो बाद मे ही प्रस्फुटित होता है। इसके विपरीत दिघे का लक्ष्य 'सगीतमय प्रणय-कथा' कहना था, अत. वह मानसिह-गूजरी के विवाह पर समाप्त हो जाती है। सगीत-कला के क्षेत्र मे इस दम्पति की क्या देन है, इसका विवरण तो दोनो उपन्यासो मे मिलता है, परन्तु शिल्प-कला, शासन-व्यवस्था, लोक-हित एव पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए उन्होने क्या किया, इसकी विस्तृत चर्चा 'मृगनयनी' मे तो है, पर 'गानलुब्धा मृगनयना' मे नही। 'गानलुब्धा मृगनयना' मे केवल एक दो वाक्यो "शासन-व्यवस्था सबसे श्रेष्ठ कला है। स्वय राष्ट्र एक महान वाद्ययत्र है।" से यह ध्वनित होता है कि वे कर्त्तव्य को कला से भी श्रेष्ठ मानने लगे थे, परन्तु प्रारम्भ मे सगीत की व्यसनाधीनता मे फँसकर मानसिह द्वारा राज्य की उपेक्षा उनकी दुर्बलता की ओर ही सकेत करती है। कुल मिलाकर मानसिह और गूजरी का चरित्र उतना उदात्त नही है, जितना 'मृगनयनी' मे। इस प्रकार इन दोनो उपन्यासो के कथानक, चरित्र-चित्रण, रचना-शिल्प और उद्देश्य सम्बन्धी विभेद से स्पष्ट हो जाता है कि 'गानलुब्धा मृगनयना' ने वर्मा जी की कृति को तनिक भी प्रभावित नही किया है।

अधिकाश मराठी उपन्यास लेखक बृहत्महाराष्ट्र मे न होकर केन्द्रीय महाराष्ट्र मे उत्पन्न हुए हैं तथा हिन्दी के उच्चकोटि के उपन्यास लेखको का केन्द्र उत्तर प्रदेश और बिहार रहा है। केन्द्रीय महाराष्ट्र-निवासी हिन्दी तथा उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग मराठी की पुस्तकें बहुत कम पढते रहे है। अनुवादो की संख्या प्रथम तो

---

१. र० वा० दिघे, 'गानलुब्धा मृगनयना', पृष्ठ २१८।

नगण्य रही है, दूसरे, उनमें से अधिकांश का अनुवाद १९४० ई० के उपरान्त हुआ है। ऐसी स्थिति मे दोनो एक दूसरे के उपन्यासो से प्रथम तो अपरिचित रहे और यदि अनुवादो के माध्यम से कुछ का परिचय भी प्राप्त किया गया, तो भी वे उनसे अप्रभावित ही रहे, जैसा कि तीसरे प्रकरण मे प्रमाणित किया जा चुका है।

एक अन्य कारण अप्रभावित रहने का यह भी है कि दोनो प्रदेशो मे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ एक-सी रही है और उनको सुलझाने के लिए लगभग एक समय मे एक से प्रयत्न किये गए है। इसीलिए विधवा, वेश्या, अछूत, दलित, मिल-मजदूर, शिक्षा, दाम्पत्य-जीवन, देश की स्वतत्रता, हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष, गाँवों की गरीबी और बेकारी आदि से संबधित प्रश्नो ने दोनों भाषाओ के उपन्यासकारो को सोचने और समाधान ढूंढने के लिए प्रेरित किया, जिस के परिणामस्वरूप इन विषयो पर उपन्यास लिखे गए। इनमे से अधिकाश प्रश्नो का चित्रण और समाधान समान ढग से किया गया, क्योंकि लेखको की सस्कृति, उनके आदर्श और उनकी विचारधारा एक समान थी। इसी सादृश्य की ओर संकेत करते हुए प्रभाकर माचवे ने लिखा था, "उपन्यास-चर्चा मे जैसे यहाँ हरिभाऊ आप्टे का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है, वैसे ही वहाँ प्रेमचद का। ऐतिहासिक उपन्यास जैसे नाथमाधव ने लिखे वैसे ही हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा का नाम प्रसिद्ध है। मराठी मे विभावरी-वाङ्मय पर जैसा वाद-विवाद हुआ, वैसे ही जैनेन्द्रकुमार व अज्ञेय के उपन्यासो की बहुत चर्चा हुई। मराठी मे पेडसे है, तो हिन्दी मे यशपाल।"[१] यदि कुछ बातो में भिन्नता भी दृष्टिगत होती है, तो उसका कारण उनके स्वभाव, रीति-रिवाज, रुचि एव विचारधारा की भिन्नता मे पाया जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे अधिकाश उपन्यासकारो ने गांधीवाद का समर्थन किया है, जबकि मराठी लेखको ने उसका विरोध तथा मार्क्सवाद का समर्थन किया है। इसका कारण यह है कि गाधीवाद के मूल स्तम्भ—भावुकता, आदर्शवादिता, मानव हृदय की सज्जनता पर विश्वास आदि है। इन वृत्तियो का सम्बन्ध हृदय से अधिक और बुद्धि से कम है। उधर महाराष्ट्र-निवासी भावुकता के प्रवाह मे बहने वाले न होकर, बौद्धिक तथा व्यावहारिक अधिक है। उन्हे उच्च आदर्श, काल्पनिक एव स्वप्निल लोक, भावुकता का सगीत इतना प्रभावित नही कर पाता, जितना कि तर्क, बुद्धि और व्यावहारिक योजनाएँ। इसके विपरीत हिन्दी-प्रदेश के निवासी भावुक अधिक रहे है, जिससे गाधीवाद ने उन्हे अधिक मुग्ध किया है। इसी स्वभाव-भेद के कारण हिन्दी मे गाधीवादी विचारधारा तथा मराठी मे मार्क्सवादी विचारधारा के पृष्ठपोषक उपन्यास अधिक प्रकाशित हुए है। यो एक दो अपवाद दोनों भाषाओ मे मिलते है। यदि साने गुरुजी ने गाधीवाद का समर्थन किया है, तो यशपाल और राहुल ने मार्क्सवाद का। परन्तु अपने-अपने

---

[१] प्रभाकर माचवे, 'आधुनिक हिन्दी व मराठी साहित्य' . सह्याद्रि अक्टूबर १९५४ ई०, पृष्ठ ४८३।

मतो मे दृढ विश्वास एव अगाध निष्ठा के कारण वे एक दूसरे की विचारधारा से प्रभावित नही हुए हैं।

यही बात परिस्थितियो से उत्पन्न भेद के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। महाराष्ट्र मे पर्दे की प्रथा कभी नही रही, स्त्रियो को स्वातत्र्य भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता रहा, पुरुषो ने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे ही यह अनुभव किया कि बिना स्त्रियो को शिक्षा दिए, उनका गृहस्थ-जीवन कष्टमय हो जायगा, क्योकि बिना सुशिक्षित हुए स्त्री पुरुष के मानसिक स्तर तक पहुँचने मे असमर्थ रहेगी और उसका परिणाम गृह-कलह होगा। इन्ही सब कारणों से हिन्दी-प्रदेश की अपेक्षा महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा एव स्त्री-स्वातत्र्य का आन्दोलन पहले आरम्भ हुआ। कुछ तो सह-शिक्षण एव स्वातत्र्य-प्राप्ति के कारण और कुछ आर्थिक आवश्यकताओ से बाध्य होकर, मराठी स्त्री घर से बाहर निकल कर पुरुषो के सम्पर्क मे अधिक आने लगी और इसका परिणाम हुआ विवाह-बाह्य सम्बन्ध तथा स्त्री एव पुरुष के जीवन मे आने वाले अन्य प्रश्न। इस सब की प्रतिक्रिया मराठी उपन्यासो मे होना स्वाभाविक था। हिन्दी प्रदेश मे स्त्री-शिक्षा और स्वातत्र्य-सम्बन्धी आन्दोलन न तो इतनी शीघ्र प्रारम्भ हुआ और न आर्थिक कारणो से ही मध्यवर्ग की स्त्री को घर से बाहर जाकर अर्थोपार्जन करना पडा। अत हिन्दी उपन्यासो मे कालेज-रोमास और स्त्री-पुरुष से सम्बन्धित वे समस्याएँ इतनी प्रबलता से नही चित्रित की गई, जो १९२५-३५ ई० के मराठी उपन्यासो मे प्रमुख विषय बन कर आई है। यही करण है कि हिन्दी मे प्रौढ कुमारिकाओ, शिक्षा-प्राप्त, जीविकोपार्जन करने वाली कुठित स्त्रियो के चित्र तथा विवाह के प्रति आक्रोश इतना नही पाया जाता, जितना मराठी उपन्यासो मे।

हिन्दी उपन्यासकार मराठी उपन्यासो के परिचय मे नही आए, परन्तु यदि वे उन्हे पढते भी, तो भी उनका इन समस्याओ को अपनी कृतियो मे चित्रित करना सदिग्ध ही है, क्योकि प्रथम तो यह समस्या जिस रूप मे मराठी उपन्यासो मे चित्रित की गई है, वह मानव-जीवन की कोई स्थायी समस्या नही है, जैसा कि टालस्टाय के उपन्यास 'एना करीना' मे जहाँ कि यौवन ढलने पर स्त्री के सम्मुख आने वाले प्रश्न को चित्रित किया गया है, दूसरे, हिन्दी प्रदेश मे जब यह समस्या थी ही नही, तो वहाँ के उपन्यासकार उसे अपनी रचनाओ मे कैसे स्थान दे सकते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मराठी उपन्यास-साहित्य ने हिन्दी को बहुत कम प्रभावित किया है। जो कुछ प्रभाव किसी भाषा के वाङ्मय को पढकर अन्य भाषा के साहित्य पर अप्रत्यक्ष रूप मे पड सकता है, वही दोनो के उपन्यास-वाङ्मय पर पडा है। उदाहरण के लिए, वृन्दावनलाल वर्मा के सुप्रसिद्ध ग्रथ 'झासी की रानी' पर विष्णुराव गोडशे की कृति 'माझा प्रवास' का प्रभाव स्पष्ट है और उसको लेखक ने परिचय तथा परिशिष्ट दोनो मे स्वीकार किया है। 'मराठी मे विष्णुराव गोडशे का 'माझा प्रवास' एक छोटा-सा प्रबन्ध है। गोडशे रानी के साथ किले मे था, जब गेज्र के मुकाबले मे रानी लडी। मैंने अपनी पुस्तक मे 'माझा प्रवास' का

भी उपयोग किया है।"[१] यही बात परिशिष्ट मे भी कही गई है "उपन्यास की कुछ घटनाएँ 'माझा प्रवास' के आधार पर हैं।"[२]

हिन्दी मे प्रभाकर माचवे और अनन्त गोपाल शेवड़े ऐसे लेखक है, जिन्होने महाराष्ट्र परिवार मे जन्म लेकर भी हिन्दी की सेवा का व्रत लिया है। मराठी परिवार मे जन्म लेने तथा मराठी-साहित्य के अध्येता होने के कारण उनकी हिन्दी रचनाओ मे थोड़ा-बहुत मराठी प्रभाव आजाना स्वाभाविक ही है। यद्यपि दोनो का हिंदी भाषा पर पूर्ण अधिकार है, तथापि कही-कही मुखौटा (नकाब के लिए), दिव्य (कठिन परीक्षा के लिए) जख्म खोद देना आदि मराठी शब्दो और पदो का यत्र-तत्र प्रयोग हिन्दी पाठको को खटकता है। मराठी समाज कला-प्रेमी समाज है। सगीत से उन्हे विशेष प्रेम है। अत. संगीतशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली एव उसके भेद-उपभेदो से ही वे परिचित नही होते, अपितु उसका गहरा ज्ञान भी उन्हे होता है। इसीलिए ना० सी० फडके, खाडेकर आदि के उपन्यासो मे हमे सगीत-सभाओ एव गोष्ठियो के बड़े सुन्दर व विस्तृत विवरण पढने को मिलते है। माचवे जी के 'परन्तु' उपन्यास मे हमे वीणा और तबले से सम्बन्धित विविध शब्दावली एवं वाद्यसगीत का कलापूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। निस्सन्देह हिन्दी उपन्यास मे यह विवरण लेखक के मराठी होने का ही प्रतिफल है। जिस चेतना-प्रवाह पद्धति का प्रयोग इस उपन्यास मे किया गया है, वह भी मराठी उपन्यासो से प्राप्त प्रेरणा का द्योतक है, क्योकि 'परन्तु' से पूर्व हिन्दी मे कोई भी सम्पूर्ण उपन्यास चेतना-प्रवाह पद्धति मे नही लिखा गया था, यद्यपि अज्ञेय की कृतियो मे उसका आंशिक प्रयोग अवश्य देखने को मिलता है। इसके विपरीत मराठी मे 'रात्री चा दिवस', 'घर' आदि उपन्यास इस पद्धति मे लिखे जा चुके थे। हिन्दी लेखको मे से अधिकाश ने अपने उपन्यासो के लिए उत्तर भारत और उसमे भी विशेषत: उत्तर प्रदेश तथा बिहार को ही रगभूमि के लिए चुना है। इसके विपरीत अनन्तगोपाल शेवडे ने नागपुर तथा उसके आसपास के प्रदेश को अपने उपन्यास 'निशागीत' के लिए घटना-स्थल के रूप मे प्रयुक्त किया है। इसे मराठी उपन्यासो का प्रभाव नही कहा जा सकता, क्योकि कोई भी लेखक किसी भी स्थल को अपने उपन्यास का घटना-स्थल चुन सकता है, तथापि यह चुनाव लेखक के मराठी होने एव नागपुर निवासी होने का प्रतिफल अवश्य है। बालमनोवृत्ति एव बाल्यकालीन क्रीडाओ के जितने सुन्दर चित्र हरिभाऊ आप्टे से लेकर बोकील तक के मराठी उपन्यासों मे उपलब्ध होते है, उतने हिन्दी उपन्यासो मे नही। अनन्त गोपाल शेवडे के 'निशागीत' मे मधु के बचपन मे डाक्टर बनने के चाव का जो सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, उसकी प्रेरणा उन्हे मराठी वाङ्मय के अध्ययन से ही मिली प्रतीत होती है। इसी प्रकार मराठी उपन्यासकारो विशेषत माडखोळकर ने पुरुषो के सुदृढ़ एव सुन्दर शरीर का आकृति-वर्णन जितनी विलोभनीय, मादक एव आकर्षक शैली मे किया है, उतना हिन्दी उपन्यासो मे नही

---

[१] वृन्दावनलाल वर्मा, 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' परिचय, पृष्ठ, ३।

[२] वही परिशिष्ट १६वा, पृ ठ ५०८।

मिलता। यहाँ केवल स्त्री-शरीर के चित्र ही रस ले-लेकर अंकित किये गए है। शेवडे के उपन्यास 'मृगजल' मे चित्रकार अशोक ठाकुर के रूप-वर्णन तथा आकृति-चित्रण पर निश्चय ही मराठी उपन्यासो का प्रभाव है। इस प्रकार माचवे जी तथा अनन्त गोपाल शेवडे की कृतियो मे कही-कही मराठी उपन्यासो का प्रभाव दृष्टिगत होता है, पर इसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनो लेखक महाराष्ट्र के है तथा उन्होने मराठी साहित्य का गभीर एव व्यापक अध्ययन कर रखा है। पर कुल मिलाकर मराठी उपन्यास का हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव नगण्य ही है।

निजी देन—जिस प्रकार वृन्दवादन (आर्केस्ट्रा) मे विविध वाद्यो का सगीत उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओ के उपन्यास-साहित्य के योगदान से देश को भारतीय-उपन्यास नामक वस्तु प्राप्त हुई है। परन्तु आर्केस्ट्रा के सामूहिक वाद्य-सगीत मे भी, जिस प्रकार जल-तरग, बासुरी, वीणा, सितार आदि विविध वाद्य-यत्रो का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, अपनी-अपनी विशिष्ट ध्वनि एव श्रोता के मन को मुग्ध करने की अपनी निजी पद्धति होती है और वही आर्केस्ट्रा को उनकी निजी देन होती है, उसी प्रकार भारतीय उपन्यास-साहित्य को देश की विभिन्न भाषाओ मे लिखे उपन्यास-वाङ्मय ने अपनी-अपनी निजी विशिष्टता प्रदान की है। यहाँ हमे मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो की भारतीय उपन्यास-साहित्य को निजी देन का अवलोकन करना है।

महाराष्ट्र-निवासी भावना से अधिक बुद्धि को महत्व देते रहे है। उन्हे कोरी भावुकता, जिसे बुद्धि का अवलम्ब प्राप्त न हो, रीढविहीन प्रतीत होती है। यही कारण है कि राजनीति के क्षेत्र मे तिलक के पदार्पण करते ही महाराष्ट्रवासियो को रानडे आकृष्ट न कर सके और गाधीजी की आदर्शमयी भावुकता पर आश्रित विचार-धारा उन्हे कभी प्रभावित न कर सकी। इसीलिए हमे मराठी उपन्यासो मे बौद्धिक दृष्टिकोण का प्राधान्य मिलता है। माडखोळकर प्रभृति लेखको के उपन्यासो मे गाधीवाद का जो उत्कट विरोध पाया जाता है, उसका मुख्य कारण उनका यही बौद्धिक दृष्टिकोण है। गाधी जी और उनके सिद्धान्तो के पूर्ण उत्कर्ष के समय भी, जबकि अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे गाधीवाद का समर्थन करने वाला उपन्यास-साहित्य तेजी से रचा जाता रहा, मराठी मे अधिकाँश लेखको ने उसके विरोध मे ही अपनी लेखनी चलाई। परन्तु गाधीजी और उनकी विचारधारा का प्रभाव इतना देशव्यापी और हृदय की कोमल वृत्तियो को छूनेवाला था कि कतिपय मराठी लेखक भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। प्रेमा कटक, खाडेकर और साने गुरुजी की प्रारम्भिक कृतियो मे इसीलिए गाधीवाद का प्रभाव दृष्टिगत होता है। परन्तु गाधीवादी दर्शन उनके बौद्धिक दृष्टिकोण से मेल नही खाता था। अत ये उपन्यासकार एक अजीब उलझन मे फंस गए। एक ओर तो गाधीवाद के देशव्यापी प्रभाव और कोमल वृत्तियो को स्पर्श करने की शक्ति देखकर वे इधर आकृष्ट होते थे और दूसरी ओर उनका जन्म-जात बौद्धिक दृष्टिकोण उसके प्रति उन्हें विद्रोह करने के लिए लालायित करता था। एक तीसरी

शक्ति, जो उन्हें अपनी ओर खीच रही थी, वह था समाजवाद। इस सबका परिणाम यह हुआ कि खाडेकर और साने गुरुजी आदि लेखको ने गांधीवादी और समाजवादी विचारधारा को समन्वित करने की चेष्टा की। अतः उनकी रचनाओ में हमे इन दोनों दर्शनों का सुन्दर, सुमधुर समन्वय मिलता है। अन्य प्रादेशिक भाषाओ के उपन्यासो मे या तो गाधीवाद का पूर्ण समर्थन हुआ अथवा पूर्ण विरोध। गाधीजी के व्यक्तित्व एवं उनकी राष्ट्र को जगाने की शक्ति देखकर, यदि लेखकों ने गाधीवाद का समर्थन किया, तो समाजवादी या क्रान्तिकारी विचारधारा का गाधीवाद से पूर्ण तात्विक विरोध होने के कारण समाजवादी लेखको ने उसका पूर्ण विरोध किया। परन्तु महाराष्ट्र के लेखको ने अपने उपन्यासो मे इन दोनों विरोधी दर्शनो का समन्वय कर, निश्चय ही एक अभिनव वस्तु भारतीय उपन्यास-साहित्य को प्रदान की।

महाराष्ट्र हिन्दू सभ्यता और सस्कृति का दृढ़ स्तम्भ रहा है। भयकर से भयकर आपत्तियो के क्षण मे भी उन्हे अपनी सस्कृति पर गर्व रहा है और मोहक से मोहक प्रलोभन भी उन्हे अपने मार्ग से विचलित नही कर सका है। उन्होने पहले मुसलमान और बाद मे ईसाई धर्म, सभ्यता, विचार, आचार-व्यवहार आदि के बवडर का डट कर सामना किया और भीषण से भीषण सास्कृतिक प्रभाव के वात्याचक्र मे भी उनके पैर नही डगमगाए। शिवाजी के समय से ही मराठो की यह दृढता, स्थैर्य और स्वसस्कृति प्रेम उन्हे हिन्दू राष्ट्रवाद का सबल पोषक बनाए हुए है। अतः मराठी के उपन्यासकारो मे भी हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हिंदू-राष्ट्रवाद का समर्थन पाते है। मराठी मे जितने पौराणिक उपन्यास लिखे गए है, 'उतने भारत की अन्य किसी भापा मे नही। वामन मल्हार जोशी जैसे समाजवाद के समर्थक उपन्यास-लेखक से लेकर साने गुरुजी तक सभी ने पौराणिक विषयो को अपने उपन्यासो के लिए चुना है। 'रागिणी' का काव्यशास्त्र-विनोद और 'आस्तिक' मे आस्तिक ऋषि के उपदेश निश्चय ही हिन्दू सस्कृति, धर्म एव विचारनीति के प्रभाव का परिणाम हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जितने और जिस प्रकार के उपन्यास हिन्दी मे निकले, उतने मराठी मे नही। इसका यह अर्थ नही कि इस समस्या को मराठी लेखको ने छुआ ही नही। चौथे प्रकरण मे हम बता चुके है कि वामनराव जोशी एव साने गुरुजी ने इन दोनो सम्प्रदायो मे मेल कराने के लिए अपनी कृतियो मे मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाकर विचार प्रकट किये। परन्तु जिस प्रकार हिन्दी उपन्यासो मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या को प्रधानता मिली और जिस प्रकार यहाँ हिन्दुत्व का बलिदान करके भी मुसलमानो को प्रसन्न करने की नीति का समर्थन किया गया, वैसा मराठी उपन्यासो मे नही मिलता। ऐतिहासिक उपन्यासो मे जहाँ हिन्दी उपन्यासकारो का बल हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर रहा, वहाँ मराठी लेखको ने प्राय मुसलमानो की निंदा एवं उनकी नृशसता के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इस सबका प्रधान कारण मराठी उपन्यासकारो का हिंदू-राष्ट्रवाद ही है। अत· हिन्दू-राष्ट्रवाद भावना का समर्थन और प्रचार मराठी उपन्यास-साहित्य की एक अन्य देन है।

डा० केतकर पहले समाजशास्त्रज्ञ और कोशकार थे, बाद मे उपन्यासकार। उन्होने महाराष्ट्र ज्ञान-कोश की रचना की थी। अत सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका ज्ञान-भडार कितना विपुल और अगाध था। फिर उपन्यास-रचना सम्बन्धी उनके मानदण्ड भी साधारण लेखको से भिन्न थे। जब उनके उपन्यासो की कटु आलोचना हुई और कुछ आलोचको ने उनके उपन्यासो को उपन्यास मानने मे ही आपत्ति की, तो उन्होने कहा कि उन आलोचको की उपन्यास-सम्बन्धी धारणा ही भ्रमपूर्ण है और उनके उपन्यासो को देखकर उन्हे अपनी उपन्यास की परिभाषा बदल देनी चाहिये। उनके जीवन की यह घटना उनके सबल व्यक्तित्व की तो परिचायक है ही, साथ ही यह भी सकेत करती है कि उनके उपन्यास साधारण उपन्यासो की कोटि मे परिगणित नही हो सकते। उन्होने एक ओर तो अपने उपन्यासो मे कोशकार की तरह अधिकाधिक ज्ञान उडेलने और पाठको को विभिन्न समाजो और विचार-पद्धतियो से परिचित कराने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर, न केवल तत्कालीन सामाजिक समस्याओ पर ही अपने प्रगतिशील विचार प्रकट किये है, अपितु अपने समाजशास्त्रीय ज्ञान व विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए काल्पनिक प्रश्न और समस्याएँ गढ ली है। पाठको को विभिन्न समाजो का ज्ञान कराने के लिए, यदि उनके उपन्यासो मे अग्रेजी, अमरीकी, पारसी, ईसाई, वेने-इस्रायल आदि परिवारो और समाजो के चित्र प्रस्तुत किये गए है, तो विभिन्न समस्याओ के संबध मे अपने अति-प्रगतिशील विचारो को प्रकट करने के लिए मातृसत्तात्मक कुटुम्ब-पद्धति, वेश्या और वेश्या-सतति, विवाह-बाह्य सबंधो और उनसे उत्पन्न सतति, आदि विषयो की चर्चा की गई है। विवाह-बाह्य सबधो से उत्पन्न वर्णसंकर सतान का समर्थन, संतान के लिए अन्य पुरुष से यौन-सबध स्थापित करने की स्वीकृति, प्रणयाराधन मे युवती की ओर से पहल, वेश्या-व्यवसाय को भी अन्य व्यवसायो के समान गौरव-दान आदि जो केतकर के उपन्यासो के प्रधान विषय हैं और जिन पर विस्तार से विवेचन किया गया है, वे कदाचित् ही अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यासो मे मिलें। इसी प्रकार 'तर्कट नीति', 'वैजनाथ-स्मृति', 'लौढे नीति' आदि के रूप में जो समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिक चर्चा डा० केतकर की कृतियो मे पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

इसी समाजशास्त्रीय दृष्टि के कारण डा० केतकर ने जो पात्र मराठी उपन्यास-वाड्मय को प्रदान किये है, वे अतिप्रगतिशील हैं तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासो मे नही मिलते। उन्होने सामाजिक प्रश्नो के जो समाधान अपनी रचनाओ द्वारा प्रस्तुत किये, वे उनके युग को आश्चर्यचकित करने वाले है। अत उनके पात्र, जिनके माध्यम से ये समाधान प्रस्तुत किये गए हैं, भारतीय उपन्यास-साहित्य के लिए नितान्त नूतन हैं। प्रणयाराधन में पहल करने वाली युवतिया, सन्तान उत्पन्न करने के लिए परपुरुष से सम्बन्ध जोड़ने वाली स्त्रियां, भिन्न धर्म एवं सस्कृति के पुरुष से विवाह कर सुख से रहने वाली आयडा सरीखी नारिया, डा० तर्कटे, वैजनाथ, गौगटे और

ब्रह्मगिरि जैसे अतिप्रगतिशील विचारो के पुरुष-पात्र अन्य भाषाओ के उपन्यासो मे नहीं मिलेगे ।

महाराष्ट्र मे पर्दे की प्रथा ने स्त्रियों को घर की चहारदीवारी मे कभी बन्दी नही बनाया। अत. उनमे शिक्षा का प्रसार भी अपेक्षाकृत शीघ्र हुआ। वहां सह-शिक्षा भी जल्दी ही प्रचलित हो गई तथा सुशिक्षित स्त्रिया धनोपार्जन कर स्वावलम्बी होने लगी। फलत उनमें स्त्री-अधिकारो के प्रति चेतना तथा स्वातंत्र्य की भावना शीघ्र जाग्रत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वामन मल्हार जोशी जैसे प्रारम्भिक उपन्यासकारों की कृतियो मे ही उत्तरा जैसी हिन्दू सफ्रेजेट तथा सुशीला जैसी प्रगतिशील विचारो की नारी की अवतारणा हुई। बाद मे भी वरेरकर ने विद्रोही, पुरुष-चरित्र वाली वाचाल एव कर्तृत्वशील नायिकाओ का सृजन किया। 'विधवाकुमारी' की मथू और 'गोदू गोखले' की गोदू इसी प्रकार के नारी-पात्र हैं। डा० केतकर की नायिकाओ का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। यद्यपि अधुनातन उपन्यासो मे अन्य भाषाओ के उपन्यासकार भी प्रगतिशील विचारो की आधुनिकाओ का चित्रण कर रहे हैं, पर न तो अन्य भाषाओं के प्रारंभिक उपन्यासो मे ही वामन मल्हार जोशी, वरेरकर एव केतकर की नायिकाओ जैसी वाचाल एव पुरुष-चरित्र वाली स्त्रियो का सृजन हुआ और न आधुनिक उपन्यासो की अधिकाँश नायिकाएँ ही मथू या गोदू की विद्रोही-भूमि तक पहुच पाती हैं, क्योकि उनमें कोई न कोई लाचारी या हीनता की भावना (कदाचित् मनोविज्ञान शास्त्र का प्रभाव होने के कारण) आ ही गई है। अत. यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि मराठी उपन्यासो ने भारतीय उपन्यास को वाचाल, कर्तृत्वशील एव पुरुष-स्वभाव वाली स्त्रियो की जो देन दी है, वह अभिनव है।

अधिकांश भारतीय उपन्यासकार अपनी रचनाओ के लिए अपने प्रदेश और समाज को ही अपनाते रहे हैं, क्योकि उपन्यास को सफल बनाने के लिए यह परम आवश्यक है कि जिस समाज, प्रदेश और व्यक्ति-समूह का चित्रण उसमें हो, उसका निकट एव घनिष्ट परिचय लेखक को होना चाहिये। दूसरे समाज एव प्रदेशो के सम्बन्ध मे घनिष्ट जानकारी के लिए व्यापक और गभीर अध्यन, सूक्ष्म अवलोकन एवं विस्तृत भ्रमण की आवश्यकता होती है और इन सबके लिए भारतीय उपन्यासकारों को उपयुक्त अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त नही हो पाई हैं। अत विदेशों की तो बात ही क्या, स्वय भारत के अन्य प्रदेशों के समाज पर भी यहा के लेखकों ने प्राय. नहीं लिखा है। मराठी उपन्यासकारों का कर्तृत्व इस सम्बन्ध मे प्रशसनीय है। यद्यपि मराठी भाषा मे भी विदेशो या भारत के अन्य प्रदेशो पर लिखे गए उपन्यासो की सख्या अत्यल्प है, तथापि अन्य भारतीय भाषाओ के उपन्यासों की तुलना मे उसकी देन नगण्य नही है। डा० केतकर ने अपने उपन्यासों मे विदेशो मे स्थित भारतीयों एवं उसी प्रसग मे विदेशी (इंग्लैंड, अमरीका के) समाजो के चित्र प्रस्तुत किये हैं, तो विश्राम बेडेकर के 'रणांगण' मे नाजी यूरोप मे जीवन की अड़चनों, वहां यहूदी समाज की स्थिति, एवं युद्ध-पीड़ित यूरोप की दुर्दशा का चित्र बड़ी सुन्दर शैली मे प्रस्तुत किया गया है। हडप

ने भी जापानियो के बर्मा पर आक्रमण को अपने उपन्यास का विषय बनाकर अपने देश से बाहर झांकने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है । भारत के प्रदेशो मे बँगाल ने सर्वाधिक मराठी उपन्यासकारो का ध्यान आकृष्ट किया है । इसका कारण शरत के उपन्यास से प्राप्त होने वाली प्रेरणा भी हो सकती है, परन्तु लेखको का स्वानुभव एवं व्यक्तिगत निरीक्षण भी इसमे सहायक रहा है । गो० नी० दाडेकर के 'तुडवलेलें घरकुल', 'बिन्दुची कथा' और विवलकर का 'सुनीता' ऐसे ग्रन्थो मे उल्लेखनीय है, जिन मे बँगाली जीवन के सजीव चित्र प्रस्तुत किये गए हैं । 'नवयुग' पत्र के प्रतिनिधि के नाते विवलकर को नौखाली मे घूमते समय जो-जो अनुभव प्राप्त हुए, उन्ही पर आधारित यह उपन्यास है । बँगाल की प्राकृतिक सुषमा, वहाँ के जीवन की धार्मिक निष्ठा, आर्थिक सम्बन्ध और हिन्दू-मुसलमानो की प्रारम्भिक मित्रता एव सहजीवन और तदुपरान्त उनके विद्वेष आदि के बडे आकर्षक शब्द-चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। फडके का 'जेहलम' काश्मीर की राजनीतिक चेतना के विकास एवं वहाँ के नैसर्गिक सौन्दर्य तथा सामाजिक जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करने वाला अभिनव उपन्यास है। इस प्रकार मराठी उपन्यास-लेखको मे महाराष्ट्र से बाहर देखने एवं अन्य प्रदेशो के जीवन को चित्रित करने की प्रवृत्ति मिलती है, जो अन्य भारतीय भाषाओं मे कम ही है ।

यह कहा जाता है कि भारत मे शिवाजी ने सर्वप्रथम नौसेना बनाई और पेशवाओ की जल-सेना एव जहाजी बेडे द्वारा पुर्तगालियों की जलसेना पराजित होने पर ही अंग्रेजो को आगे चलकर भारत मे साम्राज्य-विस्तार का सुअवसर मिला। ऐसी स्थिति मे मराठी साहित्य मे नौसेना विषयक उपन्यास लिखे जाने स्वाभाविक थे । नाथमाधव का 'श्री शिवाजी महाराजाचे आरमार अथवा सावळया तांडेल' इस विषय पर लिखा गया ऐतहासिक उपन्यास है, तो आधुनिक काल मे श्रीधर देशपाडे का 'सायतारा' व न० चि० केळकर का 'कोकणचा पोर', नौकानयन एव समुद्री-जीवन पर लिखे गए सुन्दर उपन्यास हैं । नौसेना के समान ही वायुयानो एव आकाश-विचरण पर कुछ उपन्यास लिखे गए है । इनमे श्रीधर देशपाडे का 'ठेंगणे अस्मान' प्रसिद्ध है । सारांश यह है कि मराठी उपन्यासो ने अपने पाठको को नौका-व्यवसाय, वायुयान-सचालन आदि नवीन विषयो से परिचित कराया है तथा उपन्यास-वाङ्मय मे एक नवीन क्षितिज के दर्शन कराये हैं। उनका यह अभिनव प्रयत्न निश्चय ही अभिनदनीय है।

अपने क्षेत्र विशेष के सामाजिक जीवन, राजनीतिक विचारधारा, सांस्कृतिक वातावरण एवं भौगोलिक विशेषताओ का परिचय तो प्रत्येक भाषा का उपन्यासकार कराता ही है । अत. यदि मराठी लेखको ने भी महाराष्ट्र एव कोकण प्रदेश के सामाजिक जीवन, उसकी समस्याओ, वहाँ के राजनैतिक मतो, भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक विशेषताओ एव रीति-रिवाजो, उत्सवो एव समारोहो से भारतीय जनता को परिचित कराया, तो इसमे कोई आश्चर्य नही । बीसवी शताब्दी से पूर्व जन-सस्कृति, प्रादेशिक जीवन-स्तर, प्रादेशिक रीति-रिवाज, वहाँ के त्योहार, धर्म, लोक-विश्वास, भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओ का चित्रण केवल लोक-

गीतो तक ही सीमित रहता था, जो अधिकतर लोगो की स्मृति एव कण्ठ मे निवास करते थे, पर आज के आँचलिक उपन्यासकारो ने उन सब को लेखनीबद्ध कर मुद्रित रूप मे जन-जन को सुलभ बना दिया है। निश्चय ही मराठी उपन्यास-साहित्य की यह एक महान देन है।

भारत के इतिहास का कोई क्रमबद्ध, सच्चा लेखा-जोखा नही मिलता। अत. प्राचीन भारत के अनेक ऐतिहासिक काल-खडों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति से हम अपरिचित रहे है। यदि कुछ इतिहासकारो के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप हमे विगत युगो की झाकी मिलती भी है, तो वह प्रथम तो अपूर्ण है, क्योकि इतिहास-लेखको की दृष्टि प्रधानत. राजनीतिक हलचलो एव राजघरानो से सम्बन्धित ऊहापोह पर ही रही है, साधारण जनता एव उनके जीवन पर नही, दूसरे, इतिहास-लेखको के पूर्वाग्रह, पक्षपातपूर्ण दृष्टि एव अपने धर्म और सस्कृति के अभिमान-जन्य विकृत दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप, जो राजनीतिक चित्र उन्होने प्रस्तुत किये है, वे भी शुद्ध, निष्कलक एव सत्य नही कहे जा सकते। मराठी तथा हिन्दी उपन्यास-लेखको ने इस सम्बन्ध मे बडा श्लाघनीय कार्य किया है। प्रथम तो उन्होने विदेशी इतिहासकारो के पूर्वाग्रह-जन्य पक्षपातपूर्ण मतो का खण्डन कर हमे इतिहास ऐवं ऐतिहासिक व्यक्तियो के सच्चे चित्र प्रदान किये है। ग्राट डफ के अनुसार शिवाजी कोई महान व्यक्ति नही था और उसका ध्येय अत्यन्त संकुचित था। उसके मतानुसार उसने जो कुछ किया, वह अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए, अपने राज्य का विस्तार करने के हेतु, न कि हिन्दू-राष्ट्र एव हिन्दू-सस्कृति की रक्षा के लिए। मराठी लेखको, विशेषतः हरिभाऊ आप्टे एव गुँजीकर ने ग्राट डफ के विकृत मतो का खण्डन करने के लिए 'सूर्योदय' और 'मोचनगड' आदि उपन्यास लिखे तथा भारतीय जनता को शिवाजी के चरित्र एवं ध्येय से परिचित कराया। इस प्रकार शिवाजी के प्रति ग्रांट डफ द्वारा किये गए अन्याय का निवारण करने तथा इतिहास का अविकृत, सच्चा ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से इन दोनो मराठी लेखको का प्रयत्न स्तुत्य है। इसी प्रकार पारसनीस ने झासी की रानी लक्ष्मीबाई के सम्बन्ध मे यह मिथ्या भ्रम फैला रखा था कि वह 'गदर' के जमाने मे झांसी का प्रबन्ध अग्रेजो की ओर से करती रही थी और उनका शौर्य विवशता की परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ था। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपनी हिन्दी रचना 'झासी की रानी लक्ष्मीबाई' मे इस भ्रम का निराकरण किया और तर्क एव प्रमाण सहित यह सिद्ध कर दिया कि रानी के हृदय मे आरम्भ से ही देशप्रेम एवं स्वातंत्र्य की लग्न थी और उन्होने 'गदर' के समय मे जो किया, वह यकायक परिस्थिति उत्पन्न होने के कारण नही किया, अपितु उसके लिए वह वर्षो पूर्व से नानासाहब और तात्या टोपे से विचारविमर्श करते हुए योजना बना रही थी। साराँश यह है कि मराठी तथा हिन्दी लेखको ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो द्वारा अनेक भ्रमपूर्ण एव भारत के गौरवपूर्ण इतिहास को कलंकित करने वाले आरोपों को खण्डित किया तथा भारत का सच्चा

इतिहास तथा उसके ऐतिहासिक व्यक्तियो का सच्चा स्वरूप हमे प्रदान किया।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य जो इन ऐतिहासिक उपन्यासकारो द्वारा सम्पादित हुआ, वह यह कि उन्होने हमे भारत के विभिन्न कालखण्डो के सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक एव आर्थिक जीवन से परिचित कराया, जो शुद्ध इतिहास-लेखको के क्षेत्र से वाहर की वस्तु है। यदि मराठी उपन्यास-लेखको ने हमे शिव-काल और पेशवा-काल के महाराष्ट्र, वैभवपूर्ण विजयनगर राज्य, राजपूतकाल के शौर्यसम्पन्न राजस्थान तथा अग्रेजी शासन-काल के भारत के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की झाकी प्रदान की है, तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारो ने मध्यकालीन एव उन्नीसवी शताब्दी के बुन्देलखण्ड, मौर्य एव गुप्तकालीन उत्तर-भारत, तथा अतिप्राचीन गणतन्त्र-युगीन राज्यो के सम्पूर्ण जीवन का परिचय दिया है। यद्यपि शिवाजी एव पेशवाओ पर अन्य भारतीय भाषाओ मे भी उपन्यास लिखे गए, परन्तु वाणी की जो ओजस्विता, भाषा का जो शृगार, वातावरण की जो यथार्थता, भावना की जो गरिमा, राष्ट्र-प्रेम एवं सास्कृतिक अभिमान का जो उदात्त भाव हमे मराठी की कथा-कृतियो मे उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र नही। उनका यह कर्तृत्व भारतीय इतिहास एव सस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है। अत· भारतीय साहित्य के लिए मराठी तथा हिन्दी उपन्यासो की इस देन का वहुत महत्व है।

इस प्रकार मराठी उपन्यासो ने वौद्धिक दृष्टिकोण, गाधीवाद एव समाजवाद का समन्वय, हिन्दू राष्ट्रवाद, समाजशास्त्रीय विपयो का विवेचन, विदेशी समाजो के चित्र, पारसी, ईसाई एव वेनेइस्रायल जीवन-चित्र, नौकानयन, आकाश-विचरण आदि नवीन विषय, शिवाजी एव मराठो का इतिहास, तत्वप्रधानता, पुरुषो-जैसे स्त्री-पात्र, आँचलिकता, चेतना-प्रवाह पद्धति आदि अभिनव तत्वो द्वारा भारतीय उपन्यास-वाड्मय को समृद्ध वनाया है और उनकी यह देन अत्यन्त मूल्यवान है।

हिन्दी उपन्यासो ने हिन्दी-प्रदेश के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और सास्कृतिक जीवन का परिचय उसी प्रकार कराया है, जिस प्रकार मराठी, गुजराती, वँगला लेखको ने अपने-अपने प्रदेशो के जीवन का। परन्तु उसमे कुछ ऐसे तत्व पाये जाते हैं, जो अन्य भारतीय भापाओ के उपन्यासो मे अनुपलब्ध है। उदाहरण के लिए, वुन्देलखड के मध्यकालीन जन-जीवन एव इतिहास के चित्र, जिन्हे वृन्दावनलाल वर्मा की लेखनी ने अद्‌भुत सौन्दर्य प्रदान किया है, केवल हिन्दी उपन्यासो की ही वस्तु है। इसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम समस्या को जो महत्व हिन्दी उपन्यासो मे मिला है, वह अन्यत्र नही, क्योकि इस समस्या ने जितना गम्भीर रूप स्वातन्त्र्य-प्राप्ति से पूर्व इस प्रदेश मे धारण किया था, उतना वँगाल, महाराष्ट्र आदि प्रदेशो मे नही। यद्यपि वगाल मे भी हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ रहते थे और मुसलमानो की सख्या भी वहाँ कम न थी, परन्तु वहाँ के मुसलमान वँगला-सस्कृति तथा वहाँ के जीवन मे इतने घुल-मिल गए थे कि वहाँ यह समस्या वहुत वाद मे उठी। हिन्दी उपन्यासो मे इस समस्या को जिस हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त पर सुलझाने की

चेष्टा की गई, वह गाधी-दर्शन की देन था। इसका कारण यह था कि गाधीजी के आविर्भाव के उपरान्त काँग्रेस मे जो सिद्धान्त एवं नीति अपनाई गई, उसका सबसे बलशाली प्रभाव हिन्दी-भाषी प्रदेश पर पडा। अत. न केवल हिन्दू-मुसलमान समस्या को जिस रूप मे हिन्दी उपन्यासो मे सुलझाया गया है, वही भारतीय उपन्यास के लिए नई वस्तु है, अपितु कॉग्रेसी विचारधारा पर आधारित भारतीय राष्ट्रवाद की जो परिकल्पना हिन्दी उपन्यासो में मिलती है, वह भी भारतीय उपन्यास-वाङ्मय को हिन्दी उपन्यासो की अभिनव देन है। हिन्दी उपन्यासकारो ने प्राचीन भारत के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री की खोज कर, उस समय के इतिहास पर प्रकाश डाला है, विशेषकर वैशाली आदि गणराज्यो पर लिखे गए हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास विपय-वस्तु एव कला दोनो की दृष्टि से प्रशंसा के पात्र है। गम्भीर अध्ययन, ऐतिहासिक अनुसधान एवं कलाकार के लिए आवश्यक कल्पना-शक्ति इन सब उपकरणो की सहायता से राहुल साकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री एवं रांगेय राघव ने जो कृतिया प्रस्तुत की है, वे निश्चय ही भारतीय वाङ्मय की दीप्तिमान मणियाँ हैं, जिनसे उसका कोश शताब्दियो तक जगमगाता रहेगा।

आज मराठी तथा हिन्दी दोनो भाषाओ के उपन्यास-क्षेत्र मे गत्यावरोध की बात कही जारही है तथा यह सकेत किया जारहा है कि हिन्दी मे प्रेमचन्द तथा मराठी मे हरिभाऊ आप्टे के बाद अच्छे उपन्यास नही लिखे गए हैं। उच्छिष्टभोजी प्रवृत्ति ने एक ओर मनोविज्ञान के अधकचरे और विकृत निर्णयो का प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवाद की उपासना की है और तीसरी ओर, प्रयोगवाद के नाम पर या तो वस्तु व चरित्र-निर्माण को विस्मृत कर दिया गया है अथवा कुछ लेखक चरित्र की सूक्ष्म वैज्ञानिक विशेषताओं का विश्लेषण करने मे लगे होने के कारण अपने कार्य-क्षेत्र को अत्यन्त सीमित बनाए हुए है, उनका सारा दावा विशेषज्ञता का होता है। ऐसे लेखको की पहुँच समाज के बहुत थोड़े अंश तक है, अधिकांश समाज के लिए उन कृतियो का कोई उपयोग नही। उदाहरण के लिए, रांगणेकर के 'सीमोलंघन' मे एक ही समय दो पतियो की इच्छा करने वाली स्त्री का मानसशास्त्री दृष्टि से चित्र खीचा गया है, तो 'सुनीता' मे मित्र के पास पत्नी को भेजने वाले पुरुष का। ऐसे स्त्री और पुरुष भारतीय समाज मे मिलने कठिन है। स्पष्ट है कि कृत्रिमता के कीट ने ऐसी कृतियों को विरूप बना दिया है। परन्तु हिन्दी तथा मराठी दोनो के उपन्यासो मे मनोविज्ञान के उपयोग से उत्पन्न यह कृत्रिमता कम होती जारही है। इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पछी', मराठी मे पेडसे एव दिघे के उपन्यास इन लेखको की स्वस्थ प्रवृत्तियो की ओर उन्मुख होने के द्योतक है। आधुनिक काल के अधिकांश लेखक मनोविज्ञान से सहायता लेकर भी उसकी छलना से परिचित हैं। व्यक्ति की निष्ठा, सदिच्छा और दैवी प्रवृत्तियो मे विश्वास करने के कारण वे अवचेतन के भूचालो के साथ-साथ मानवमन के देवालय की झाकियाँ भी प्रस्तुत करते है। प्रकृतवाद को भी आज के अधिकांश लेखक पीछे छोड़ चुके है। ऐसी कृतियाँ अब सुसंस्कृत रुचि के पाठको या

विद्यालयो के पुस्तकालयो की शोभा न वढ़ाकर केवल रेलवे-स्टालो पर ही पाई जाती है। प्रयोगवाद को वाद के रूप मे कुछ गुट-वन्द लेखको को छोडकर अन्य स्वीकार नही कर रहे है। वर्तमान भारतीय कथा-साहित्य का यह सौभाग्य है कि कुछ अपवादो को छोड़कर जैसे, मराठी मे 'रात्री चा दिवस', जेम्स जायस, गर्ट्रूड स्टेन, वर्जीनिया वूल्फ आदि के प्रयोगो के अवांछनीय आतिशय्य ने उसे वुरी तरह भाराक्रान्त नही किया है। कुछ प्रयोगो के कारण हिन्दी के 'शेखर. एक जीवनी' 'सुखदा' तथा मराठी के 'घर', 'पाणकळा' आदि मे कथा को भले ही तोड़-मोड दिया हो, परन्तु वे फिर भी पहेली नही वन पाये हैं। मनुष्य की चेतना को ही चित्रित करने के लिए, उसकी आन्तरिक धाराओ के प्रति ईमानदार रहकर, उसे पूरी तरह सचाई के साथ शब्दो मे वाध कर रख देने की प्रवृत्ति ने विदेशी उपन्यास मे जिन ऊलजलूल प्रवृत्तियो को जन्म दिया है, उन सवसे हिन्दी-मराठी उपन्यास-साहित्य वहुत कुछ मुक्त है।

अभाव—मनोविज्ञान के अधकचरे प्रयोग, प्रकृतवादी अश्लीलता, प्रयोगवाद के नाम पर ऊलजलूल प्रवृत्तियो से यद्यपि मराठी तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य मुक्त हो चला है, तथापि यह नही कहा जा सकता कि उसमे ये दोष है ही नही। इनके अतिरिक्त कभी-कभी मानव-पक्ष को निर्जीव और निष्प्राण छोडकर उपन्यास को किसी विशेष जैविक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक या धार्मिक मतवाद का वाहन वनाने की चेष्टाएँ भी होती रहती हैं। उपन्यासकार के लिए यह वाछनीय नही कि वह पात्रो के आत्मान्वेषण के स्थान पर, उन्हे अपने लवादे पहनावे और अपनी पगडण्डियो पर मोडे; ऐसा करने से उपन्यासो मे चित्रित मानव-जीवन कृत्रिम और सतही हो जाता है, तथा पात्रो का व्यक्तित्व और निजत्व समाप्त हो जाता है। परन्तु हिन्दी तथा मराठो के उपन्यासकार इस दोष से अभी तक मुक्त नही हो पाये है। उनके सम्बन्ध मे निम्न कथन विल्कुल उपयुक्त है, 'दी न्यू मास्टर्स स्टार्ट विद ए थ्योरी, एन्ड लाइफ नैवर स्टार्ट्स दैट वे।' अर्थात् 'नए कलाकार सिद्धान्त को लेकर चलते हैं, और जीवन उस प्रकार कभी प्रारंभ नही होता।' यह दोष विशेष रूप से समाजवादी उपन्यासकारो की कृतियो मे पाया जाता है, जो प्रत्येक प्रश्न को समाजवादी दृष्टिकोण से परखते तथा अंकित करते हैं।

इस विकृति के मूल मे अंधानुकरण की प्रवृत्ति तथा नवीन के प्रति अन्धी दौड़ है। कुछ लेखको का उद्देश्य कोई चौका देने वाली वात कहना होता है जिससे उनकी कृतियो मे अर्थगाभीर्य का स्थान सामग्री-सकलन ने ले लिया है, मूल्यों की मौलिकता की वात छोडकर, मानसिक विलक्षणता के चित्रण का सम्मान हुआ है। प्रत्येक नवीन विषय को प्रगतिवादी समझना भ्रम-मात्र है और नवयुग की तुरही वजाकर अनुपस्थित समस्याओ को वलपूर्वक उपन्यास मे चित्रित करना प्रगतिवादी साहित्य का लक्षण नही। वर्नार्डशा, इव्सन, गाल्सवर्दी ने समाज को चौंकाया अवश्य था, पर सच्चे सजीव प्रश्नो को उपस्थित करके। हिन्दी तथा मराठी मे अभी तक विश्व-उपन्यास मे जो कुछ लिया गया है, उसका वहुत कुछ अंश अनुकरण अथवा अपहरण के रूप मे ग्रहण किया

गया है। उदाहरण के लिए, प्रेम के विविध चित्र जबकि पाश्चात्य लेखको ने स्वानुभूति से लिखे है, हमारे यहाँ के उपन्यासकारों ने अनुकरण, कुतूहल एव अतृप्ति के कारण उन्हे विकृत कर दिया है। हमारे यहाँ प्रेम-कथा काम-कथा बन गई है, क्योकि सजीव प्रेम-कथा के लिए आवश्यक अनुभूति तथा उस अनुभूति को कलात्मक ढग से चित्रित करने की कुशलता एव सत्यनिष्ठा का यहाँ अभाव है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो के विषय मे पश्चिम की देखादेखी पारस्परिक नैतिक मूल्यो के विरुद्ध क्रान्ति तो हुई है, परन्तु उसमे विवेक, सयम एव सामाजिक तत्वज्ञान का अभाव है। पाश्चात्य प्रणालियो और प्रवृत्तियो को पचाकर अपने ढंग से, सास्कृतिक परम्परा मे बधी हुई अपनी जनता के मानवीय सत्य को, अपने पात्रो की आत्मोपलब्धि को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति प्रदान करने से ही कला का उत्कर्ष हो सकता है।

हम भारतीय शताब्दियो से स्वप्नदर्शी रहे हैं, मनमोदको (विशफुल थिन्किग) के अभ्यस्त। अत आज यथार्थवाद के उपासक होने की घोषणा करते हुए भी यदि हमारे उपन्यासकार इस मनोवृत्ति से प्रभावित हो, तो आश्चर्य नही। इस मनोवृत्ति का परिणाम है कि कही अमीर नायिका गरीब नायक के पीछे अपनी समृद्धि लिए घूमती-फिरती है (व्यतीत), कही मध्यवर्ग की युवती आई० सी० एस० युवक को ठुकराती है (दौलत), और कही फैशनेबिल परिवार की लड़कियाँ कुरूप या विकलाग कवि-नायक की ओर आकृष्ट दिखाई जाती है (निर्वासित)। हमारे यहाँ के उपन्यासो मे राजनीति मे भाग लेने वाले युवक-युवतियो के चित्र आज के किंकर्त्तव्यमूढ बने सामान्य विद्यार्थियों के चित्र से कितने भिन्न है, यह सहज ही प्रकट हो जाता है। साहित्य एक मोहक स्वप्न अवश्य है, पर वह जाग्रतावस्था का है, सुपुप्तावस्था का नही। अत. उसमे अतिरजना, विकृति, भडकीले चित्रो से जहाँ तक बचा सके, उतना ही श्रेयस्कर है। जो जीवन मे नही है, उसे कल्पना-जगत मे देने की वृत्ति ठीक नही।

हमारी संस्कृति का मूल्याकन अभी भी शेष है। इसके लिए भारत के सास्कृतिक इतिहास के विभिन्न युगो पर कार्य करने की अधिक आवश्यकता है। यद्यपि इस दिशा मे रागेय राघव, चतुरसेन शास्त्री प्रभृति विद्वानो का कार्य प्रशसनीय है, तथापि अभी भी बहुत कार्य करने को है। न जाने कितना इतिहास, कितनी प्रादेशिक सस्कृति, कितना समाजशास्त्र गावो के कूडो मे दबा पडा है। हमारे उपन्यासकारो का कर्त्तव्य है कि वे उसका उद्धार करे तथा गावो की मूर्छित-प्राय जनता को अधिकाधिक अपनी लेखनी का विषय बनावे।

पात्र के चरित्र विश्लेषण के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का सर्व-पार्श्व-व्यापी चित्रण भी हमारे यहाँ बहुत कम हुआ है। विवरण, विश्लेषण व वातावरण-चित्रण के साथ-साथ व्यक्तित्व के सृजन मे पूर्णता का अभी अभाव बना हुआ है। मानव-अस्तित्व को उसकी पूर्णतम जटिलता, गहनता, रसमयता, अपराजेयता और श्रेष्ठता के साथ अभी तक प्रस्तुत नही किया गया है। या तो वह उपन्यासकार के रुग्ण, अस्वस्थ मन का प्रक्षेपण-मात्र रहा है अथवा उसके विचारों का अखबारी चित्र। हमारे यहा

के उपन्यास लेखकों को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है और इसके लिए उन्हें मानव के अन्तःकरण के सम्बन्ध मे सहृदयता, उदारता, समझदारी तथा मानव-जीवन के प्रति व्यापक, विवेकपूर्ण व सुसगत दृष्टिकोण अपनाना होगा ।

बख्शी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी कथा-साहित्य' मे लिखा है, "आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रेम, वासना, अत्याचार आदि का जो चित्र प्रदर्शित होता है, उसकी यथार्थता के सम्बन्ध मे मन मे सन्देह बना रहता है । ऐसा जान पडता है कि उनमे सत्य नही, सत्य का विकृत अश ही है । उनमे प्रदर्शित प्रेम झूठा है, वासना झूठी है, उत्पीडन अत्याचार, बलिदान किसी मे भी सचाई नही है ।···आर्थिक विषमता होने पर भी और दयनीय अवस्था का अनुभव करने पर भी, भारतीय जनता की वह मानसिक स्थिति नही है कि वह ऐसी कलाओ मे अपने जीवन की सच्ची अनुभूति प्राप्त कर सके । जब तक साहित्य अथवा कला मे जनता के जीवन की सच्ची अनुभूति नही है, तब तक उससे उसे रस भी प्राप्त नही होता ।"[1] बख्शी जी का यह कथन मराठी उपन्याकारो के लिए भी सच है । कुसुमावती देशपाडे ने 'आल इण्डिया रेडियो, नागपुर' से भाषण देते हुए मराठी उपन्यास के सम्बन्ध मे लगभग यही विचार प्रकट किये थे, "साहित्य के लिए अत्यन्त आवश्यक अनुभूति की प्रगाढता या व्यापकता आज के उपन्यासकारो मे किसी को प्राप्त है, ऐसा मुझे नही लगता । इस प्रगाढ एव व्यापक अनुभूति के अभाव मे साहित्य मे कलात्मकता आना असभव है···उसे यदि स्थायी बनाना है, तो आज प्राप्त होने वाले अनुभवो का बुद्धिनिष्ठ एव भावपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है ।"[2] वस्तुतः इसका कारण यह है कि आज के उपन्यास-लेखक मैक्स ईस्टमैन के शब्दो मे 'टौकिंग टु दैमसेल्व्ज' अर्थात् अपने मे अत्यधिक रमे हुए, अधिक हो गए है । आज का साहित्यकार अपने व्यक्तित्व की गुफा मे चला गया है, जहा उसका एकाधिपत्य है और जहाँ से अस्पष्ट, दुर्बोध, उलझनपूर्ण बातें कहना और उन्हे मान्यता दिलाने के लिए तरह-तरह के साधनो को काम मे लाना उसका उद्देश्य हो गया है । अनुभूति की यह कमी वस्तुत. किसी भी साहित्य के लिए घातक होती है । अत· आधुनिक लेखको को इस विषय मे उदासीन नही होना चाहिये । पुस्तकीय ज्ञान, देश-विदेश के अनुभव-भडार तथा दूसरो द्वारा दिए गए आदर्शों का पथ-प्रदर्शन लाभदायक हो सकता है, परन्तु स्वार्जित तथा स्वय प्रेरित अनुभव की अपेक्षा उसका मूल्य निश्चय ही कम है ।

लेखक के लिए इतना ही पर्याप्त नही है कि वह अपने समीप के जीवन को और केवल अपने युग के जीवन को ही जाने और उसका चित्रण करे । स्थायी साहित्य बनने के लिए यह भी आवश्यक है कि लेखक की दृष्टि जीवन के उन प्रसगो को पकड़े, जो मानव-इतिहास की अपेक्षाकृत स्थायी प्रेरणाओ को प्रतिफलित करते है । 'एना केरेनिना' तथा 'वार एन्ड पीस' इसीलिए अमर रचनाएँ बन गई है, क्योकि उनमे

---

[1] प० पु० बख्शी, 'हिन्दी कथा-साहित्य' पृष्ठ ८१-८२ ।

[2] कुसुमावती देशपाडे, 'आल इण्डिया रेडियो, नागपुर से भाषण': उद्धृत 'कादंबरी' 'सत्यकथा' मार्च १९५० ई० ।

स्थायी तथ्यों को चित्रित किया गया है । प्रथम में अनेक बच्चों की मां का यौवन ढल जाने पर, उसके अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और सप्राण पति के अन्यत्र तृप्ति खोजने की समस्या का चित्रण है, तो दूसरे में सहसा समृद्ध हो जाने वाले व्यक्ति के प्रति उसके समाज की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के उसके प्रति आकृष्ट होने के गंभीर तथ्य का निरूपण है । मराठी तथा हिन्दी लेखकों की चेतना इस दृष्टि से अर्ध-विकसित ही है । आज के उपन्यासकार को इस ओर ध्यान देना चाहिये तथा अपनी कृतियों में उन स्थायी समस्याओं (पाप-पुण्य, सुख-दुख, हिंसा-अहिंसा, सत्-असत् आदि) को स्थान देना चाहिये जिनका अस्तित्व देश-काल के सीमित घेरे में बद्ध नहीं किया जा सकता ।

आज का जीवन अत्यन्त व्यस्त है । अब पाठकों के पास चार सौ पन्नों का उपन्यास पढ़ने का समय नहीं है । अतः हम भी एनसाइक्लोपीडिया-कार के साथ कह सकते हैं कि "यदि नाविल को केवल जीवित ही नहीं रहना है, अपितु कलाकृति के रूप में ऊँचा उठना है, तो लेखकों को उसकी दीर्घता के सम्बन्ध मे अधिक गंभीर विचार करना होगा···कहानी को निरन्तर बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करना होगा ।"[1] हिन्दी और मराठी में लघु उपन्यास लिखे तो जाने लगे हैं, पर अभी और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है । न्यूनताएँ तो और भी बहुत सी हैं जैसे, हमारे पास बालकों, सैनिकों, विभिन्न व्यवसायों, तथा हास्य-विनोद से सम्बन्धित उपन्यास या तो हैं ही नहीं अथवा बहुत कम हैं । मराठी में हिन्दी की अपेक्षा स्थिति कुछ अच्छी है । वहाँ कुछ व्यवसायों पर उपन्यास लिखे गए हैं । नौका-व्यवसाय पर मा० का० देशपांडे का 'मुक्तता', वनमाली का 'आदिमाया' व श्रीधर देशपांडे का 'सायंतारा' इसके प्रमाण हैं । फिर भी कितनी ही समस्याएँ और प्रश्न अभी भी अछूते पड़े हैं । श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में, "साम्प्रदायिक समस्या, अछूतों के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियों के समानाधिकार का प्रश्न, शिक्षा और सैनिकों का प्रश्न, राजनीतिक कार्यकर्ताओं की रोजी का प्रश्न, मुनाफाखोरी और विदेशी पूंजी के आश्रय में पलने वाले स्वदेशी पूंजीवाद का प्रश्न···ऐसी अनेकों समस्याएँ हैं, जो कि हमारे नित्य जीवन को परेशान करती हैं ।"[2] और इन पर उपन्यास लिखे जाने चाहिएँ ।

हम मानते हैं कि ये न्यूनताएँ प्रासंगिक हैं और कुछ समय बाद समाप्त हो जाएँगी । फिर न तो कोई ऐसा युग संभव ही है और न वांछनीय ही, जिसमें सारी समस्याएँ समाप्त हो जायँ और लिखने को कुछ रह ही न जाय । अतः इन प्रासंगिक न्यूनताओं को देखकर लज्जित होने का कोई कारण नहीं । पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य की तीन सौ वर्षों की विकास यात्रा को हिन्दी तथा मराठी ने पिछले पचास-साठ वर्ष में पूरा किया है, यह निस्सन्देह गर्व की बात है । जिस उपन्यास-वाङ्मय ने हमें खांडेकर एवं प्रसाद की संवेदना, फड़के तथा जैनेन्द्र की कलात्मकता, माडखोळकर एवं निराला की अभिजात रसिकता, हरिभाऊ आप्टे एवं वृन्दावनलाल वर्मा का इतिहास कुशल

---

१. एन्साइक्लोपीडिया आफ़ लिट्रेचर—पार्ट वन, पृष्ठ ३७ ।

२. प्रभाकर माचवे 'सन्तुलन', पृष्ठ १८६ ।

चित्रण, वामन मल्हार जोशी की सिद्धान्त-चर्चा, केतकर का विराट समाज-दर्शन, प्रेमचन्द तथा साने गुरुजी का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रदान किया है, जिसमे शिल्प के विविध रूप, भाषा का ललित माधुर्य और विभ्रम कटाक्ष एव मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन वर्तमान है, जिसके उपन्यासकारो (फडके, प्रेमचन्द, मुल्कराज आनन्द) की कृतियो का भाषान्तर द्वारा विदेशियो ने सम्मान किया है, उसका गौरव अक्षय है।

परिशिष्ट—१

हिन्दी उपन्यासों की कालक्रम से सूची[1]

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१८८३	आश्चर्य वृत्तान्त	अम्बिकादत्त व्यास ६९
१८८४	परीक्षा गुरु	श्रीनिवास दास ६९, ७०, ९६
१८८६	नूतन ब्रह्मचारी	वाल कृष्ण भट्ट
१८८८	श्यामा स्वप्न	जग मोहन सिंह ७०
१८८९	स्वर्गीय कुसुम	किशोरी लाज गोस्वामी
१८९०	नि सहाय हिन्दू	राधा कृष्ण दास
१८९०	प्रणयिनी परिणय	किशोरी लाल गोस्वामी ४
,,	लवगलता	,,
१८९१	सुखशर्वरी	,,
,,	लावण्यमयी	,,
१८९२	सौ अजान एक सुजान	वाल कृष्ण भट्ट ९६, १९७
,,	चन्द्र कान्ता	देवकी नदन खत्री १३, १५
१८९६	चन्द्र कान्ता सन्तति	,, १३, १५
१८९७	दलित कुसुम	कार्तिक प्रसाद खत्री ४२
१८९९	सास पतोहू	गोपाल राम गहमरी १४
,,	ठेठ हिन्दी का ठाठ	अयोध्या सिंह उपाध्याय ७०, १०७
,,	धूर्त रसिक लाल	लज्जा राम शर्मा
१९००	अनार कली	वलदेव मिश्र
१९०१	कुसुम कुमारी	किशोरी लाल गोस्वामी २०
१९०२	पृथ्वी राज चौहान	वलदेव मिश्र
,,	पानीपत	,, १८०
,,	तारा	किशोरी लाल गोस्वामी १७९, १९४
,,	नूरजहाँ	गगा प्रसाद गुप्त
१९०३	चपला	किशोरी लाल गोस्वामी २६६

---

[1] पृष्ठ-संख्या केवल उन पृष्ठों की दी गई है, जहाँ उपन्यास का विवेचनकिया गया है।

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९०३	वीर पत्नी	गगा प्रसाद गुप्त
,,	हम्मीर	,,
,,	पूना मे हलचल	,, १८०
१९०४	आदर्श दम्पति	लज्जा राम शर्मा
,,	वरदान	प्रेम चन्द ९३, १२९
,,	प्रतिज्ञा	,, ९४, ११२, २०९, ४३, ८४
१९०५	तरुण तपस्विनी	किशोरी लाल गोस्वामी
१९०६	सुशील विधवा	लोला राम मेहता
,,	इन्दुमती	किशोरी लाल गोस्वामी
१९०७	विगड़े का सुधार	लज्जा राम शर्मा
,,	काश्मीर पतन	जयराम दास गुप्त
१९०८	जया	कार्तिक प्रसाद खत्री ४२
१९०९	मलका चाद बीबी	जय राम दास गुप्त
,,	भूतनाथ	देवकी नदन खत्री
,,	रजिया बेगम	राम लाल वर्मा
,,	हिन्दू गृहस्थ	लज्जा राम शर्मा
१९११	जयश्री	बलभद्र सिह
,,	अमीर अली ठग	चन्द्र शेखर पाठक
१९१२	राधा कान्त	वृजनन्दन सहाय १५
,,	जग देव परमार	राम जीवन नागर
१९१३	प्रेम विभ्राट	चतुरसेन शास्त्री
१९१४	प्रेममयी	किशोरी लाल गोस्वामी
१९१५	आदर्श हिन्दू	लज्जा राम शर्मा
,,	अरण्य वाला	बृजनन्दन सहाय
,,	रजिया बेगम	किशोरी लाल गोस्वामी १९४
,,	मृणालिनी	जयराम दास गुप्त
,,	शोणित चक्र	चन्द्र शेखर पाठक
१९१६	कालिज हास्टिल	चन्द्रकिरख शारदा
१९१७	लालचीन	बृजनन्दन सहाय
,,	वीर मणि	मिश्रबन्धु
१९१८	सेवा सदन	प्रेम चन्द ९६, ८, १४६, २०७, १२, २८, ५०
,,	हृदय की परख	चतुरसेन शास्त्री १११
,,	चौहानी तलवार	हरिदास मणिक
१९१९	सौन्दर्योपासक	बृजनन्दन सहाय १५, ४२, २३३

सन्	उपन्यास का न।म	लेखक
१९१९	भडामसिंह शर्मा	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	सिंहगढ विजय	कृष्णा कान्त मालवीय
१९२०	राजपूतो की वहादुरी	हरिदास मणिक
,,	भाग्य	ऋपभ चरण
,,	विचित्र समाज सेवक	चन्द्र शेखर पाठक
,,	कल्याणी	मन्नन द्विवेदी
१९२१	तरग	राधिका रमण सिह
,,	आदर्श दम्पति	जगदीश झा
१९२२	प्रेमाश्रम	प्रेम चन्द १३०, ३५, २०७, १२, ७५, ३२८
,,	सूर्यास्त	गोविंद वल्लभ
,,	वारागना रहस्य	चन्द्र शेखर पाठक
,,	जीवन ज्योति	जगदीश झा
,,	निकुज	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	छाया	शिव नारायण द्विवेदी
,,	माता	,,
१९२३	विमाता	अवध नारायण
,,	लंवी दाढ़ी	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	गुप्त गोदना	किशोरी लाल गोस्वामी
,,	प्राणनाथ	जी० पी० श्रीवास्तव
१९२४	व्यभिचार	चतुरसेन शास्त्री १११
,,	सखाराम	मदारी लाल गुप्त
,,	चिन्ता	शिवराम दास गुप्त
१९२५	क्षमा	श्रीनाथ सिह
,,	रगभूमि	प्रेमचन्द २५, १०७, २३, २९, ३०, ४०, ४६, ९८, २०३, ३४१
,,	तुर्क तरुणी	विश्वंभरनाथ जिज्जा
,,	अरुणोदय	गिरजा दत्त शुक्ल
१९२६	देहाती दुनिया	शिव पूजन सहाय १२९
,,	काया-कल्प	प्रेमचन्द ११७, २५, ९८, २१५
,,	मंगल प्रभात	हृदयेश
१९२७	जागरण	श्री नाथ सिह ११४, १२३, २०६
,,	गुदगुदी	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	गगा जमुनी	,, १११
,,	अवलाओं का इन्साफ	स्फुरना देवी

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९२७	मीठी चुटकी	भगवती प्रसाद बाजपेयी
,,	चंद हसीनो के खतूत	बेचन शर्मा उग्र १२५, २३०
,,	दिल्ली का दलाल	,, १११
,,	चाकलेट	,,
,,	अशात	विनोद शकर व्यास
,,	मनोरमा	हृदयेश
,,	मास्टर साहब	ऋषभ शरण
,,	पतन	भगवती चरण वर्मा
१९२८	चुम्बन	बेचन शर्मा उग्र
,,	निर्मला	प्रेमचद २४, ९३, २८४
,,	विधवा आश्रम	जमुना दास मेहरा
,,	प्रत्यागत	वृन्दावन लाल वर्मा ११२
,,	अनाथ पत्नी	भगवती प्रसाद बाजपेया
,,	अपराधी	यदुनदन प्रसाद
,,	विदा	प्रतापनारायण श्रीवास्तव २०३, ४३, ४९, ९४
,,	बुधुवा की बेटी	बेचन शर्मा उग्र १११
,,	गढ कुँडार	वृन्दावन लाल वर्मा १०७, ८५, ९५, २२८, २५५
,,	अधखिला फूल	अयोध्या सिंह उपाध्याय
१९२९	त्यागमयी	भगवती प्रसाद बाजपेयी
,,	मा	विश्वभर नाथ कौशिक २०२, ६८, ९३
,,	भिखारिणी	,, २०२, २८५
,,	कंकाल	जयशकर प्रसाद ९४, १११, ९६, २०३, २०७, २११, ४६, ८५, ८७, ८८, ३३८
,,	मगन रहु चोला	अन्नपूर्णा नन्द
,,	वेश्या पुत्र	ऋषभ चरण
,,	लगन	वृन्दावन लाल वर्मा १०७, २६७. ७२, ९१
,,	निर्वासिता	अनूप लाल मडल
,,	घृणामया	इलाचद्र जोशी १५५
,,	वीर बादल	जगदीश झा
,,	मुस्कान	भगवती प्रसाद बाजपेयी
१९३०	पाप और पुन्य	प्रफुल्ल चन्द ओझा
,,	पाप को ओर	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	सत्याग्रह	ऋषभ चरण
,,	शराबी	बेचन शर्मा उग्र ९७, ८, २००, ४५

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३०	साधु और वेश्या	कृष्ण प्रसाद कौल
"	परख	जैनेन्द्र कुमार ९४, १४८, २८५, ३५६, ३६२
"	विराटाकी पद्मिनी	वृन्दावनलाल वर्मा १११, २०२, १२, २८, ४५
"	पुर्नमिलन	रामानन्द शर्मा
"	विधवा की आत्म-कथा	प्रियवदा देवी
१९३१	भाई	ऋपभ चरण
"	समाज की वेदी पर	अनूप लाल मडल
"	अप्सरा	निराला ९८
"	रहस्यमयी	ऋपभ चरण
"	प्रेम की भेंट	वृन्दावनलाल वर्मा ९४
"	वीसवी सदी	राहुल साकृत्यायन
"	लतखोरी लाल	जी० पी० श्रीवास्तव
"	गवन	प्रेमचद २०२, ७, १०, ४७, ५९, ८७
"	महाकवी चच्चा	अन्नपूर्णा नंद
"	गोद	सियाराम शरण गुप्त
१९३२	तलाक	प्रफुल्लचद ओझा
"	मेरी आह	परिपूर्णा नन्द
"	त्यागमयी	भगवती प्रसाद वाजपेयी
"	नारी हृदय	शिवरानी देवी
"	कर्म-भूमि	प्रेमचन्द १११, ४, ९८, २०८, १५, ३२४, २६, २८
"	खवास का ब्याह	चतुरसेन शास्त्री
"	हृदय की प्यास	"
"	कुडलीचक्र	वृन्दावनलाल वर्मा २०१, ३, २८
"	वेश्या का हृदय	धनी राम प्रेमी
"	तपोभूमि	ऋपभ चरण
"	मुन्नी की डायरी	आदित्य प्रसन्न राय
१९३३	विधवा के पत्र	चन्द शेखर शास्त्री
"	हृदय की ज्वाला	व्यथित हृदय
"	अमर अभिलापा	चतुरसेन शास्त्री २१८, ४०
"	अशान्त	विनोद शङ्कर
"	अलका	सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला १३१
"	मधुवन	ज्योतिर्मयी ठाकुर
"	मेरी हजामत	अन्नपूर्णानन्द
१९३४	प्रेम निर्वाह	भगवती प्रसाद वाजपेयी

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३४	तितली	जय शंकर प्रसाद १३१, ९५, ९६, २०३, २३१, ४५, ७, ६८, ३३२, ४२, ५२
,,	अतिम आकांक्षा	सियाराम शरण गुप्त २१७
१९३४	प्रतिमा	गोविन्द वल्लभ
,,	चित्रलेखा	भगवती चरण वर्मा १११, ३३१, ३६, ३९, ४१, ४९, ५०, ५२
,,	रूपरेखा	अनूप लाल मडल
,,	लालिमा	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	उलझन	श्रीनाथ सिंह १०९
,,	ज्योतिर्मयी	अनूप लाल मडल
१९३५	गोदान	प्रेमचन्द १३०, ३१, ४०, २१६, ६०,८६,८७,३२५, २८, ३०, ३६, ३८, ५४, ३५५, ५६, ५८, ६१
,,	सुनीता	जैनेन्द्र कुमार १४३, ५३, ५४, ५७, ५८, ६४, २१९, २२२, २७९, ३४८, ३५१, ५८, ६२, ७६
,,	वहता पानी	गिरिजादत्त शुक्ल
,,	शराबी	बेचन शर्मा उग्र
,,	मंगलसूत्र	प्रेमचन्द १४२, ३२७
१९३६	स्वामी चोखटानन्द	जी० पी श्रीवास्तव
,,	बुर्दा फरोश	ऋषभ चरण
,,	पतिता की साध	भगवती प्रसाद वाजपेयी ९४, ९८
,,	तपोभूमि	ऋषभ चरण २३८, ४०
,,	मदारी	गोविन्द वल्लभ
,,	वचन का मोल	उषा देवी मित्रा
,,	आत्मदाह	चतुरसेन शास्त्री २१७
,,	निरुपमा	सूर्यकांत त्रिपाठी निराला २५३
,,	प्रभावती	,,
,,	प्रेम की प्यास	अमृतलाल नागर
,,	दिल की आग या दिल जले की आह	जी० पी० श्रीवास्तव
,,	त्याग-पत्र	जैनेन्द्र कुमार १५७, २०३, ४३, ७४, ३३९, ३४७, ४८, ५१, ६२
१९३७	रामरहीम	राधिकारमण प्रसाद सिंह १२५

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३७	जागरण	श्रीनाथ सिह
,,	सोने की ढाल	राहुल साकृत्यायन
,,	मीमासा	अनूप लाल मंडल
,,	विजय	प्रताप नारायण ९४
,,	रोहतास म	दुर्गा प्रसाद खत्री
,,	नारी	सियाराम शरण गुप्त २६९
,,	घंटा	वेचन शर्मा उग्र
,,	सरकार तुम्हारी आँखो मे	,,
,,	गिरती दीवारें	उपेन्द्र नाथ अश्क १०८, २०३
१९३७	सविता	अनूप लाल मडल
,,	एकाकिनी	श्रीनाथ सिह
,,	पिया	उपा देवी मित्रा
१९३८	दिल्ली का व्याभिचार	ऋपभ चरण
,,	लगन	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	प्रश्न	सर्वदानन्द वर्मा
,,	मयखाना	ऋपभ चरण
१९३९	राणा राजसिह	चतुरसेन शास्त्री
,,	विसर्जन	त्रिवेणी प्रसाद
,,	प्रेम पथ	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	सगम	वृन्दावनलाल वर्मा
,,	विकास	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	भागवन्ती	सुदर्शन
१९४०	जीने के लिए	राहुल साकृत्यायन
,,	दो बहनें	भगवती प्रसाद वाजपेयी
,,	पुरुप और नारी	राधिकारमण प्रसाद सिंह १०८
,,	नीलमणि	चतुरसेन शास्त्री
,,	कल्याणी	जैनेन्द्र कुमार १५२, ५७, ९५, २००, २३३, ३४५, ३६२
१९४१	शेखर : एक जीवनी	अज्ञेय ११८, ५९, ६०, ६२, २००, ३४, ३५, ८२, ३३६-९, ३४६-५०, ३५२, ५७, ७७
,,	सन्यासी	इलाचन्द्र जोशी १०८, ५३, २३२, ४९, ५३, ७८
,,	पर्दे की रानी	,, ९८, १५३, ५५, २०७, ३२, ३८, ७८, ८०
,,	दादा कामरेड	यशपाल ४२, १४०, ४३, ५४, २८०, ८२, ३२९

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९४८	पाँचवा दस्ता	अमृत लाल नागर
,,	पूर्णाहुति	चतुरसेन शास्त्री
,,	वयालीस	प्रताप नारायण श्रीवास्व ३३, १२६, ४५
,,	मुर्दों का टीला	रागेय राघव १८२, ८४, २२८
,,	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य	श्याम विहारी मिश्र
,,	प्रजा मडल	श्रीनाथ सिंह
१९४९	पक्का कदम	यशपाल
,,	मनुष्य के रूप	,, १४५, ३२९, ३३, ५३
,,	स्वराज्यदान	गुरुदत्त
,,	अदल वदल	चतुर सेन शास्त्री
,,	दो किनारे	,,
,,	नरमेध	,,
,,	मदिरकी नर्तकी	,,
,,	गुनाहों के देवता	धर्मवीर भारती २८४
,,	रात, चोर और चाद	वलवत सिंह
१९४९	पाटलिपुत्र	वेनीप्रसाद वाजपेयी
,,	और इन्सान मर गया	रामानन्द सागर ३३, ४२
,,	सुमित्रा नन्दन शान्ति	स्वरूप गौड़
१९५०	मृगनयनी	वृन्दावनलाल वर्मा १६६, ८४, ५, २१०, २११ २५५, ९३, ३६४-६५
,,	भावुकता का मूल्य	गुरुदत्त
,,	स्वतन्त्र भारत	प्रताप नारायण मिश्र
,,	विसर्जन	प्रताप नारायण श्रीवास्तव
,,	जो दास थे	राहुल साकृत्यायन
,,	मातृत्व का अभिशाप	'विश्वनाथ वैशपायन
,,	नरमेध	सर्वदानन्द वर्मा १०९
	मधुर स्वप्न	राहुल १८२
१९५१	नदी के द्वीप	अज्ञेय १६२, २३३, ३७, ३८
,,	विल्लेसुर वकरिहा	निराला १३१
,,	मरुप्रदीप	अचल ९४
१९५२	वलचनमा	नागार्जुन ३९, १२३
,,	सुखदा	जैनेन्द्र ८७, १४३, ५६, २००, १९, ४४, ७७, ३६२, ७७
,,	सूरज का सातवाँ घोड़ा	धर्मवीर भारती ३९, १०७, २१२, ४०, ९४

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९५३	नई पौध	१०८
"	विवर्त	जैनेन्द्र १४३, ३६२
"	व्यतीत	" ३६२
१९५४	मैला आँचल	फणीश्वरनाथ रेणु १३१, ३२, २४१
१९५५	जहाज का पछी	इलाचन्द्र ३७६
"	अहिल्याबाई	वृन्दावनलाल वर्मा १८८
१९५७	परती परिकथा	फणीश्वरनाथ रेणु २४१, ९६

मराठी उपन्यासों की काल-क्रम से सूची

१८५७	यमुना पर्यटण	पदमनजी, बाबा ११, ६१, ६२, ९०
१८६३	घाशीराम कोतवाल	मोरोबा कान्होबा ५५
१८६८	मजुघोषा	रिसबुड, ना० स० ५३, ६३, ६६, १९७
१८७०	विश्वासराव	,, ५८, ६०, ६५
,,	विचित्रपुरी	जोरवेकर, के० ल० ५६, ५८
१८७१	मोचनगड	गुजीकर, रा० मि० ६५, ६६, १६६, ७, ३७४
,,	मुक्तामाला	हळवे, लक्षमण शास्त्री ५०-५, ५८, ६३, ६६. १९७
१८७३	चन्द्रप्रभा विरहवर्णन	तांबवेकर, सा० बा० १७
१८७४	शृगार मजरी	सरनाईक, वि० बा० १७, ५६
१८७६	वसत कोकिला	रिसबुड, ना० स० ५७
,,	रत्नप्रभा	हळवे, लक्षमण शास्त्री १५, ५७, ६१
१८८०	मित्रचन्द्र	पारखी, पां० गो०
१८८१	शृगारशेखर	राव, बा० ना० ५६
१८८३	शिक्षक	रणदिवे, द्वा० ना० ६६
१८८४	नारायणराव आणि गोदावरी	रहाळकर, म० वि० ६१
१८८५	१८५७ सालचे वंडाची धामधूम	पटवर्धन, वि० ग० ६६
,,	मघली स्थिति	आप्टे, ह० ना० ९६, ११०, २५२
,,	मदन मजरी	इनामदार, अ० गो० १७
१८८६	वेषधारी पजाबी	नाईक, रा० ब०
,,	काळपुरुष	लिमये, ग० म० २१, ६३
,,	वेणू	,, २१
१८८७	गणपतराव (१८८७-८)	आप्टे, ह० ना० ९०, १
१८८८	छत्रपति संभाजी महाराज	बापट, ना० वि० १६७
,,	मदनबाण आणि पुष्पावती	देशमुख, स० वि० १७, ५६
१८८९	पिराजी पाटील	धनुर्धारी १२७

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
,,	प्रणयि माधव	इसलामपुरकर, बा० गो०
१८९०	म्हैसूरचा बाघ	आप्टे, ह० ना०
,,	पण लक्षात कोण घेतो	,, ९१, ९२, १०३, २४७, ५७, ५९
१८९१	सुशील यमुना	पडित, ब० म० २०, ६३, ६६
१८९२	यशवतराव (१८९२-५)	आप्टे, ह० ना० १५८, २४९, ५२, ९३
,,	नाहीच ना एकायच ?	नाईक, रा० बा० २१, ६३
१८९३	मी (१८९३-५)	आप्टे,ह०ना०९१,२३०,४७,५९,६२,७
१८९६	उप.काल	७७, ७४-८, १६८-७१, १९४-८, २१०-१३, २२७
,,	लालन बेरागीण	बर्भे, दि० गो०
१८९७	पानपतची मोहीम	बापट, ना० वि०
,,	जग हे असे आहे (१८९७-९)	आप्टे, ह० ना० २५२
१८९८	केवळ स्वाराज्यासाठी	,, १६९, ७०, २५१
१८९९	चितूरगडचा वेढा	बापट, ना० वि० ६५
१९०१	लक्ष्मी आणि सरस्वती	पडित, ब० म० २०, ६३, ६६
,,	भयकर दिव्य (१९०१-३)	आप्टे, ह० ना० २१८, ६४
१९०२	रुप नगरची राजकन्या	,, १७७
१९०३	गड आला पण सिंह गेला	,, ४१, ७९, १९६, २८२, २४३
१९०४	चन्द्रगुप्त	,, ७८, ८२-५
१९०५	सूर्योदय	,, १६६, ७०, २४५, ५९, ३६४
१९०८	सूर्यग्रहण	,, ७६, १६७
,,	जग हे असेच	नाथमाधव
,,	प्रेमवेडा	,,
,,	भयकर सूड	पडित, ब० ह०
१९०९	कालकूट	आप्टे, ह० ना० २००
,,	तरुण रजपूत सर्दार	नाथ माधव १७८
,,	अजिंक्य तारा	आप्टे, ना० ह० ७६, ८५, १७७, २२८
,,	लाछित चन्द्रमा	,,
,,	कालिका मूर्ति	दातार, गो० ना०
१९१०	हल्दीघाटी चे युद्ध	बर्भे, स० दि०
,,	भुरळ	आप्टे, ना० ह० १०३
,,	मायेचा बाजार (१९१०-२)	आप्टे, ह० ना०
,,	श्रीनिवासराव	नाथ माधव
१९११	चाणाक्षपणाचा कळस	आप्टे, ह० ना० १७,
,,	जेव्हां सूर्योदय होईल	फडके, भा० वि०

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९१२	मानवी आज्ञा विरुद्ध देवाची आज्ञा	आप्टे, ना० ह०
,,	वसई चा वेढा	देशपांडे, अनुसूयाबाई
१९१३	वज्राघात	आप्टे, ह० ना० १६८, ९४, ९९, २२९, ४४, २५०, ५२
,,	अनाथ पांडुरंग	गोडबोले, कृ० ब०
१९१३	जग हे विविध आहे	दामले, सी० के०
१९१४	सांवळ्या तांडेल	नाथ माधव १७२, ३७३
,,	दुर्दैवी रंगू	वैद्य, चि० वि० ९३, १७५
,,	सम्राट अशोक	शाह, वा० ना० ७३-५,७९-८२
,,	अर्वाचीन रामराज्य	आप्टे, ना० ह० १५८, २९०
,,	मनाचे मनोरे	देवधर, वा० ब०
१९१५	छत्रसाल	शाह, वा० ना० ७३-५,८१,१००,१७८
,,	राजकुंवर	सहकारी कृष्ण
,,	रागिणी	जोशी, वा०म० ८५, ९२, १४७, ९८, २००, २०३,४,७,२७-३०,३२४
,,	न्याय की अन्याय	दामले, सी० के०
,,	देवाचे खेळ	नाथ माधव
,,	विहंग वृन्द	,,
,,	जीवन रहस्य	वेहेरे, ना० के०
१९१६	आश्रम हरिणी	जोशी, वा० म० ७३, २४०
,,	शापित महाराष्ट्र	सहकारी कृष्ण १७३, ७४
,,	रायक्लब अथवा सोनेरी टोळी	नाथ माधव १७
१९१७	अल्ला हो अकबर	फडके, ना० सी० ७४, ७५, ८५, १७८
,,	कर्म सन्यास	कुळकर्णी, ग० वी०
,,	झांकली मूठ	हडप, वि० व० १०१, २७७
१९१८	जन्मठेप	कुळकर्णी, ग० वि ९१
,,	डाक्टर (१९१८-२०)	नाथ माधव २७३
,,	कर्मविपाक	भिडे, मि० गो०
१९१९	रजपुतांचा भीष्म	आप्टे, ना० ह०
,,	नलिनी	जोशी, वा० म० १०२, ४१
१९२०	हृदयाची श्रीमती	आप्टे, ना० ह०
,,	दिव्य लावण्य	हडप, वि० वा०
,,	निरभ्र चन्द्र	,,
१९२१	अमरसिंह चा आत्मयज्ञ	कुलकर्णी, मा० श्री० १७८
१९२०	स्वराज्याचा श्री गणेश	नाथ माधव १७२

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९२१	मोहित्यांचा शाप	अत्रे, प्र० के०
१९२२	सधिकाल	आप्टे, ना० ह० १७७
"	दुरगी दुनिया	"
"	चव्हाणी शमशेर	जोशी, ल० ना०
"	स्वराज्याचा कारभार	नाथ माधव
"	न पटणारी गोष्ट	आप्टे, ना० ह० १०१
१९२२	प्रेम की लौकिक	भाटे, गो० चि०
"	जादूगारीण	हडप, वि० वा०
१९२४	छत्रपति रामराजा	कुळकर्णी, भा० श्री०
"	अगेरी ची लक्ष्मी	भानू, चि० गं० १७५
"	कौरलईचा किल्लेदार	भिडे, ल० र०
"	सुखाचा मूल मन्त्र	आप्टे, ना० ह०
"	वहकलेली तरुणी	हडप, वि० वा० १११
"	वाकडे पाऊल	"
१९२५	पावनतीर्थ	जोशी, मो० वा० १९४
"	मराठशाही ची ढाल	जोशी, ल० ना०
"	स्वराज्याची घटना	नाथ माधव
"	स्वराज्याची परिवर्तन	"
"	मुक्त ग्रहण	आप्टे, ग० श्री० १७४
"	कसे दिवस जातील	कुळकर्णी, ना० वी० १२७
"	मजूर	"
"	शिपाई	" १२७
"	दुटप्पी की दुहेरी	कोल्हटकर, श्री० कृ०
"	श्यामसुन्दर	" ११२, २६७
"	कारकून	देसाई, ग० त्र्य०
"	स्वयसेवक	नाथ माधव
"	कुलाव्याची दांडी	फडके, ना० सी० १७, २५८, ५९
"	इष्काचा प्याला	हडप, वि० व०
"	मास्तरीण काकू	" १११, १५
१९२६	पंहाटे पूर्वीचा काळोख	आप्टे, ना० ह०
"	पैसा	कुळकर्णी, ना० वि०
"	गोडवनांतील प्रियवदा	केतकर, श्री० व्यं० २७४, ९१
"	परागदा	" ९९, २०९
"	विभक्त की एकत्र	देसाई, ग० त्र्यं०

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९२७	कौमुदी	मिडे, शान्ताबाई २२७
,,	दडपशाही	लोटलीकर, सी० शि०
,,	चिमणी	वरेरकर, सी० वि०
,,	स्वराज्याची स्थापना	नाथ माधव
,,	कादंबरीमय पेशवाई (१९२६-३४)	हडप, वि० वा०
,,	माझे बाळ ते	आनन्दकर, पिरोजबाई
,,	आशावादी	केतकर, श्री० व्य० ९६,१९५,२७५, ९०,२९१
१९२७	माझे रामायण	तुळजापूरकर, द० अ० २१७, ३०
,,	बंधनाच्या पलीकडे	देशपांडे, पु० य० ९६,१०२,२०९,२१,३० २७५, २८८
१९२८	स्वराज्यांतील दुफळी	नाथ माधव
,,	विधवा कुमारी	वरेरकर, भा० वि० ९१,२,१९७,२४२,९२,३७२
,,	पालखीचा गोंडा	कानिटकर, काशीबाई
,,	जादूगार	फडके, ना० सी० १९४, २०५, ६, ३१, ५४, ५८, २६०, ८५
,,	दौलत	१९३, ४, २०१, ५, ६, ४८, ५४, ५८, ६५, ७५, ९३
,,	गौरीशंकर	हडप, वि० वा० १२७
१९२९	रत्नगुंफा	आप्टे, ना० ह०
,,	लग्नाचा बाजार	नाशिककर, शान्ता ९१, १०६
१९३०	स्वराज्यावरील संकट	नाथ माधव
,,	गावसासू	केतकर, श्री० व्य० २०१, २९४
,,	ब्राह्मण कन्या	९९, १०१, २, ३२, ३९, २०१, ७, ३३९, ५०
,,	हृदयाची हाक	खांडेकर, वि० स० २००, २०८, २९३
,,	सुशीलेचा देव	जोशी, वां० म० ९३, १२४, ३४, ४१, ४७, २२९, ४९, ७०, ७६, ३२४, ३३०, ३३२ ,३७, ५५
,,	हाच का धर्म	नाशिककर, शान्ता ११०, ३२५
,,	माझी मैत्रीण	पुरोहित, के० रा०
,,	बंध मुक्ता	बवेवाले, कमला
,,	खरा देश भक्त	भावे, वा० कृ०
,,	धावता धोटा	वरेरकर, भा० वि० १३८,३९,९६,९८,२९७
१९३१	मराठेशाहीची अखेर	मजूमदार, गो० गो०
,,	माणिक	कुळकर्णी, ना० वि० १२७
,,	संसार शकट	खाडिलकर, य० कृ०
,,	कांचनमृग	खांडेकर, वि० स० ९२, ११६, २५०, ६७

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३१	जन्माचा बदिवास	जोशी, वा० वि० ९१
,,	सुकलेले फूल	देशपांडे, पु० य० १०६,४८, ९४, २३२, २४२, ७३
,,	सीता	पाटील, रा० शा०
,,	अटकेपार	फडके, ना० सी० १९४, ८, २४६, ७, ८७, २९२, ९३
,,	फोल आशा	बोकील, वि० वि० १०२, ५८, ६०
,,	मृत्यूच्या माडीवर	भोपटकर, ल० ब० २८०, ३४४
,,	बाळूताई धडा घे	सहस्त्रबुद्धे, इदिराबाई
१९३२	कर्त्तव्याची जाणीव	प्रभावळकर, कु० श० ९१
,,	शकुनी मोहर	,,
,,	निरजन	फडके, ना० सी० १०५, ६, २०७, ५९, ९०
,,	गोदू गोखले (१९३२-३)	वरेरकर, भा० वि० २४२, ३७२
१९३३	सदाफुली	देशपाडे, पु० य० १५३, २३२, ७३, ७९
,,	मी कोण	पुरोहित, के० रा० १०२
,,	कलक शोभा	फडके, ना० सी० २३३, ४७,९३
,,	मुक्तात्मा	माडखोळकर, ग० त्र्यं० १३५, ४२, २१६, २४५, २४७
,,	दुलारी	हडप, वि० वा०
१९३४	रक्तांचे गालबोट	पराजपे, द० वि० १७८
,,	नवलपूरचा सस्थानिक	केळकर, न० चि०
,,	सदानन्द	खाडिलकर, य० कृ०
,,	उल्का	खाडेकर, व० स० ११६, ७, ३८, ४९, २०४, ३८, ५३, २५६, ५८, ८५, ९०, ३२९
,,	दोन ध्रुव	१३४, ३८, ९३, २४९, ७२, ३२९, ३२, ४३, ४९
,,	आसंवाची माळ	गागल, भा० वि० १०२
,,	इंदु काळे सरला भोळे	जोशी, वा० म० ११२, २०, २२९, ३०, २७३, ३४३
,,	अनियमित जग	प्रभावळकर, कु० शं०
,,	ध्येयाकडे	बेहेरे, ना० के०
,,	भगलेले देऊळ	माडखोळकर, ग० त्र्य० ७६, ७९, ८७, १०५, ६, ९७, २२२, ४, ५, ४२
,,	सीमोलघन	रांगणेकर मो० ग० १०७, ३७६
,,	परत भेट	वरेरकर, मा० वि०
,,	थोरली आई	शिखरे, दा० न० १२०
,,	हिंदोळयावर	शिरुरकर, विभावरी १०३, ४, ४७, ९८, २२१, २६०, ८८
१९३५	मराठेशाहीचा वंद्यपक्ष	मजूमदार, गो० गो०
,,	वृन्दा	गडकरी, वा० सं०

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३५	पराधीन	जोशी, वा० वि०
"	नदादीप	नाईक, य० ग०
"	आत्मदान	पुरोहित, के० रा०
"	निर्माल्यांतील कळी	प्रभावळकर, कु० श० ९६
"	उद्धार	फडके, ना० सी० १०५, २४८, ७९
"	उधडभाँप	वरेरकर, मा० वि०
"	कुल दैवत	" ९७, १०३, १०४
"	विरलेले स्वप्न	शिरुरकर, विभावरी २३१
"	श्यामची आई	साने, पा० स० ८७, २९०
"	जाळ्यातील माशा	हुडप, वि० वा० १११
१९३६	आजकाल	खाडिलकर, य० कृ०
"	छाया प्रकाश	तळवलकर, गो० ग०
"	भपूर्भा	दादरकर, मीनाक्षी १०७
"	काश्मिरी गुलाव	फडके, ना० सी० ८१, २३१
१९३६	शाप माडखोळकर, ग० त्र्य०	१०६, ५२, ६४, २६६, २७९
"	खरा उद्धार	राम तनय १२७
"	निखळनेली हिरकणी	साने, गीता १०३, १०, ३२७, ३५७
"	वठलेला वृक्ष	" १०५
"	हिरवळी खाली	"
"	आभास	हुडप, वि वा० १११
"	चिरजीव	"
"	धरणीकप	"
"	लग्नलाञ्छन	" १११
१९३७	वलिदान	केळकर, न० चि०
"	काम आणि कामिनी	कटक, प्रेमा ८१,१२१,४१,५२,३४१,४८,५७
"	विचक्षणा	केतकर, श्री० व्य० ९६, १३७,२०१,७,३३४
"	श्रीकान्त	जोशी, य० गो०
"	अधरातीलदिवे	निरन्तर, ग० मा० ११६
"	जीवन नृत्य	" १०५, २३०
"	फुल पाखरे	पवार, ग० ख०
"	एका अभागिनी ची डायरी	पी० मुशाफर २३१
"	एकेरी गाँठ	प्रभावळकर, कु० श० १०३, १०४, ३५७
"	आशा	फडके, ना० सी० १४२, २४४, ९२
"	प्रवासी	१०६, ९६, २०२, १२, ३५, ४५, ५१

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९३७	मृगजल	राँगेणकर, मो० ग० १०७, ३६९
"	उमलती कळी	वरेरकर, मा० वि०
"	वेणू वेळणकर	"
"	लतिका	साने, गीता १४७, ९८, २२१, ४५
"	धडपडणारीं मुलें	साने, पा० स० ३४२
"	श्याम	"
"	काळे पाणी	सावरकर, वि० दा० ७७, २४५
"	कालगति	साळनावकर, वि० द०
"	वादळापूर्वी	सोहनी, कमला
"	वादळ	हडप, वि० वा०
"	भटक्या	केतकर, श्री० त्र्य० २१७
"	आईची कृपा	शिखरे, दा० न० १२७
"	हिरवा चाँफा	खाँडेकर, वि० व० १३९,४८,२०४,५७,६३
"	दोन मने	" ११२, ४८, २३५, ३८
"	समरभूमि	फडके, ना० सी० १४२
१४३८	दुसरी सावली	बोकील, वि० वि० १०५
"	उपकारी माणसे (१९३८-४४)	सामत, रघुवीर २४१
१९३९	अमर संग्राम	आप्टे, ना० ह०
"	उमज पडेल तर	" २६९
"	रिकामा देव्हारा	खाडेकर, वि० स० १०६, १०, ३८, २३३, ८३, २८७, ३२४
"	पाँढरे ढग	" १२१, ३४, २५६
"	सुखाचा शोध	"
"	विशाल जीवन	देशपाडे, पु० य० १२०, ६३
"	रंणागण	वेडेकर, विश्राम १६२, २३५, ३७, ३७२
"	पुनर्जन्म	साने, पां० स०
१९४०	साजणी	आप्टे, ना० ह०
"	पहिले प्रेम	खांडेकर, वि० स० १५४, २१३, ३८, ४०, ८७, ३५१
"	आकाश मदिर	तळवलकर, गो० ग० १०५
"	पाणकळा	दिघे, र० वा० २११, १४, ८६, ९४, ३७७
"	उन्माद	फडके, ना० सी० १४०
"	झंझावात	बोकील, वि० वि० ११५
"	रात्रीचा दिवस	मर्ढेकर, बा० सी० ३८, १६१, ६२, २२४, ३७
"	मुखवटे	माडखोळकर, ग० त्र्यं० १२२, २१०, २९१

सन	उपन्यास का नाम	लेखक
१९४०	सती	साने, पां० स० १२०, २६८
"	क्रांति	" १०१, २०, २६९, ७४, ३२७
"	राक्षस विवाह	क्षीरसागर, श्री० के० १००
१९४१	ललिता	अळतेकर, भा० दा०
"	पुसलेल्या राँगोळया	नाशिककर, शान्ता १०३
"	फाटकी वाकळ	वरेरकर, मा० वि० १२७
"	अपुरा डाव	कवठेकर, द० र० १०३, १९६
"	जळलेला मोहर	खाडेकर, वि० स० २३३, ४०, ३५४
"	मातृमंदिर	दाँडेकर, मालतीबाई
"	नवे जग	देशपाडे, पु० य० १५४, ६३, २८०, ३५१
"	सायतारा	" श्रीधर
"	मगळागोरीच्या रात्री	वोकील, वि० वि०
"	नवें संसार	माडखोळकर, ग० त्र्यं० १०५,३५,४७,२६६, ३३७, ४९, ५४
"	दुहेरी जीवन	" १०५, २९०, ३५३
१९४२	कोकणचा पोर	केळकर, ना० चि० ३७३
"	कीर्ति	नाशिककर, शान्ता
"	रेशमाच्या गांठी	कवठेकर, द० र० १२९
"	क्रौंचवध	खांडेकर, वि० स० ३३,४३,८६,८७,१२१,२०४,३०,३३,३८,७४
"	महापूर	चिंदरकर, वि० द०
"	इन्द्र घनुष्य	फडके, ना० सी०
"	प्रतिज्ञा	" ११२
"	वादळ	"
"	आवा	वोकील, वि० वी०
१९४३	निरंकुश	अळतेकर, भा० दा०
"	माझी कोरीव लेणीं	नाशिककर, शान्ता
"	शिपायाची वायको	वरेरकर, भा० वि० १२१
"	सराई	दिघे, र० वा० १२८, २४५
"	वीणा	देशमुख, लीला
"	तांवडी माती	मर्ढेकर, वा० सी० ९१,३, १६२,२२३,३६
"	नागकन्या	माडखोळकर, ग० त्र्यं० ३३१
"	डाक वंगला	" १६४, २६०
"	चंदनवाडी	११२, २७, ३५, ३६, ३८, ३९, २४४, ४६, ५२
"	अमावस्या	शास्त्री, शं० वा० ३३, १४४, ४५

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
१९४३	गोडशेवट	साने, पां० स० २४५, ६६, ७४
१९४४	ऐरणीवर	आप्टे, ना० ह०
"	निसर्गाकडे	काकोडकर, चन्द्रकान्त
"	पिवळा बगला	बोकील, वि० वि०
"	भ्रुज	महाजन, ना० के० ४२
"	प्रमद्वरा	माडखोळकर, ग० त्र्य० ३३, १४४, ४५, २७२
"	तीन मुले	साने, पा० स०
"	रामाचा शेला	"
१९४५	आभाळाची सावली	कवठेकर, द० र०
"	गावगुंड	ठोकळ, ग० ल० ११३, ४५, २५०
"	वज्रलेख	दाडेकर, मालतीबाई १०१, १०२
"	वेवीची वहीण	बोकील, वि० वि०
"	चौदा एप्रिल	" २१८
"	कुवेर की रंक	" १०३, ३८, २८४
"	जागृति	महाजन, ना० के० ४२, १४५
१९४६	एकटी	आप्टे, ना० ह०
"	पाच ते पाच	" १४५, २३९
"	अनुराधा	तळवलकर, गो० ग०
"	रानजाई	दिघे, र० वा०
१९४६	ठेगणों अस्मान	देशपाडे, श्रीधर २४६, ३७३
"	द्वन्द्व	बोकील, वि० वि०
"	तूं तिथं मी	"
"	किसान	महाजन, ना० के०
"	वैष्णव	शिरवाडकर, वा० वि० ३३, ६३, ११३, १६, १७, १४५
"	आविष्कार	साने, गीता १३५, १४१
"	माळरानांत	"
१९४७	अन्नदाता उपाशी	हडप, वि० वा० १२७, २८६
"	गोदाराणी	" १२७, ३४
"	मालकस	तळवलकर, गो० ग० १०६
"	गानलुब्धा मृगनयना	दिघे, र० वा० २२८, २९, ३६४, ६५
"	ठिगळ	बोकिल, वि० वि० १५९
"	सखी	"
"	पाणी	मर्ढेकर, बा० सी० १२७, ६२, २३७
"	विनाश	महाजन, ना० के०

सन्	उपन्यास का नाम	लेखक
"	जीवन गगा	सामत, रघुवीर
१९४८	भारतमाते ऊठ	हुडप, वि० वा०
"	भारतमातेची हाँक	" १२०
"	काटेरी मार्ग	दाडेकर, मालतीबाई १०३, १०४
"	पूर्वेचा वारा	देशमुख, लीला १४५
"	दूर कुठें तरी	" १०५
"	सुनीता	त्रिवलकर, श्री० रा० ३३, १ ४, ३७३
"	विजय	वोकील, वि० वि०
१९४९	संसारांत पदार्पण	दाडेकर, मालतीबाई
"	एलगार	पेडसे, श्री० ना० ३३, ११२, २४, २८
"	झंझावात	फडके, ना० सी० ३३, १४४
"	गाठभेट	वोकील, वि० वि०
"	मायेची शाल	"
"	दीपस्तंभ	साने, गीता १३५, ४१
१९५०	गोमतका जागा हो !	काकोडकर, चन्द्रकान्त ९७
"	पाऊल वाट	देशपांडे, श्रीधर २३८
"	हद्दपार	पेडसे, श्री० ना० ११६, २७, २९, २४८
"	जेहलम	फडके, ना० सी० १२०, १४७
"	सात पावलें	वोकील, वि० वि०
"	वेवी	"
१९५०	भावीण	वोरकर, वा० भ० ८१, ९८, ९९
"	ग्रन्धा	माडखोळकर, ग० त्र्य०
"	वळी	शिरुरकर, विभावरी ११३, ३८, २४६
"	पहिली सलामी	सहस्त्रबुद्धे, प० त्रि०
"	जीवन साथी	" २८१
"	ग्रमहो खेडवळ मानसं	सामंत, रघुवीर १२७

परिशिष्ट-२

हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों की कथानक—रूढ़ियों का कोष

परम्परा का अभिमान जीवन की एक प्रेरक-शक्ति है। जिस प्रकार कुल, जाति और सस्कृति की इन प्रेरणादायिनी शक्तियो के निर्माण के पीछे एक प्रशस्त और गौरवशाली इतिहास रहता है, वैसे ही साहित्य की सुनिश्चित परम्पराओ के पीछे भी सर्वत्र लम्बे अतीत का उज्ज्वल इतिहास, अगणित मनीषियो का अपार बुद्धिवैभव और अनेको प्रतिभाओं का नव भावोन्मेष अपनी सजीवता, जागरूकता एवं सवेद्यता मे सतत क्रियाशील परिलक्षित होता है। पूर्व-रचित साहित्य मे उपलब्ध सौदर्य की अनुपम विधाएँ, चमत्कार की अद्भुत प्रणालियाँ और सस्कृति की जीवन-मान्यताएँ इतर साहित्यिको द्वारा अनुकृत होकर साहित्य की परम्पराएँ बन जाती है। ये पम्पराएँ कालान्तर मे बहु-व्यवहृत और बहुजन प्रयुक्त होकर रूढ़ियो का रूप धारण कर लेती हैं। एक से अधिक व्यक्तियो द्वारा प्रयोग मे आने पर किसी बात की परम्परा पड़ जाती है और फिर अनेक बार अनेक स्थलो पर दुहराई जाने पर वही बात रूढि बन जाती है। अन्तर केवल इतना है कि परम्परा का निर्वाह समझबूझ कर, विकल्प बुद्धि द्वारा गृहण करके किया जाता है, रूढि का प्रयोग अन्धाधुन्ध, बिना तर्क किये, यथावत् स्वीकार करके किया जाता है। परम्परा का अनुगमन जानकर होता है, रूढिका अन-जाने भी हो सकता है। कृष्ण-भक्तों मे राधाकृष्ण को नायक-नायिका रूप मे चित्रित करने की परम्परा थी, रीतिकाल में रूढ़ि।

अंग्रेजी मे कथानक-रूढि को 'मोटिफ' कहते है। 'मोटिफ' की परिभाषा देते हुए शिपले लिखते है, "मोटिफ एक शब्द अथवा विचार-क्रम जिसकी समान स्थिति मे पुनरावृत्ति होती है अथवा जो युग की किसी एक अथवा विभिन्न कृतियों मे समान मान-सिक दशा उत्पन्न करने के लिए आता है।"[१]

किसी भी भाषा के साहित्य में जिसकी अपनी कुछ लम्बी परम्परा है, जिसने अपनी पूर्ववर्ती भाषा या भाषाओ की समृद्धि से कुछ उत्तराधिकार प्राप्त किया है, रूढियो की भारी सामग्री बिखरी हुई मिलेगी। इनका उपयोग मुख्य रूप से कथा को आगे बढाने तथा दूसरी दिशा मे मोड़ने के लिए किया जाता है। इनके प्रयोग से लेखक

---

१. शिपले : डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर।

को अतिरजित घटनाएँ लाने तथा चमत्कार उत्पन्न करने का अवसर मिल जाता है। काव्य के अतिरिक्त उपन्यास-साहित्य मे भी इनका प्रयोग हुआ है। नीचे दी हुई कथानक-रूढ़ियो की सूची पूर्ण नही कही जा सकती, फिर भी उससे उनकी प्रकृति आदि के सम्बन्ध मे कुछ आभास मिल सकता है।

कथानक-रूढ़ि उपन्यास जिसमें प्रयुक्त हुई है।

	मराठी उपन्यास	हिन्दी उपन्यास
१. प्रथम दृष्टि मे प्रेम	सम्राट अशोक, पतग, वस नम्बर वारा।	कुडलीचक्र, निर्वासित, सन्यासी, गढ कुडार, घरौदे, तीन वर्ष, पुरुष और नारी, आदि।
२. आकाश मार्ग से आगमन		वैशाली की नगरवधू, आदि
३. वर्षा, भयानक झझावात आदि के समय महत्वपूर्ण घटना।	उष काल, आदि।	कंकाल, शराबी, लगन, प्रेत और छाया, आदि।
४. जल मे डूब कर भी बच जाना।	सम्राट अशोक आदि।	कंकाल, आदर्श दम्पति, आदि।
५. जीवित व्यक्ति को घटना-चक्र के कारण मरा हुआ समझ लेना पर वस्तुत उसका जीवित होना।	रागिणी, वस नम्बर वारा, आदि।	विदा, सगम, कचनार, मदिर की नर्तकी तरुण तपस्विनी, आदि।
६ दुर्घटना विशेष से स्मृति-नाश पर पुनः दूसरी दुर्घटना के कारण स्मृति का लौट आना।	वस नम्बर वारा, आदि।	कचनार, आत्म-दाह, आदि।
७. सकट के समय आकस्मिक सहायता और रक्षा।	सम्राट अशोक, वज्राघात, छत्रसाल, रागिणी, आदि।	कुडलीचक्र, प्रेमाश्रम, अप्सरा, विराटा की पद्मिनी, आदि।
८ पत्र का अभीष्ट लक्ष्य तक न पहुँचना।	सम्राट अशोक, वज्राघात, जळलेला मनोहर, आदि।	नारी, प्रत्यागत, निर्वासित, अप्सरा, गढ़कुडार, आदि।
९. जन्म रहस्य का पुस्तकांत मे उद्घाटन।	वज्राघात, दोन मनें, आदि।	ककाल, प्रेत और छाया, घरौंदे, वहता पानी, आदि।

	मराठी उपन्यास	हिन्दी उपन्यास
१०. वेश परिवर्तन	उपःकाल, सम्राट अशोक, अल्ला हो अकबर, आदि।	काया कल्प, गढ़कुडार, पतन, टेढ़े मेढे रास्ते, आदि।
११. बिछुड़ो का पुर्नमिलन	वळी, पहिले प्रेम, प्रवासी, दोन मने, आदि।	कंकाल, शरावी, पतिता की साधना, दिव्या आदि
१२. विष अथवा विष-कन्या का प्रयोग	छत्रसाल, पाणकळा, आदि	वैशाली की नगरवधू, टेढ़े मेढ़े रास्ते, आदि
१३. शिवि-मोटिफ (शरणागत की रक्षा मे आत्म-बलिदान)	मुक्तात्मा, उष.काल, वज्राघात, आदि	विराटा की पद्मनी, दादा कामरेड, मनुष्य के रूप, आदि
१४. विपर्यस्ताभ्यस्त अश्व (घोड़े का भटकना)	उप.काल, आदि	झासी की रानी, आदि
१५. मदिर के नीचे सुरग	उप.काल, आदि	मदिर की नर्तकी, वैशाली की नगरवधू, आदि
१६ स्वप्न द्वारा भविष्य की सूचना	उष काल, छत्रसाल, आदि	
१७. अचानक रहस्य-श्रवण	उष.काल, अल्ला हो अकबर, आदि	वैशाली की नगरवधू, कायाकल्प, प्रेत और छाया, आदि
१८ ऐसा पत्र जिसमें पत्र-वाहक को मारने का आदेश हो	सम्राट अशोक, आदि	
१९. भ्रान्ति	रागिणी, उष.काल जळलेला मोहर, आदि	विषादमठ, भावुकता का मूल्य, आत्म-दाह, दिव्या, आदि
२०. स्वामिभक्त सेवक	उष.काल, उघड्या, जगांत, आदि	पुरुष और नारी, वैशाली की नगरवधू, आदि
२१. परित्यक्त बालक	दोन मनें, आदि	कंकाल, काया-कल्प, वैशाली की नगरवधू, आदि
२२. घरभेदीपन	उप.काल, सम्राट अशोक, रागिणी, वज्राघात, आदि	झासी की रानी, कचनार, मृगनयनी, आदि
२३. बचपन की मित्रता की प्रेम में परिणति	भंगलेले देऊळ, आदि	शरावी, आदि

	मराठी उपन्यास	हिन्दी उपन्यास
२४. शत्रु परिवारो के युवक-युवतियो मे प्रेम	उप काल, वज्राघात, रागिणी, पाणकळा आदि	टेढे मेढे रास्ते, प्रभावती, आदि
२५. समाज के रूढ संस्कारो के कारण विवाह मे बाधा	अटकेपार, जेव्हा सूर्योदय होईल, पहिले प्रेम, आदि	लगन, पतिता की साधना, परख, त्याग-पत्र, गिरती दीवारे, निरुपमा, आदि
२६. सकट से रक्षा करने के कारण प्रेम	सम्राठ अशोक, जेव्हां सूर्योदय होईल, पाणकळा आदि	तितली, विदा, गढकुडार मनुष्य के रूप, आदि
२७ युवावस्था के गुरु-शिष्या प्रेम	दोन मने, रिकामा देव्हारा, जादूगार आदि	परख, माँ, कुडलीचक्र, प्रेत और छाया, आदि
२८ रुग्णावस्था मे परिचर्या के कारण प्रेम	सुकलेले फूल, पहिले प्रेम दोन मनें, आदि	सिंह सेनापति, विदा, नारी, गिरती दीवारे, आदि
२९. मुद्रिका एव हार द्वारा प्रणय-निवेदन	सम्राट अशोक आदि	भिखारिणी, दिव्या, प्रभावती, गढकुडार, आदि
३० प्रेम का त्रिकोण	रागिणी, वज्राघात, पहिले प्रेम, आदि	विदा, निमन्त्रण, जागरण, बहता पानी, सुखदा, आदि
३१. युवक-युवती के पराक्रम या कौशल को देख प्रेम	सुखलेले फूल, पहिले प्रेम, दोन मने आदि	मृगनयनी, भिखारिणी, दिव्या, सिंह सेनापति, आदि
३२. विश्वासघात	भगलेले देऊळ आदि	रगभूमि, विदा, लगन, प्रेत और छाया, आदि
३३. गर्भावस्था मे प्रवंचना	वज्राघात, दुहेरी जीवन आदि	कंकाल, त्याग-पत्र, दिव्या, विकृतछाया, आदि
३४. ऐन मोके पर षडयन्त्र का उद्घाटन और मृत्यु से बच जाना	छत्रसाल, रागिणी, वज्राघात दोनमने आदि	कुंडलीचक्र, आदि
३५. आत्म-हत्या से कुछ क्षण पूर्व आत्म-हत्या का विचार त्याग देना	रागिणी, प्रवासी आदि	विदा, प्रेमाश्रम, आदि
३६. पश्चाताप और क्षमा	वज्राघात, रागिणी, सुशीला चा देव आदि	प्रतिज्ञा, प्रेत और छाया, निमन्त्रण, आदि

	मराठी उपन्यास	हिन्दी उपन्यास
३७. पुत्र द्वारा अपरिचय के कारण पिता का वध	वज्राघात, आदि	
३८. त्यागमयी उदात्त प्रेमिका	भंगलेले देऊळ, उद्धार, वठलेला वृक्ष, आदि	भिखारिणी, परख, तितली, नारी, आदि
३९. निरपराध पर दोषारोपण	रिकामा देव्हारा, आदि	प्रत्यागत, आदि
४०. मृत्यु के समय वचनदान	प्रवासी, मुक्तात्मा, पाणकळा, आदि	जागरण, पतन आदि
४१. शाप	-	पतन, प्रेमाश्रम, आदि
४२. हृदय परिवर्तन	दौलत, आदि	तरुण तपस्विनी, आदि
४३. अग्निकांड	पाणकळा, आदि	गोदान, निर्वासित, आदि
४४. धनी को छोड़ गरीब से प्रेम	दौलत, आदि	विकृत छाया, आदि
४५. गुप्त धन		तरुण तपस्विनी, मंदिर की नर्तकी, आदि
४६. मदिरा पिला कर शत्रु नाश		गढ़कुंडार, दिव्या, वैशाली की नगरवधू, आदि
४७. कुंठा के कारण राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेना	मुक्तात्मा, शाप, आदि	सुखदा, सुनीता, दादा कामेरेड, आदि

परिशिष्ट—३

मराठी और हिन्दी उपन्यासों के अमर पात्र

मराठी के पात्र	उपन्यास	लेखक
यमू	पण लक्षांत कोण घेतो	हरिनारायण आप्टे
शकर मामजी	,,	,,
भावानन्द	मी	,,
सावळया	उष:काल	,,
रागिणी	रागिणी	वामन मल्हार जोशी
उत्तरा	,,	,,
शंभुराव जोग	अटकेपार	ना० सी० फडके
बाप्पा	दोनध्रुव	वि० स० खाडेकर
यशोदा	श्याम ची आई	साने गुरुजी
हिन्दी के पात्र		
सूरदास	रगभूमि	प्रेमचन्द
होरी	गोदान	,,
शेखर	शेखर: एक जीवनी	अज्ञेय
रानी लक्ष्मी बाई	झांसी की रानी	वृन्दावनलाल वर्मा
मृणाल	त्याग-पत्र	जैनेन्द्र कुमार

परिशिष्ट—४

१९५० ई० तक मराठी से हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की सूची

सन्	लेखक	उपन्यास	अनुवादक
१९१३	वा० ना० शाह	सम्राट अशोक	हरिभाऊ उपाध्याय
१९१६	"	छत्रसाल	रामचन्द्र वर्मा
१९२०	ह० ना० आप्टे	गड आला पण सिंह गेला	सम्पादक-कृष्णकान्त मालवीय
१९२२	"	सूर्य-ग्रहण	रामचन्द्र वर्मा
१९२३	"	वज्राघात	लक्ष्मीधर वाजपेयी
१९२३	वा० म० जोशी	रागिणी	हरिभाऊ उपाध्याय
१९२४	ह० ना० आप्टे	उष काल	लक्ष्मीधर वाजपेयी
१९२४	"	चन्द्रगुप्त	
१९२४	"	रूपनगर ची राज-कन्या	जगन्नाथ शर्मा अग्निहोत्री
१९२५	ना० सी० फडके	अल्ला हो अकबर	रामप्रसाद पाडे
१९२८	मा० वि० फडके	जेव्हा सूर्योदय होईल	गोपीवल्लभ शालिग्राम
१९२८	वा० म० जोशी	आश्रम हरिणी	हरिभाऊ उपाध्याय
१९३५	नाथ माधव	तरुण राजपूत सरदार	लक्ष्मीधर वाजपेयी
१९३९	साने गुरुजी	श्याम ची आई	गोपीवल्लभ उपाध्याय
१९४०	वि० स० खांडेकर	मेरा हक़	आनंदकुमार
१९४१	ग०त्र्यं०माडखोळकर	कांता	गोविंदराव मराठे
१९४४	वि० स० खांडेकर	क्रौंचवध	वामन विश्वासराव भावे
१९४६	साने गुरुजी	सती	"
१९४८	ग०त्र्य०माडखोळकर	भंगलेले देऊळ	गोविंदराव मराठे
१९४९	वीर सावरकर	काळे पाणी	आनंदवर्धन
	साने गुरुजी	आस्तिक	विट्ठलशर्मा
	ना० ह० आप्टे	अजिंक्य तारा	
	ह० ना० आप्टे	राष्ट्र पतन	

परिशिष्ट—५

लेखक के नाम श्री रामचन्द्र वर्मा का पत्र

४७ लाजपतनगर
बनारस-२
१३-६-५८

प्रिय श्री गुप्त जी,

कृपा पत्र मिला। मराठी अनुवादों की ओर मैं इस लिए प्रवृत्त हुआ था कि उनमें से कुछ मुझे बहुत अच्छे जान पड़े थे। एक कारण यह भी था कि बँगला उपन्यासों के अनुवाद तो हिन्दी में बहुत हो रहे थे; पर मराठी की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान था। मैं हिन्दी वालों को मराठी की ओर भी प्रवृत्त करना चाहता था, क्योंकि उसमें भी यथेष्ट मात्रा में बहुत सुन्दर साहित्य था। मेरी समझ में हिन्दी उपन्यास-रचना पर मराठी उपन्यासों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। और फिर हिन्दी में मराठी के अनुवाद हैं भी बहुत कम। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय की सूची से आपको पता चलेगा कि मराठी से किन-किन विषयों की किन-किन पुस्तकों के अनुवाद कब और कहाँ से प्रकाशित हुए हैं। मैं नहीं कह सकता कि वह सूची छपी है या नहीं। यदि न छपी हो तो फिर उसे देखने के लिए आपको काशी आने का कष्ट करना पड़ेगा। इस विषय की ओर कोई पाठ्य सामग्री मेरे ध्यान में नहीं है। आशा है, आप स्वस्थ तथा प्रसन्न होंगे।

भवदीय
रामचन्द्र वर्मा

परिशिष्ट—६

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

हिन्दी पुस्तक-साहित्य— माताप्रसाद गुप्त
हिन्दी साहित्य का इतिहास— रामचन्द्र शुक्ल
कुछ विचार— प्रेमचन्द
आधुनिक हिन्दी साहित्य— लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
माधवमिश्र निबन्धमाला
विवेचना— इलाचन्द्र जोशी
हिन्दी साहित्य— हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी उपन्यास-साहित्य— ब्रजरत्नदास
हिन्दी कथा-साहित्य— प. पु. बख्शी
काग्रेस का इतिहास— पट्टाभि सीतारम्यैया
आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज
पुरातत्त्व निबन्धावली— राहुल सांकृत्यायन
हिन्दी उपन्यास— शिवनारायण श्रीवास्तव
मृगनयनी मे कला और कृतित्व— डा० सत्येन्द्र
आधुनिक साहित्य— नन्ददुलारे बाजपेयी
विचार और अनुभूति— डा० नगेन्द्र
साहित्य का श्रेय और प्रेय— जैनेन्द्र
जयशकर प्रसाद— नन्ददुलारे बाजपेयी
सन्तुलन— प्रभाकर माचवे

मराठी

मराठी कादम्बरी पहिले शतक— कुसुमावती देशपांडे
महाराष्ट्र ज्ञान कोष डा० केतकर
मराठी कादम्बरी-तन्त्र आणि विकास- बापट एव गोडबोले
माझे आवडते लेखक— ग० त्र्यं० माडखोळकर
मराठशाहीतील गद्यरचना— गो० स० सरदेसाई
अर्वाचीन मराठी साहित्य— वि० ह० कुलकर्णी
प्रदक्षिणा— वि० वा० आम्बेकर

आजकाल चा महाराष्ट्र— प्रभाकर पाध्ये
हरिभाऊ— ल० म० भिंगारे
विष्णु शास्त्री चिपळूणकर यांचे चरित्र—ल० कृ० चिपळूणकर
स्वभावलेखन— पु० ग० सहस्रबुद्धे
अर्वाचीन मराठी साहित्य— द० वा० पोतदार
आधुनिक मराठी वाङमयाचा इतिहास—अ० ना० देशपाडे
शत—पत्रे— लोकहितवादी
मराठी स्त्री— दु० का० सन्त
मुक्तात्म्यापासून प्रमद्वरेपर्यंत— रा० श० वळिवे
गोफ आणि गोफण— वि० स० खाडेकर
कादम्बरीकार— दा० ना० शिखरे
कादम्बरीकार मर्ढेकर— म० वा० राज्याध्यक्ष
वाङ्मयविलास— ग० त्र्य० माडखोळकर
हरिभाऊ आप्टे— वेणुबाई पासे
विदग्ध वाङ्मय— ह० ना० आप्टे
आस्वाद— द० सी० पगु
प्रतिभा—साधन— ना० सी० फडके
खाण्डेकर : चरित्र आणि वाङ्मय—मा० का० देशपाण्डे
डा० केतकराच्या कादवर्या— द० न० गोखले
वाङ्मयीन वादस्थळें— वा० ल० कुलकर्णी
साने गुरुजी व्यक्ति आणि वाङ्मय
माडखोळकर—वाङ्मय आणि व्यक्तित्व—मा० का० देशपाडे
माझे कादम्बरी—लेखन— सम्पादित. या० मु० पाठक

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना—
साहित्य—सन्देश
सरस्वती
केसरी (मराठी)
सत्यकथा (मराठी)
हंस
मराठी साहित्य पत्रिका (मराठी)
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
जागरण

भारतीय साहित्य
नवभारत (मराठी)
प्रतिभा (मराठी)
प्रभात (मराठी)
संगम
छंद (मराठी)
मनोहर (मराठी)
ज्योत्स्ना
सह्याद्रि (मराठी)

अंग्रेजी

Encyclopedia Americana.	
Contemporary Indian Literature.	
Introduction to Philosophy of Life	W. H. Walsh.
Speeches of	G. K. Gokhlaa.
Psychology of Women.	
Guide to Modern Thought	C. E. M. Jood.
Shivaji Souvenir.	
Aspects of the Novel.	E. Forster.
The Criticism of Literature.	Elizabeth Neitche
Common Reader.	Virginia wolfe.
The Craft of Fiction.	Percy Lubock.
An assessment of Twentieth century Literature.	J. Issac,
A treatise on the Novel.	Liddel.
Discovery of India.	J. L. Nehru.
The Summing up	Somerset Maughm.
Miscellenies—	
History of the English Novel.	E. A. Baker
Existentialism and Humanism.	Satre.
Encyclopaedia of Literature.	